से चलना नहीं छोड़ा। अरे खड़े ही खड़े सिरको खूब खुजला लेता, और फिर कोट पर हाथ रखकर चलता, पर उसे इतना गम नहीं है। चल देता है, दरवाजा निकल जाता है, फिर हाथ धर कर चलता है।

इसी तरह एक शांतिनगरमें जानेके लिए यह अंधा विषयोंका विषैला पुरुष उद्यम करता है। चल रहा है पर जैसे ही मनुष्यभव मिला, जो दरवाजा था शाँतिनगरमें पहुँचने का, बस वहाँ ही इसके खुजलाहट और तेज हो गई। पशु बेचारे राग करेंगे तो वे उजड्डपन से करेंगे, पर मनुष्य राग करेगा तो साहित्यकी कलासे, बड़ी कुशलतासे राग करेगा। तो इसके सिरमें खुजलाहट बहुत तेज हो गई, कषायोंमें आसक्ति हो जाती है, बुद्धिको, ज्ञानको, वचनोंको, सबको रागमें लगा देता है। तो ज्यों ही मनुष्यभव आया था मुक्ति पानेके लिए उस ही मनुष्यभवके दरवाजेपर यह विषयोंकी खाज खुजलाने लगा। खुजा लो खूब, पर समय तो न जाये। जैसे मान लो २५ वर्षके हैं तो २५ के ही रह जाएं और विषयोंकी खाज खुजला लें, सो न होगा। समय तो गुजरता रहता है। निकल गया अब समय। ऐसी स्थितिमें विरला ही बुद्धिमान पुरुष होगा जो खाजकी पीड़ाको सह लेगा, मगर उसके प्रतिकारमें बंधन न होगा।

अहितसे निवृत्त रहनेका साधक तत्त्वज्ञानका बल—भैया! यह बल आता है तत्त्वज्ञानसे, सम्यक्त्वसे। जिस पुरुषके सम्यग्दर्शन है वह पुरुष पूर्व बद्ध कर्मोंके विपाकसे किसी राग और भोगमें भी लग रहा हो तो भी इतना उत्कृष्ट विवेक है कि उससे हटते हुए लग रहा है। जैसे किसीको मालूम है कि यह आग पड़ी है और किसी पुरुषकी जबरदस्तीसे अपना हाथ आगपर जा रहा है तो हटते हुए जायगा, लगते हुए न जायगा। और पीछे आग पड़ी है, कुछ पता नहीं है और हाथ टेककर आराम लेनेकी तुम्हारी धुन होती है तो लगते हुए हाथ धरोगे कि हटाते हुए? जोर देते हुए हाथ धरोगे। तो आप यह बतावो कि ज्यादा कहाँ जलेगा? जबरदस्ती किसीकी प्रेरणासे आपका हाथ धरा जा रहा है तो चूँकि तुममें भी शक्ति है इस कारण तुम हटाते हुए हाथ धरोगे। इसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवमें एक ज्ञानबल प्रकट हो, जिस ज्ञानबलके कारण यह हटता हुआ लगता है। प्रेरणा है रागकी, पूर्वबद्ध कर्मोंकी, सो उस प्रेरणाके कारण लगना तो पड़ता है ज्ञानीको विषयोंमें, पर वह हटता हुआ लगता है। वह दोस्ती किस कामकी कि मन फटा हो और दोस्ती बनाई जा रही हो, वह विषयोंमें लगना क्या कि दिल तो हट रहा है और भोगोंसे अलग रह रहे हैं। यों ये ज्ञानी संत सम्यक्त्वके प्रभावसे सुखी हैं।

जीवका ज्ञानस्वभाव—जीवका स्वभाव ज्ञान है। ज्ञानके अतिरिक्त जीवकी पहिचान का और कोई उपाय नहीं है। जो जानता है वही जीव है। वह जीव कितना है, कितना

जानता है ? इसकी कोई हद नहीं बांध सकता है। यह जीव दो कोस तक ही जाना करे इससे आगेको न जाने ऐसी सीमा डालने वाला कौन है ? जब यह ज्ञानमय आत्मा अपने आपके प्रदेशोंमें ही रहता हुआ दूरकी बातोंको जानता है तो फिर इसमें कोई हद नहीं डाल सकता कि यह जीव चार कोस तक ही जाने, या इतने क्षेत्र तक ही जाने। यदि यह आत्मा अपने स्वरूपसे उठकर बाहरी पदार्थोंमें जा जाकर बाहरी पदार्थोंको जानता होता तो यह कहना युक्त हो सकता था कि जहाँ तक यह आत्मा पहुँच सके वहीं तक जानेगा। किन्तु यह आत्मा अपने ही प्रदेशोंमें ठहरा हुआ इस देहरूपी मंदिरमें ही पड़ा हुआ यहींसे सर्व कुछ जानता रहता है। तब इसके जाननेकी सीमा नहीं की जा सकती है। लेकिन देखते तो हम आप यह हैं कि किसीका ज्ञान हजार मील तकका है तो किसीका ज्ञान १० हजार मील तक है, किसीका ज्ञान १० वर्ष पहिलेका है तो किसीका ज्ञान इससे अधिक वर्ष पहिलेका है। ऐसी सीमा देखी जाती है। इसके रोकने वाला कौन है, ऐसा प्रश्न होनेपर यह गाथा कही जा रही है।

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥

ज्ञानका प्रतिबंधक अथवा प्रतिकूल भाव अज्ञानभाव है ऐसा जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रणीत हुआ है। जहाँ अज्ञान है वहां ज्ञान नहीं रह सकता है और जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान नहीं रह सकता है। तो ज्ञानका प्रतिकूल विरोधी अथवा प्रतिबंधक अज्ञान भाव है। उस अज्ञानके उदयसे जीव अज्ञानी होता है। ऐसा जानना चाहिए।

ज्ञानका साक्षात् आवरण—भैया ! देखिए यह बात साक्षात् आवरणकी कही जा रही है कि जीवके ज्ञानको रोकने वाला कौन है ? जीवके ज्ञानको रोकने वाला अज्ञान है। ज्ञान न होना ऐसी वृत्ति जीवके ज्ञानको रोकती है। ऐसा सुनकर मनमें यह लगता होगा कि इसमें दूसरी बात क्या कही गई है ? ज्ञान न होना सो ज्ञानको रोकता है। बात तो एक ही हुई किन्तु यहाँ परिणतियाँ दो हैं—ज्ञानपरिणति और अज्ञानपरिणति। तब यह बात बिल्कुल ठीक है कि अज्ञानका परिणमन होगा तो ज्ञानको रोक देगा, किन्तु यह अज्ञान होता क्यों है ? यदि आत्माके स्वभावसे ही अज्ञान होता है तब वह भी स्वभाव हो गया, फिर हानि कुछ नहीं। सो ऐसा तो है नहीं।

ज्ञानका प्रतिबन्धक निमित्त ज्ञानावरणकर्म—अज्ञानको उत्पन्न करने वाला निमित्त ज्ञानावरणादिक कर्मोंका उदय है। यह ज्ञानावरणादिक कर्मोंका उदय उपादान रूपसे अज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु वह निमित्त मात्र है। सो जीवके ज्ञानको रोका अज्ञानने और अज्ञानकी उत्पत्ति हुई कर्मोंके उदयके निमित्तसे। यह प्रकरण मोक्षमार्गका चल रहा है।

मोक्ष तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र रूप है। यह रत्नत्रय जीवमें क्यों प्रकट नहीं हो पाता ? इसको तीन गाथावोंमें बताया जा रहा है। उन तीनों गाथावोंमें से यह दूसरे नम्बरकी गाथा है।

व्यवहार संसार——यह समस्त संसार असार है। किसी ओर दृष्टि डालो। संसार कहते किसे हैं ? नाना प्रकारके परिवर्तन और परिभ्रमण करने वाले जीवके समूहका नाम संसार है। कुत्ता, बिल्ली, गधा, सुवा, कीड़ा मकोड़ा, पशु, पक्षी, मनुष्य अच्छे बुरे, यह सब जीवोंका जो समूह है इसका ही नाम संसार है कि जगहका नाम संसार है। स्थानका नाम संसार नहीं है।

स्थानविभागसे संसार मोक्षके विभागका अभाव——यदि स्थानका नाम संसार कहें तो विभाग करके बतलावो कि कितनी जगहका नाम संसार है और कौनसी जगह छूटी, जिसका नाम मोक्ष है। तो यह कहा कि जहाँ सिद्ध भगवान बसते हैं उस जगहका नाम तो मोक्ष है और ये असंख्यात दीप समुद्र जहाँ भरे पड़े हुए हैं, जहाँ स्वर्ग और नर्ककी रचना है या सर्वात् सिद्ध तक है वह सब संसार है। तो ऐसा कहना तो ठीक नहीं बैठ सकता। इसका कारण यह है कि जितनेको तुमने संसार माना उस संसारमें भी रहने वाले जो अरहंत भगवान हैं, वीतराग सर्वज्ञ देव हैं वहाँ पर अरहंत भगवान तो बड़े सुखी हैं, परमात्मा हैं, तीन लोकके अधिपति हैं, समस्त जीवोंके द्वारा आराध्य हैं। और जिसको मोक्ष माना है उस सिद्ध लोकमें भी अनन्त निगोदिया जीव भरे हैं, जो एक स्वासमें १८ बार जन्म मरण करते हैं तो वहाँ रहकर भी ये निगोदिया जीव दुःखी हैं। सुखी तो नहीं हैं ? नहीं। तब जगहके विभागसे संसार और मोक्षका विभाग नहीं हो सकता।

परिणामोंके विभागसे संसार मोक्षका विभाग—परिणामोंके विभागसे संसार और और मोक्षका लक्षण बनता है। जो रागद्वेष परिणाम है, जो नानारूपका पर्यायमें परिणमन है वह सब संसार है। जहाँ रागद्वेप मोह नहीं है केवल शुद्ध ज्ञानका परिणमन है, जहाँ ज्ञानके द्वारा दो लोक और अलोक साक्षात् स्पष्ट जान लिए जाते हैं, केवल जहाँ ज्ञानका वर्तना रहता है ऐसे निर्दोष परिणामका नाम मोक्ष है। परिणामोंसे ही संसार है और परिणामोंसे ही मोक्ष है।

जीवमें संसारभाव आनेसे बिगाड़——जैसे पानीमें नाव पड़ी रहे तो नावका बिगाड़ नहीं होता, पर नावमें पानी आ जाय तो नाव डूब जाती है। इसी प्रकार इस संसारमें हम आप बस रहे हैं, इससे हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं है, पर हम आप अपने चित्तमें संसारको बसा लें, मोह रागद्वेष बसा लें, इन पदार्थोको अपनेमें ही स्थान दें तो इससे हमारा आपका बिगाड़ है।

संसारकी अज्ञानरूपता—यह सब संसार अज्ञानरूप है। जहाँ तक अज्ञान माना है, परमार्थ संसार वहीं तक है। और मनुष्यको तो १२ गुणस्थान तक माना है। एक दृष्टिसे १२वें में नहीं है क्योंकि वहाँसे लौटनेकी बात नहीं है। इसलिए ११वें तक संसार है। और एक दृष्टिसे ११ वें गुणस्थानमें संसारभाव नहीं। वस्तुत: जिस जीवको रागद्वेष भावोंसे विरक्त केवल ज्ञानज्योतिर्मय आत्मतत्त्वका परिचय हो गया उसका संसार छूट गया। उसके अनन्तानुबंधी कषाय नहीं है। अनन्तानुबंधी कषायसे अज्ञान है। इस ज्ञानभावका प्रतिबन्धक कौन है? अज्ञानभाव। यह अज्ञान मुझे मोक्षमार्गसे रोकता है। सीधे शब्दोंमें यों कह लिया जाय कि यह मोह ही मोक्षसे मुझे रोकता है।

प्रभुकी प्रभुताके रूप—मोह और मोक्ष, ये दोनों बराबरके बल वाले परिणमन हैं। मोक्षके परिणमनमें यदि अनन्त सुख भरा है तो मोहके परिणमनमें अनन्त दु.ख भरा है। मोहका परिणमन करने वाला जीव मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता है और मोक्षका परिणमन करने वाला जीव मोह नहीं प्राप्त कर सकता है। मोक्षके परिणमनमें यह सारा विश्व आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह ज्ञात हो रहा है। इतना विराट रूप है केवलज्ञानके भगवान का कि विराट रूपमें यह सारे विराट ज्ञेय पदार्थ, विराट विश्व उनके ज्ञानके एक कोनेमें समाया रहता है। तो यदि प्रभु भगवानका, मुक्त जीवका इतना विराट रूप है तो इस संसारी जीवका भी विराट रूप देखिए। निगोदसे लेकर स्वयंभूरमण समुद्रमें रहने वाले मच्छ तक इतने प्रकारके देहके अवगाहनाके काय हैं, ऐसा विचित्र देहरूप परिणमन कर लेना यह क्या इस आत्मप्रभुका विराट रूप नहीं है? मुक्त जीव और मोही जीव, इन दोनोंका अद्भुत पराक्रम आप देखते चले जा रहे है, पर मोही जीवके पराक्रममें केवल आकुलताएँ हैं और मोक्षार्थी जीवके पराक्रममें अनन्त आनन्द है।

आत्मप्रभुकी अनात्मपदार्थोंसे विविक्तता—हम आप सब समस्त पदार्थोंसे जुदा हैं। जितने भी चेतन अचेतन भौतिक पदार्थ इस जगतमें हैं उन सबसे मैं न्यारा हूं और घरमें उत्पन्न होने वाले जो ५-७ जीव हैं उनसे भी मैं न्यारा हूं। मैं इस शरीरसे भी न्यारा हूं। मैं जो जान रहा हूं उस जाननहारको तो तकिये। यह सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञानघन आत्मप्रभुके अंतरङ्गमें किसी भी प्रकारका रागद्वेष नहीं है। ऐसे इस आत्मप्रभु पर हम आप कितना अन्याय करते चले जा रहे हैं? कितने रागद्वेष मोह बनाते चले जा रहे हैं जिनके कारण इस जीवको चारों गतियोंमें भटकना पड़ रहा है। किसीसे भी विश्वास न करो कि इन पदार्थोंके कारण मेरा हित हो जायगा। पुत्र मेरा हित न करेगा, कोई मित्र ऐसा नहीं है जगतमें जो स्वार्थके बिना मेरी खबर रखने वाला हो। कोई बंधु नहीं है ऐसा लोकमें, कोई परिवारका सदस्य नहीं है ऐसा लोकमें कि खुदके स्वार्थकी पूर्ति हुए बिना

आपसे प्रेम जताया करें। सब जीव हैं, सब पदार्थ हैं, सब अपने-अपनेमें परिणमते है। तो फिर किसमें हित मानें और किसमें सुख मानें ?

अज्ञानके परिहारकी प्रेरणा—अब एकदम मोहके पथको छोड़िये, तोड़िए, मुड़िये, पीछे देखिए, अपने आपको देखिए, यह ज्ञान आ जाय तो यह अद्भुत आनन्दनिधान ज्ञान-मात्र आत्मप्रभु तो यहीं विराजमान है। उस प्रभुका ज्ञान आ जाय तो जगतके तीन लोक तीन कालके सब पदार्थ आपको स्पष्ट प्रतिभास हो जायेंगे। क्या चाहिए आपको ? आनन्द। तो उस आनन्दके ही उपायमें लगिये, शुद्ध आनन्दका स्वरूप समझिए। यह भगवान जिनेन्द्र देवकी वाणी है। किसीके बहकावेमें न आइए, यह जिनेन्द्रदेवकी वाणी ही सत्पथमें लगाने के लिए है। बहका हुआ प्राणी यह मानता है कि मुझे लोग बहका रहे हैं। तो जब तक बहम नहीं मिट जाती तब तक यथार्थ बुद्धि नहीं आती। इस ज्ञानका साक्षात् प्रतिवंधक मात्र अज्ञान परिणाम है।

सम्यक्चारित्रके प्रतिबन्धकका परिज्ञान—इस अज्ञान परिणामकी प्रेरणासे यह जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहमें लगता है। सो अंदाज कर लो कि इस कषायके फलमें मिलता क्या है ? यह ही मिथ्याचारित्र है। ये विषयकषायके भाव आत्मशांतिको मिटा देते है। आत्मशान्ति कहो, आत्मविश्राम कहो अथवा सम्यक्चारित्र कहो एक ही बात है। मोक्ष-मार्गका उपाय अंतिम सम्यक्चारित्र है। यह सम्यक्चारित्र भी हम आप आत्माका स्वभाव है। यह क्यों नहीं प्रकट हो पाता है ? इस सम्बंधमें अब इस प्रकरणकी तीसरी गाथा कही जा रही है:

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

चारित्रका प्रतिबन्धक कषायभाव—ज्ञानका जानना, रम जाना सो चारित्र है। इस ज्ञानका प्रतिबंधक है कषाय। ऐसा जिनेन्द्रदेवने बताया है। उस कषायके उदयसे यह जीव अचारित्री हो जाता है। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं रह सकती हैं, इसी प्रकार एक उपायमें मिथ्याचारित्र और सम्यक्चारित्र दोनों तरहकी परिणतियां नहीं सकती हैं। यदि कषायभाव है तो चारित्रसे हाथ धोइए और यदि सम्यक्चारित्र है तो वहाँ कषाय नहीं रह सकेगा। इस कषायका विरोधी सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्रका विरोधी कषायभाव है।

कषायोंका दुष्परिणाम—अब इन विषयकषायोंका प्रताप तो देखो ! जब यह क्रोध करता है तो कितना दुःखी रहता है और क्रोध करता है मदसे। जिस पदार्थपर क्रोध करते हो वह पदार्थ तुम्हारे आधीन नहीं, तुम्हारा हित अहित करने वाला नहीं, वे परपदार्थ अपने स्वरूपको छोड़कर तुम्हारे स्वरूपमें आते नहीं, किन्तु अपने ही आत्मामें पड़े-पड़े अपने

ही आत्मामें पड़े-पड़े अपने ही गुन्नारेसे कल्पनाएं बना-बना कर स्वयं क्रोध किया करता है, दु:खी हुआ करता है। इस क्रोधसे आत्माके सारे गुण जले जा रहे हैं, पर विवेक नहीं है तो क्रोध किए बिना यह रहता नहीं है। जिसे संसारके यथार्थस्वरूपका परिचय नहीं है वह इन दुर्गतियोंमें ही भटकता है।

मेरे भले बुरे होनेका कारण मेरा भला बुरा परिणाम——भैया ! क्या करना है अपन को ? जैसे बड़े पुरुष छोटे आदमीकी गल्तीको अनसुनी कर देते हैं, इससे मेरा क्या बिगाड़ होता है, इसी तरह ज्ञानी पुरुष परद्रव्योंके परिणमनका अंदाज कर लेता है। इन परपदार्थों के परिणमनसे मेरा क्या हित अहित होता है, मैं बुरा होऊं तो मेरा अहित होगा और मैं भला होऊं तो मेरा भला होगा। यह एक पक्का निर्णय है। मेरे बुरा होनेका मतलब ही कषायोंका लिपटा होना और मेरे भले होनेका मतलब है कषायरहित शुद्ध ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको निहार कर ज्ञानमात्र परिणमन बनाना, यह है भला होनेका परिणमन, सो इस स्वरूपको इन दुष्ट भावों ने दबा रखा है, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ६ शत्रुवों ने मेरे इस ज्ञानस्वरूपको बरबाद कर दिया है जो कि अनन्तानुबंधी क्रोधादिकके भेदसे २४ प्रकारके कहे गए हैं। कषाय भावके उत्पन्न होनेसे साक्षात् सम्यक्चारित्रका विनाश होता है। ये सारी बातें रखना, खोटा अभिप्राय रखना, अज्ञान होना, कषाय होना यह आत्माका ही कर्म है। इन्हें आत्मा ही तो किया करता है। ये कर्म स्वयं मोक्षके हेतुके तिरोधायी हैं अर्थात् जब हमारा कर्मरूपी परिणमन है तो वहाँ मोक्षमार्गरूपी परिणमन नहीं है। इस कारण समस्त कर्मोंका प्रतिषेध किया गया है।

धर्म भावकी उत्कृष्टता—यह पुण्यपापका अधिकार है। इस ग्रन्थमें शुभ परिणामोंको पुण्य कहा है और अशुभ परिणामोंको पाप कहा है, मगर इन दोनोंसे उत्कृष्ट विलक्षण एक धर्म परिणाम देखिए। जो मोक्षका साक्षात् उपाय है। शुद्ध वीतराग, ज्ञानमात्र सहज आत्म-स्वरूपको निहारना सो धर्म है। इस धर्मका तिरोभाव किया है, विनाश किया है तो इन विभ्रम व कषाय कर्मोंने किया है। चाहे वह शुभ परिणाम हो, चाहे पाप परिणाम हो वह धर्मभावको रोकता है। इस कारण मोक्षके हेतुको रोकनेके कारण ये पुण्य पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्म निषेध योग्य हैं।

कर्मके प्रतिषेधमें कर्तव्यसम्बन्धी प्रश्नोत्तर——इस प्रकार समस्त कर्मोंको निषेधके योग्य बतानेपर एक जिज्ञासु पुरुषको शंका उत्पन्न होती है कि फिर क्या किया जायगा ? हम खोटे भावोंको दूर कर दें और तप, व्रत नियम भावद्भक्ति आदि शुभ परिणामोंको भी दूर कर दें तो फिर क्या किया जायगा ? उत्तर——किया जायगा एक ज्ञानमात्र स्थिति हो जायगी। देखिए आप सबकी गृहस्थावस्था है। गृहस्थामें शुभोपयोगकी मुख्यता है, देवपूजा

करिये, गुरुवोंकी उपासना करिये, संयम, व्रत और तपमें लगिए और उदार होकर दान कीजिए। ये ६ प्रकारके काम गृहस्थोंको करनेके लिए बताए गए हैं। सो गृहस्थोंमें यद्यपि शुभोपयोगकी मुख्यता है किन्तु यदि दृष्टि ऊंची नहीं चलती है तो मोक्षमार्गसे तुम वंचित रहोगे। साधुका ज्ञान और श्रावकका ज्ञान चूँकि आत्मा तो वही है, एकसा रहता है मोक्षमार्गके निर्णयमें। गृहस्थोंकी दृष्टि ऊंची रहेगी, तब छोटे-मोटे शुभोपयोगरूपी धर्म भी अच्छी प्रकार पलेंगे। यदि शुभोपयोग तक ही दृष्टि रहे तो न शुभोपयोग हाथ रहेगा और न शुद्धोपयोग हाथ रहेगा। इस कारण मोक्षार्थी पुरुषके लिए क्या करना चाहिए, इसका वर्णन अब अमृतचन्द्राचार्यके एक कलसमें कहते हैं।

पुण्य पापरूप समस्त कर्मोंके त्यागका उपदेश——सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना। सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा। सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्। नैष्कर्म्य प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति। कह रहे हैं कि मोक्षके चाहने वाले पुरुषके लिए सर्व प्रकारके कर्म त्याग देने चाहिएँ। कर्म मायने करतूत। पुण्यकी करतूत और पापकी करतूत। शुभोपयोगकी करतूतको त्यागना चाहिए। कोई पुण्यकी करतूतको त्याग दे और पापकी करतूतको न त्यागे तो वह तो सीधा नरक निगोदका पात्र है। इसके अतिरिक्त और कोई गति उसके लिए नहीं है किन्तु पाप और पुण्य दोनोंको एक साथ त्याग सके तो उस जीवकी महिमा है और वह जीव मोक्षका पात्र है।

पुण्यपापरूप दोनों कर्मोंके त्यागका फल—गृहस्थावस्थामें कैसी वृत्ति होनी चाहिए कि पापका तो त्याग करें और धर्मका लक्ष्य रखें और पुण्य परिणाम होता हो तो होने दें। यह स्थिति होती है गृहस्थावस्थामें। तो जब यहाँ मोक्षार्थी पुरुषके लिए पुण्य, पाप दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग करना बता दिया है तब पुण्य और पापकी तो कथा ही क्या है ? जब शुभ और अशुभ व ज्ञानके बदलने रूप तककी क्रियाका त्याग बताया है तब पुण्य और पापकी कहानी कौन कहे ? ये तो त्यागने योग्य ही हैं। तब होता क्या है कि जब सब प्रकारके कर्मोंको त्याग दिया जाता है तो सम्यक्त्व आदिक जो आत्माका स्वभाव है उस स्वभावरूपसे यह आत्मा होने लगता है। आप कषाय न करेंगे तो शांति झक मारकर आयगी। आप अभिमान न करेंगे तो कोमलता अपने आप आयगी, सरलता स्वयं विराजेगी, जब आपके तृष्णा न रहेगी तो पवित्रता स्वयमेव आयगी, क्योंकि ये सब आत्माके स्वभाव हैं।

ज्ञानसंयतिका उत्कृष्ट फल—जब यह जीव समस्त विषयकषायोंकी इच्छाको त्याग देता है, सर्व प्रकारके कर्मोंको त्याग देता है तब सम्यक्त्व आदिकका अपने स्वभावसे परिणमन होता है और उस परिणामनमें यह ज्ञान मोक्षका हेतु बनता है। यह ज्ञानयोगमें, समाधिमें स्थित होता है, इस ज्ञानका रस बढ़ने लगता है, और अगर आप बाहर जाननेकी कोशिश

करते हैं तो ज्ञानमें कमी रहती है। जब हम बाहरमें जाननेकी कोशिश न करें बल्कि सर्व पदार्थोंके जाननेका हम अपनी बुद्धिसे त्याग कर दें तो अपने आपमें इस ज्ञानके संयत होनेके कारण ऐसा ज्ञानरस बढ़ेगा कि तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ जाननेमें आ जायेंगे। वही तो प्रभुकी दशा है।

प्रभुभक्तिकी मोहनाशकभावरूपमें परिवर्तना—हम प्रतिदिन आकर मंदिरमें भगवान स्थापना जिनेन्द्रके समक्ष प्रणाम, नमस्कार, पूजन, स्तवन करते हैं तब यह भाव भरें कि प्रभु जो तेरा स्वरूप है वही उत्कृष्टस्वरूप है, यही मेरे लिए शरण है और ऐसा मैं भी हो सकता हूं। आपके ध्यानके प्रतापसे मुझमें वह बल प्रकट हो कि मेरा मोह दूर हो जाय और आप जैसी उत्कृष्ट अवस्था मेरेमें प्रकट हो। इतना भाव यदि इस पूजन, स्तवनके समय नहीं भर सकता है तो समझ लीजिए कि हमने पूजा ही नहीं की। ऐसा उत्साह जगे कि मोहको तो नष्ट ही कर दें।

ज्ञान व वैराग्यपूर्वक कर्तव्य—घर छोड़नेकी बात नहीं आपसे कही जा रही है। आपके लड़के आपकी दूकान वही है किन्तु भीतरसे इतनी श्रद्धा कर लेनेमें आपका कुछ बिगड़ता है क्या? यह जीव है, इसकी भिन्न सत्ता है। ये मेरे कुछ लगते नहीं हैं। ये किसी गतिसे आए हैं और किसी गतिको चले जायेंगे, सदा रहनेका यह संयोग नहीं है, ये सब बिछुड़ जाने वाले जीव हैं ऐसी श्रद्धा बनी रहे, लोकव्यवस्थाके नाते करना सब कुछ आपको पड़ेगा। दूकान चलाये बिना काम न चलेगा, कोई प्रकारकी आजीविका किए बिना काम न चलेगा, गृहस्थीका गुजारा न होगा, पर सच्ची श्रद्धा यदि साथ रह जायगी तो समझ लीजिए कि हम मोक्षमार्गमें लगे और श्रद्धाविहीन होकर जैसा चाहे तैसा कीजिए। उसका फल तो संसारमें जन्ममरण करना है। मनुष्यभवसे चिगकर कीड़े मकोड़े, पशु पक्षी आदिमें जन्म ले लिया तो इनमें ही जानेमें अपना लाभ समझते हैं। अरे लाभ नहीं है। तो कार्य ऐसा कीजिए कि जिससे जब तक मेरा संसार शेष है तब तक धर्मका समागम मिलता रहे और उसमें ही पल पुसकर हम निर्वाणको प्राप्त करें।

ज्ञान और कर्माविरतिका भी क्वचित् युगपत् निवास—जब तक जीवके कर्मोंका उदय है और ज्ञानके सम्यक् प्रकारसे विरति नहीं होती है ऐसी स्थितिमें ज्ञान और कर्म दोनों एक साथ आत्मामें ठहरते हैं। कोई जीव ऐसे हैं कि जिन्हें ज्ञान तो यथार्थ हो गया, किन्तु कर्मों का उदय प्रबल होनेसे वे क्रिया कर्मोंसे विरक्त नहीं रह सकते, इसलिए कुछ प्रवृत्ति भी है, ऐसी स्थितिमें कुछ जीवोंके ज्ञान और कर्म दोनों एक साथ चलते हैं अर्थात् आरम्भपरिग्रहमें भी लगना, भक्ति भी बने रहना और शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति, उन्मुखता रहना—ये दोनों एक साथ रहते हैं। पूर्ण उपयोग नहीं होता, ऐसी प्रवृत्ति चल रही है और उसका यथार्थ

ज्ञान बना हुआ है इसलिए प्रवृत्तिसे निवृत्ति की भावना चल रही है। जब ऐसी स्थिति होती है कि ज्ञान और कर्मोंके इकट्ठा रहनेमें विरोध नहीं आता, किन्तु उस परिस्थितिमें भी जितने कर्म हैं, जितने कर्मभाव है उतने तो वे बंधके लिए है और उसमें जितना ज्ञान भाव है वह मोक्षके लिए है। जो जानन है वह तो कर्मोंसे रहित है, राग द्वेषसे दूर है। उस कर्म के करनेमें इस जीवको मालिकाई का अनुभव नहीं होता।

परका स्वामी मानना अज्ञान—वह आत्मा अज्ञानी है जो किसी परवस्तुके प्रति ऐसा भाव रखता है कि मैं मालिक हूं। मकान धन वैभव परिवार मित्रजन सब कुछ अपने से अत्यन्त न्यारे हैं। मैं उनमेंसे किसका अपनेको मालिक समझूँ, यह बड़ा मलिन परिणाम है। इसका फल अच्छा नहीं होता। संसारमें रुलना ही इसका फल है। ऐसा पवित्र जैन· शासन पाकर अपने उपयोगको इतना तो निर्मल बना लो कि यह मैं आत्मा केवल अपने ही स्वाधीन हूं, किसी परवस्तुका परका मालिक नहीं हूं। ऐसी अंतरङ्गमें श्रद्धा बना लो। बात भी सही यही है इस कारण कही जा रही है। यदि परका मैं मालिक हूं, ऐसा ही भाव बनाया तो मालिक तो त्रिकाल हो ही नहीं सकता। पर इस भ्रममें जो पाप बंधेगा उसका फल भव-भवमें भोगना पड़ेगा पुण्यका उदय है, कुछ ठाठ मिल गया, इसमें आसक्त न हों, यह सदा रहनेको नहीं है। इसका वियोग होगा। कुछ अपने आत्माकी सुध लो। कर्मोंका उदय है, गृहस्थीमें रहना पड़ता है पर उनमें मालिकाईका अनुभव तो न करो, इतना तो गम खावो, अन्यथा फिर गति सुलझनेको नहीं है।

मोक्षका साधक ज्ञातृत्व परिणमन—मोक्षके लिए तो एक ज्ञानपरिणमनको साधक बताया गया है। तुम सबके ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहो। यदि राग होता है तो उसके ज्ञाता रहो। मोक्षमार्गमें जब व्यवहारपद्धतिसे चलते हैं तो वहाँ ज्ञान और प्रवृत्ति दोनों बने रहते हैं। जैसे गृहस्थजन पूजा करें, गुरु उपासना करें और और प्रकारकी समाज सेवा करें किन्तु ये सब करते हुए भी अन्तरङ्गमें यह ज्ञान रखना आवश्यक है कि है हमारा कहीं कुछ नहीं, मेरा उपयोग विषय कषायोंमें न लग जाय, इस कारण अपने उपयोगको किसी शुभस्थानमें लगाएं। पर पूरा तो पड़ेगा मेरे ज्ञानभावसे ही ऐसी श्रद्धा बनाए रहें। साधु भी तो अपने पदके योग्य सब चेष्टाएँ करके ऐसी श्रद्धा रखता है कि मैं तो चैतन्यमात्र हू, मेरा लोकमें कहीं कुछ नहीं है। यह सब कुछ करना पड़ता है। इस संसारसे मुक्त होना है, इस लिए महाव्रत, समिति, गुप्ति–ये सब पालन करने पड़ते हैं किन्तु मेरा स्वरूप तो शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है।

अज्ञानियोंकी क्रियाकाण्डोंमें ही रुचि—केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना मेरा काम है। ऐसी ही बात यथार्थ है, लेकिन कोई अज्ञानी पुरुष ज्ञान और क्रिया कांडोंमें से केवल क्रिया

कांडोंका ही आलम्बन करे, ज्ञानभावको छोड़ दे, जो व्रत, तपस्या, नियम आदिक किए जा रहे हैं उनकी ही हठ पकड़ले ऐसा करनेमें ही धर्म है, इससे ही मुक्ति मिलेगी। ज्ञानको छोड़ दें तो वह मुक्तिमार्गका यथार्थ पथिक नहीं है। जैसे यहाँ दर्शन करने आते तो भगवानको जगानेके लिए घंटा ठोका करते हैं। इतना भी ध्यान नहीं होता कि लोग सामायिक या शास्त्र सभामें बैठे हैं, उनको बाधा पहुँचेगी तो यह एक क्रियाकांडकी आसक्ति ही तो है। जिन साधुजनोंने क्रियाकांडोंको ही पकड़ लिया और ज्ञानको छोड़ दिया तो मुक्तिका मार्ग तो यह ज्ञानभाव ही था।

बाह्यचारित्रकी उपेक्षासे हानि—इस ज्ञानभावको भूल गए तो मुक्ति कहाँसे पावोगे ? कोई पुरुष ऐसा हो कि शास्त्रोंमें सुन रखा है कि मोक्षका मार्ग ज्ञान ही है, कुछ करना नहीं है व्रत, नियम, तप वगैरह, सो वह हो गया स्वच्छन्द। अब वह उद्यम और पुरुषार्थ करेगा क्या, और गप्पें मारने लगे कि आत्मा है, ज्ञानमात्र है, खाता नहीं, पीता नहीं, चलता नहीं, ये राग हैं, भक्ति करनेसे पुण्य होता है। पुण्य संसारका कारण है, गप्प मारनेमें लग गए और भीतरमें ज्ञायकस्वभावी प्रभुकी पकड़ न कर सके तो वह भी स्वच्छन्द हो गया और शिथिल हो गया। ये दोनोंके दोनों तिर सकनेमें असमर्थ हैं।

ज्ञान और अप्रमादसे सिद्धि—जो निरन्तर ज्ञानरूप होता है, जो क्रियाकांडोंमें नहीं पड़ते, जिनके प्रमाद नहीं होता वे सावधान हैं, वे ही लोग इस लोकके ऊपर तैरते है अर्थात् समस्त लोकको मात्र जानते हैं, परमात्मा बनते हैं। सर्वत्र मुख्यता है सम्यक्त्वकी। सम्यक्त्वके समान तीन लोक तीनकालमें श्रेयस्कर पदार्थ कोई नहीं है और मिथ्यात्वके समान अहितकर तत्त्व और कोई नहीं है। मेरा ही आत्मा मुझे आनन्दमें पहुँचाता है और मेरा ही आत्मा मुझे क्लेशमें पहुंचाता है, संसारमें पहुंचाता है। मेरा ही आत्मा मुझे मुक्तिमें पहुँचाता है। मेरा रक्षक इस लोकमें कोई दूसरा नहीं है। जो पद्धति संसारसे छूटनेकी है उस पद्धतिसे ही संसारसे छूटा जा सकेगा और जो पद्धति संसारमें रुलानेकी है उस ही पद्धतिसे संसारमें रुलना होगा।

एकान्त हठका निषेध—यहाँ एकान्तमतका निषेध किया गया है। जो अपने ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानता नहीं है और व्यवहारमें दर्शन ज्ञान चारित्रके अंग और दर्शनकी क्रियाओंको ही, आडम्बरको ही मोक्षका कारण जानकर उसमें ही तत्पर रहे वह कर्मनयका पक्षपाती जीव है। कर्मनयके पक्षपाती जन ज्ञानको तो जानते नहीं और क्रियाकांडोंमें ही रहकर खेदखिन्न होते हैं। वे संसारसमुद्रमें डूबते हैं, तिरनेका उन्हें अभी उपाय नहीं मिला। सबसे बड़ा काम तो शांतिसे रहनेका है। वह धर्म क्या है जिस धर्मके पालते हुएकी स्थितिमें अशांति पैदा हो जाय, क्रोध आ जाय। वह धर्म नहीं है, वे व्रत, नियम, सोध भी धर्म नहीं हैं, जिनमें क्रोध बना रहे, मान माया बनी रहे। वे कर्मोंके चंगुलमें फंसे हुए हैं।

संकटोंके बादल— भैया ! चारों ओरसे इस आत्मापर संकट छाये हुए हैं। आज मनुष्य हैं, मरकर पेड़ पौधे बन गए तो समझो कि उनकी क्या हालत है? दुनियावी दृष्टिसे देखो उनका क्या हाल होगा? कितने संकट छाए हुए हैं इसपर? यहाँ घमण्ड करने का कुछ अवकाश है, क्रोध करनेका कुछ काम है। माया, लोभमें रमनेसे माना लाभ है। अरे चारों ओरसे संकट इस जीवपर छाए हैं। तो हे भव्य आत्मन्, तू उस शुद्ध भगवानके स्वरूपकी उपासनामें रह और जगतके इन सब जीवोंको परमात्मस्वरूपमें निरख। इसमें न कोई तेरा साधक है और न कोई बाधक है। ये सब परमात्मतत्त्व हैं, जो ये जगतके जीव रुल रहे हैं ये पुरुष अपने आपको भूलकर रुल रहे हैं। यहाँ तुम्हारा साधक या बाधक कोई नहीं है। तुम अपनी समतासे रहो और इस जीवनको मुक्तिके मार्गमें लगाओ।

यह पुण्यपापका अधिकार चल रहा है। यह अब समाप्त होने को है। इस समाप्ति के प्रसंगमें इस तरहका ध्यान बनाओ कि लो अब तक मैं खूब सुन चुका कि इस जीवका केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने मात्रमें ही हित है और कल्याण है। इसके अतिरिक्त शुभ भाव करना, अशुभभाव करना ये दोनों ही संसारमें रुलानेके कारण है। ऐसा जानकर यह ज्ञान ज्ञान मात्र आत्माको जाने, यही ज्ञानकी उत्कृष्टता है। संसारमें अनेक प्रकारके ज्ञान हैं। आवि-ष्कारका ज्ञान, राजनीतिका ज्ञान, व्यापार विज्ञान, अनेक कलावोंका ज्ञान, पर इन ज्ञान बढ़ाने वालोंसे पूछो कि खूब तुमने कलाएं दिखायीं और मायामय लोकके बीच बड़प्पनका भी शौक लूटा, पर तुम्हारी आत्मामें कुछ शांति प्रकट हुई है या नहीं? वहाँ यह उत्तर मिलेगा कि शांति तो नहीं मिल सकी। इसका कारण यह है कि यह परविज्ञान अपने आत्माके स्वरूपके ज्ञानको छोड़कर परमें आकर्षित होकर होने वाला विज्ञान निराश्रय है, इन विज्ञानोंको ध्रुव आश्रय नहीं मिला सो यह बदलता रहता है और किसी वस्तुके ज्ञानमें देर तक रहनेमें आकुलताएं हो जाती हैं, क्योंकि संतोषका साधन तो परतत्त्व है नहीं, किन्तु अज्ञान जबरदस्तीमें ही परके उपयोगको खींचे जा रहा है तो असंतोष ही होगा। संतोष होगा तो एक अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूपके जाननेमें संतोष होगा।

आत्मानुभवका यत्न— आत्माका यथार्थ अनुभव कब होता है जब कि मनमें संकल्प विकल्प नहीं रहता। यहाँके पदार्थोंमें इष्ट और अनिष्टका जो उन्माद चल रहा है वह पागलपन है। जिस भ्रम रसके पीने से एक बावलेकी तरह अनेक पदार्थोंको ग्रहण करता और छोड़ता है ऐसे इन सब मिथ्या कर्मोकी भूलसे उखाड़ देनेपर ही उसे ज्ञानप्रभुसे भेंट हो सकती है। योगीजन ज्ञानघन आनन्दमय पवित्र प्रभुकी भेंट छोड़कर रुलने वाले मोही मलिन अज्ञानीजनोंसे भेंट कर रहे हैं, इन्हें ही अपना सर्वस्व मान रहे हैं, किन्तु ये बिल्कुल भिन्न है और इन्द्रधनुषकी तरह तत्क्षण विनाशीक हैं। रहेगा यहाँ कुछ नहीं। केवल

पछतावा ही हाथ रह जायगा। तो उस पछतावेसे लाभ क्या है ? जीवन रहते हुए पछता लेनेपर तो कुछ लाभ मिलता है, जीवन जाने पर पछतावा किया तो उससे क्या लाभ मिलेगा ?

ज्ञानकला——भैया ! सत्य श्रद्धा जगावो। भीतरकी यह बात है। किसीसे कहना नहीं है कि यह पुत्र तो निगोदका कारण है, यह स्त्री तो नरकी खान है, यह कहना नहीं है। भीतरमें यह श्रद्धा रखो कि कर्मोदयवश इनमें लगना पड़ रहा है। स्त्री हो, पुत्र हो, कोई भी हो, यह जो परवस्तुवोंका आकर्षण है वह अपनेको रीता कर डालता है। खुदमें जब भरकमपना नहीं रहता तब यह स्वयं रीता हो गया। शांति और आनन्दकी धुनि नहीं होती तो यह दर-दर ठोकरें खाकर अपने समयको गुजारा करता है। इस भेदके उन्मादको तजो, एक ज्ञानस्वरूप अपने प्रभुको निरखो, जगतके अन्य जीवोंको भी अपने स्वरूपकी तरह निरखो, ये किसी भी प्रकार चलें, परिणमें, उन सबसे कर्मोंकी प्रेरणा समझो, जीवों का दोष न समझो। यों स्पष्ट कर्मोंसे ज्ञानातिरिक्त भावोंको मूलसे उखाड़कर अपनी कलाको संभालो। तुम्हारी कला है ज्ञानकी कला। उसे जान लो और चाहे कुछ न जानो केवल ज्ञाता दृष्टा रहनेकी कलाका प्रयोग करना है

नियमका फल——एक गृहस्थ साधुके पास गया। साधुने कहा कि तुम दर्शनका नियम ले लो। कहा, महाराज ! मंदिर तो बड़ी दूर है। उतनी दूर जाना मुश्किल है। अच्छा तो तुम्हारे घरके सामने क्या है ? कहा महाराज, हमारे घरके सामने एक कुम्हारका घर है सो उस कुम्हारका भैंसा हमारे दरवाजेके सामने बंधा रहता है सो उस भैंसेका चाँद हमें रोज दिख जाता है तो साधुने कहा, अच्छा तुम उसीके दर्शन करके खाना खाया करो। बोला हाँ महा-राज, यह तो हो जायगा। गप्पें सुननेमें तो बड़ा मन लगता है पर धर्मचर्चाकी बात सुननेमें थोड़ा चित्तको बलपूर्वक लगाना पड़ता है। सो वह रोज उसी चांदका दर्शन कर लिया करे। एक दिन १ घंटा पहिले ही कुम्हार भैंसेको लेकर खानसे मिट्टी खोदकर लानेके लिए चला गया। जब वह वहाँ दर्शन करने पहुंचा तो भैंसा न मिला। पता लगाते-लगाते वह खानके निकट पहुंचा। जिस समय वह पहुंचा उस समय क्या हुआ कि कुम्हारको खानसे मिट्टी खोदतेमें एक अशर्फियोंसे भरा हंडा मिला। सो उस कुम्हारने सिर उठाकर देखा कि कोई देखता तो नहीं है। इतनेमें वह गृहस्थ भी उस भैंसाका चांद देखने पहुंच गया। भैंसेके चांद को देखा। कुम्हारने समझा कि सेठने देख लिया। कुम्हार चिल्लाता है कि अरे सेठ जी सुनो तो, सेठने कहा बस देख लिया। क्या देख लिया ? भैंसेका चांद। कुम्हार क्या सोचता है कि हमारी अशर्फियोंका हंडा इसने देख लिया है। अरे तो जरा सुनो तो, बस देख लिया, सब देख लिया। वह तो अपने घर चला गया। कुम्हार भी अपने घर आया और विकल्पों

में पड़ गया कि कहीं यह राजासे कह न दे तो पिटाई भी हो और अशर्फियां भी छुड़ा ली जायेंगी। सो वह हंडा लेकर कुम्हार उसके घर पहुंचा और बोला सेठ जी, तुमने देख तो लिया सब, पर किसीसे कहने सुननेकी बात नहीं है, आधी तुम ले लो और आधी हम ले लें। आधी अशर्फियां ले लिया। तो सेठ सोचता है कि एक भैंसाके चांदके दर्शन करनेके नियमसे इतना धन मिला और साधु महाराज कहते थे कि मंदिरके दर्शन किया करो, यदि वहाँ दर्शन करें तो पता नहीं कौनसी निधि मिले?

श्रद्धापूर्वक भक्तिमें सिद्धि निश्चित — भैया! दर्शनका जरा विश्वास कम है इसलिए प्रभुदर्शनसे आनन्द और निधि मिल नहीं पाती। यदि पूर्ण विश्वास सहित जैसा प्रभुका स्वरूप है उस स्वरूपके दर्शन करें तो उस समय ऐसी स्थिति होगी कि किसी भी परपदार्थका संकल्प विकल्प नहीं है, कोई चिंता शल्य नहीं है, केवल आनन्दस्वरूप उस ज्ञानज्योतिका ही मिलन है। उसे ज्ञानमिलन कहें, चाहे जैनमिलन कहें बात एक है। जैनमिलन क्या है? जिनका भाव। जिन कहते हैं उसे जो राग द्वेष मोह जीते। ऐसे जिनकी जो करतूत है अर्थात् ज्ञानमात्र रहना उसको कहते हैं जैन, अर्थात् ज्ञानभाव। उस ज्ञानभावका मिलन जब होता है तब अनन्त आनन्दकी निधि प्राप्त होती है। ऐसे प्रभुकी भेंटमें ही ये दुष्ट कर्म नष्ट होते हैं। सो यह सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ अपने ज्ञानकी परमकलाके साथ शुद्धनयके बलसे अपने आपमें आनन्दमय क्रीड़ाको करता है और जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो साक्षात् इस समस्त विश्वके साथ अपनी ज्ञानक्रीड़ा करता है। उस ज्योतिसे अज्ञानरूपी अंधकार दूर कर लेता है।

ज्ञानज्योतिका अभ्युदय — यह ज्ञानज्योति समस्त कर्मोंको, इन क्रियाकांडोंके राग-द्वेषादिक भावोंको, मोहको उखाड़ कर प्रकट हुई है। ऐसे इस ज्ञानतत्त्वके साथ रमण करो और अपने इस रात दिनके २४ घंटे के समयमें १० मिनट भी तो अपनेको इस अपूर्व दयाके लिए निर्बाध रखो। निरन्तर मोहका विकल्प, रागकी कल्पनाएं बसाए रहनेसे कुछ लाभ नहीं मिलेगा, यह झमेला मेला है, ये सब विघट जायेंगे और अंतमें रुलते हुए अपना समय गुजारना पड़ेगा। तो सर्व प्रयत्न करके अपनी ज्ञानज्योतिको जगावो और ज्ञानरसका आनन्द लो। इस प्रकार यह पुण्य पाप नामक अधिकार समाप्त होता है।

गत अधिकारमें पुण्य पापका वर्णन किया था, ये कर्म पुण्य और पापके रूपसे दो भेष बनाकर इस रंगभूमिमें आए। जब वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान किया गया तब यह भेष मिट गया और केवल एक कर्मरूप प्रतीत हुआ और कर्मरूप प्रतीति कराते हुए ये कर्म बन गए।

आस्रवका भेष — अब इस अधिकारमें यह बतलाया जायगा कि सर्वकर्मोंके आनेका

जरिया क्या था ? इस अधिकारका नाम है आस्रव अधिकार। अब इस अधिकारका प्रवेश होता है। जैसे नृत्यके अखाड़ेमें नृत्यकार स्वांग रखकर प्रवेश करता है इसी प्रकार अब ये कर्म आस्रवका भेष रखकर प्रवेश करते हैं। यह अखाड़ा है अपने ज्ञानके उपयोगका। अब इस उपयोगभूमिके रंगमंचपर आस्रवके भेषमें कर्म आते हैं। पूज्य अमृतचन्द्र सूरिने इस अधिकारके प्रारम्भमें एक कलसमें बताया है—

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररंगपरागतमास्रवं।
अयमुदारगंभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोध धनुर्धरः ॥

विजयका साधन सम्यग्ज्ञान—अब इस समय दुर्जय ज्ञानरूपी धनुर्धारी महान् सुभट आस्रवको जीतता हुआ जयवंत होता है। आत्माकी विजय ज्ञानसे ही है। यह आत्मा ज्ञानमात्र है। जाननेके अतिरिक्त इसमें अन्य कोई स्वरूप प्रतिभात नहीं होता है। यह ज्ञान जब विशेष विशेष तत्त्वोंको पदार्थोंके जाननेमें लगता है तब तो यह ज्ञान घट जाता है, निर्बल हो जाता है और जब विशेषकर ज्ञान छोड़कर केवल सामान्य ज्ञानस्वभावके ज्ञानमें लगता है तो इस केन्द्रमें पहुंचनेसे ऐसा प्रताप प्रकट होता है कि कुछ क्षण बाद समस्त विश्वके तीनों कालका ज्ञान हो जाता है। ऐसी यह सर्वज्ञता की शक्ति रखने वाला भेदविज्ञान अब जयवंत होता है।

सत्य आशीर्वाद—भैया ! लोग बड़ोंसे आशीर्वाद चाहते हैं, प्रभुसे आशीर्वाद चाहते हैं। कौनसा आशीर्वाद चाहने योग्य है ? वह यही आशीर्वाद है कि प्रभु मेरा ज्ञान यथार्थ जयवंत हो। हे नाथ मैं और कुछ नहीं चाहता हूं। जगतके धन वैभव ये सब पुण्यके फल हैं। इन्हें कोई कमाता नहीं है। यह भ्रम लग गया है कि मुझमें ऐसी बुद्धि है कि मैं धनको कमाता हूं, परिवारको सुरक्षित रखता हूं। हे आत्मन् ! तेरेमें ताकत नहीं है कि किसी परपदार्थमें तू संयोग कर ले या उसकी अवस्था बना दे। तू तो ज्ञानमात्र है। अपनेमें ज्ञान करेगा, भाव बनायेगा। इसके आगे तू अपनेमें और कुछ नहीं कर सकता। बाहरमें कुछ करनेका अभिप्राय छोड़ दे। यह अभिप्राय मिथ्या है। इस ही अभिप्रायके कारण आज तक यह जीव संसारमें रुलता आया है। हे प्रभो ! आपका मुझे यह आशीर्वाद चाहिए कि मेरा ज्ञान यथार्थ प्रकट हो। और कुछ कामना नहीं है।

प्रमुख पात्रकी पात्रता—यह ज्ञान जो कि उपयोगभूमिपर नृत्यके मंचपर जयवंत होकर निःशंक प्रकट होता है वह ज्ञान उदार गम्भीर और महोदय है। इस आत्मामें कितने नाटक हो रहे हैं। कभी क्रोध हुआ, कभी कभी मान, माया, लोभ हुआ, कभी कषायके भाव हुए। उस कषाय, रागद्वेषादि विभावमें क्षोभ होता है। इस आत्मामें शुद्ध ज्ञान भी प्रकट होता है तो इस उपयोगके स्टेजपर कितनी ही परिणतियां नृत्य करनेके भेषमें उपस्थित होती

हैं । उन सब पात्रोंमेंसे उत्तम पात्र एक ज्ञान है । कोई नाटक खेला जाता है तो उस नाटक
में एक आधार मुख्य होता है जो सारे नाटककी जान है । जिस पर सब लोगोंकी निगाह
होती है ।

प्रमुख पात्रोंकी पात्रताके उदाहरण—जैसे मैनासुन्दरी नाटक खेला जाता है । उस
समस्त नाटकमें मैनासुन्दरीके कर्तव्यको कितना महान् देखा ? सबकी दृष्टि केवल उस मैना·
सुन्दरीके चरित्रपर जायगी । यद्यपि वहाँ पर पुण्यवान् श्रीपाल भी हैं, और इस मैना
सुन्दरीको अपनेसे भी अधिक महानताकी बात श्रीपालमें है, लेकिन दर्शकोंकी निगाह मुख्य·
रूपसे मैनासुन्दरीपर जायगी । तो नाटकका मुख्य एक पात्र होता है । जैसे सत्यवान राजा
हरिश्चन्द्रका नाटक हो, उसमें हरिश्चन्द्रकी स्त्री, हरिश्चन्द्रका पुत्र ये अच्छे चरित्र वाले न
थे क्या ? थे । उन्होंने भी काफी त्याग किया, सरलतासे कर्तव्यपालन किया, पर उस नाटक
में नाटकके प्रमुख पात्र हरिश्चन्द्र हैं । सबकी दृष्टि राजा हरिश्चन्द्रपर जाती है और जब
राजा हरिश्चन्द्रका प्रभाव उस स्टेज पर उदित होता है तो एकदम तालियां बजने लगती
हैं । पर नाटकका प्रधानपात्र एक होता है । इसी तरह इस आत्माके उपयोगभूमिमें अनेक
नाटक हो रहे हैं पर सब नाटकोंमें इस नाटककी जान एक ज्ञानपात्र है ।

मुख्य पात्रकी तीन विशेषतायें—भैया ! उस ही ज्ञानपात्रके सम्बन्धमें कहा जा रहा
है कि यह उदार है, गम्भीर है और महोदय है । नाटकमें जो मुख्य पात्र बनता है उसमें
ये तीन विशेषताएँ होनी चाहिएँ तब मुख्यपात्र माना जाता है । सबसे अधिक उदार कंजूस
हो उसकी पात्रता शोभा नहीं देती । किसीका बुरा न मानने वाला हो । सबपर क्षमा
और का समतापरिणाम रखता हो तो वह प्रशंसाके योग्य होता है और उस नाटकका
मुख्य पात्र अधिकारी होता है । इस ज्ञानको भी देखो, यह कितना उदार है ? जगतमें
विभिन्न पदार्थ होते हैं किन्तु उन पदार्थोंमें रागद्वेष न करो, उदार रहो । जो उदार रहेगा,
मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहेगा, रागद्वेषमें न पड़ेगा वह जीव अनाकुल रहेगा । उसपर संकट नहीं
आया करते हैं ।

उदारताका एक उदाहरण—एक छोटीसी कहानी है किम्बदन्ती कि ब्रह्मा एक
लड़के का भाग्य बना रहे थे । और इसके भाग्यमें लिख रहे थे काला घोड़ा और ५ रुपया ।
वहांसे निकला साधु । उसने पूछा क्या कर रहे हो ब्रह्माजी ! ··· कहा भाग्य बना रहे हैं ।
क्या लिख रहे हो ? ··· काला घोड़ा और ५ रुपया । ··· कहां पैदा कर रहे हो ? ···
अमुक लखपतीके घरमें ··· अरे तो इतने बड़े घरमें पैदा कर रहे हो तो उसके ही अनुकूल
भाग्य बनावो ना । ··· जावो–जावो तुम्हें इससे क्या मतलब ? ··· अच्छा तो तुम इसका
भाग्य बना लो, हम इसके भाग्यको मेटकर रहेंगे, तुम्हारा लिखा टाल देंगे । इतनी बातचीत

ब्रह्मा और साधुमें हुई। साधु घर गया। लड़का पैदा हो गया लखपतिके यहाँ। १२–१३ वर्षमें उसकी जायदाद सब साफ हो गई। मकान भी बिक गया। केवल झोंपड़ी काला घोड़ा और ५ रुपये उसके अपने गुजारेके लिए रह गये। १४ वर्ष बाद साधु उस नगरसे निकला, पता लगाकर उस झोंपड़ीमें पहुंचा। बालक ने साधुका बड़ा आदर किया। साधु बोला, बेटा जो हम कहें सो करोगे। ··· हां महाराज करेंगे। ··· तुम्हारे पास क्या है? काला घोड़ा और ५ रुपया। ··· घोड़ा बाजारमें बेच आवो। बेच आया १०० रुपयामें। जावो १०५ रुपये में घी, आटा, शकर खरीद लावो। भोजन बनावो और सबको खिलावो। उसने ऐसा ही किया। भोजन बनाकर भिखारियोंको बांट दिया। दिन गुजर गया। अब कुछ न बचा। रात्रिको ब्रह्मा सोचता है कि ५ रुपया और काला घोड़ा भेजें, क्योंकि भाग्यमें लिखा है। दूसरे दिन भेजा ५ रुपये और काला घोड़ा। दूसरे दिन फिर घोड़ा बेचवाकर भोजन बनवाकर सबको बंटवा दिया। इस तरह १५ दिन तक यह होड़ चलती रही। अब ब्रह्मा सोचता है कि ५ रुपये तो कहींसे टपका देंगे, पर काला घोड़ा रोज किसका छोर कर लाएं? हाथ जोड़कर कहता है साधु जी अब माफ करो। जो तुम चाहो सो कर देंगे, पर रोजकी चकल्लस मेरेसे नहीं बन सकती है। अच्छा तो इसका भाग्य वैसा ही लिखो जैसा कि बाप का था। लिखा वैसा ही। जो लिखा था वह मेटना पड़ा। यह तो किम्बदन्ती है।

उक्त कथाका सारांश—उक्त कथासे रहस्य यह निकालो कि हम जिन पदार्थोंमें आसक्त होते हैं, पकड़कर रहते हैं वे पदार्थ मेरे कमानेसे नहीं आते। पूर्वभवमें जो पुण्य किया था, उदारता की थी उसके फलमें ऐसे विशिष्ट पुण्य कर्म बंधसे ये सब आते हैं। पर इनका करने वाला मैं नहीं हूं। सो ज्ञाताद्रष्टा रहो, उदार रहो। आए हैं तो जाननहार रहो, आए हैं, ये सदा न रहेंगे। जो वैभव मिला है वह वैभव सदा न रहेगा। अव्वल तो कलका ही पता नहीं कि कल तक टिक सकेगा या नहीं। कुछ दिन बादमें तो ऐसा स्वरूप अवश्य आयगा कि हम न छोड़ेंगे तो यह वैभव हमें छोड़ देगा। ज्ञाताद्रष्टा रहो, इसीके मायने हैं उदार रहना।

अलौकिक उदारताका स्वामी—भैया! इन सब भेष बनाने वाले सैकड़ों पात्रोंमें कौन सा पात्र उदार है? क्या राग उदार है? नहीं। द्वेष मोह आदि उदार हैं क्या? नहीं। कामादि विकार उदार हैं क्या? नहीं। ये अत्यन्त अनुदार हैं। ये दूसरोंके जानकी भी परवाह नहीं करते और खुदके प्रभुके प्राणोंकी भी परवाह नहीं करते। ये विकार अनुदार हैं। ये उत्तम पात्र नहीं कहला सकते है। नाटकमें उत्तम पात्र वही कहला सकता है जो उदार हो। यह ज्ञान उदार है और गम्भीर भी है, क्षोभमें नहीं आता। ये रागद्वेष, क्रोध, मान माया, लोभ काम, ये सब क्षोभसे भरे हुए हैं। यह स्थिर नहीं है किन्तु ज्ञानभाव गम्भीर है,

स्थिर है, धीर है। यहां चर्चा चल रही है कि इस उपयोगके रंगमंचपर ज्ञानभूमिपर कौन कौन भाव कितना विचित्र नाटक कर रहे हैं, वैसे-वैसे परिणाम प्रकट हो रहे हैं? कभी शुभ भाव है, कभी अशुभ भाव है, कभी वैराग्यमें आकर भगवानके निकट पहुंचते हैं, कभी कषायसे पीड़ित हुआ करते हैं, कितने प्रकारके कर्म बताए है, कितनी तरहके भेद इस आत्मामें अपना लेते हैं? उन सब परिणमनोंमें से कौनसा परिणमन उत्कृष्ट पात्र है, उसकी बात यहां चल रही है। यह ज्ञान उत्कृष्ट पात्र है, उदार है।

ज्ञानकी महोदयता––यह ज्ञान महान उदय वाला है। यह ज्ञान सर्व विश्वको, लोकालोकको एक ही समयमें त्रिकाल पर्याय सहित स्पष्ट जान ले और फिर भी यह ज्ञान ऐसे-ऐसे अनगिनते विश्वोंको जाननेकी सामर्थ रखे, ऐसा महान् उदय आत्माके और किस परिणमनमें है? क्या रागद्वेषके परिणमनमें ऐसा अभ्युदय है? नहीं। ये रागद्वेष जहाँ प्रकट होते हैं उसको मलिन और किरकिरा बना डालते हैं। इन रागद्वेषोंका ही फल संसार है। ये विचित्र जीव देखे जा रहे हैं–कीड़े मकौड़े, पेड़-पौधे ये सब प्रभु ही बिगड़कर इस अवस्था में पहुँचते हैं। यह सब किसका प्रताप है? इस मोहका और भ्रमका। इसका महोदय क्या कह सकते हैं? नहीं। महोदय कहते हैं बड़े उदय वालेको। जिसके मात्र ज्ञानभाव प्रकट होता है उसको महोदय कहते हैं।

आत्माकी अतुल निधि––मोही जीव अपने आपमें छिपे हुए ज्ञान और आनन्दकी कीमत नहीं करते है और बाह्य अर्थोंमें दृष्टि उलझाकर अपने आपको बरबाद कर रहे हैं। अपनी निधिको सम्हालो, उसमें ही दृष्टि दो, यह मलिन, मोही कुटुम्ब समुदाय, मित्र मण्डली ये मेरे लिए शरण नहीं होंगे। ये बाह्य पदार्थ मेरे लिए तब तक शरण होते हैं जब तक कि गांठमें पुण्य बसा हो अर्थात् आचरण और ज्ञान सही बना हुआ हो। ये श्रद्धा ज्ञान आचरण ही आत्मनिधि है।

ज्ञानका प्रताप––यह ज्ञान कितना उदार है, गम्भीर है, महान् है, ऐसा यह ज्ञान धनुर्धारी अब जयवंत होता है। जैसे नाटकके मंचपर कोई छोटे तुच्छ आदमी अपना ऊधम मचा रहे हों और वहाँ प्रतापी कोई पात्र मंचपर प्रवेश करता है तो वे सब तुच्छ पात्र अपना ऊधम समाप्त करके शरणमें आ जाते है। इसी प्रकार इस उपयोगभूमि रंगमंचपर इन विषयकषायोंके तुच्छ परिणमनोंने ऊधम मचा रखा है। इस मंचपर जब उदार, गम्भीर महान् ज्ञान धनुर्धारी प्रवेश करता है तो इन सब तुच्छ विचारोंका ऊधम समाप्त हो जाता है। मानो इन्हें यह ज्ञान आ जाता है कि आखिर अब बरबाद होने वाले है ना सब। ज्ञान पात्रके प्रकट होनेपर ये सब बरबाद हो जाते हैं।

आस्रवका निर्देशन––यह ज्ञान इन सब आस्रवोंको जीतता है। आस्रव क्या है?

आत्माके विभावपरिणाम, मिथ्यात्वके परिणाम। पदार्थ तो हैं जुदा और मिथ्यात्वमें मानते हैं कि ये मेरे है, पदार्थ तो हैं मुझमें कुछ न कर सकने वाले, किन्तु मानते हैं कि ये मेरी रक्षा कर देंगे, ये मेरा पालन कर देंगे, ये सब मिथ्यात्व हैं। वस्तुका स्वरूप तो है और भांतिका, हम हैं और भांतिके। देव, शास्त्र, गुरुका समूह तो है मोक्षमार्ग सम्बंधी और मानते हैं रागीद्वेषी। रागद्वेषकी बातोंमें ही लगनेको अधर्म कहते हैं। यह सब मिथ्यात्वका परिणाम है और इस मिथ्यात्वभावसे कर्म आते हैं। ये आस्रव हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय प्रकट होता है। तो यह आस्रव है।

आस्रवकी मन्थरता—यह आस्रव महान् मदसे भरा हुआ होनेके कारण मंथर हो गया है, उन्मत्त हो रहा है। जैसे शराब पिये हुए पागल पुरुषके बेहोशी छाई हुई हालतमें हाथ पैर नहीं चलते हैं, मंथर हो जाता है, इसी प्रकार यह परिणाम भी प्रगतिशील नहीं है। बुझे दिन सब मंथर हैं। तो ऐसे समर रंगपर आए हुए ऐसे आस्रवको यह ज्ञान जीतता है, हटाता है।

सुरक्षय विचार—भैया! सब चाहते हैं कि मेरी रक्षा हो और उन्नति हो, किन्तु जरा चित्तसे सोचिए तो सही कि मेरी रक्षा क्या विकारभावसे हो सकेगी? क्या मेरी प्रगति इस मोहकषायसे हो सकेगी? असम्भव है। मेरी रक्षा केवल ज्ञानपरिणामसे हो सकेगी। इसलिए एक बड़ा साहस बनावो, परिग्रह, परिवार इनके मोहको ध्वस्त करो, ये हैं, इनका सद्व्यवहार करो पर इनकी जिम्मेदारी तुमपर नहीं है। इनकी जिम्मेदारी इन्हींपर है। मोही जीव घरके १० प्राणियोंकी भी जिम्मेदारी अपनेपर लाद लेता है। वे मोही प्राणी कह भी देते हैं कि मेरे घरके १० प्राणियोंकी जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। हे आत्मन्! वस्तु-स्वरूपको तो सोचो, घरके १० प्राणियोंकी जिम्मेदारी तुमपर नहीं है। क्या उनका ठेका और जिम्मेदारी तुमपर ही लदी है? अरे उन दस प्राणियोंका भाग्य तुम्हारे भाग्यसे तेज है सो तुझ जैसी सामर्थ्य वालेको भी उनका दास बनना पड़ रहा है। तू समझता है कि मैं उनका पालन करता हूं पर बात यह हो रही है कि उनके पुण्योदयके कारण तुझे उनकी नौकरी करनी पड़ रही है।

पुण्योदयीकी चिन्ताकी व्यर्थता—एक वर्षका बालक जिसको खड़ा होना भी मुश्किल है ऐसे बालककी आप कितनी सेवा करते हैं? हाथों हाथ गोदमें लेकर उसे खिलाते हैं, बड़ी अच्छी तरह उसकी मुस्कान देखते हैं। आप अब यह बतलावो कि उस १ वर्ष के बच्चेका पुण्य बड़ा है या आपका पुण्य बड़ा है। एक जिस बच्चेकी सूरत की ओर आप देखते रहते हैं, वह हंसता रहे, यह रोवे नहीं, खेलता रहे, प्रसन्न रहे ऐसा देखने की उत्सुकता बनाए रहते हैं तो आपके पुण्यसे उस बच्चेका पुण्य बड़ा है। दरबारमें भी तो

लोग राजा महाराजावोंको प्रसन्न रखनेकी चेष्टाएँ करते हैं ना, तो उस महाराजाका पुण्य
बड़ा है या उन दरबारियों का पुण्य बड़ा है ? उस राजाका पुण्य बड़ा है। इसी तरह तुम
भी जो बालकोंको सुरक्षित रखने और प्रसन्न रखनेकी चेष्टाएँ करते हो तो उन बालकोंका
ही पुण्य आपके पुण्यसे बड़ा है। आप उन बड़े पुण्य वालोंकी फिकर करते हैं और सोचते
हैं कि मैं ही इनको पालता हूं।

ज्ञानके प्रतापमें अज्ञानका विलय—भैया ! यह तो उदयकी बात है। सबके पुण्यका
उदय है, आपके द्वारा कमाई जाने वाली सम्पदा जिन-जिनके कामोंमें आयेगी उन उनके
पुण्योदयके कारण आपसे कमाई बनती है। आपके पुण्यके कारण आपकी कमाई नहीं
बनती है। जब यह यथार्थ ज्ञान अपनी महिमा प्रकट करता हुआ, अपना तेज बढ़ाता हुआ
जब इस उपयोग रंगभूमि पर आ धमकता है तो ये ऊधम मचाने वाले दुष्ट पात्र रागद्वेष
विषय कषाय शांत हो जाते हैं, एक किनारे खड़े हो जाते हैं। ऐसा यह दुर्जय ज्ञान
धनुर्धारी अब इस उपयोग रंगमंच पर प्रकट होता है।

भैया ! अब भगवानकी भक्ति करके गुरुवोंकी उपासना करके एक आशीर्वाद लें
तो यह लो मेरा ज्ञान यथार्थ विकसित हो ! यथार्थ ज्ञानका प्रताप ही हमारा रक्षक है और
इसीसे कल्याणमें प्रगति है। एक यह यथार्थ ज्ञान न हो और तीन लोकका वैभव भी सामने
हो तो भी यह दीन है, दुःखी है, भिखारी है। इस कारण निज सम्यग्ज्ञानके प्रकट होनेका
आशीर्वाद अपने आपसे चाहिए।

अब आश्रवका स्वरूप कहते हैं।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगाय सण्णसण्णादु।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगाय सण्णसण्णादु।
वहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिपि होदि जीवो य रागदोसादि भावेहिं ॥१६५॥

आजका यह विषय कुछ कठिन पड़ेगा। कुछ उपयोग संभाल कर यदि इसे सुनोगे
तो पता ठीक लगेगा। आजका प्रकरण बड़े कामका है।

संसार संकटोंका कारण—हम संसारमें क्यों रुल रहे हैं और संसारसे छूट जानेका
उपाय क्या है ? यह बात बड़े मर्मके साथ यहाँ बताई जा रही है। इस जीवको दुःख देने
वाला आस्रव है। एक पद्यमें भी कहते हैं—आस्रव दुःखागार घनेरे। आस्रव महा दुःखदायी
चीज है। वह आस्रव क्या है ? उसका स्वरूप यहां कहा जायगा। गाथाका अर्थ तो सीधा
यह है कि मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये ही आस्रव हैं। ये दो-दो प्रकारके होते
हैं- चेतन और अचेतन। चेतन मिथ्यात्व और अचेतन मिथ्यात्व, चेतन अविरति और

अचेतन अविरति, चेतन कषाय और अचेतन कषाय, चेतन योग और अचेतन योग। और ये बहुत-बहुत तरहके हैं। चेतन मिथ्यात्व आदिक तो चेतनमें चेतनके अभिन्न परिणमन हैं और वे ज्ञानावरणादिक कर्मोंके कारण होते हैं और उनके भी कारण रागद्वेषादिक भावों को करने वाला जीव है।

आस्रव, आस्रव हेतुके विवरणकी उत्थानिका—अब इसका कुछ वर्णन यों जानें कि आस्रव कहते हैं कर्मोंके आनेको। इस जीवके ज्ञानावर्णादिक कर्म आवें उसका नाम आस्रव है। लाभ वाली बात कठिन हुआ करती है। सर्व संकल्प विकल्प छोड़कर अपने आपको अकेला, असहाय जिम्मेदार जानकर भगवंत जिनेन्द्र प्रणीत उपदेश सारको सुनिये। यहाँ कहा जा रहा है कि जीवका आस्रव है कौन? वास्तवमें दुःखदायी जगतमें है क्या? लोग कहते हैं ना कि ये ८ कर्म जीवके साथ लगे हैं। खूब सुना होगा। ये ८ कर्म जीवमें आ कैसे जाते हैं? कर्मोंके आनेके जो तरीके हैं उनका ही नाम आस्रव है। और वे ही तरीके हमको दुःख देने वाले हैं।

दृष्टान्तपूर्वक आस्रवहेतुका विवरण—इस विषयमें जरा एक दृष्टान्तसे सुनिए। किसी मालिकके साथ एक कुत्ता लगा है। रास्तेमें किसी उद्दण्ड पुरुषके ऊपर कुत्तेने हमला किया पर मालिकने जब छू छू किया तभी हमला किया। खुद कुत्तेमें किसीके काटनेकी दम नहीं होती। एक डंडा उठावो भाग जाये। कुत्तेने हमला उस उद्दण्डी पुरुष पर किया, वहाँ अपराध किसका माना जायगा? कोई कहे कि कुत्तेने ही हमला किया तो कुत्तेका ही अपराध है। ठीक है। अपराध तो कुत्तेका है पर उस कुत्तेकी इतनी हिम्मत बनी कैसे, इसका भी तो कारण बतलावो। इसका कारण है मालिककी सैन, छू छू करना। तो वास्तवमें अपराधी कौन हुआ? वह मालिक जिसने सैन दिया। इसी तरह हम आप सबपर आक्रमण किया है कर्मोंने। ठीक है। कर्मोंके निमित्तसे हम आप दुःखी हो रहे हैं, पर यह तो बतलावो कि उन कर्मोंके बंधनेकी ऐसी सामर्थ्य आई कहाँसे? यह प्रभु, मालिक जब तक राग द्वेषकी सैन नहीं करेगा तब तक कर्म नहीं बंधेंगे। तो मूलमें अपराधी रागद्वेष आदिक भावोंका करने वाला यह जीव स्वयं है।

रागादिकी उत्पत्तिका हेतु—जीवमें ये रागद्वेष आते कैसे हैं? जीवमें स्वयं उपाधि का निमित्त पाकर। एक अज्ञानपरिणमन बन गया है उस जीवके अज्ञानपरिणमनके कारण रागद्वेष मोह भाव होते हैं। सो रागद्वेष मोह बतलावो जड़ हैं कि क्या कहे जायेंगे? जैसे किसीका पुत्र बदचलन, उद्दण्ड, कुपूत हो जाय, कोई उसके बापसे ही पूछे कि यह पुत्र किस का है, तो बाप क्या जवाब देगा? क्या बतलाये, क्या उत्तर दे, कुछ समझमें नहीं आता। किन्तु मेरा पुत्र है—यह तो कह नहीं सकता क्योंकि बदचलन है, उद्दण्ड है। उसके कुलमें

अभी तक कोई ऐसा पैदा ही नहीं हुआ है। और मेरा पुत्र नहीं है यह भी कैसे कहदे ? इसी प्रकार ये राग द्वेष मोह बतलावो ये चेतन है कि अचेतन ? क्या बतलाएं भाई ये राग द्वेष विकार चेतन हैं—यह कहते हुए तो जीभ नहीं हिलती क्योंकि मैं परमात्मस्वरूपके सदृश एक चैतन्यस्वभावमय हूँ परमब्रह्म हूँ, मुझमें से ऐसे विकार निकलनेका कारण ही नहीं है। और मना भी कैसे करूँ ? ये रागद्वेष विकार चेतन नहीं हैं, क्या यह कर्मोंकी परिणति है, क्या यह ईंट, पत्थरोंकी परिणति है ? यह आत्माकी परिणति है।

आस्रव दुःखकार घनेरे—आज क्या बात कही जा रही है थोड़ी नींद छोड़कर सुनो। जिसे तुम छहढालामें पढ़ा करते हो आस्रव भावना—जो जोगनकी चापलाई लाते हैं आस्रव भाई। आस्रव दुखकार घनेरे, बुधवंत तिन्हें निखेरे ॥ जो मन, वचन, कायकी चंचलता है उससे उपद्रव होते हैं। याने शरीर खूब हिलाया जाय, मन भी खूब चलाया जाय, वचन बकवादी भी बहुत किया जाय तो इनसे कर्मोंका आना होता है। ये आस्रव बड़े दुःख देनेवाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष इनको दूर किया करते हैं। कोई एक डेढ़ सालका बालक अगर अच्छा आसन मारकर बैठ जाये, हिले डुले नहीं, मुंह चापकर बैठ जाये तो कितना सुहावना लगता है और वही बालक रो दे या बोलने लगे तो सारी कलई खुल जाती है कि यह तो अज्ञान है, नासमझ है। और जरा अच्छे ढंगसे बैठे तो कितना ही आप उसके विषयमें अर्थ लगाते जायें ? यह बड़ा समझदार मालूम होता है। यह कुछ ध्यान कर रहा है। यह कुछ तत्त्व-चिंतन कर रहा है, यह बड़ा गम्भीर है। कितने ही अर्थ उसकी मुद्रासे निकल जायें। और यदि वह शरीर हिलाने डुलाने लगे और कुछ वचन बोलने लगे या दूध पप्पा मांगने लगे तो वे सब अर्थ ढपलेमें पड़ जाते हैं। तब इसी तरह समझो हम और आप जितना शरीर हिलाएँ डुलाएँ, व्यर्थकी बातें बोला करें और जितनी जिस चाहेके सम्बंधमें कल्पनाएं उठाया करें तो इससे दुःख होता है, आस्रव होता है, संसारका बंधन होता है। हम आपको चाहिए कि व्यर्थकी कायचेष्टाएं न करें। जितनी बात बोलनेको हमारी प्रकृत हो उतनी ही बात बोला करें। और जिस चाहे जीवके सम्बंधमें कल्पनाएं न उठाया करें, यह जीवनमें हम और आपका कर्तव्य है।

जीवविकारोंकी चिदाभासता—बारह भावनामें आप बोलते हैं—मोह नींदके जोर, जगवासी घूमे सदा। कर्म चोर चहुं ओर सरबस लूटैं सुध नहीं ॥ इसमें मोहकी प्रधानता दी है। मोहनिद्राके वशमें यह जीव अचेत पड़ा है और कर्म चारों ओरसे आकर इसे लूटते हैं, इसे कोई सुध नहीं है। यह परिवार वैभवको पाकर हर्षके मारे फूला नहीं समाता, किन्तु हो क्या रहा है ? मोहकी नींदमें अचेत इस प्राणीके कर्मचोर चारों ओरसे लूट रहे हैं। अपनी दया ही नहीं है इसे, अपनी फिक्र नहीं है इसे। तो ये रागादिक विकार बतलावो

चेतन हैं या अचेतन ? इन्हें न चेतन कहा, न अचेतन कहा, किन्तु चेतनाभास कहते हैं। ये विकार चिदाभास हैं। यह पुत्र पुत्राभास है। यह पुत्र कुपूत है, मेरा नहीं है। मेरा होता तो मेरे माफिक चलता। उसे आप मनाकर डालते हैं। इसी प्रकार ये रागद्वेष विकार मेरे नहीं है। यदि मेरे होते तो मेरे आनन्दके लिए बनते। किन्तु जब ये उत्पन्न होते हैं तो क्लेश पहुंचाकर ही उदित होते हैं। यह तो हुआ चेतन आस्रव, किन्तु मिथ्यात्व नामक प्रकृतिका बंध होता है, ये आते हैं और प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्यानावरण ये कषाय जो चारित्र नहीं होने देते हैं और अनन्तानुबंधी आदिक समस्त कषाय और योग जो पिण्ड समागत हैं वे सब हैं अचेतन आस्रव। ये पुद्गलके परिणमन हैं।

जीवविभाव व पुद्गलविभावोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—ये विकार जितने होते हैं ये जीवके परिणमन हैं, कर्म पुद्गलपरिणमन हैं। जीव और पुद्गलका निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहा है। कर्मोंका उदय आये तो जीव विगड़ जाये। जीव बिगड़ जाय तो कर्मोंका बंध हो, और इस परम्परामें हम आप सब घसिटते चले जा रहे है। यहांके मजा भोगोंको नहीं छोड़ पाते हैं। उनमें आनन्द मानते हैं, पर उनके फलमें जब सजा मिलती है उस समय याद आती है। घर, कुटुम्ब, परके हेतु अन्याय और पाप किए जा रहे हैं पर इस अन्याय पापके फलमें जब नर्कादिक गतियोंको जाना पड़ेगा और वहाँ विवेक होगा तो यह पछतावा होगा कि जिस कुटुम्बके कारण मैंने इतने पाप किये, वे अब कोई साथी नहीं होते हैं। यह सारा फल अकेलेको ही भोगना पड़ रहा है।

मौज मारनेका फल—एक सेठ जी का नौकर था। सेठ जी का पलंग बहुत बढ़िया सजाता था, कोमल स्प्रिंगदार पलंग पर गद्दा बिछाता था, उस पर सफेद पोस बिछाता था, उस पर फूलोंकी पंखुड़ियाँ डालकर पलंगको सजाया करता था। एक दिन नौकरने सोचा कि पलंग बिछाते-बिछाते बहुत दिन हो गए। थोड़ा देख तो लें इस पर लेट कर कि कितना मजा आता है ? दो मिनटके बादमें ही उठ जायेंगे। एक बाईं करवट बदल कर देख लें, एक दाईं करवट बदल कर देख लें और थोड़ा सीधा पड़कर देखलें। जो उस पलंग पर लेटा तो सवा मिनट बाद ही नींद आ गई। अब २० मिनट हो गए, सेठ जी आए, देखा यह बड़ा चालाक नौकर है। उसे नौकर पर गुस्सा आ गयी। बेंत उठाकर १०, २० लगाए। तो सेठ बेंत मारता जाय और वह नौकर खूब हंसे। तो सेठ कहता है कि इतना मैं मारता हूं पर तू हंसता क्यों है ? वह हंसकर बोला कि हम तो १५ मिनट ही इसपर लेटे तब तो हमारे बेंत लग रहे हैं, आप तो रोज-रोज लेटते हो तो न जाने आपकी क्या दशा होगी ? जो विषयोंमें मस्त रहेंगे, जो आत्मस्वरूपको भूल जायेंगे तो नियमसे उनकी दुर्गति है। कैसी दुर्गति होगी ?

खोटे परिणामोंका परिणाम--भैया ! ये सारे संसारके जीव दिख रहे हैं, इनको देखकर अंदाज कर लो कि आत्म असावधानीके कारण ऐसी दुर्गति होगी। एक शराबी शराब की दुकानपर गया। बोला, आज तो यार बहुत बढ़िया शराब दो। हाँ हाँ बहुत बढ़िया देंगे। अजी ऐसी नहीं, बिल्कुल बढ़िया। हाँ हाँ बिल्कुल बढ़िया देंगे। अजी नहीं, रोजसे बढ़िया। तो वह दुकानदार बोला कि अपने इन बाबा चाचोंको देखो जो ये बेहोश पड़े हैं और इनपर कुत्ते मूत रहे हैं। इनको देखकर विश्वास बना लो कि यहाँ बढ़िया शराब है। तो जगतमें कीड़े, मकोड़े, पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, गधा, सुवर इनको देखकर यकीन तो करलो कि खोटे परिणामोंका क्या फल हुआ करता है ? चाहे कितनी ही मुसीबत आ जाय मगर दूसरोंको धोखा देने, दूसरोंको सतानेका परिणाम न आना चाहिए।

कौन अपना और कौन पराया--भला आज जो तुम्हारे घरमें नहीं हैं, इन चार-पांच जीवोंके अतिरिक्त ये सब जीव हैं, ये क्या तुम्हारे कुटुम्बी कभी नहीं बने ? और आज जो तुम्हारे घरमें आ गए हैं क्या ये कभी बिछुड़ेंगे नहीं ? क्या ये गैर नहीं बनेंगे ? फिर कौन अपना और कौन पराया है ? परमार्थसे विचारो तो सही। समस्त जीव परिपूर्ण हैं, अपने स्वरूपमें तन्मय है। उनसे मुझमें कुछ नहीं आता। हमारा उनमें कुछ नहीं जाता। क्या सम्बंध है फिर ? क्यों इतना मोह किया जा रहा है कि आपकी निगाहमें घरके ४ आदमी हैं सब कुछ। जितना भी श्रम किया जाता है, जितनी भी कमाई की जाती है घरके उन चार जीवोंके लिए ही की जाती है, २४ घंटे घरके उन चार जीवोंका ही विकल्प बनाए रहते हैं। एक तराजूके दोनों पलड़ोंमें एक पलड़ामें तो घरके चार जीव रख लिए जायें और एक पलड़ेमें जगतके समस्त मनुष्यादिक रख खिए जायें तो भी घरके उन चार जीवोंका ही पलड़ा भारी होता है और शेष उन अनगिनते जीवोंकी कीमत नहीं करते। इसको क्या कहा जाय ? महान् व्यामोह। भगवान जिनेन्द्रदेवके शासनमें ऐसे व्यामोहकी बड़ी निन्दा की है।

आत्मक्रान्ति—अब कुछ क्रांति लाइए और अपनेको अकेला, अपनेको अपना जिम्मेदार मानकर कुछ प्रगतिशील भावोंमें चलिए। इस मायामय जगतमें किसीका कुछ नहीं निहारना है। किसीसे कोई आशा नहीं रखना है। यह जीव स्वयं जैसे परिणाम करता है वैसे ही सुख दुःख पाता है। यह आस्रवकी थ्यौरीका प्रकरण चल रहा है। इन आस्रवोंमें अनन्त कार्माणवर्गणायें ठसाठस भरी हैं। और संसारमें प्रत्येक जीवके प्रदेशमें विस्रसोपचय रूप और कर्मरूप अनेक कार्माणवर्गणायें भरी पड़ी हैं। यह इतना बड़ा मैल, इतना बड़ा जमाव आ कैसे गया ? यह आ गया खुदकी गल्तीसे। कोई बूढ़ा पहिले तो अपने पोतोंसे बड़ा प्रेम दिखाता है और जब वे पोतापोती उस बूढ़ेपर खेलने लगते हैं तो उस बूढ़ेको तकलीफ होती है। कभी सिरपर चढ़ गए, कभी कांधेपर चढ़ गए, कभी रोते हैं तो उस बूढ़ेके

ऊपर आफतसी आ जाती है। तो उस बूढ़ेने यह आफत अपने आप डाल ली। अब दुःखी हो रहा है। यह कर्मोंका जो जमाव हम और आपपर बन गया है वह अपनी गल्तीसे बना है। अपने स्वरूपकी कदर न करके अपनेको दीन हीन समझ रहे हैं। हम तो न कुछ हैं। हमारे पालने वाले दूसरे हैं, हमारी रक्षा करने वाले दूसरे हैं। हममें तो कोई शक्ति ही नहीं है। अरे तुझमें तो प्रभुवत् अनन्तज्ञान शक्ति है, अनन्त आनन्दकी शक्ति है। तू अपनी शक्तिको नहीं समझता इसलिए भूले हुए सिहकी तरह बंधनमें पड़ा है।

भ्रमकी अंधेरी—चैतके महीनेमें शामके समय एक जमींदार खेतोंपर मजदूरोंसे कह रहा था कि जल्दी काटो, शाम हो रही है, अंधेरी आ रही है। जितना शेरका डर नहीं है उतना डर तो अंधेरीका है। यह बात सुन लिया किसी पेड़की ओटमें बैठे हुए शेरने। शेर सचोता है कि हमसे भी कोई बड़ी चीज अंधेरी है। खैर, आदमी तो सब चले गए। उसी दिन एक कुम्हारका गधा खो गया था तो वह गधा खोजने निकला अंधेरी रातमें। सिंह बैठा था। कुम्हारने समझा कि यही है मेरा गधा। सो निःशंक होकर उसके कान पकड़कर पहिले तो ५–७ डंडे जमाए। जब १०–५ डंडे जमाये तो सिंहने सोचा कि अब आ गई अंधेरी। सो अंधेरीके डरके मारे पूंछ दबाये रहा। कुम्हार कान पकड़कर अपने घर ले आया और रस्सासे बांध दिया। कुम्हारने तो फिर अच्छी तरहसे नींद ली और शेरने समझा कि हाय मुझपर अंधेरी आ गयी, सो उसे चैन न पड़े।

अरे ! बतलावो तो सही कि शेरपर क्या अंधेरी आ गई जिसके डरके मारे सिंह दुःखी है ? कुछ पकड़ ले जाने की चीज या खा जानेकी चीज वह अंधेरी थी और वह सिंह केवल अंधेरीके ख्यालमें दुःखी हो रहा है। इसी प्रकार परमात्म सदृश यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अनन्तशक्तिमय है, किन्तु अपने आपके स्वरूपको भूलकर एक वहम ऐसा बना लिया, भ्रम बना लिया कि मैं कुछ नहीं हूं, मेरी रक्षा तो इन बाह्य पदार्थो से है, मेरी सत्ता तो इन परपदार्थोंके कारण है। यह भ्रम छा गया और इस भ्रममें दीन, हीन, भिखारी बन रहा है। सो किसीकी ओर मत निहारो, कोई मदद नहीं करता है। अपने आपके अन्तरङ्गमें कुछ प्रभुता तो देखो और अपने आपको ज्ञानमात्र निहारो।

प्रकृतका उपसंहार—यह मैं केवल जाननस्वरूप मात्र हूं—ऐसा अपनेमें बराबर मनन करते जावो। केवल यह जाननस्वरूप जब जाननेमें आयगा, उस समय जो अलौकिक आनन्द प्रकट होगा उस आनन्दमें यह सामर्थ्य है कि इन आस्रवोंको, कर्मोंको क्षणमात्रमें ध्वस्त कर देगा। ये ज्ञानावरणादिक कर्म आते है, इन कर्मोंके आनेका कारण तो उदयमें आने वाला कर्म है। और उदयमें आने वाले कर्ममें नवीन कर्मोंका आस्रव करनेका निमित्त-पना बन जाय, इसका कारण है जीवका रागद्वेष मोहभाव। तो वस्तुतः यह रागद्वेष मोह

भाव ही आस्रव है और इन आस्रवोंके कारण ही संसारमें रुलना पड़ता है। तो ऐसा यत्न कीजिए कि ये रागद्वेष मोह अज्ञान तुमसे विदा हो जाएँ। ऐसा कर लिया तो जैनशासनसे और मनुष्य जीवनसे लाभ प्राप्त कर लिया।

आस्रवताका तात्पर्य——इस प्रकरणका सारांश यह है कि जीवमें जो नये कर्म आते हैं उन नवीन कर्मोंका साक्षात् निमित्त कारण अर्थात् उदयमें आने वाले कर्म हैं। और उदयमें आने वाले कर्म नवीन कर्म बंधके निमित्त बन सकें, ऐसा उनमें निमित्तपना आये इसका निमित्त है रागद्वेष मोह परिणाम। इस कारण कर्मोंके निमित्तपनेका निमित्त होनेसे रागद्वेष मोह ही वास्तवमें आस्रव हैं और रागद्वेष मोह अज्ञानियोंके ही होता है। इस प्रकरणमें तात्पर्य निकला। अब यह दिखाते हैं कि ज्ञान पुरुषके आस्रवका अभाव होता है।

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवविरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव बंधका अभाव——सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव बंध नहीं है, उसके आस्रवका निरोध रहता है। वह तो पूर्वबद्ध कर्मोंको जानता है और नवीन कर्मोंको नहीं बांधता है। सिद्धान्त यह स्थापित किया जा रहा है कि ज्ञानी जीवके कर्म नहीं आते है इस कारण थोड़ीसी यह शंका हो सकती है कि ज्ञानी जीव तो सम्यक्त्व होनेके बाद ही कहलाने लगता है लेकिन चतुर्थ गमादिक दशम गुण पर्यन्त कर्मोंका आस्रव भी है और बंध भी है, फिर यह क्यों मना किया जा रहा है कि ज्ञानियोंके आस्रव और बंध नहीं होता है। इसका उत्तर है प्रथम तो यह बात समझना है कि जो कर्म बंध संसारकी परम्परा बढ़ायें उनको बंध कहा और जो संसार परम्परा न बढ़ायें किन्तु संसारसे छूटते हुए प्राणियोंके पूर्व प्रयोगवश बँधते रहते हैं उन्हें बंध न कहिये। यह एक दृष्टांतकी बात है। करुणानुयोग तो क्षमा न करेगा। उसकी दृष्टिसे दसवें गुणस्थान पर्यन्त बंध चलता रहता है, पर जो संसार को बढ़ाये उसे बंध समझो और जो संसारको न बढ़ाये उसे बंध न समझो। इस दृष्टिसे सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् उसे ज्ञानी कहते हैं। उसके जन्ममरणकी परम्परा नहीं बढ़ती है, सो आस्रव और बंध नहीं माने गये हैं।

ज्ञानी जीवके बंधके अभावका सहज कारण——दूसरी बात यह समझो कि जिस आत्मा से ज्ञान प्रकट हुआ है और चरित्र मोह भी शेष है तो उसका जो बंध होता है, विकार आता है वह ज्ञानके कारण नहीं आता है, किन्तु चारित्र मोहके कारण आता है अर्थात् अपने विकारकी योग्यताके कारण आता है। ज्ञानके कारण बंध होता हो तब तो इन शब्दोंमें कहना चाहिए कि ज्ञानीके भी आस्रव और बंध होता है। पर जो आस्रव बंध होता है वह चारित्र गुणके विकारसे होता है। इस कारण विकारीके बंध है, ज्ञानीके बंध नहीं है।

चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान पर्यन्त यह जीव ज्ञानी भी है और विकारी भी है।

कार्यके योग्य दृष्टि रखे जानेका एक दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष पंडित भी है, मुनीम भी है, पर किसी धार्मिक प्रश्नका उत्तर लेते समय उसे यों नहीं कहना चाहिए कि मुनीम जी साहब ! इस शंकाका समाधान करिये। उसे वहाँ कहना चाहिए कि पंडित जी साहब ! इसका उत्तर दीजिए और जब लेनदेनकी बात चल रही हो, दुकानकी गद्दी पर बैठा हो तब यों न कहना चाहिए कि पंडित जी हमारा खाता देख लीजिए। तब कहना चाहिए कि मुनीम साहब हमारा खाता देख लो। खाता देखते समय उस मुनीमके पंडिताई नहीं रहती है, ऐसे ही पंडिताईके समय मुनीमीका सम्बन्ध नहीं रहता है। धार्मिक उपदेश देना यह मुनीमीके सम्बन्धसे नहीं हो रहा है, वह पंडिताईके सम्बन्धसे हो रहा है। यों ही समझो कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान पर्यन्त तक ज्ञानी भी है और विकारी भी है। जितना मोक्षमार्ग चल रहा है वह ज्ञानके कारण चल रहा है और जितना आस्रवबंध हो रहा है वह विकारके कारण हो रहा है। ज्ञानके कारण ज्ञान ही देखा जाय, विकारके कारण विकृत निरखा जाय तो यह उत्तर स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी जीवके आस्रव और बंध नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टिके बंधका अभाव कहनेका मूल अर्थ—यहाँ "सम्यग्दृष्टि" शब्द कहकर कह रहे हैं कि आस्रव और बंध सम्यग्दृष्टिके नहीं होता, निर्विकल्प समाधिमें रत पुरुषके नहीं होता। अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके परिणमनके कारण कर्म-बंध नहीं हुआ करता है। यद्यपि इस जीवके द्रव्यकर्मका उदय चल रहा है, पर द्रव्यकर्म का उदय होनेपर भी यह शुद्ध आत्माके स्वरूपकी भावनामें लगा हुआ है। यदि अपनी श्रद्धामें रागादि रूपसे परिणम जाय तो वहाँ मिथ्यात्वके कारण बंध है और राग रूप जितना भी परिणमन चल रहा है वहाँ रागके कारण बंध है। सम्यग्दर्शनके कारण बंध नहीं होता और सम्यग्दर्शनके नातेसे सम्यग्दृष्टीका नाम लिया जा रहा है। क्योंकि ज्ञानी जीवके ज्ञानमय ही भाव होता है। जहां ज्ञानमय भाव है वहां परस्परमें विरोध है।

ज्ञानी द्वारा परका अनिष्ट होनेके संदेहका अभाव—ज्ञानी पुरुष कभी क्रोध भी कर जाय तो क्रोधके समयमें भी उसका ज्ञानमय भाव रहता है। कभी क्रोधमें आकर दूसरोंका अनिष्ट नहीं करता। देखा होगा कोई ऐसा रिसाने वाला बच्चा होता है कि उसे क्रोध आये तो खुदको ही कष्ट दे ले, पर दूसरोंको कष्ट नहीं देता। भूखा रह जाय या अपने आप को ही पत्थरसे मारने लगे, सिर धुनने लगे, पर दूसरोंको कष्ट नहीं देता। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें गुस्सा आये तो वे ज्यादा काम करते हैं। उनका ज्यादा काम करना गुस्से के कारण बन रहा है पर काम नहीं बिगाड़ता। यह तो लौकिक बात है। ज्ञानी जीव

को दूसरोंके प्रति क्रोध भी आए तो दूसरोंका अनिष्ट नहीं करता, वे क्रोधमें भी ऐसी प्रवृत्ति करेंगे कि जिससे दूसरोंका भला ही हो। यह ज्ञानीका एक विरद है, दयालुताका स्वभाव है, आचार्यको शिष्यपर क्रोध भी आए तो उसका परिणाम शिष्यपर भला निकलता है।

ज्ञानीके क्रोधमें भी विवेक—एक सच्ची घटनाका दृष्टान्त है कि सागरमें चिरोंजा बाई जी थी, जिन्होंने गुरुजी को पढ़ाया है। सब लोग जानते हैं। उनकी ननद ललिता बाई बिल्कुल पढ़ी लिखी न थी। तो बाई जी ने कई बार कहा कि तुम कोई लिखा कागज मिले तो कूड़ेमें न डाला करो, उसे कहीं रख दिया करो। एक दिन ललिताबाई को ख्याल न रहा। कुछ असावधानी हो गई। एक बार एक कागज कूड़ेमें गिर गया। मंदिरसे आई बाई जी। देखा कि दरवाजे पर कूड़ा पड़ा है और उसपर कागज पड़ा है। उठा कर देखा तो उसमें भक्तामरका एक काव्य लिखा था। अब तो उनके क्रोध चढ़ गया। सो ऊपर आकर ललिता बाईका चोटा पकड़ कर गुस्सेमें आकर कहा—यह कागज कूड़ेमें क्यों डाला? और पकड़कर एक हाथ भीतमें लगाकर एक हाथसे सीधा दे मारा। अब बतलावो बाई जी के चोट आ गई कि नहीं? चाहे आ गई, फिर भी उनका ज्ञान बिदा नहीं हुआ। ज्ञान फिर भी बना रहा कि कहीं इसके सिरमें पीड़ा न हो जाय तो ज्ञानी पुरुषके अन्तरङ्गमें ज्ञानका परिणाम बना रहता है। उस समय जो क्रोध भाव है वह तो विकार है, वह तो स्वयंका अज्ञान है पर भीतरमें जो विवेक बुद्धि है उसका कारण ज्ञान है।

स्वरूपाचरणका प्रताप—ज्ञानी जीवके अन्तरङ्गमें ज्ञानमय भाव रहता है। गृहस्थ ज्ञानी घरमें रहता हुआ भी, रोजिगार व्यापार सभीमें यत्नशील रहता हुआ भी ज्ञानमय भावको नहीं छोड़ता। उसे अपने स्वरूपका स्पर्श और स्मरण सदा काल बना रहता है। स्वरूपाचरण चारित्र श्रावकके बताया गया है। चौथे गुणस्थानमें भी चाहे वह गृहस्थ किसी कार्यमें लगा हो चूंकि वह सम्यग्दृष्टि है, सो स्वरूपाचरण चारित्र उसके निरन्तर रहता है। उस स्वरूपाचरण चारित्रके प्रतापसे इसके ज्ञानमय भाव बराबर बना रहता है। इस ज्ञानी जीवके ज्ञानमय भावके द्वारा अज्ञानभाव रोक दिया जाता है क्योंकि ये परस्पर विरोधी हैं। जहां ज्ञानभाव है वहां अज्ञानभाव नहीं ठहर सकता। अज्ञानभाव है रागद्वेष मोह। इन अज्ञानमय भावोंका अभाव हो जानेके कारण ज्ञानी जीवके आस्रवका निरोध हो जाता है। इस कारण पुद्गल कर्मका बन्ध भी नहीं होता क्योंकि जब आस्रवका ही निरोध हुआ तो बंध कहांसे हो? इस कारण ज्ञानी जीवके आस्रव न होने के कारण, नित्य अकर्ता होनेके कारण वह नये कर्मोंको नहीं बांधता और पूर्वबद्ध कर्म जो सत्तामें अवस्थित हैं, अथवा उदयागत भी हो रहे हैं उनको केवल ज्ञानस्वभावी होनेके कारण जानता ही है।

कर्म और कर्ममें अनात्मीयता—यहाँ कुछ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसा भी

होता है कि कार्य करता जाय और कार्यसे दिल हटा हुआ हो। इस बातकी पुष्टिके लिए आपको अनेक दृष्टान्त मिलेंगे कि कार्य भी करते जा रहे हैं और कर्मसे हटे हुए रहते हैं। उस सम्बन्धमें कर्ता और स्वामीपनेका आशय नहीं रहता है। मुनीम अथवा किसी प्रकार की सर्विस करने वाला पुरुष मालिकके कामको बड़ी योग्यतासे, सावधानीसे चिंता सहित किया करता है, फिर भी स्वप्नमें भी उसके स्वामित्वकी बुद्धि नहीं जगती। कभी किसी मुनीमके चित्तमें यह आता है क्या कि मैं इस दूकानका मालिक हूं ? काम सब कर रहा है बल्कि मालिक कुछ नहीं कर रहा है, वह तो अपने घरमें बैठा है या गद्दीपर ही लेट रहा है। किसी किसी मालिकको तो यह भी पता नहीं रहता कि किस समय क्या काम करना है और कैसे करना है, लेकिन मालिकके स्वामित्व बुद्धि पड़ी हुई है। और इस मुनीमके इतना काम करते हुए भी मनमें स्वामित्वका अहंकार नहीं है।

प्रकरणमें लगकर भी प्राकरणिकताका अभाव—शादियोंमें पड़ौसकी स्त्रियोंको घरके लोग गानेके लिए बुलाते हैं और वे पड़ौसकी स्त्रियां आकर बड़े तेज स्वरसे खूब गाना गाती हैं। मेरा दूला, मेरा बंना, मेरा सरदार, पर क्या उनके मनमें ऐसा विश्वास है कि यह मेरा ही दूला है, यह मेरा सरदार है ? नहीं। खूब तेजीसे वे स्त्रियां गाती हैं पर भीतरसे और ही किस्मका विश्वास है। हम तो केवल गानेके लिए आई हैं, हम तो केवल बुलावा लेनेके लिए आई हैं मेरा यहां कुछ नहीं है। चाहे दूला घोड़ासे गिर जाय तो उनकी बलासे। उनके स्वामित्व बुद्धि नहीं है। यों अनेक दृष्टान्त हैं, जिससे यह प्रसिद्ध है कि कार्य करते हुए भी कार्यका कर्ता नहीं कहलाया, ऐसा हटा हुआ भाव रह भी सकता है।

ज्ञानकलाका प्रताप—ज्ञानी जीवमें ज्ञानके सिवाय और कौनसी मौलिक कला आई जिसके कारण घर गृहस्थीमें भी रहकर वह मोक्षमार्गी है और कर्मोंका उसके आस्रव नहीं होता ? चौथे गुणस्थानमें ४१ प्रकृतियोंका संवर है, पांचवे गुणस्थानमें ५१ प्रकृतियोंका संवर है। इसी प्रकार अगले गुणस्थानोंमें कितनी ही प्रकृतियोंका आस्रवबंध नहीं होता। इसका कारण यह है कि ज्ञानीके वह कला आ गई है जिसके प्रतापसे वह सर्वस्थितियोंमें अलिप्त रहता है और अपने कामको सम्हाले हुए रहता है।

ज्ञानके सदुपयोगके लिये प्रेरणा—भैया ! ज्ञानशक्ति पाकर इसका सदुपयोग करो। मनुष्य पर्याय पाई तो कितनी ज्ञानशक्ति मिली ? ज्ञानशक्ति बिना क्या इतना बड़ा व्यापार भी सम्हाला जा सकता है ? क्या इतनी बड़ी सर्विसके कामको, सेवा-भाव को, इतनी बड़ी उलझनोंको सम्हाला जा सकता है ? नहीं। इतना बड़ा हिसाब करना, बहुत बड़े समूहकी व्यवस्था बनाना, क्या इस ज्ञानशक्तिके बिना हो जाता है ? नहीं। ज्ञानशक्ति तो पाई, अब उस ज्ञानशक्तिका हम कुछ आत्मतत्त्वके सहज निर्पेक्ष

स्वत:सिद्ध स्वरूपकी जानकारीमें भी सदुपयोग करें। यह हमारा प्रधान कर्तव्य है।

तन मनका सदुपयोग करनेका संकेत--भैया! यह तन साथ देगा नहीं, यह मन साथ देगा नहीं, यह मान साथ देगा नहीं, वचन साथ देगा नहीं, यह धान साथ देगा नहीं ये चार ही चीजें विनाशीक हैं। जितना बन सके इस शरीरसे परकी सेवा कर लो। अपना काम स्वयं अपने तनसे किया जाय। इस मनका सदुपयोग यह है कि सब जीवोंका भला विचारो। बुरा विचारनेपर भी दूसरेका बुरा नहीं हो जाता, किन्तु बुरा विचार करनेसे स्वयं का ही परिणाम खोटा होता है और उन परिणामोंका फल स्वयं पाता है। सबका भला विचारो कि सबका ज्ञान निर्मल बने, दृष्टि शुद्ध बने, सब सुखी हों, यह है मनका सदुपयोग।

वचनोंका सदुपयोग करनेका संकेत--वचनोंका सदुपयोग है सबसे हित मित प्रिय वचन बोलना। झगड़ेकी जड़ भी वचनोंका बुरा उपयोग है। और संगठन, प्रेम, शांति, आनन्दका वातावरण बने तो इसकी जड़ है वचनोंका सदुपयोग होगा। वचनोंका इस मनुष्य-भवमें बड़ा महत्त्व है। गधा, भैंसा, कुत्ता आदि भौंकते हैं, चिल्लाते हैं पर उनके बोलनेसे कुछ प्रयोजन नहीं निकलता, कुछ कल्याणकी बात नहीं मिलती। आज मनुष्य हुए हैं तो वचन बोलनेकी सामर्थ्य मिली है। वचन ऐसे बोले जायें कि जिससे दूसरोंको कष्ट न पहुंचे। वचन ऐसे बोले जायें जो अपने और दूसरोंके हितके साधक हों। दूसरोंके हितके साधक न हों तो कमसे कम अहितके साधक न हों। और फिर परिमित बोलो। वचन अधिक बोलने की आदत भली नहीं होती है। कहां तो जैनशासनमें यह बताया है कि शक्ति न छिपाकर वचन-गुप्तिका अभ्यास करो, वचन बोलो ही मत। और कदाचित हम वचन स्वच्छन्द होकर बोलने लग जायें तो हम प्रभुकी आज्ञासे कितना दूर जा रहे हैं? हमारा कर्तव्य है कि हम वचन परिमित बोलें। जितने वचनोंका प्रयोजन है, हितके साधक हैं, शांतिके स्थापक हैं उतने ही हम वचन बोलें। यों हित मित, प्रिय वचन बोलना यही वचनका सदुपयोग है।

धनका सदुपयोग—भैया! पहिले तो ऐसी दृष्टि बनाओ कि हमारा जगतके जीवोंसे परमार्थत: कुछ भी सम्बंध नहीं, चाहे वे घरमें उत्पन्न हुए दो चार सदस्य हों, चाहे बाहरके गैर अनगिनते जीव हों। सब जीव मेरे लिए एक समान हैं, क्योंकि किसी भी परजीवसे मेरेमें कुछ परिणमन नहीं हो जाता। किसी भी परजीवके परिणमनसे मेरेमें कुछ सुधार बिगाड़ नहीं होता। यदि इस गृहस्थावस्थामें धनका कुछ प्रसंग हुआ है तो उस धनको आधे आधे रूपमें व्यय करें। आधा व्यय घरके कुटुम्बके लिए करें तो इतना ही व्यय इन जगतके अन्य जीवोंके उद्धारके लिए करें। क्या जगतके अनगिनते जीव आपके घरके ४ आदमियोंके बराबरकी भी जान नहीं रखते? जब शुद्ध दृष्टि जगे और अपना कर्तव्य समझमें आए कि तुम कमसे कम कुटुम्ब बराबर भी दृष्टि सब जीवोंपर रख सको और इस प्रवृत्तिसे धनका

व्यय करो तो यह धनका सदुपयोग है।

मायासे निर्मोहता—इस लोकमें इन मायामय वस्तुवोंके प्रति मोह करनेसे आत्माका कुछ लाभ नहीं है। निर्मलता कैसे जगे, इस ओर अपनेको यत्न करना चाहिए। जितनी भी शांति प्राप्त होगी वह निर्मलताके आधारपर होगी। यह ज्ञानसाध्य चीज है। कोई शरीर के कष्टकी वात नहीं कही जा रही है कि तुम २–४ अनशंन करो तो तुम्हें सन्मार्ग मालूम पड़ेगा। घरमें हो तो रहो, सब कुटुम्बके बीचमें रहना हो रहो, किन्तु अपने ज्ञानको अपने भीतरमें झुकाकर केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपका अनुभव करो। इसके लिए कोई रोकता है क्या? जितनी सामर्थ्य हो, जितना आपका बल चले उतना अपने आपके अन्दर अपने शुद्ध स्वरूपके निरखो। अपने इस ज्ञानानन्द घन सहजस्वरूपके जाननेसे ये नवीन कर्म रुक जाते हैं, प्राचीन कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं और इसके आगेका मार्ग स्पष्ट हो जाता है। इस कारण भरसक कोशिश इस बातकी करिये कि श्रद्धा और चारित्र ये दो गुण निर्मल रहें।

श्रद्धा व चारित्र गुणकी निर्मलतासे हित—आत्मामें अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणोंमें श्रद्धा और चारित्रगुणके विकारसे ही विपत्तियाँ आती हैं। और जो गुणस्थान बने हैं १४, वे श्रद्धा और चारित्रके विकार और अविकारकी डिग्रियों पर बने हैं। श्रद्धा मेरे सही हो, चरित्र मेरा निर्मल हो ऐसी स्थितिमें फिर जो कुछ होता हो, हो। यह संसार है। यहाँ बड़े-बड़े चक्रवर्ती अर्द्धचक्री महाराजा राजा अनेक हुए हैं, उनमें कुछ बुरी वृत्ति वाले हुए हैं पर प्राय: अधिक उत्तम वृत्ति वाले हुए हैं। वे प्राप्त समागमके ज्ञाता दृष्टा थे। उदय है सो सम्पदा आती है, उसके भी ज्ञाता द्रष्टा रहते थे और जो अपने जीवनमें पाई हुई सम्पदामें हर्षमें मग्न नहीं होते हैं वे वियोगके समय दु:खी भी नहीं हुआ करते हैं।

विवेक—जिनके जितनी अधिक आसक्ति है उनको उतना ही अधिक दु:ख होता है। जिनके परवस्तुकी आसक्ति नहीं है उन्हें कोई दु:ख नहीं है। जिसे आसक्ति सताती हो वह बड़ा दु:खी है। जैसे भोजनके सम्बन्धमें आपको किसी चीज की आसक्ति है तो उसके न मिलनेपर आपको अधिक क्लेश होगा। और, किसी चीजकी आसक्ति न हो, पर उस समय कुछ आवश्यक होनेसे बड़ी जरूरत महसूस करते हैं तो ख्याल तो थोड़ा आता है पर उसके न मिलनेसे दु:ख नहीं हो सकता है। क्योंकि उस पदार्थमें आपकी आसक्ति नहीं है। जितनी अधिक आशक्ति होगी उतनी ही अधिक भोगोंके न मिलनेसे क्लेश होगा और बिछुड़ने में क्लेश होगा। विवेक यह कहता है कि वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जानो। सर्व पदार्थ भिन्न हैं। किसी पदार्थसे कोई वात मुझमें नहीं उत्पन्न होती है। उनके ज्ञाता दृष्टा रहो। सीधा अर्थ देखो। प्रयोजन सोचो। आत्महितकी बात निरखो। जो वातका प्रयोजन

नहीं समझ सकता है वह बाहरी रूढ़िको कैसा हो उपयोग करके अनर्थमें ले जा सकता है।

बाह्य क्रियाओंका प्रयोजन स्वरूप दर्शनका यत्न—तुम देवपूजा करो तो देवोंकी तरह अपना स्वरूप निरखनेका यत्न करो। गुरुवोंकी उपासना करो तो गुरुवोंकी तरह ज्ञान और चारित्र की प्रगतिमें बढ़नेकी भावना बनाओ, स्वाध्याय करो तो स्वाध्यायमें जो तत्त्व आता है, अर्थ आता है उस तत्त्व और अर्थको अपने आपमें घटाएं। वर्णन आता है कि १००० योजन तककी अवगाहना वाले जीव होते हैं। तो उससे यह अर्थ लगा लो कि ज्ञानकी उपासना बिना ऐसी अवगाहनामें भी उत्पन्न होना पड़ता है। स्वाध्यायमें आए हुए प्रकरण से तुम्हें क्या शिक्षा लेनी है यह बात समझते रहिए। संयम करो तो संयमसे प्रयोजन यह मानो कि इस संयमके प्रतापसे चंचल मन स्थिर होगा और अपने प्रभुस्वरूप की ओर यह लगेगा। यह संयमका प्रयोजन है। तपस्याका भी वही प्रयोजन है। और छठा कर्तव्य है दान करना। दान करनेका प्रयोजन यह है कि इस परिग्रहमें मेरे आसक्ति संस्कार न रहे। समय-समयपर इसका त्याग किया जाय, परोपकारमें लगाया जाय तो ऐसी वासना संस्कार के कारण परिग्रहमें ममता तो नहीं रह सकती है। यों सभी क्रियाकांडोंका अर्थ अपने आप में अपने आपको खोजनेमें लगाना चाहिए, इससे कर्मबंध नहीं होता।

कर्मास्रवणका निमित्त—आस्रव क्या है? इसका यह प्रकरण चल रहा है। नवीन कर्म आते हैं अर्थात् आत्मामें एक क्षेत्रावगाह रूपसे अवस्थित विस्रसोपचयकी कार्माण वर्गणायें अपने कर्मत्वरूप बनती हैं तो इसका कारण क्या है? नवीन कर्मोंमें कर्मत्व आने का साक्षात् कारण उदयमें आने वाले पुद्गल कर्म हैं। जैसे कि यह बात प्रसिद्ध है कि द्रव्य कर्मका निमित्त कारण भावकर्म है। यह किस ढंगसे सिद्ध किया है? वस्तुतः साक्षात् ऐसा नहीं है। नवीन कर्मोंके आस्रवका कारण उदयागत कर्म है। और उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोंका आस्रवण करनेका निमित्तपना बन जाय इसमें निमित्त है रागद्वेष आदि भाव कर्म। यह आस्रवकी कथा है। चूँकि नवीन कर्मोंके निमित्तपना होनेका निमित्त है रागद्वेषभाव, इसलिए सिद्धान्तमें सीधा यह कह दिया है कि कर्मोंके आश्रवका निमित्त है रागद्वेष भाव।

कर्मास्रवणके निमित्तत्वके परिज्ञानमें एक दृष्टान्त—एक दृष्टान्त देखिये, जैसे मालिक के साथ कुत्ता जा रहा है। मालिकने सैन दी किसी दुष्टपर कुत्तेके लिए छू छू। तो कुत्ता उस दुष्टपर आक्रमण करता है। उस दुष्टपर जो आक्रमण हुआ है उसका करने वाला साक्षात् तो कुत्ता है, पर कुत्तेमें आक्रमण करनेकी हिम्मत आ जाय इस हिम्मतके लानेका निमित्तभूत है मालिक की सैन। ठीक ऐसी ही बात कर्मोंके आस्रवके सम्बंधमें है। नवीन कर्मोंका उस भावकर्मके साथ कुछ साक्षात् सम्बंध नहीं है—किन्तु उदयमें होनेवाले कर्मोंके साथ इस आत्माका कुछ सम्बंध है, पूर्वबद्ध है, किन्तु बिरादरीके कारण नवीन द्रव्यकर्मोंके साथ उद-

यागत कर्मोका कुछ सम्बंध है, इस कारण नवीन कर्मोके आस्रवमें निमित्त बनते हैं उदयमें आये हुए पुद्गल कर्म और पुद्गल कर्मोमें नवीन कर्मोका, आस्रव करनेका निमित्तपना आ जाय उसका निमित्त होता है रागद्वेष मोह भाव। तो कर्मोके आस्रवका मूल निमित्त हुआ रागद्वेष मोह। अतः रागद्वेष मोहसे ही आस्रवपना है, इस प्रकारका नियम किया जा रहा है।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो हु बंधगो भणिदो।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जावगो णवरि ॥१६७॥

रागादिसम्पर्कसज भाव—इस आत्मामें रागद्वेष मोहके सम्पर्कसे उत्पन्न होने वाला भाव अज्ञानमय ही है। वह कर्म करनेके लिए आत्माको प्रेरित करता है। इन शब्दोंमें बहुत गहरा आध्यात्मिक तत्त्व भरा है। प्रथम तो यह कहा कि रागद्वेष मोहभाव कर्म करनेके लिए प्रेरित नहीं करता, किन्तु रागद्वेष मोहके सम्पर्कसे उत्पन्न होने वाला परिणाम वह आत्माको कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। रागद्वेष मोहको छोड़कर उसके सम्पर्कसे होने वाला परिणमन और क्या है ? यह गहरी सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन करनेसे मालूम पड़ता है।

निमित्तरूप परिस्थितिका एक दृष्टान्त—इसके लिए एक दृष्टांत दिया है। चुम्बक पत्थर लोहेको कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। उस लोहेको क्रियान्वित होनेके लिए प्रेरित करता है अर्थात् वह लोहेकी सुई खिच जाय। बहुतसे चुम्बक ऐसे होते हैं कि सूई चार अंगुल दूर हो यदि चाकूकी नोक दिखा दी जाय तो वह सूई चाकूमें खिच जाती है। इस ही दृष्टान्तको ले लिया जाय तो चुम्बक, लोहेको कर्म करनेके लिए प्रेरित नहीं करता- किन्तु लोहेका इतने अन्तरसे उपस्थित होनेके कारण उत्पन्न हुआ जो एक परिणाम है, वातावरण है, परिस्थिति है भाव है, वह सूईको कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। यदि चुम्बक ही सूईको क्रियान्वित करनेके लिए प्रेरित करता होता तो कहीं रखा हो चुम्बक प्रेरित कर ले, पर नहीं कर सकता है। इसलिए अयस्कान्तोपलके विशिष्ट सम्पर्कसे उत्पन्न होने वाला परिणाम वातावरण लोहेकी सूईको खींचनेके लिए प्रेरित करता है, इसी प्रकार राग द्वेष मोह होनेके सम्पर्क होनेसे उत्पन्न हुआ भाव अज्ञानमय परिणाम कर्मको करनेके लिए प्रेरित करता है।

आस्रवके निमित्तका निमित्तभूत अज्ञानमय भाव—ये रागद्वेष मोह तो अनेक भाव हैं। यह भेददृष्टिसे देखा गया है। पर सम्पर्कमें आनेपर उत्पन्न होने वाला जो परिणाम है वह परिणाम एक अज्ञानस्वरूप है। वह अज्ञानस्वरूप भावकर्मको करनेके लिए आत्माको प्रेरित करता है। इतनेपर भी अभी द्रव्यकर्मकी बात नहीं आई। आत्मामें ही कोई क्रिया बने, विकार बने उसकी चर्चा है यहाँ। जिसे कह सकते हैं कि एक योग करनेके लिए प्रेरित किया। रागद्वेष मोहके सम्बंधसे उत्पन्न होने वाले अज्ञानने आत्माको योगरूपमें आनेके

लिए प्रेरित किया और वह योग उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोका निमित्तपना आ जाय, इसके लिए निमित्तत्व आया और इस परम्परामें भी नवीन कर्म बंध गए। एक अनहोना काम हुआ ना। इसमें भी बेढब, विचित्र वे मूलके ज्ञानस्वभावी यह आत्मा द्रव्य कर्मके बंधनसे बंध जाय इतना वेमेल काम होनेमें भीतर कितनी गुत्थियां बनीं? तब यह बेमेल काम बना।

विपत्तियोंकी मूल जिम्मेदारी हमारी—इस प्रकरणमें यह जानना है कि सर्व बंधनोंके जिम्मेदार हम हैं। हमारी ही करतूत मूलमें ऐसी भूलकी हो रही है कि यहांके सर्व मायामय वातावरण जो मेरी विपत्तियोंके लिए एक सच्चा झगड़ा बन गया है—उसके अपराधी हम हैं।

विकट झगड़ा और जड़ हंसी—जैसे कोई हंसीकी ही बात हो, झूठ हो, कल्पनाकी ही बात हो और वह इतनी बढ़ जाय कि परस्परमें दोका बड़ा झगड़ा खड़ा हो जाय। मुकदमेबाजी हो जाय, मारपीट हो जाय, तो झगड़ा तो बड़ा विकट बन गया। एक दूसरेकी जान लेनेके भी यत्नमें हैं। ऐसा सच्चा झगड़ा बन गया। इसका मूल कारण क्या है? इस सम्बंधमें विचार करनेके लिए कुछ लोग बैठें, बात चले तो अंतमें मिलेगा क्या? कुछ नहीं। कुछ कहा ही नही जा सकता है कि किस बातपर इतना बड़ा झगड़ा खड़ा हुआ? वचनोंसे भी कह सकने लायक बात नही है, क्योंकि मूलमें कुछ बात हो तब ना कहा जाय, पर वहाँ तो हंसी थी, भ्रम था। झगड़ा बन गया। धन भी खर्च होने लगा, मारपीट हो गई, एक दूसरेकी जान लेनेपर उतारू हैं पर कारण मूलमें कुछ नहीं निकला। धोती एक प्रवृत्तिमात्र थी।

असह्य बंधन और जड़ भ्रम—इसी प्रकार हमारे आपके इन झगड़ोंको देखो तो एक बड़ा बंधन बन गया है। शरीरके बन्धनमें पड़े ही तो हैं। लक्षणदृष्टिकी बात और है। पर व्यवहारसे देखो तो सही, शरीरको छोड़कर हम कहीं ४ हाथ दूर बैठ तो नहीं सकते। शरीर की परिस्थितियोंके साथ-साथ हम भी तो अपने भाव बनाया करते हैं, कर्मबंधन हुआ करता है, जन्म मरण चलता रहता है। हम कितना ही ज्ञान बनाएँ जितना कि बना सकते हैं, फिर भी मेरा जन्ममरण अभी नही छूट रहा है। मरेंगे और जन्म लेंगे। जैसी पर्यायमें जन्म लेंगे वहाँ बात उसी ढंगकी बन जायगी। इतना एक सच्चा झगड़ा खड़ा हो गया है, पर कोई निर्णय करे कि इतना सच्चा झगड़ा बन जानेका मूल कारण क्या है? कर्मोका उदय था इसलिए ये कर्म बन गए। सूकर गधा बनना पड़ा। कर्मोका उदय क्यों आया? अजी वे कर्म पहिलेसे बने थे तो आखिर समय तो आयगा ही। उनका समय आया, सो यह झगड़ा बन गया। ये कर्म क्यों बंधे थे? पूर्वबद्ध कर्मोका ऐसा ही उदय था कि जिसके निमित्तसे ये नवीन कर्म बंध गये। तो उन कर्मोमें नवीन कर्मोके बंधनेकी हिम्मत कहाँसे आ गई? जीव

ने रागद्वेष मोह परिणाम किया सो हिम्मत आ गई। यह रागद्वेष क्यों हुआ था? कुछ भ्रम हो गया था।

तिलका ताड़——इस विभावसे एक ऐसा अज्ञानमय वातावरण बन गया कि जिससे उदयागत जड़कर्मोंमें नवीन कर्मोंमें आस्रवण करनेका साहस हो गया। तो ये रागद्वेष मोह क्या चीज हैं? जरा भीतरमें पकड़कर तो देखो। दृष्टिबलसे निहारकर तो देखो कि ये राग-द्वेष मोह क्या वस्तु हैं? भले ही कुछ रागद्वेष समझमें आयें, क्योंकि सुहावने लग गये ना। भावात्मक होकर भी ये रागद्वेष मोह तो कुछ कुछ थोड़ा समझमें आते और ऐसा लगता है कि झगड़ेकी जड़ तो मालूम होती है, पर ये रागद्वेप कैसे बने? इसकी खोज करनेको तव अपने अन्तरंगमें उतरते हैं। कैसे बने ये, राग क्या चीज है? किसी भिन्न पदार्थके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेसे चित्त सुहावना हो गया, बस यह है रागका ढाँचा ऐसा न हो तो उस पर वस्तुके प्रति इसकी उन्मुखता हो क्यों? है तो केवल भिन्न पदार्थ और इन भिन्न पदार्थों से कुछ सम्बन्ध भी नहीं है। ये हो कैसे गए? बस मोह कहिए, भ्रम कहिए। भ्रममें क्या कोई ढंग भी है? वह भ्रम कोई पकड़ सकने लायक भी है क्या? जान सकने लायक भी है क्या? उस भ्रममें कुछ तत्त्व नहीं मिलता। उसमें केवल अज्ञान भाव मिलता है। तो झगड़े की कोई जड़ भी नहीं मिली। जड़ तो केवल झूठ है। उस झूठसे ही इतनी बड़ी विपत्तियां खड़ी हो गई, देखो तो तिलका ताड़ बन गया।

मनुष्य भव इतरानेके लिये नहीं समझें—आज मनुष्य भवमें हैं, इसलिए इन विपत्तियोंका कुछ अधिक अंदाज नहीं है। संसारके अन्य जीवोंपर दृष्टिपात करके देखो तो सही। इन मनुष्योंको जो कुछ मिला है उसमें ही संतोष नहीं है। ये समझते हैं कि मैं गरीब हूँ। कुछ भी मेरे पास नहीं हैं। अभी और अच्छा मेरा गुजारा नहीं हो रहा है। सो जैसे सेठके लाड़ले बच्चोंको चूँकि लाड़ मिल रहा है सो वह रिसाता है, नई-नई कल्पनाएं करता है, अपनी माँगें बढ़ाता है और ऊधम करके परिवारको हैरान करता है। इसी प्रकार हम और आपको दुर्लभ मनुष्य जीवन मिला है सो जितना चाहे रिसा लें। उन गाय, भैंस, घोड़ोंका क्या जीवन है, जिनकी भाषा भी सही नहीं है, ऐं ओं कर रहे हैं, जिनका अभिप्राय नहीं समझ सकते हैं। इस मनुष्य जीवनमें एक दूसरे को अभिप्राय दे सकते हैं और सुन्दरसे सुन्दर राग रागनियाँ और कलाएँ ये अपनी कर सकते हैं। कितना श्रेष्ठ यह जीवन है। इस भवमें कितना खुश होते हैं। कुछ पुण्य कर्मका लाड़ मिला है नां। कुछ योग्य सम्पदा प्राप्त हुई ना, तो यह और ऊधम मचाने लगा। जो मिला है उसमें भी संतोप नहीं है। हमें और प्राप्त हो जाय। अरे कितना ही और प्राप्त हो जाय, वे सव परवस्तु हैं। वे सव छोड़ ही तो जाना पड़ेगा। जव तक साथ हैं तब तक भी उनमें से अपनेको कुछ मिलने वाला नहीं

है। यह भ्रम भाव, अज्ञानपरिणाम हमारी समस्त विपत्तियोंका मूल कारण है।

भ्रम मेटनेकी पद्धति—भैया! यह भ्रम भाव कैसे मिटता है, हमें मिटाना है। गुप्त होकर मिटता है। किसीको दिखता नहीं है। यहाँ हमारा सर्वस्व, साथी, शरण, रक्षक कौन है जिस पर अपनी कुछ कलाबाजी दिखा दें तो क्षमा हो जाय, अथवा कुछ उद्धार हो जाय। किसीमें शक्ति नहीं है कि कोई अन्य मेरा उद्धार कर सके। मुझे अपने आपमें ही गुप्त रहकर गुप्त पद्धतिसे गुप्तमें गुप्त कार्य करना है। वह क्या कि जो आत्माका स्वरूप है केवल जाननहार, उसमें न मायाचार, न कषाय, न कोई टेढ़ापन है, जो है जाननमें आ गया, ऐसा भोलाभाला इस निज शंकर सुखकर इस शिव तत्त्वकी ओर निहारना है। मैं ज्ञानमात्र हूं। ऐसा अपने आपका अनुभव करना है। यही अनुभव सैकड़ों रोगोंकी दवा है। कितने ही रोग उठ रहे हों, कितने ही संकट आ रहे हों उन सबको मूलसे मिटा सकनेकी शक्ति है तो शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें है। वहाँ एक भी संकट ठहर नहीं सकता।

भ्रम मिटनेका उपाय स्वतन्त्र सत्ताका दर्शन—इस परमपिताकी दृष्टि करा सकने में समर्थ उपदेश जैन शासनमें है। यह बात तो तब आये जब परपदार्थोंकी उपेक्षा हो जाय। परपदार्थोंसे उपेक्षा होना तब परपदार्थों को भिन्न और असार समझ लीजिए। परपदार्थोंको भिन्न और असार तब ही समझ सकते है जब परपदार्थोंका स्वरूपास्तित्व यथार्थ ध्यानमें आ जाय। त्रिकालमें भी किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। एकमें दूसरे द्रव्यका अत्यन्ताभाव है। ये सब व्यवहारकी बातें हैं। जो यहाँ कहा करते हैं कि देखिये अग्निका असर पानीपर पड़ा। अमुकका असर अमुकपर पड़ा। अरे किसी पदार्थका असर किसी दूसरेपर नहीं पड़ा करता है, किन्तु परिणमने वाले पदार्थोंमें स्वयं योग्यता ऐसी होती है कि अनुकूल परका निमित्त पाकर स्वयं अपनेमें विचित्र असर उत्पन्न कर लेते हैं। इसी बातको व्यवहारमें निमित्तपर ढालकर कहा जाता है कि देखो अमुक निमित्तने अमुक वस्तुको इस प्रकार परिणमा डाला। अर्थ उसका यह है कि यह परिणमन वाला पदार्थ अपनेमें ऐसी योग्यता रखता था कि ऐसा निमित्त पाकर अपने आपमें ऐसा असर कर सका।

विकारपरिणमनकी विधिपर एक दृष्टान्त—यहीं देखो हम बैठे हैं, यहाँ और फर्शपर छाया पड़ रही है। बिगड़ा कौन? वह फर्श। वहाँ अंधेरा बन गया। उस फर्शपर परिणमन हो गया तो व्यवहार भाषामें तो यह कहेंगे कि देखो इस फर्शको हमने ऐसा बना डाला, किन्तु खूब खोज लीजिए। यह मैं अपनेसे बाहरमें क्या काम कर सकता हूं? क्या मैं अपने प्रदेशोंसे एक प्रदेश भी बाहरमें खिसक सकता हूं? नहीं। उस फर्शमें मैंने कुछ उथलपुथल

मचाया क्या ? नहीं। यह मैं अपने इस शरीरमें रहता हुआ अवस्थित हूं। इस चमकीले और प्रकाशमय फर्शमें ऐसी योग्यता है कि यदि अपने समक्ष मुझे या किसीको भी पाये तो उसका निमित्त पाकर यह फर्श स्वयं अपनेमें छायारूप परिणम जाता है।

विकारपरिणमनकी विधि—ऐसे ही जगतके सब पदार्थोंमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, ऐसी अपने आपकी क्रियाके मर्मसे अपरिचित अज्ञानी जन, चूंकि व्यवहारभाषामें परमार्थ अर्थ लगा बैठते हैं इस कारण उनका परमें आकर्षण पहुंचता है। जिसे यह पता हो कि मुझे दु.खी करने वाले अमुकलाल नहीं हैं, किन्तु मैं ही ऐसी योग्यताका हूं कि अमुक नाम वाले भाईका निमित्त पाकर उल्टी कल्पना बनाकर दुःखी होता हूं। सो यद्यपि दु.खी हो रहे हैं, निमित्त भी उपस्थित है तिसपर भी उसके दुःखमें निवृत्ति भरी हुई है। और एक अज्ञानी पुरुष जिसे यह बोध है कि मुझको तो इस अमुकने ही दुःखी किया है, यह बड़ा क्रूर आशय वाला पुरुष है। सो वह दुःखी हो रहा है।

अपने प्रभुपर अन्यायका दुष्परिणाम—भैया ! हम और आपका इस लोकमें कोई रक्षक नहीं है। रक्षक है तो मात्र सम्यग्ज्ञान है। बहुत कुछ तो देखभाल डाला है और यदि यह बात निर्णीत नहीं हुई है तो अभी और देखोगे तो अंतमें यह निष्कर्ष निकलेगा कि जब भी मैं दुःखी होता हूं तब अपने अपराधसे ही दुःखी होता हूं। मैं अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरकी ओर उपयोगरूपी मुखको करके मैं गर्विष्ठ रहा, अहंकारी रहा; सो अपने आपके इस भोलेभाले ज्ञानस्वरूप आत्मभगवानपर अन्याय करनेका तो यह परिणाम निकलेगा ही कि संसारके चतुर्गति सम्बंधी भेष धारण किये जा रहे हों। अपने आपके आत्मभगवानपर इस महान अन्यायका यह परिणाम है कि रुलती सूरतमें खड़े रहते हैं। आज मनुष्य हैं, कभी सूकर थे, अथवा कोई सूकर बन जाय तो देखो उनकी कैसी हालत है ? कीड़े मकोड़े बन जायें, पेड़ पौधे बन जायें तो देखो उनकी क्या हालत हो रही है ? इतना बड़ा दंड क्यों मिल रहा है इस जीवको ? इसने एक महान् अपराध किया जिससे बढ़कर कोई अपराध नहीं हो सकता। वह अपराध है अपने सही स्वरूपको लक्ष्यमें नहीं ले सकता। अपने स्वरूपको अपने ज्ञानमें न ले सकनेसे इतने महान् संकट इस जीवपर आ गये हैं।

प्रभुदर्शनसे संकट समाप्ति—अपने आपमें अपना सुलझेरा करना अपने भीतरकी ही बात है। अपने आपमें इस पवित्र कामको तुम कर सकते हो, मगर सबकी ओरसे आँखे बंद कर लो। ये जगतके सब जीव मेरी ही तरह बल्कि मेरेसे भी अधिक बुरी तरह मलिन हैं, संकटोंमें हैं, असहाय हैं। उनका भविष्य अंधकारमें है। जो स्वयं अशरण हैं, असहाय हैं उनसे अच्छा कहलवाकर मैं क्या लाभ पाऊँगा, ऐसा अपने मनसे सोचो। जो होता है उसके मात्र ज्ञाता दृष्टा रहिए। अपने आपके अंतरङ्गमें कुछ निहारिये। उस सामान्य ज्ञानप्रकाश

का इस ज्ञानमें परिणमन होने पर, अनुभवन होनेपर मूलतः शत प्रतिशत शंकट समाप्त हो जायेंगे। यह अनुभव करके देख लीजिए। किन्तु जब उस अनुभवसे चिपटते हैं तो वे सब संकट नये सिरेसे फिर अपना नाच दिखाने लगते हैं। जैसे कोई चिर परिचित पुरुष १०–१२ वर्ष तक न मिले और बादमें मिले तो कुछ अपरिचितपनासा रहता है। उतना दृढ़ सम्बन्ध नहीं हो पाता। इसलिए ही एक क्षणमात्रके ज्ञानानुभव को इन सब संकल्प विकल्पोंको अनगिनते वर्षों जैसा अपरिचित बना दिया है। इस कारण इस आत्मानुभवके बाद फिर ये संकट थोड़े थोड़े रूपमें नये सिरेसे आते हैं। वे भी खतम होनेके लिए हैं। इस आत्मज्ञानकी ही ऐसी अलौकिक महिमा है।

उक्त गाथामें यह नियम किया गया था कि रागद्वेष और मोह भावोंके ही आस्रवपना है। अब यह दिखाते हैं कि ऐसे भी भाव होते है जो रागादिकसे युक्त न हों, संकीर्ण न हों।

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं वज्झए पुणोविटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥१६८॥

पुनर्बन्धाभाव व एक दृष्टान्त—जैसे पका हुआ फल गिर जाय तो वह फल फिर डंठलमें नहीं लगता है, इसी प्रकार ज्ञानी जीवके कर्म उदयमें आ जायें तो वे खिरते ही हैं, वे फिर बंध नहीं करते हैं और न आगे उदयमें आ सकते हैं। पका हुआ फल जो पेड़से गिर जाता है, क्या वह फल फिर डंठलमें लग सकता है? नहीं। इसी प्रकार कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होने वाला जो भाव है, वह जीव भावोंसे एक बार अलग हो तो अलग होकर क्या वह जीव भावोंमें आता है? नहीं। ज्ञानी जीवके जो कषाय भाव उत्पन्न होता है वह परम्पराको बढ़ानेके लिए नहीं होता है, वह कषायभाव होता है और खिर जाता है।

ज्ञानीके रागादिकका विलगाव—रागादिक तो हुए, पर ज्ञानी जीवके कारण उपयोगमें संकीर्ण नहीं हो सका अर्थात् उपयोगमें रागादिकको रचापचा न सका तो जब रागादिकसे रहित ज्ञानमात्र परिणति होती है तब यह जीव शिव आनन्दका पात्र होता है। जो भाव रागद्वेष मोहसे रहित है वह तो ज्ञानसे रचा हुआ भाव है, जो भाव ज्ञानसे रचा हुआ है वह समस्त द्रव्य कर्मोंके आस्रवको रोकता है। और इस प्रकार समस्त भावास्रवोंका अभाव हो जाता है। जैनसिद्धान्तके अनुसार सर्वसंर्जन भावोंसे हुआ करता है। भ्रमसे यह जीव अपनेको संकटोंमें डालता है, बंधनमें डालता है। और परिणामोंसे ही यह जीव संकटोंसे मुक्त हो जाता है। यह आत्मा एक भावात्मक पदार्थ है। भाव ही इसका बंधन है, भाव ही इसकी मुक्ति है। जहाँ भेदविज्ञान और यथार्थ ज्ञानरूप परिणाम है वहाँ तो इसकी मुक्ति है और जहाँ स्व-परका भेद ज्ञात न हो वहाँ इसका बंधन है।

ज्ञानीके आस्रवभावका बन्धका अभाव—ज्ञानी जीवके आस्रव भाव नहीं होता, अर्थात् रागादिक भाव मेरे हैं ऐसी पकड़ ज्ञानीके नहीं होती। अपने विभावोंको अपना न माने तो वहाँ कर्मोंका आस्रव बंध नहीं होता। जो होता है उसकी गिनती नहीं की गई है। जैसे किसी पुरुषको १ लाखका कर्जा किसीको देना है और ९९ हजार ९९९ रुपये ९९ न० पैं० ऋण चुका दिया हो तो १ नये पैसेको कर्जा भी कहते हैं क्या ? नहीं। स्वरूपसे तो कर्जा है, पर उसे कर्जा नहीं कहा। इस प्रकार भेदविज्ञान हो जानेपर अनन्त संसार तो कट गए। कुछ थोड़े भव शेष रह गए, तो इतने मात्र रह जानेको या छोटी स्थितिके कर्मबंधनको बंधमें शामिल नहीं किया। जो बंधकी परस्परा बढ़ाए उसे बंधन कहते हैं। यों ज्ञानी जीवके आस्रव नहीं होता।

अब कहते हैं कि ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवका भी अभाव है। आस्रव कहते हैं कर्मोंका आना। कर्म होते हैं दो प्रकारके। एक जीवके विकार परिणाम और कार्माण वर्गणावोंका ज्ञानावर्णादिक रूप बनना। विकार परिणामका नाम है भावकर्म और ज्ञानावर्णादिक कर्मों का नाम है द्रव्यकर्म। तो आस्रव भावरूप भावकर्म तो ज्ञानी जीवके होता नहीं, क्योंकि वह तो अलिप्त रहता है। अपने आपमें उत्पन्न होने वाले रागादिक विकारोंको भी अपनेसे पृथक् ज्ञानी जीव समझता है। जैसे इस फर्शपर यह छाया पड़ रही है तो बतलावो यह छाया फर्श की निजी चीज है या फर्शसे अलग चीज है ? फर्शका चूंकि परिणमन है इसलिए फर्शकी चीज है, पर प्रकट समझमें यह भी आ रहा है कि फर्श इस छायासे अलग है। लो अभी जरासी देरमें सिर हिलाया तो वहाँकी छाया अलग हो गई। जैसे फर्शकी छाया फर्शसे भी न्यारी है इसी प्रकार आत्माके रागादिक विकार आत्मासे न्यारे हैं।

ज्ञानीका ज्ञानमय जागरण—अज्ञानी जीव ही रागादिक विकारोंसे ही निज शुद्ध आत्मतत्त्वका बोध नहीं कर सकता किन्तु ज्ञानी सदा जागरूक है। स्वप्नमें भी अर्थात् किसी भी समय वह विह्वल नहीं होता कि लो रागादिक हुए तो अब मुझे कोई शरण नहीं है। रागादिक हो रहे हैं, हों, किन्तु परमार्थ शरणभूत यह मैं परमात्मतत्त्व सबसे पृथक् हूं। इस सावधानीके कारण जब ज्ञानीके भावास्रव नहीं होता तो भावास्रवका निमित्त पाकर ज्ञाना-वर्णादिक कर्म आते थे, सो भावाश्रयके न होनेसे द्रव्यकर्मोंका आना भी रुक जाता है अर्थात् बद्धकर्म नवीन आस्रवण नहीं करते। इस ही बातको इस गाथामें कह रहे हैं।

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा हु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण हु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥१६९॥

कर्मकी कार्माण शरीरसे बद्धता—ज्ञानी जीवके पूर्वकालमें बंधे हुए जो कर्म हैं वे यद्यपि आत्मामें अपनी सत्ता रखे रहते हैं तो भी वे पृथ्वी पिण्डके समान हैं, वे सबके सब

कर्म कार्माणशरीरसे बंधे हैं, आत्मासे नहीं बंधे है। देखिए एक गायको आप बाँधते हैं तो किस प्रकार बाँधते है? एक हाथसे गायका गला पकड़कर रस्सीके एक छोरसे दूसरे छोरको बाँधते हैं। क्या गायके गलेको रस्सीसे बाँधते हैं? नहीं। रस्सीका एक छोर पकड़कर दूसरे छोरसे बाँधते हैं। अगर गायके गलेको आप रस्सीसे बाँधें तो गाय मर जायगी। रस्सीका एक छोर दूसरे छोरमें ऐसा बाँधते है कि गायका गला बिल्कुल सुरक्षित रहता है। तो रस्सी से गाय नहीं बंधी है बल्कि रस्सीसे रस्सी बंधी है। किन्तु इस प्रकारकी रस्सीका निमित्त पाकर गाय बंधनको प्राप्त हो जाती है ऐसी ही वात इस अपने आत्माकी देखिए।

ज्ञानीके पृथ्वीपिण्डवत् कर्मोंका सत्त्व—यह आत्मा आकाशकी तरह अमूर्त समस्त परद्रव्योंके लेपसे रहित है। ये कर्म बंधते हैं तो कर्मोंसे कर्म बंधते हैं। चाहे अज्ञानी जीवके कर्म बन्धन हो, चाहे ज्ञानी जीवके कर्म बन्धन हो, कर्मोंसे ही कर्म बंधते हैं। पर उस बंधी हुई हालतमें अज्ञानी जीवने बंधनको अपना लिया है, इसलिए अज्ञानीका बंध कहलाता है, और ज्ञानीने उस बन्धनको नहीं अपनाया, ज्ञान भावको ही अपनाया है। अतः उस परि-स्थितिमें भी ज्ञानी जीव मुक्त रहता है, अबद्ध रहता है। जितने भी अज्ञानसे पापकर्म बंध गये थे द्रव्यास्रवरूप कर्म अर्थात् पुद्गल कार्माणवर्गणावोंके कर्म जो मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगके करनेमें निमित्तभूत हो सकते हैं, सो तत्तत् विषयक ये सब द्रव्यकर्म ज्ञानी जीवके द्रव्यांतरभूत हैं, अचेतन पुद्गलके परिणमन हैं। इस कारण पृथ्वीपिण्डके समान ही ये वहां पड़े हुए है। वे सभी कर्म स्वभावसे ही कार्माण शरीरसे सम्बद्ध होते हैं पर जीवके साथ बद्ध नहीं होते हैं। इस कारण ज्ञानी जीवके द्रव्यास्रवभावका अभाव स्वमेव ही स्वभाव सिद्ध है।

यह जीव ज्ञानबलसे भावास्रवसे दूर रहता है, ये धन कुटुम्ब तो मेरे हैं ही नहीं, यह तो मोटा भेदविज्ञान है, किन्तु आत्मामें ही उपाधि कर्मोंका निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाली विभाव तरंगें भी मेरे नही है, ऐसा भेदविज्ञान ज्ञानी जीवके निरन्तर रहता है। तब भावास्रव कहाँ रहा? जैसे लोग कहते हैं कि तुमने हमें गाली दिया और हमने एक भी न लिया तो वह गाली कहाँ रही? इसी प्रकार इन द्रव्य कर्मोंके उदयमें रागादिक विकार आत्मापर आये, किन्तु ज्ञानीने ग्रहण नहीं किया तो रागादिक विकारोंके आनेका प्रयोजन क्या रहा? बस यही स्थिति भावास्रवके भेदकी कहलाती है।

ज्ञानीकी निरास्रवता—जो जीव रागद्वेष भावोंको भी अपना नहीं मानता है वह द्रव्यास्रवोंसे तो स्वतः ही भिन्न हो जाता है। ज्ञानी जीव सदा ज्ञानमय एक भावरूप होता है। वह ज्ञानी निरास्रव है। ज्ञानीको निज सहज ज्ञानस्वरूपकी दृढ़ श्रद्धा बनी रहती है। मेरा तो यह मैं ही हूँ। इसके अतिरिक्त जितने भी विभाव है, रागादिक विकार हैं ये सब मैं

कुछ नहीं हूं। ऐसे परिणाम वाले ज्ञानी पुरुषोंको निरास्रव ही समझना चाहिए। अब यह पूछा जा रहा है कि ज्ञानी जीव निरास्रव कैसे होता है ? तो उत्तरमें कहते है कि:—

चहुविह अरोयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समये समये जम्हा तेण अबंधोत्ति णाणी हु ॥१७०॥

ज्ञानीकी अबन्धकताका कारण—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार प्रकारके परिणाम ज्ञान दर्शन गुणके विचित्र परिस्थितियोंके कारण अनेक भेद वाले कर्मोंको बाँधते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुषके आस्रव भावकी भावना नहीं है इसलिए वह तो अबद्ध ही कहलाता है। जो अपने विकारको अपनाए सो संसारमें रुले। ज्ञानी जीव निरन्तर शुद्ध ज्ञानमात्र अपने स्वरूपका विश्वास रखता है। मेरे तो ये रागादिक भी नहीं है। शरीर तो मेरा क्या होगा ? ये वैभव सम्पदा तो मेरे क्या होंगे ? यह मैं शाश्वत ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ। ज्ञानी जीवके आस्रव भावकी भावनाका अभिप्राय नहीं है, इस कारण वह निरास्रव ही है, निरास्रव है तब अबन्धक तो स्वत:सिद्ध हो गया।

द्रव्यप्रत्ययमें विभावका सहयोग—ज्ञानीके भी जो द्रव्यप्रत्यय होता है, कर्मोंका उदय होता है और वह प्रतिसमय अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंको बाँधता है तो वहाँ ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन ही कारण है। ज्ञानी जीवके जो कर्म बँधते हैं वे उसकी रही सही कमजोरीके कारण बंधते हैं। वह प्रगत्या नहीं बाँधता। इसका तात्पर्य क्या है कि द्रव्यकर्म तो परतत्त्वमें आये जिन कर्मोंकी विनतियोंमें आप चर्चा करते हैं ये दुष्ट कर्म हैं, ये दुःख देते हैं या दुष्ट कर्म विनाशनाय धूपं। जिन कर्मोंके लिए आप कहा करते हैं वे कर्म जब आते हैं तो जीवके ज्ञान और दर्शन गुण रागादिक अज्ञानभाव रूपमें परिणम जाते हैं। उस समय रागादिक भावमें परिणमते हुए वे ज्ञान दर्शन गुण बंधके कारण होते हैं।

विभावकी मलीनताका विस्तार—वस्तुतः रागादिक अज्ञानभावसे परिणमा हुआ भी ज्ञानदर्शन गुणज्ञानदर्शन ही कहलाता है, इसकी जघन्यताका कारण तो विभावका सम्बन्ध है। सो ज्ञान दर्शन गुण जब अज्ञानरूप होते हैं तो वे नये कर्मोंको बांधते हैं, किन्तु जो भेद-विज्ञान है वह कर्मोंको नहीं बाँधता। ज्ञानदर्शन गुणका रंगीला कर देने वाला जो प्रत्यय है वह (भाव) कर्म ही वास्तवमें (भाव) कर्मका बन्धन है। ज्ञानी जीव तो निरास्रव है। विष की जड़ है मोह भाव।

विभावका मालिन्य—घरमें रहने वाले दो चार व्यक्ति तो आपके प्रभुतुल्य बने रहें अर्थात् सब कुछ ये ही हैं। जो तन, मन, धन, वचन जो कुछ न्योछावर करना है वह सब इनके ही लिए है। और उन जीवोंको छोड़कर बाकी जगत्के मनुष्यादिक जो जीव हैं इन सबके प्रति कृपाभाव नहीं होता। उनको भली दृष्टिसे नहीं देख सकते। कुटुम्बके लोग चाहे

कैसे ही अपराधी हों, चाहे कैसे ही अज्ञानी हों उनको अपना सर्वस्व समझते हैं और उनको छोड़कर बाकी जीवोंका कुछ मूल्य भी नहीं किया जा सकता हो तो इसे कितना बड़ा व्यामोह कहेंगे ? जहाँ ऐसा तीव्र व्यामोह है वहाँ इस जीवको सत्पथ नजर नहीं आता। ऐसी हालत में हो क्या रहा है मोहियोंको कि ज्ञानबल कमजोर है। जब ज्ञानका जघन्न परिणमन हो रहा है तो वह बंध करेगा ही।

स्वयंकी परिणति ही स्वयंका प्रभाव—जैसे कोई छोटा देहाती पुरुष किसी बड़े हाकिमके पास जाता है, किसी कारणसे जाना पड़ता है तो वह भयभीत शंकित रहता है, उस पर जो इतना प्रभाव पड़ा, भय आ गया, शंका आ गई इस प्रभावका कारण कौन है ? क्या जजने प्रभाव डाल दिया ? नहीं। वह देहाती स्वयं कमजोर प्रकृतिका था, ज्ञान उसका विशिष्ट न था, पहुँच उसकी ऊपर तक न थी, इस कारण वह स्वयं ही कल्पना करके अपने आपमें अपना असर पैदा कर लेता है और भयभीत तथा शंकित रहता है। ये जगत्के सभी जीव जो नाना प्रकारके संकटोंमें फंसे हुए हैं, आनन्दसे बहिर्भूत हैं, इनको सताने वाला कोई दूसरा है क्या ? नहीं। यह जीव स्वयं ऐसे अशुद्ध उपादान वाला है कि अपनी योग्यता के अनुकूल अपने आपमें कल्पनाएं बनाकर दुःखी हुआ करता है। इसको बेचैन करने वाला जगतमें कोई दूसरा नहीं है। ज्ञानी जीव इस सब राजको जानता है, इस कारण उसे निराश्रय ही कहा है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिकी पद्धतिपर एक दृष्टान्त—कुत्ता और सेर दो जानवर होते हैं। इन दोनोंको ही देखो कुत्ता कितना उपकारी जीव है कि आपकी दो रोटीके टुकड़ों में ही रात दिन आपकी रखवाली करता। यदि आपपर कोई आक्रमण करता तो उसका वह कुत्ता मुकाबला करता। आपके पास बड़े विनयसे पूंछ हिलाकर बैठता, वह आपकी रक्षा करता है। और सिंहको देखो यदि उसकी शकल भी दिख जाय तो जान सूख जायगी अजायब घरमें शेरको देखने जाते हैं तो वह लोहेके सिकजोंसे बंद है तो भी पास जाते हुए डर लगता है। और अकल्पित कल्पनाएं हो जाती हैं कि यदि यह लोहेका सिकंजा तोड़कर निकल आवे तो हमारी खैर नहीं है। सिंह इतना अनुपकारी जानवर है।

इनकी उपमामें लोगोंकी दृष्टि—किन्तु यदि कोई मनुष्य, सेठ जी की या किसी मिनिष्टरकी प्रशंसा करने कोई लग जाय भरी सभामें कि यह बड़े उपकारी हैं, सबके काम आते हैं, इनके गुणोंका क्या वर्णन करना है ? ये तो कुत्तेके समान है, अर्थात् जैसे कुत्ता उपकारी होता है, विनयशील होता है, स्वामिभक्त होता है इसी तरह ये मिनिष्टर साहब भी या सेठ जी भी देशभक्त हैं, प्रजाके उपकारी हैं। उनकी प्रशंसा कोई करने लगे तो सुनने वाले और मिनिस्टर भी क्या खुश होंगे ? नहीं और ऐसा कह दिया जाय कि यह तो शेरके

समान है तो वह खुश हो जायगा और का गया इसमें यह कि जैसे शेर हिंसक होता है, खूंखार होता है, दूसरोंका विनाशक होता है इसी प्रकार यह भी हैं, पर सिंहकी उपमाको सु कर तो वह खुश होता है और कुत्तेकी जैसी बड़ी अच्छी बात सुनकर दुःखी हो जाता है। इसका कारण क्या है ? इसका मूल कारण है ज्ञान और अज्ञानकी पद्धतिकी बात।

कुत्ता और सिंहमें बाह्यमें बाह्य व अन्तरकी दृष्टि--जैसे कुत्तेको कोई लाठी मारे तो उसे यह पता नहीं कि मुझे मारने वाला मनुष्य है, वह तो लाठीको ही मुँहसे चबाता है। इस लाठीने मुझे हैरान किया, मैं इसे तोड़कर रहूँगा, साक्षात् मारने वाला जो पुरुष है यह मेरा बाधक है ऐसी दृष्टि कुत्तेके नहीं जगती, किन्तु जो लाठी निमित्त है उसपर ही दृष्टि लगाता है कि इस लाठी ने ही मुझे दुःख दिया। वह लाठीको चबाता है, किन्तु सिंहको कोई पुरुष लाठी मारे, तलवार मारे तो सिंहकी ऐसी विशद दृष्टि है कि वह लाठी या तलवारको तो देखता ही नहीं, वह मारने वाले पुरुषपर ही सीधा प्रहार करता है। ज्ञानी और अज्ञानी जीवमें ऐसा ही अन्तर है।

ज्ञानी और अज्ञानी जीवमें अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दृष्टि—ज्ञानी जीव तो सिंहके मानिन्द अपने बाधक तत्त्वमें दृष्टि न डालकर सीधे रागादिक विकारभावोंको बाधक समझता है। यद्यपि रागादिक विकारोंके निमित्त कर्मका उदय है लेकिन वह उदय मुझसे अत्यन्त भिन्न है। उनका कोई गुण या परिणमन या असर इस मुझ आत्मामें नहीं होता। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक मेल है कि कर्मोंका उदय हो तो उसे निमित्तमात्र करके यह अशुद्ध परिणम सकने वाला जीव स्वयंकी परिणतिसे रागादिक रूप परिणम जाता है। ज्ञानी जीवकी यह दृष्टि है कि उसकी आत्माका बाधक भ्रम रागद्वेषादि हैं, किन्तु अज्ञानी जीवको यह पता नहीं है। कुछ सुन रखा है सो कर्मोंको गाली देता है। ये ८ दुष्ट कर्म मेरेको सता रहे हैं। प्रभो ! इन दुष्ट कर्मोंको निकाल दो अथवा जिन्होंने ८ कर्मोंकी चर्चा नहीं सुनी है वे इन चेतन अचेतन पदार्थोंमें अपना बाधक साधक मानकर इनके ही निग्रह और अनुग्रहमें ही लगे रहते है।

भेदविज्ञानकी विशेषतासे ज्ञानी जीवकी निरास्रवता—बस इस विशेषताके कारण ज्ञानी जीव निरास्रव है और अज्ञानी जीव सास्रव है। दृष्टान्तमें इतने ऐबके कारण कुत्तेकी उपमा कोई नहीं सुनना चाहता है, यद्यपि उसमें गुण अनेक हैं तथा सिंहकी उपमा सब सुनना चाहते है, यद्यपि उसमें अवगुण अनेक है। यों भेदविज्ञानके प्रतापसे यह ज्ञानी जीव रागादिक विकार भावोंको नहीं अपनाता है और संसारसाधक कर्मोंका आस्रव नहीं करता।

आत्माका गुण है ज्ञान। यह ज्ञानगुण जब समर्थ विकासमें होता है तब इस जीवके बंध नहीं होता। किन्तु जब ज्ञानगुण जघन्य अवस्थामें होता है तो वह ज्ञानगुणका विभिन्न,

विचित्र परिणमन होता है और ज्ञानगुणका परिवर्तन ही कर्मबंधका कारण है। इसपर यह प्रश्न हुआ कि ज्ञानगुणका परिणमन परिवर्तन बंधका कारण कैसे है ? इसके उत्तरमें कहते हैं।

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

कर्मबन्धका कारण ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन—चूंकि ज्ञानगुणका जघन्यगुण रूप, अन्य रूप परिणमन है, इस कारण यह ज्ञानगुण कर्मबंधका करने वाला कहा गया है। हम आप देखते हैं कि अपन लोगोंका ज्ञान व्यवस्थित और स्थिर नहीं रहता है, कभी किसी विषयमें ज्ञान किया, कभी किसी विषयमें ज्ञान किया, कभी किसी विषयमें गये, यों चित्तवृत्ति का परिणमन होता रहता है। इस परिवर्तनका मूल निमित्त है रागद्वेष भाव। रागद्वेष भाव का मूल कारण है मोहभाव। जहां मोह रागद्वेष रहता है वहां ज्ञानगुण अस्थिर रहता है। ज्ञानका परिवर्तन चलता रहता है उसे कहते हैं जघन्य ज्ञानगुण, असमर्थ ज्ञानपरिणमन। जब तक ज्ञानगुणका जघन्य भाव रहता है तब तक वह चूंकि अन्तर्मुहूर्तमें विपरिणत हो रहा है, अभी किसी विषयको जाना, उसे छोड़कर फिर अन्य विषयको जाना, उसे छोड़कर अन्य विषयको जाना। अन्य, अन्य समयोंमें विभिन्न परिणमन हो रहा है, इस कारण कर्म-बन्ध हो रहा है।

ज्ञानगुणके जघन्य परिणमनका कारण—जघन्यगुणमें अन्य-अन्य रूपसे उसका परिणमन हुआ और यह परिणमन यथाख्यात चारित्र अवस्थासे पहिले अर्थात् जब तक कषायका उदय चल रहा है तब तक अवश्यंभावी रहा, वहां रागद्वेष रहा करते हैं। इस कारण यह विभाव ज्ञानी जीवका जघन्य परिणमन कारण है। जैसे किसी भले लड़केके साथ खोटा लड़का लगा है और भले लड़केने किसी प्रकारकी गल्ती की है तो समझदार आदमी उस भले लड़केको डांटता है कि यह क्यों किया ? अरे सारे मूल ऐबका कारण तो वह दुष्ट लड़का है पर भले आदमीकी डांट पहिले होती है। नाम धरेगा तो भले आदमीका पहिले धरेगा, इसी तरह देखो इस आत्मामें ज्ञानगुण भी चल रहा है और रागद्वेष विकार परिणमन भी चल रहा है। सो रागद्वेष विकार हैं, अपराध तो उनका है पर यहां आचार्यदेव चूंकि रागद्वेष अपराधके संगसे ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन हो गया, अल्पविकास हो गया, स्थिर हो गया, भागता फिरता है यह ज्ञान, विचार इस कारण आचार्यदेव ज्ञानगुणको बंधन का कारण बतला रहे हैं। परमार्थसे देखा जाय तो ज्ञान बंधका कारण नहीं होता।

बन्धनका अनुपचरित निमित्त—बंधनका कारण है रागद्वेष भाव। पर इस प्रकरण में ज्ञानगुणके जघन्य परिणमनपर ही एक लतार चल रही है, जो कि जघन्न रूपसे परिणाम

रही है। इन समस्त कर्मोंके बंधका कारण ज्ञानगुणका जघन्य परिणमन है। यथाख्यात चारित्र होता है ग्यारहवें गुणस्थाममें। जब साधु महात्मावोंके कषाय सब शांत हो जाते हैं तब कर्मों का आस्रव रुकता है। यथाख्यात चारित्रावस्थासे पहिले यह जघन्य परिणमन है, कषाय सहित है, अन्तरर्मुहूर्तमें अन्य अन्य ध्यानरूपसे विपरिणत होता रहता है। यों कल्पना की जाय कि कोई साधु पुरुष ज्ञान और वैराग्यके शुद्ध विकासके कारण निर्विकल्प समतापरिणाममें लगता है लेकिन अभी उसकी कषाय मूलमें शांत नहीं हुई है तो मिनट आध मिनटमें निर्विकल्प समतापरिणाममें ठहर गया, किन्तु पुनः अन्तरसे रागद्वेषकी तरंग उठती है जिसके कारण यह ज्ञान और चारित्र अस्थिर हो जाते हैं। इस अस्थिरतामें यत्र तत्र उपयोग घूम रहा है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसी अस्थिरता, ऐसे उपयोगको देखिये यह मिथ्यात्व का कारण है। सो कषाय भावके कारण यह ज्ञानगुण बंधक कहा गया है अथवा जघन्यगुण हुआ मिथ्यात्व। मिथ्यात्वमें ज्ञानगुणसे बंध हुआ करता है। यदि समय आ जाय, उपदेश लग जाय, विचार स्वच्छ हो जाय, परवस्तुओंसे ममता हट जाय तो यह ज्ञानगुण मिथ्या-पर्यायको छोड़कर सम्यक्पर्यायरूप परिणमन करता है।

ज्ञानके जघन्यपरिणमनको बन्धहेतु कहनेका समर्थन—मोक्षके विषयमें कहते हैं ना कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षका मार्ग है। वह सम्यग्दर्शन क्या है? ज्ञानका जीवादिकके श्रद्धान स्वभावसे होनेका नाम सम्यग्दर्शन है और जीवादि तत्त्वोंके जाननस्वभावसे ज्ञानके होने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जैसा आत्मतत्त्व है, वीतराग, रागद्वेषरहित उस प्रकार रागद्वेषरहित स्वभावरूपसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यक् चारित्र है। इस स्थितिमें जब ज्ञानको मोक्षका कारण कहा तो क्या कर्मोंके बंधका कारण नहीं कह सकते। ज्ञानका शुद्ध विकास मोक्षका कारण है तो ज्ञानका अशुद्ध परिणमन बंध का कारण है। यह ज्ञान जब अन्य पदार्थोंको 'यह मेरा है, इससे मेरा हित है, इस रूप मैं हूँ' इन विकल्पोंके रूपसे परिणमता है तब वह ज्ञान बंधन कराता है, जीवको परतंत्र करता है। और जब यही ज्ञान वस्तुमें यथार्थस्वरूपको जानकर जब सही-सही जाननहार रहता है तब कर्म बंध रुक जाता है।

भ्रमके दूर होनेपर संकटकी समाप्ति पर एक दृष्टान्त—जैसे सामने रस्सी पड़ी है, दूरसे देखनेमें साँप जैसी लगे तो वह घर वाला पुरुष घबड़ाता है, कभी किसीको काट न खाये, किसी की मृत्यु न हो जाय, वह चिंतित है, बेचैन है। लोगोंको पुकारता है, लोगोंके आनेका अवसर न था। तब वह हिम्मत बाँधकर देखने चलता है कि आखिर देखें तो सही कि कैसा सांप है, विषैला है या साधारण है। तो जब हिम्मत बाँधकर आगे बढ़ा तो सोचा कि यह तो साँपसा नहीं मालूम होता है। यह तो जरा भी हिलता डुलता नहीं है। जब

और निकट गया तो देखा कि अरे यह तो सांप नहीं मालूम होता। जब बिल्कुल निकट गया तो देखा अरे यह तो कोरी रस्सी है, सांप नहीं है। जब ऐसा ज्ञान हुआ कि यह तो कोरी रस्सी है, इस ज्ञानके होते ही आप बतलावो कि सारे संकट, सारी बेचैनी मिट गई कि नहीं ? मिट गई। जब तक उसे भ्रम था तब तक कितनी आकुलताएँ थीं, जब उसका भ्रम दूर हो गया तो सारी आकुलताएँ समाप्त हो गईं।

भ्रमके दूर होनेपर आकुलतावोंकी समाप्ति—इसी प्रकार यहां कितनी आकुलताएँ लगी हैं। न जाने कैसा कानून बनेगा, व्यापार, रोजिगार, आजीविका, ठीक ठिकाने रह सकेगी या नहीं। घरके लोग स्वस्थ रह पा रहेंगे या नहीं अथवा इज्जत पोजीशनमें कहीं बट्टा न लग जाय, कितने ही प्रकारके यहाँ संकट और आकुलताएँ मचा रखी हैं। उन संकटोंका मूल कारण है परवस्तुवोंमें आत्मीय बुद्धि करना, परवस्तुवोंसे ही मेरा हित है, वे ही शरण हैं, मेरी जान इन परपदार्थोंके आधीन है—ऐसी जो मिथ्याबुद्धि वनी है इस मिथ्याबुद्धिके कारण सैकड़ों आकुलताएँ उत्पन्न हो गई। जरा हिम्मत तो बांधें, परवस्तुवोंके निमित्तसे बहुत-बहुत दुःखी हो जानेपर अब साहस तो बनाएँ, आखिर ये समस्त पदार्थ मेरे अनुकूल नहीं रहते। जैसा मैं चाहता हूं तैसे ये परिणमते ही नहीं, प्रतिकूल परिणमा करते हैं, आखिर मामला क्या है ? मेरा इन परपदार्थोंके साथ रंच भी सम्वन्ध नहीं है। मेरा उनपर रंच भी अधिकार नहीं है, सोचा, स्वरूप निरखा, मालूम पड़ा कि अहो ये तो समस्त वस्तुयें पूर्ण स्वतंत्र हैं। जगतके ये सव जीव अपने आपमें परिपूर्णता लिए हैं, स्वतंत्र हैं। किसी भी द्रव्यका किसी भी दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं। न कोई शक्ति जाती है, न परिणमन जाता है, न असर होता है। ये ही पदार्थ अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं अपने आप अपनेमें असर उत्पन्न कर लेते हैं। ऐसा ही समस्त पदार्थोंका परिणमन चल रहा है। जहाँ यह यथार्थ अवगम हुआ वहाँ सारी आकुलताएं समाप्त हो जाती है।

इस वर्णनके बाद यह शंका होना स्वाभाविक है कि कहाँ तो यह कहा जा रहा है कि १० वें गुणस्थान तक यह जीव वंधक है और पहिले यह कहा था कि सम्यग्दृष्टी जीव निरास्रव है। सम्यग्दृष्टी जीव होता है चौथे गुणस्थानसे। वहां चौथे गुणस्थानसे ही कर्मोंका आस्रव और वंधका निषेध किया था और अब यहाँ यह कह रहे हैं कि आस्रव और वंध १० वें गुणस्थान तक होते हैं तो पहिली वात कैसे सही है ? इसका उत्तर इस गाथामें देते हैं।

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु वज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र चूँकि जघन्य भावसे परिणमते हैं इस कारण ज्ञानी नाना

प्रकारके पुद्गलकर्मोंसे बँध जाता है। किन्तु यहाँ भी ज्ञानगुणके स्वरूप और स्वभावको परखो। जो ज्ञानी जीव है वह बुद्धिपूर्वक राग द्वेष मोहभाव नहीं करता। इसलिए वह निरास्रव ही है। श्रद्धाकी बात देखो।

प्रवृत्तिमें भी शुद्ध श्रद्धा रह सकनेका एक दृष्टांत--एक रईस रोगी जिसके यह ज्ञान है कि यह रोग मेरे है और इस रोगसे मुक्त रहनेकी स्थिति आत्माकी निःसंकट अवस्था है, वह रईस रोगका उपचार कर रहा है; दवाई सेवन कर है, फिर भी उसे दवाईमें राग नहीं है कि मैं इस औषधिको जिन्दगी भर पीता रहूं और दिनमें तीन चार बार औषधि पीऊँ। वह तो यह चाहता है कि कब यह औषधि मुझसे छूटे और कब मैं दो चार मील रोज चल जाया करूँ। उसे रोग अवस्थामें होने वाले आरामसे प्रेम नहीं है।

प्रवृत्तिमें भी ज्ञानीकी शुद्ध श्रद्धाके कारण बन्धभावका अभाव--इसी तरह इस ज्ञानी जीवके पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे पूर्वोदयसे वैभव सम्पदा प्राप्त हुई है तो उसे उस आरामसे प्रेम नहीं है। वह वैभव सम्पदाके आरामसे, परिवारके सद्व्यवहारसे प्रेम नहीं करता। वह आराम तो अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वभावमें स्थित होनेसे ही मानता है। ज्ञानी जीवके बुद्धि-पूर्वक रागद्वेष रहित होनेसे आस्रव नहीं है। रुचिपूर्वक अर्थात् इन्द्रिय और मनके व्यापार बिना केवल कषायके उदयके निमित्तसे जो परिणाम होते हैं वे बुद्धिपूर्वक नहीं कहे जाते। तो जानकारी सहित अपने आपका उपयोग लेकर रुचिपूर्वक रागद्वेष मोह भाव नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रवृत्तिमें निवृत्तिके आशयकी सिद्धि--जैसे किसी भाई या बहिनको छोटे को उससे छोटा बच्चा सौंप दिया जाय कि तू इसे खिला। तो वह भाई बहिनको खिलाता है, गोदमें लेता है, पर उसे लेनेमें अड़चन पड़ रही है। ८ वर्षके भैयाको ४ वर्ष की बहिन खिलानेको दे दिया तो अब वह कैसे टांगे फिरे? कभी पेटपर रखता, कभी कंधेपर रखता, मगर उसके चित्तमें है कि क्या झंझट लग गया है? अगर न खिलायेंगे तो मां डंडे मारेगी। सो मांके डंडे पड़नेके डरसे उसे जबरदस्ती खिलाना पड़ रहा है। इसी प्रकार कर्मोंके डंडोंके डरके मारे यह ज्ञानी जीव रागमें रह रहा है घर गृहस्थीमें, पर उसे इस वैभव और गृहस्थीमें रुचि नहीं है। उसकी रुचि शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर है। जिसकी रुचि शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर है उसकी प्रवृत्ति कर्मोदयवश बाह्य पदार्थोंका आलम्बन करके चल रही है तो भी उसे निरास्रव कहा गया है।

जघन्य परिणमनका असर--यह तो अपने परिणामोंकी बात है। ऐसा ज्ञानी भी जब तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे देखनेके लिए, जाननेके लिए और आचरित करनेके लिए आसक्त रहता है तब तक वह अपने ज्ञानको जघन्य भावरूपसे ही देखता है अर्थात् अस्थिर प्रवृत्तिसे यह ज्ञान परिणमता रहता है। जघन्य भावसे ही देखता है, जघन्य भावको ही

जानता है, और जघन्यभावका ही आश्रय करता है। जब तक ऐसी परिस्थिति है तब तक चूँकि जघन्य भाव अन्यथा हो नहीं सकते थे, इस कारण अनुमानमें आये हुए आस्रव बंध पूर्वक जो कर्मकलंक हैं उनका उदय चल रहा है, इस उदयके निमित्तसे पुद्गल कर्मका बंध होता है।

विभावरूप अपराधकी सङ्कालोंपर लाद—देखो जब किसी गोष्ठीमें कोई मामला बिगड़ जाता है तो कोई किसीपर अपराध ठोकता है, कोई किसीपर अपराध ठोकता है। जो बड़ा भला भी है, अच्छा भी है उसकी भी गल्ती बताते हैं। तुम इसमें चूक कर गए थे, नहीं तो मामला न बिगड़ता, तुमने सब मामला बिगाड़ दिया। कभी कर्मोंपर दोष ठोका, कभी पुद्गलपर दोष ठोका, कभी रागद्वेषोंपर दोष ठोका, कभी जीवके अज्ञानभावपर दोष ठोका, क्यों ये दोष ठोके जा रहे हैं? तुमने ज्ञानका जघन्य परिणमन किया इसलिए दोष हो गया। सो इस सज्जन ज्ञानी पुरुषपर भी दोष लगाया जा रहा है। तुम चूँकि ऐसे बैठे हो, ऐसे परिणम रहे हो इस कारण कर्मोंका बंध हो रहा है। पर दोष किसपर ठोको? दोष तो असली है विभाव कर्म कलंकका, आत्माके रागद्वेष मोहभावका। उसके कारण पुद्गल कर्मो का बंध होता है।

ज्ञानके आलम्बनका उपदेश—अतः हे मुमुक्षुजनो! तब तक ज्ञानको देखना चाहिए, तब तक ज्ञानको जानना चाहिए, तब तक ज्ञानका आचरण करना चाहिए जब तक ज्ञानका पूर्णभाव न देख लिया जाय, जान न लिया जाय, आचरण न कर लिया जाय तब तक ज्ञान को ही देखते जावो। अन्य पदार्थोंकी नजर मत करो, केवल निज ज्ञानस्वरूपको ही देखो, जानो और ऐसे ही देखने वाले बने रहो। इस प्रक्रियासे जब केवल ज्ञानीभूत हो जायगा, केवल जाननहार ज्ञाताद्रष्टा बन जायगा तब यह जीव सर्वथा निरास्रव है।

अरहंत सिद्धके कर्मबन्धका अभाव—देखो आस्रव और बंध नहीं होता। किसके नहीं होता? सिद्ध भगवानके नहीं होता। इस बातको बड़ी जल्दी मान जावोगे या नहीं कि सिद्धप्रभुके कर्मबंध नहीं होता। और अरहंत भगवानके भी कर्मबंध नहीं होता। मान जायेंगे, जरा भी शंका न करेंगे, क्योंकि वह साक्षात् ज्ञानीभूत है, वहाँ ज्ञानप्रकाशके अलावा और कुछ ऐब हैं ही नहीं। रागद्वेषादिक तक रंचमात्र नहीं हैं।

वीतराग छद्मस्थके कर्मबन्धका अभाव—अच्छा उससे और नीचे चलो ११वें, १२वें गुणस्थानमें जहाँ कि कषाय तो नहीं है पर ज्ञप्ति परिवर्तन है। वहाँ भी जीव निरास्रव है, यह भी बात मान जा सकते हैं क्योंकि कषाय नहीं है।

अप्रमत्त साम्परायवर्तियोंके बन्धका अभाव—९वें गुणस्थानसे लेकर १०वें गुण-स्थान तक भी यह जीव निरास्रव है। यह बात जरा देरसे मानी जा सकेगी क्योंकि इस

गुणस्थानमें उदय है, कषाय चल रहा है तब वहाँ दृष्टि लगानी पड़ेगी कि ओह बुद्धिपूर्वक रागद्वेष भाव नहीं है। उनका जो रागद्वेष होता है वह विषयों बिना हो रहा है। उनको भी यह पता नहीं रहता है कि मेरेमें रागद्वेष आ भी रहे हैं। वे समाधिमें स्थित हैं, रागादिकसे रहित हैं उन साधुवों को स्वयंका कुछ पता नहीं है ऐसी स्थितिमें वे जीव निरास्रव हैं। जो आस्रव होता है उसकी कुछ गिनती नहीं है।

प्रमत्त व्रतियोंके बन्धका अभाव—अब कुछ और नीचे चलकर देखो तो ५ वें, छठवें गुणस्थानमें भी जीव निरास्रव है। यह जीव मोक्षमार्गमें चल बैठा, अणुव्रत और महाव्रत रूप इसका परिणमन बनने लगेगा तो यह मोक्षमार्गी है। किन्तु प्रमाद तो बना हुआ है। जानकर कषाय भी करते हैं। श्रावक लोग या साधु लोगके क्या कभी कषाय नहीं होती ? होती है। परके उपकारके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ भी कुछ अंशोंमें आता रहता है तिस पर भी उन्हें निरास्रव कहा है। इसका कारण यह है कि जो कषाय उनके जगती है उन कषायोंसे भी हटते हुए रहते हैं. कषाय शांत करते हैं, विश्राम करते हैं, इस कारण इन गुणस्थान वालोंको भी निरास्रव कहा है। याने इनके कर्म नहीं आते।

असंयत सम्यग्दृष्टिके बन्धका अभाव—अब देखिये चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव जिसके व्रत नहीं है उसे भी निरास्रव कहा है। तो अनन्तानुबंधी आदि संसारके बढ़ाने वाली प्रकृतिका निरास्रव नहीं है और उनके भी कर्मोंका ग्रहण करनेमें रुचि नहीं है इस कारण उसे निरास्रव कहा है। अब इस प्रकरणमें यह समझ लीजिए कि हमको कैसा उपयोग बनाना उचित है जिससे वर्तमानके भी और भविष्यके भी संकट टलें। यों ही अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप निरखो और दृढ़ संकल्प बनाओ कि मैं तो मात्र इस ज्ञानरूप ही हूं, धन वैभव चेतन अचेतन पदार्थ मेरे स्वरूप नहीं।

शरीरका आत्माको मुँहफट जवाब—भैया ! यह मेरा शरीर भी मेरा शरण नहीं होता। इसको कितना पोसा, न्याय, अन्याय न गिना, भक्ष्य अभक्ष्य न गिना, दिन रात कुछ न देखा और इस शरीरके पोषणमें कितना उपयोग लगाया, जो मिला सो खाया, जब मिला तब खाया, जहाँ मिला तहाँ खाया, ऐसा इस शरीरसे प्रेम किया हम आप लोगोंने, जरा मरते समय इस शरीरसे कहो तो कि ऐ शरीर ! तुम्हारे पोषणके लिए मैंने बहुत श्रम किया, अब हम मरते है, ये परिवारके लोग कोई साथ नहीं जाना चाहते हैं। अब तुम तो हमारे संग चलो। सबने मना कर दिया है। पर हे शरीर ! तेरेसे तो मैं बहुत मिलाजुला हूं, तेरे लिए तो मैंने सारे संकट सहे हैं तू तो मेरे साथ चलेगा ना ? तो शरीरसे उत्तर मिलता है कि अरे तू बावला बन गया है, क्या मैं किसीके साथ जाता हूँ ? मैं तो तीर्थंकरके भी साथ नहीं गया। तुम मुझे मानो तो तुम्हारे नहीं, न मानो तो तुम्हारे नहीं, हम तो जड़ हैं,

वे मुझमें कुछ कर नहीं सकते । यह मैं ही स्वयं अपनेमें विकल्प बनाकर अपने आपमें दुःख या सुखका परिणमन कर रहा हूं, अब मेरा जितना भी भविष्य है वह सदा भविष्य अपने धर्म अधर्म भावोंके ऊपर है । अपनेको सबसे निराला जो मात्र उपयोगमें देखा जाय तो उस दृष्टि में इतनी सामर्थ्य है कि भव-भवके और भवके ही नहीं, अवधिज्ञानसे अगम्य अनन्त भवोंके भी कर्म क्षणमात्रमें ही ध्वस्त हो सकते हैं । कदाचित अबसे पहिले निगोदिया जीव हो कोई और निगोदिया जीव कुछ सागरों पर्यन्त रह गया हो तो उसके अनन्त भव हो जाते हैं । जो अवधिज्ञानी हो वह असंख्यात भी समझ सकेगा, इससे ऊपरकी गणना अवधिज्ञानके विपयसे परे है । इतने अनन्त भवके कर्म भी आज कर्म सत्तामें हो सकते हैं । वे समस्त कर्म ध्वस्त हो जाते हैं । अपने स्वरूपके स्पर्शकी कितनी अलौकिक महिमा है ?

इस वर्णन को सुनकर जिज्ञासु जीवको यह प्रश्न हो सकता है कि जब समस्त द्रव्य-प्रत्ययकी संतति जीवित है ? कर्मोका सत्त्व भी है, कर्मोंका उदय भी चल रहा है, फिर भी उस ज्ञानीको नित्य निरास्रव कहें, यह कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें यह गाथा कही जा रही है । यहाँ चार गाथाएँ एक साथ कही जायेंगी ।

सव्वे पुव्वविबद्धा हु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ।।१७३।।
संती हु णिरुवभोज्जा वाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ।।१७४।।
होइण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ।।१७५।।
एदेण कारणेण हु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ।।१७६।।

उपभोग्य कर्म और बन्धन—सम्यग्दृष्टि जीवके भी पूर्व निबद्ध कर्मसत्तायें हैं, द्रव्य कर्म और उनके उदयानुकूल होने वाले सँस्कार सत्तामें हैं तो भी उपयोगके प्रयोग रूप जैसा बन सके वैसे ही वे कर्मभाव उस आगामी बँधको प्राप्त होते है । यहाँ दृष्टान्त यह दिया जा रहा है कि जैसे किसी युवकका किसी अत्यन्त छोटी आयुकी बालिकासे विवाह किया गया हो, तो वह बालिका स्त्री कहलाती है, लेकिन वह बालिका अभी निरुपयोग्य है । वह स्त्री पुरुषको बाँध नहीं सकती, उसका बँधन नहीं कर सकती । जब वह उपभोग्य होती है, बड़ी आयुकी होती है तब पुरुषको उसका बँधन हो जाता है । इसी प्रकार जब तक कर्म उदयमें नहीं आते अथवा उपभोग्य नहीं होते तब तक वे कर्म सत्तामें है, किन्तु वे इसका बँधन नहीं करा सकते । जब वे कर्म उपभोग्य होते हैं तब उनका निमित्त पाकर यह आत्मा

बँधनको प्राप्त होता है।

रागरूप भाव न होनेके कारण बंधका अभाव—हुआ क्या वहाँ दृष्टान्तमें ? उस पुरुष के रागरूप भाव नहीं हो पा रहा है। तो रागरूप भाव न होनेके कारण वह पुरुष बँधनमें नहीं है, इसी प्रकार यह ज्ञानी पुरुष भी रागरूप बंधन नहीं कर रहा है तो वह तो बंधनमें नहीं है अथवा बड़ी आयुकी भी स्त्री होनेपर भी यदि पुरुषके रागरूप भाव नहीं है तो वह स्त्रीके बंधनमें नहीं है। इस प्रकार वे कर्म उदयमें आते हैं। उदयमें आनेपर यदि जीवके रागरूपी भाव नहीं है तो वह जीव बंधनको प्राप्त नहीं हो सकता।

उदयकी निष्फलतादिविषयक प्रश्नोत्तर—अब यहाँ एक प्रश्न ऐसा भी होता है क्या कि कर्म उदयमें आ रहे हों और जीवके रागादिक विकार न होते हों ? उत्तर—इस सम्बंधमें दो दृष्टियोसे जानना होता है। एक तो जब जघन्य गुण परिणमन वाला रागपरिणमनमें आता है जैसे १० वें गुणस्थानके अंतिम क्षणोंमें तो उस रागसे रागादि कर्मोंका आस्रव नहीं होता। किन्तु यह बात हम सब जीवोंमें नहीं है, जो ऐसा घटित कर लें कि कर्म उदयमें आते हैं तो आने दो, क्या परवाह है अपन राग न करें तो कर्मोंसे न बंधेंगे ऐसी स्थिति अपने लिए नहीं है। फिर भी जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हैं उनके सहज ज्ञान और सहज वैराग्यमें ऐसी सामर्थ्य है कि उदयक्षणसे पहिले उनके निर्मल परिणामोंके निमित्तसे स्तिवुक संक्रमण हो जाता है।

स्तिवुक संक्रमणसे उदयकी परिस्थिति—उदयका टाइम है एक आवलि। यह मोटे रूपसे कथन है। अर्थात् कर्मोंकी उस जातिकी वर्गणाओंका आवलि पर्यन्त निरन्तर उदय चलता है पर किसी भी प्रकृतिके निषेकके उदयका टाइम एक समय होता है। आवलिमें असंख्यात समय होते हैं। आवलिमें उस-उस जातिका परिणमन चलता है किन्तु एक ही निषेक आवली पर्यन्त उदय चले ऐसा नहीं होता है। आवलिका जो समय है उसके पहिले संक्रमण हो जाता है। चूँकि वह संक्रमण उदयकी आवलिमें ही होता है इसलिए उदय ही कहा जाता है तो संक्रमण होकर भी जो अन्य निषेक रूपसे निकला होता है वह उदय कहलाता है। ऐसे उदयके होनेपर पूर्वनिश्चितमें राग विकार न हो यह बात सम्भव है। यह करणानुयोगकी बात कही जा रही है।

रागका उपयोगभूमिमें न आना संवरका कारण—द्रव्यानुयोगमें बात यह है कि अपना उपयोग रागकी ओर न करे तो कर्म न सतायेंगे। जैसे घरके लोग उद्दण्ड हो रहे हैं तो अपना उपयोग उनमें न लगावो तो उनसे लगाव तुमपर न होगा। इसी तरह अंतरङ्गमें रागादिकका ऊधम मच रहा है, तुम अपना उपयोग उन रागादिकोंपर न लगावो तो उन रागादिकोंके असरसे तुम बच जावोगे। क्या हो सकता है ऐसा ? हाँ होता है। जब कोई

ज्ञानी पुरुष केवल आत्माके शुद्ध स्वभावको जाननेमें लग रहा है, इसका काम तो जानना है ना, जाननेका विषय किसी परसे नहीं बनाया जा रहा है किन्तु यह निजसे ही बनाया जा रहा है। उस समय चूँकि ज्ञानस्वभाव ही दृष्टिमें आ रहा है तो रागका अन्तरात्मापर असर नहीं होता। अबुद्धिपूर्वक तो चल रहे हैं, पर अबुद्धिपूर्वकका कोई असर बुद्धिमें नहीं होता।

भावप्रत्ययके योगसे द्रव्यप्रत्ययका सामर्थ्य—क्षोभमें आ जाय, आकुलता हो जाय, कोई चिंता हो जाय, यह असर स्वानुभवी पुरुषके नहीं हुआ करता है। तो रागभावका अभाव होनेपर ये द्रव्यप्रत्यय, उदयमें आये हुए कर्म भी बंधके कारण नहीं होते। उदयसे पहिले वे निरुपभोग्य होकर अपने-अपने गुणस्थानोंके अनुसार उदयकालको पाकर यथा जैसे-जैसे भोग्य होता है वैसे ही वैसे रागादिक भावोंके द्वारा आयुर्बन्ध कालमें ८ प्रकारके, और जब आयुबंध नहीं होता तब ७ प्रकारके ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मो का बन्ध होता है, किन्तु सत्तामात्रसे बन्ध नहीं होता।

देवगतिमें आयुर्बन्धका विभाग—ये कर्म बादरसाम्पराय तक निरन्तर ७ प्रकारके बंधते हैं? आयुकर्म हमेशा नहीं बंधता है। आयुकर्म कब-कब बंधता है? इसका गतियों का जुदा-जुदा नियम है। देवगतिमें जब आयुके ६ महीना शेष रह जाते हैं तब उसके त्रिभाग बनते है। अर्थात् चार महीने व्यतीत होनेपर केवल २ माह शेष रहे तब आयु बंधती है। जब आयु न बंधे तब ६० दिनोंमें ४० दिन गुजर गए, २० दिन शेष रहे तब आयु बंधती है। तब भी न बंधे, तब २० दिन के ३ भाग करें तब आयु बँधती है। तब भी न बंधे तो फिर उसके तीन भाग करें। इस प्रकारसे ८ अब अवसर आते हैं। यदि ८ बारमें भी न बंधे तो मरण समयमें अवश्य बंधते हैं। इसी प्रकार नरकगतिमें अन्तिम ६ माहमें आठ अपकर्ष होते है।

मनुष्यगतिमें आयुर्बन्धका विभा—भोगभूमिके जीवोंमें जो स्थिर भोगभूमिके जीव हैं, जैसे हैमवत, हरि, देव कुरु उत्तर, कुरु, रम्यक और हैरण्ये। इन क्षेत्रोंमें रहनेवाली भोगभूमिके जीवों का आयुबंध देवगतिके की जीवोंकी भांति होता है किन्तु जो अस्थिर भोगभूमियाँ है, भरत और ऐरावत क्षेत्रमें समय-समय पर भोगभूमियां आया करती हैं उस समय मनुष्य स्त्री पशु पक्षियोंके जब आयुके ६ महीने शेष रह जाते हैं तब उसके ८ भाग किए जाते हैं और कर्मभूमिके सभी जीवोंके उनकी पूरी आयुका त्रिभाग किया जाता है। जैसे किसी मनुष्यकी आयु ६० वर्ष की है तो ४० वर्ष बंध नहीं होगा। ४० वर्ष बीतनेके बादमें आयुबंध होगा। तब भी न बंधे तो शेषका त्रिभाग करते जाइये। जायगा। इस प्रकार इसकी पूरी आयुका विभाग किया जाता है। जब आयु बंध हो रहा है उस समय इस जीवके ८ कर्मोका बंध चल रहा है किन्तु जब आयुकर्मका बंध नहीं चल रहा है तब इसके

७ कर्मोंका बंध निरन्तर चलता है। इसी प्रकार तिर्यञ्चगतिमें आयुर्बन्धका कालविभाग जानें।

बंधके निमित्तके निमित्तपनामें निमित्त होनेसे रागादिकी बंधहेतुता—रागादिक भाव ही आस्रव हैं। इनका अभाव होनेपर जो उदयमें आये हुए द्रव्यकर्म हैं अथवा सत्तामें हैं वे बन्धके कारण नहीं हो सकते, इस कारण सम्यग्दृष्टिको अबंधक कहा है। इस आस्रवके सम्बन्धमें एक अपूर्व बात और समझो कि नवीन कर्म जो आते हैं उनका निमित्त कारण साक्षात् रागादिक विकार नहीं हैं किन्तु उदयागत कर्मवर्गणायें हैं। नवीन कर्मोंका बुलाना, क्लेशोंका आना, यह मेरी ही जाति वालोंका काम है। ये चेतन तो विजातीय हैं, कर्मोंकी बिरादरीसे भिन्न हैं, नवीन कर्मोंके बन्धका कारण तो उदयमें आने वाले द्रव्य कर्म हैं।

नवीन कर्मोंको सीट देकर उदयागत कर्मोंका निकलना—जैसे कभी रेलमें ऐसा होता है कि किसी डिब्बेमें कोई मुसाफिर सीट पर बैठे हुए किसी मुसाफिरसे झगड़ा कर रहा हो, तुम मेरी जगहसे हट जावो, इस तरहसे लड़ाई करता है पर सीटपर बैठा हुआ पुरुष कुछ बलवान है तो उसको सीट नहीं देता और उस विवादमें बैठे हुए को इतना क्षोभ होता है कि वह यह संकल्प ही कर लेता है कि मैं इसे सीट न दूंगा। उठते समय किसी दूसरे मुसाफिर को बैठा करके जाऊँगा। जब स्टेशन आता है तो वह उतरनेमें थोड़ा विलम्ब भी करता है। गाड़ी तो १५ मिनट ठहरेगी। दो चार मिनटमें कोई नया मुसाफिर आने वाला है, खिड़कीसे उसे बुला लिया और अपनी सीट पर बैठाल दिया और बैठाकर चल दिया। तो जैसे उठकर चल देने वाला मुसाफिर नये मुसाफिरको अपनी सीटपर बैठालकर चल देता है इसी प्रकार इस आत्माकी सीटसे निकले हुए ये उदयागत कर्म नवीन कर्मोंको अपनी सीट देकर निकला करते हैं। तो नवीन कर्मोंके आस्रवणका निमित्त हुए उदयगत पुद्गलकर्म।

नवीन कर्मोंके आस्रवणके निमित्तके विषयमें प्रश्नोत्तर—प्रश्न—ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट यह लिखा हुआ है व इसी ग्रन्थमें आगे पीछे यह लिखा हुआ है कि नवीन कर्मोंके आस्रवका निमित्त है रागादिक विकार। उसका समाधान कैसे हो? उसका समाधान यह है कि नवीन कर्मोंके आस्रवणके साक्षात् निमित्त तो उदयागत द्रव्यागत द्रव्य प्रत्यय ही हैं, किन्तु उन उदयागत द्रव्यप्रत्ययोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवणका निमित्तपना आ जाय, इसके निमित्त होते हैं रागादिक विकार। अतः मूल तो रागादिक विकार ही हुए ना। उन रागादिक विकारका निमित्त पाकर उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रव करनेका निमित्तपना आया। अतः यह बात प्रसिद्ध हुई कि नवीन कर्मोंके आस्रवका कारण रागादिक विकार हैं।

उदयागत कर्मोंका जीवविकारमें व नवीन कर्मबन्धमें निमित्तपना—ये उदयागत कर्म कैसा दुतर्फा काम कर रहे हैं ? जैसे कोई दुष्ट पुरुष दुतर्फा लड़ाई लड़ता है, इसी प्रकार ये उदयागत कर्म आत्मामें रागादिक विकारोंके भी कारण बन रहे हैं और उन ही रागादिक विकारोंका निमित्त पाकर नवीन कर्मोंका आस्रव करनेमें भी निमित्त बन रहे हैं। यों कर्मों का बन्धन इस जीवके बड़ा विचित्र लगा हुआ है।

अबन्धकताकी अपेक्षायें—यहाँ जो सम्यग्दृष्टिको अबंधक कहा है वह अपेक्षासे कहा गया है। मिथ्यादृष्टीकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान वाला सराग सम्यग्दृष्टि अबंधक है, मिथ्यात्व में सभी प्रकृतियोंका बंध होता है, जो बंधयोग्य है किन्तु सम्यग्दृष्टिके ४३ प्रकृतियोंका बंध नहीं होता, ४१ का तो संवर है। इस चतुर्थ गुणस्थान वालेके ४१ तो बंध विछुप्ति वाले जिसको कि प्रथम और द्वितीय गुणस्थान वालेमें बताया है। ऐसे इन ४३ गुणस्थानोंका उनको बंध नहीं है। शेष प्रकृतिका बंध करते हुए भी वह सम्यग्दृष्टि जीव संसारका छेद करता है। संसार मेरा कटे ऐसी भावना उसके रहती है।

सम्यग्दृष्टिके संसारच्छेदके कारण—सम्यग्दृष्टिका संसार कटता है उसके बाह्य कारण क्या हैं ? एक कारण तो है शास्त्रज्ञान द्वादशाङ्गका ज्ञान। यथार्थ ज्ञान तो कर्मबंध के विनाशका कारण है ही। दूसरा कारण है देवकी तीव्र भक्ति होना, आत्मस्वरूपमें तीव्र अनुराग होना। तीसरा कारण है अनिवृत्ति परिणाम। जैसा कि ९ वें गुणस्थानमें होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट होनेके समयमें अनिवृत्ति करण परिणाममें होता है। क्षायिक सम्य-वत्व होनेके समय भी अनिवृत्ति परिणाम होता है। अनन्तानुबंधीके विसंयोजनके समय भी अनिवृत्ति परिणाम होता है। वह अनिवृत्ति परिणाम भी कर्मोंका अबंधक है। एक मिथ्या दृष्टि जीव जब सम्यक्त्व उत्पन्न करता है उस समय उसका अधःकरण, अपूर्वकरण औ अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है। वह जीव मिथ्यादृष्टि है अभी जब तक कि तीनों परि-णाम चल रहे हैं। वह मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे-ऐसे कर्मोंका बंध रोक देता है जिन कर्मोंका बंध सम्यग्दृष्टि मुनि भी छठवेंमें नहीं रोक पाता है। इस अनिवृत्तिकरण परिणामके बादमें सम्य-ग्दर्शन होनेपर छठे गुणस्थानमें उन कर्मोंका बंध चल रहा है और मिथ्यादृष्टि जीव अनिवृत्ति परिणामके समय उन कर्मबंधोंको रोक देता है। ऐसी है अनिवृत्तिकरण परिणामकी विशेषता।

केवलसमुद्घात—कर्मोंकी निर्जरा करनेका एक कारण है केवलीसमुद्घात। अरहंत भगवानके जब आयुकी थोड़ी स्थिति रह जाय बाकी कर्मोंके लाखों वर्षोंकी भी स्थिति हो उस समय स्वयं सहज उनके प्रदेश लोक भरमें फैलते है, बिखर जाते है उस समय वे कर्म उनकी स्थितिका घात होकर केवल आयुके बराबर रह जाते हैं। तो संसारकी स्थितिके घात का कारण यह भी है। उनमेंसे द्वादशांग श्रुतका ज्ञान तो है बहिर्विषयभूत, पर निश्चयसे

रागद्वेष मोह रहनेमें केवल चैतन्य परिणामका अनुभव है। वही वास्तविक अवगम है। भक्ति की बात सम्यग्दृष्टि जीवके जो कि सराग सम्यग्दृष्टि हैं उनको तो पंचपरमेष्ठीकी भक्ति उत्पन्न होती है, पर निश्चयसे वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना रूप भक्ति होती है और अनिवृत्तिकरण परिणाम करणानुयोगकी शैलीमें तो वह निश्चित ही है पर शुद्ध आत्मस्वरूपसे निवृत्ति न हो, एकाग्र शुद्धतत्त्वमें परिणति हो, इसको अनिवृत्ति परिणाम बोलते हैं।

श्रामण्यके भेदरूपमें दर्शन—निश्चय व्यवहार रूप द्वादशांगका अवगम, निश्चय व्यवहाररूप भक्ति और अनिवृत्तिकरण परिणाम—ये सब क्या हैं? सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप ही हैं। सो मुक्तिका मार्ग क्या है? तो चाहे इन शब्दोंमें कहो द्वादशांगका ज्ञान, भक्ति और अनिवृत्तिका परिणाम, चाहे इन शब्दोंमें कहो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और और सम्यक्चारित्र। और चाहे एक शब्दमें कहो श्रामण्य। यही मोक्षका मार्ग है। यह वृत्ति सम्यग्दृष्टिके अन्तरङ्गमें बराबर चल रही है। इसके कारण इस सम्यग्दृष्टिको अनन्त संसारका बंधक न होनेके कारण निरास्रव कहा है। सम्यग्दृष्टि अन्तरङ्गमें प्रभुताका स्पर्श करता हुआ ज्ञानदृष्टिका आनन्द लेता है। इससे कर्मोंकी संततिका छेद होगा और विलक्षण अलौकिक शांति उत्पन्न होगी।

रागादिके अभावसे बन्धका अभाव—ज्ञानी जीवके पहिले समयके बँधे हुए कर्म यद्यपि पूर्वके हैं तो भी उन कर्मोंका कार्य रागद्वेष मोहरूपी नहीं हो रहा है। इस कारण आस्रवके अभावसे वे द्रव्यकर्म बंधके कारण नहीं होते। पहिले अज्ञानावस्थामें बहुतसे कर्म बंध गए थे, वे पिण्ड रूपसे तबसे विद्यमान हैं क्योंकि उनका उदय जब उनकी स्थिति पूरी होगी तब होगा। सो जब तक उदयका समय नहीं आता तब तक वह सत्तामें ही रहता है, अपने सत्त्वको नहीं छोड़ता है तो भी ज्ञानी जीवके सर्व प्रकारसे रागद्वेष मोहका अभाव है। अतः नवीन कर्मोंका बंध नहीं हो पाता है।

ज्ञानमें बन्धनकी असम्भवता—अन्तरसे देखो—ज्ञानी जीवके क्या अन्तरङ्गसे राग सम्भव है? नहीं। अन्तरसे राग ज्ञानी जीवके नहीं होता है। जैसे किसीने पहिले जाना था रस्सीको देखकर कि सांप है तब तो उसे आकुलाहट थी, और जब जाना कि यह रस्सी है, इसके बाद भी यदि कोई कहे कि हम तुमको इनाम देंगे, तुम जैसे पहिले घबड़ाते थे उस तरहसे घबड़ानेका नाटक दिखा दो। तो वह घबड़ानेका नाटक दिखाये भी तो अन्तरमें सच्चा ज्ञान है कि यह सांप नहीं है, यह तो रस्सी है। तो क्या अन्तरसे उसे घबड़ाहट हो सकती है? नहीं। इसी प्रकार कर्मोदयकी प्रेरणासे यद्यपि बाह्य प्रवृत्ति ज्ञानी पुरुषके होती है किन्तु जैसे यह ज्ञात हो गया है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं। मेरा जगतमें अन्य कोई नहीं है, ऐसा

जिसके विश्वास है वह बाह्यकी कुछ भी परिणति हो, तथा उसके अन्दर शंका और भय हो सकता है ? नहीं। यदि भय और शंका अंदरमें है तो समझो कि उसके सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त्व गुणके कारण बन्ध नहीं होता है इस दृष्टिसे यह प्रकरण समझना। ज्ञानी जीवके रागद्वेष मोह होना असम्भव है और इस ही कारण इस ज्ञानीके बंध नहीं होता, क्योंकि बंधका कारण तो रागद्वेष मोह ही होता है। इसी विषयमें अब दो गाथाओंको एक साथ कहेंगे।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चमो होंति ॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिंपि य रागादी तेसियभावेण वज्झंति ॥१७८।

चूंकि सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेष मोहरूपी आस्रव नहीं होता है इस कारण आस्रव भावके विना वे द्रव्यकर्म कर्मबंधके कारण नहीं होते हैं।

आस्रवके प्रकार और उनमें प्रधान मिथ्यात्व—जीवका आस्रव है चार प्रकारका मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये ४ प्रकारके आस्रव ८ प्रकारके कर्मोंके बंधके कारण कहे गए हैं। जीवमें जब मिथ्याबुद्धि होती है घर, मकान, वैभव, परिवार, चेतन, अचेतन सर्व संग होता है तो ये हैं तो इनसे अत्यन्त पृथक् होनेपर भी यह मानता है कि ये मेरे हैं, यह मैं हूँ——इस प्रकारकी जो बुद्धि है उसे ही आस्रव कहते हैं। इसी प्रकार ये परिणाम कर्मबंधके कारण होते हैं ये मिथ्यात्व परिणाम है।

अविरति परिणाम—अविरति परिणाममें क्या है ? जीवके हिंसाके त्यागका परिणाम नहीं होता, अन्धाधुन्ध चल रहे हैं, कोई चीज धरा उठाया तो बिना देखे, खान पान का विवेक नहीं, भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक नहीं, कई दिनका आटा पड़ा हुआ है उसमें सूक्ष्म जीव भी पड़ गए हैं उसे खा रहे हैं, बाजारके दही पकवान खाते हैं, ये सब क्या हैं ? अविरति भाव हैं। हिंसाके त्यागका परिणाम नहीं होता है झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके त्याग का परिणाम नही होता, ये सब अविरतिके परिणाम हैं, पंचेन्द्रिय हैं, ये अपने अपने कषायों में लग रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय सुहावनी वस्तुके छूनेका इसका स्वभाव है अथवा कामादिक विषय हैं। रसना इन्द्रियका विषय है स्वादिष्ट खान पान, घ्राणेन्द्रियका विषय है इत्र, फूल आदि सुगंधित चीजोंका भोग करना। चक्षुरिन्द्रियका विषय है सुहावने रूपका अवलोकन करना, कर्णेन्द्रियका विषय है राग रागनी सुनना। इन विषयोंमें जो आसक्ति है, उसे छोड़ नहीं सकते हैं। इतना भी नहीं कि इन्हें धर्मके समय छोड़ दें। पर इन विषयोंमें ही दौड़ दौड़कर अपनी प्रवृत्ति करते है। यह अविरति परिणाम ही हैं। ऐसे परिणाम यदि मनकी

स्वच्छन्दताके हो गए तो उनसे कर्मोंका बंध हुआ करता है।

कषायरूप भावप्रत्यय--कषाय परिणाम होता है क्रोध, मान, माया, लोभ करके। किसी भी पुरुषपर अपराध हो या न हो, क्रोध न आए, दूसरेके अपराधमें अपनेको कोई क्लेश न पहुँचता। जो अपराध करता वही दुःखी होता। इस अपने अन्दरमें बसे हुए प्रभु-स्वरूपको न निरखकर किसी दूसरे जीवपर गुस्सा करते हैं तो यह अपनी ही हिंसा है। घमण्डके परिणाममें तो यह अपने को पा ही नहीं सकता। दूसरे जीवोंको तुच्छ देखना और अपनेको सबसे बड़ा समझना, यही तो अभिमान कषाय है। इस मान कषायमें यह जीव अपने आपके स्वरूपसे चिगा हुआ रहता है, मायाचार मनमें और है, वचनोंमें कुछ और कह रहे हैं और शरीरसे कुछ और प्रवृत्ति चल रही है। यह मायाचारपूर्ण प्रवृत्ति इस जीवकी सावधानी नहीं है। यह अपना ही बिगाड़ करता है। लोभ कषाय, धन वैभवके प्रति ऐसी भावना होना यही मेरा सब कुछ है। इसही से मेरा विस्तार है। यह न समझो कि सैकड़ों दिनोंका जीवन है। अरे किसी दिन यह दीपक बुझ जायगा, मृत्यु हो जायगी। फिर भविष्य में क्या होगा इसका ख्याल नहीं है क्या ? और प्राप्त समागममें ही आसक्त बने रहना यह है लोभकषाय। सो ये चार प्रकारके कषाय कर्म बंधके कारण हैं।

योगरूप भावप्रत्यय—योगसे आत्माके प्रदेश हिल जाते हैं, कंपते हैं। तो प्रदेश हिले और साथ ही कषाय हुआ तब तो होता है आस्रव और बंध दोनों। जब केवल प्रदेश ही हिल रहे हैं और कषाय रंच न हो तब वहाँ होता है केवल आस्रव, बंध नहीं होता है अर्थात् ये मात्र योगपरिणमन कर्म बन्धकारी नहीं रह सकते। वे आयेंगे और जायेंगे, यह स्थिति होती है ११ वें गुणस्थानमें। वहाँ किसी प्रकारका कषाय नहीं होता इस कारण वहाँ योग से आस्रव होता है पर बंध नहीं होता है। तो ये ४ प्रकारके जो भाव प्रत्यय हैं ये कर्मबन्ध कराते हैं।

अन्तःस्वरूपकी दृष्टि ही शरण--अहो ! इस जीवका जगतमें है तो कुछ नहीं शरीर तक भी अपना नहीं है लेकिन यह अपने ही भीतरमें स्थित कितने ही प्रकारके विकल्प मचाता है, जिन विकल्पोंके कारण कर्मोंसे लदा चला चला जाता है। हम प्रभुकी भक्ति करें और जरा यथार्थ रूपमें करें, भगवानका जो अंतः स्वरूप है उस स्वरूपपर दृष्टि देकर करें तो अपना जीवन सफल किया अन्यथा मोहमें तो पशु पक्षी भी रहा करते हैं। जैसे हम आप पशुपक्षियोंके जीवनको व्यर्थ समझते हैं इसी प्रकार यदि केवल मोह भाव ही बर्तते रहे तो समझो कि हमारी जिन्दगी भी व्यर्थ है। उसमें कोई लाभ नहीं मिल सकता।

धर्ममर्मी साधु और श्रेष्ठिवधूके प्रश्नोत्तर—एक साधुने एक श्रावकके यहाँ आहार

किया, आहार करके आंगन में बैठ गया। कुछ श्रावकोंसे बातें होने लगीं। सेठकी बहू बोली, महाराज आप इतने सवेरे क्यों आ गए? खूब धूप थी, १० बजनेका टाइम था फिर भी ऐसा अनोखा प्रश्न किया। सब लोग सुनकर दंग रह गए। वह साधु बोला कि बेटी समय की खबर न थी। अब तो और आश्चर्य होने लगा। इतने महान् पुरुष और समयकी खबर न थी। फिर साधुने पूछा कि बेटी तुम्हारी उम्र कितनी है? बहू बोली, महाराज मेरी उम्र ४ वर्षकी है। अब तो आश्चर्यका क्या ठिकाना? १० वर्ष विवाहके हो गए और बताती है कि उम्र चार वर्षकी है। और तुम्हारे पतिकी उम्र कितनी है? महाराज मेरे पति चार महीनेके हैं। लो। अच्छा, और स्वसुर साहबकी कितनी उम्र है? महाराज स्वसुर तो अभी पैदा ही नहीं हुए है। और तुम आजकल ताजा खा रही हो या बासी? बहू बोली, महाराज ताजा कहाँ रखा है, सब बासी ही खा रहे हैं। इतनी बात होनेके पश्चात् साधु महाराज तो चले गए।

मार्मिक प्रश्नोत्तरोंका अर्थ—अब वह सेठ बहूसे लड़ने लगा कि तूने तो पागलपनकी बातें कीं, मेरे बड़प्पनमें बड़ा धक्का लगा तो बहू बोली चलो महाराजके पास और सबका अर्थ निकालें कि बात क्या है। तो निष्कर्ष सब क्या निकला। कुछ साधु महाराजने बताया, कुछ बहूने बताया। सबका सार यह निकला कि बहूने पूछा था चूँकि मुनि छोटी अवस्थाके थे, सो पूछा था कि आप इतनी जल्दी कैसे आये, मतलब आप इतना जल्दी मुनि कैसे हो गए। साधुने कहा बेटी समयका ख्याल न था अर्थात् यह पता न था कि जिन्दगी कितनी है, कब मर जायेंगे, इसका पता न था तो सोचा कि जल्दी यह काम करना चाहिए। महाराज ठीक है। और जो बहूसे पूछा कि क्या उम्र है, तो उसने कहा कि मेरी उम्र चार वर्षकी है। इसका सार क्या निकला?

धर्मदृष्टिके समयसे ही वास्तविक जीवन—बहूने कहा कि मैं चार वर्षसे ही धर्ममें लगी, जबसे ही धर्मकी श्रद्धा हुई है, उतना ही हमारा वास्तविक जीवन है। धर्मकी श्रद्धा बिना जीवनको यदि जीवन समझा जाय तो सब व्यर्थ है, सब अनन्तकालके बूढ़े हैं। फिर क्यो कहते हो कि हमारी उम्र ४० वर्षकी है, ५० वर्षकी है। यह कहो कि मैं अनन्तकालका बूढ़ा हूं। खैर आगे क्या बात चली, पतिकी उम्र कितनी है। इनके चार ही महीनेसे धर्मकी श्रद्धा हुई है इसलिए वास्तविक उम्र इनके चार ही महीनेकी है। फिर यह बात चली कि स्वसुरकी उम्र कितनी है, तो स्वसुर अभी पैदा ही नहीं हुए। स्वसुर साहबने कहा कि यदि मैं पैदा ही नहीं हुआ तो यह लड़का और बहू कहाँसे आ गए? बहूने कहा, देखो महाराज यह अब भी लड़ रहे हैं। इनको अभी तक धर्मकी बात समझमें नहीं आई। इनको अभी क्या पैदा हुआ समझें?

ताजा बासी खाया जानेका तात्पर्य——स्वसुरने कहा अच्छा, रोज घरमें ताजी रोटी बनानेके लिए ब्राह्मण लगा है, सारा आराम है और यह बहू कहती है कि अभी बासी खा रहे हैं इसका क्या मतलब ? बहू बोली, सेठ जीने पूर्वभवमें कुछ पुण्य कमाया था, अब भी उस पुण्यको ही भोग रहे हैं और इस भवमें कोई नया काम नहीं कर रहे हैं, धर्म नहीं कर रहे हैं।

वास्तविक संकटोंसे बचनेका संकेत——सो भैया ! अपनी जिन्दगी तबसे समझना चाहिए जबसे धर्मकी श्रद्धा हुई। खूब ध्यानसे सुनिये। ऐसे धर्मकी श्रद्धा होती है तो फिर समझ लो कि संसारके सारे संकटोंसे दूर हो जावोगे। पर इनको संकट मानते हैं कि कुछ आय कम हुई, धन कम हुआ, अथवा लड़का लड़की अपने भावोंके अनुकूल नहीं चलते अथवा लोकमें हमारी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी, इसे मोही पुरुष समझते हैं कि हमपर बड़ा संकट छाया है। अरे यह कुछ संकट नहीं है। तेरे ऊपर संकट तो है कर्मोंका विशिष्ट बन्धन, कर्मोंका तीव्र उदय। क्रोधादिक कषायोंको लिए रहते हैं, यथार्थ वस्तुस्वरूपका पता नहीं पड़ता, घरके दो चार जीवोंको अपना मान लिया। जो हैं सो ये ही मेरे सब कुछ हैं और बाकी जीव तो कुछ नहीं हैं। अरे ये परिणाम तेरे पर संकट हैं। इन परिणामोंके कारण जब यह भव छोड़ेगा तो न जाने किस खोटी योनिका भव मिलेगा ? बड़ी विपत्ति है। इस विपत्तिको तो तू देखता नहीं और वर्तमान समागम और वियोगका तू बखान करता है, मेरे पर बड़ा संकट है।

अपनी संभाल——अरे भैया ! आत्मधर्मको संभालो, उस आत्माकी दृष्टि आने दो, तेरे पर कोई संकट न रहेगा। तू निःसंकट है। जिनकी हम पूजा करते है तीर्थंकर देव, भरत, बाहुबलि, राम आदि जिनका हम ध्यान किया करते हैं वे भी तो इस संसारमें थे और वे भी तो अनन्तकाल तक इस संसारमें रुले थे। उन्होंने भी पूर्व भवमें अपनी खोटी सृष्टि की थी, आज वे सब छोड़कर चले गए। न पैसा है, न परिवार है, न संसार है। तो क्या वे हम आपसे न्यून हैं ? क्या छोटे हैं हम आपसे ? अरे वे महान्से महान हैं। उन्होंने संसारके सब बंधनोंको तोड़ दिया, ऐसा उत्कृष्ट ज्ञानविकास हुआ है जिस ज्ञानविकासके द्वारा सारा लोकालोक हाथमें रखे हुए आवलेकी तरह स्पष्ट ज्ञान हो रहा है। ऐसा बड़प्पन पैदा करो ना, यहाँकी टूटी फूटी बातोंमें अपना सर्वस्व मानकर अपने बड़प्पनमें बहे जा रहे हैं, प्राप्त कुछ नहीं किया जा रहा है।

मोहीका भ्रम——मोही जीव जानता है कि मैं बड़ा लाभ कर रहा हूँ, अपना बड़ा वैभव बना रहा हूं, गृहस्थी उत्तम कर रहा हूं——यह सोचना मात्र भ्रम है। यह जीव लाभ कुछ नहीं कर रहा है बल्कि अपनी हानि ही कर रहा है। अभी तो अनन्त काल पड़े हैं

परिणमन करनेके लिए। अगर शुद्ध परिणमन रहेगा तो शांति है अन्यथा शांति नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेप मोह भाव नहीं है। यदि रागद्वेष मोह भाव होता तो सम्यग्दृष्टि न कहलाता। जब रागद्वेष मोहका अभाव है तो पूर्वमें बँधे हुए जो द्रव्य कर्म हैं वे पुद्गलकर्मके निमित्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि द्रव्य प्रत्यय पुदगल कर्मके हेतु होते हैं, उनमें हेतुपना रागद्वेष मोहके सद्भाव बिना नहीं हो सकता। तब क्या मतलब हुआ कि बन्धके कारणका कारण नहीं है इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवके बन्ध नहीं होता। कर्मबन्धका कारण है कर्मोंका उदय। और कर्मोंके उदयमें नवीन कर्मबन्ध होनेका कारणपना बन जाय, इसका कारण है कि कर्मोदयके निमित्तसे हुआ रागद्वेप मोह भाव।

निरपेक्ष स्वरूपके आलम्बनका प्रताप—ज्ञानी जीव इन रागादिक विकारोंको अपनाता नहीं, क्योंकि उसे सहज शुद्ध स्वरूपका बोध होता है इस कारण वह कर्मोंको नहीं बाँधता। इस प्रकार शुद्धनयकी दृष्टिसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको जो स्वीकार कर ले, वह पुरुष रागादिकसे मुक्त होकर परमात्मतत्त्वको निरखता है। देखिए जगतमें दृष्टियां दो होती हैं (१) सापेक्ष और (२) निरपेक्ष। इन दो अंगुलियोंमें हम सापेक्ष देखेंगे तो यह मालूम पड़ेगा कि यह छोटी है और यह बड़ी है। हम इस अंगुलीको सापेक्ष नहीं देख सकते, उस एकको एकमें देखा, उस एककी अपेक्षा दूसरेमें न लगाया तो बतलावो यह अंगुली छोटी है या बड़ी? न छोटी है, न बड़ी है। यह तो जैसी है तैसी ही है। इसे कहते हैं निरपेक्ष दृष्टि। इसी प्रकार और भी अंतरमें जाय तो प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे स्वयं जैसा है उसे निरखेंगे तो यह कहलाता है निरपेक्ष स्वरूपका दर्शन। और किसी दूसरेके संगसे कुछ प्रभाव पड़ता है तो उसे कहते हैं सापेक्ष दर्शन।

परमार्थभक्ति—भैया! जरा अपने-अपने आत्माके सब ओरसे विकल्प छोड़कर, शरीरको भी न निरखकर, परके संगसे होने वाले असरको भी न तककर केवल अपने आत्माको तो देखो कैसा है यह अंतरणमें, यदि यह बात समझमें आ गई तो समझ लो कि हम सच्चे जिनेन्द्र भक्त हैं। जिनेन्द्रदेवका जो उपदेश है उस उपदेशको तुम अपनेमें उतार लो। कैसा है यह मेरा स्वरूप? केवल ज्ञानमय, जाननमात्र। जो आत्माके कारण आत्मामें रहे वह तो हुआ मैं और जो परके कारण आत्मामें रहे वह मैं नहीं हूँ। तब तो भरोसा ही नहीं है कि मेरी आत्मामें सत्ता रहेगी।

रागादिकसे कल्याण असंभव—भैया! रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ बतलावो ये आत्माके कारण हुआ करते हैं कि किसी परद्रव्यके कारण हुआ करते हैं? जब कर्मोंका उदय हो और परपदार्थोंका आश्रय हो तब यह कषाय उत्पन्न होती है। यह कषाय पराधीन है। मेरे स्वरूपके कारण ही मुझमें ये कषाय नहीं उत्पन्न होते हैं, इतना विश्वास भी

नहीं है। ये होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, सदा नहीं रहते हैं और देखो इनसे भला न होनेका भी विश्वास नहीं है। ये मेरा कुछ हित कर देंगे क्या? तो ये रागादिक भाव मैं नहीं हूँ। शरीरकी तो कथा ही क्या है, यह तो प्रकट जड़ है।

अन्य सबकी उपेक्षा करके ही निज प्रभुके दर्शनकी शक्यता—तब इस देहरूपी मंदिरके भीतर एक अमूर्त चैतन्य जो अपने स्वभावसे केवल ज्ञाताद्रष्टा होनेका काम करता है, ज्ञानज्योतिमात्र मैं आत्मा हूं। ऐसे शुद्धनयका आलम्बन लेकर जब केवल अपनेको ज्ञान-प्रकाशमात्र यह जीव अनुभव कर लेता है तो समझ लो इससे बढ़कर आत्मामें और कोई कार्य नहीं है। ये सब मायामय दृश्य हैं, सब मायारूप है। ये सदासे न आये हैं और न सदा रहेंगे। ये जब तक हैं तब तक शांति और संतोषका कारण नहीं है। ऐसा जानकर पर-द्रव्योंकी अपेक्षा करके एक अपने चैतन्यके ध्यानमें लगिए।

धर्मके समय धर्मका ही लक्ष्य—भैया! कभी तो ऐसा स्वस्थ चित्त बनाओ कि जब तुम धर्म कर रहे हो तब धर्मके अतिरिक्त आपको कोई विकल्प न सताएँ। एक बार कोई राजा किसी दुश्मनसे लड़ाई लड़ने गया। उतने समयमें रानी गद्दी पर बैठी थी। एक दुश्मन ने आकर इसके राज्यपर आक्रमण कर दिया। तो रानीने सेनापतिको बुलाया और कहा देखो सेनापति अपनी सेना ले जाकर शत्रुका मुकाबला करो। कहा बहुत ठीक। सेना ठीक की और चल दिया शत्रुसे लड़ाई लड़ने। दो दिन चलनेका रास्ता था। रास्तेमें शाम हो गई। सेनापति जैन था। उसके सामायिक, आत्मध्यान करनेके लिए हाथीसे नीचे उतरनेका भी समय न था, सो हाथीपर बैठे ही बैठे सामायिक प्रतिक्रमण शुरू किया। आप तो जानते ही हैं कि प्रतिक्रमणमें क्या बोला करते हैं। पेड़ पत्ती, कीड़ा मकोड़ा, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रियमें से किसीको भी मेरे द्वारा कष्ट पहुंचा हो तो मुझे क्षमा करो। सो क्षमापणके बोल बोलने लगा।

कर्तव्यपरायण सेनापतिके धर्मकी लगन—एक चुगलने रानीसे जाकर कहा कि आपने ऐसा सेनापति भेजा जो कीड़ा मकोड़ोंसे भी माफी मांगता है। वह क्या शत्रुपर विजय पावेगा? ५ दिनके बादमें ही वह सेनापति शत्रुको जीतकर आ गया। रानी पूछती है कि हमने तो सुना है कि तुम पेड़ पत्तियोंसे, कीड़े मकोड़ोंसे माफी मांग रहे थे। तुम लड़ाई जीत कर कैसे आये? वह सेनापति उत्तर देता है कि आपके राज्यका मैं २३ घंटेका नौकर हूं। उन २३ घंटोंमें यदि सो रहा हूं तब भी यदि कोई आर्डर आ जाय तो मैं हाजिर हूं, खाते पीतेमें आर्डर आ जाय तो खाना पीना छोड़कर मैं तैयार हूँ, पर शाम-सुबह आध-आध घंटेका समय मैंने अपनी आत्मरक्षाके लिए रखा है। उस आत्मरक्षाके लिए ही मैं जगतके सब जीवोंसे क्षमा चाह रहा था। सब जीव मेरे स्वरूपके ही समान तो हैं। उन्हें कोई कष्ट मेरे

स्वरूपके ही समान तो है। उन्हें कोई कष्ट मेरे द्वारा पहुंचा हो तो उनसे क्षमा मांगनेका अर्थ यह है कि मैं अपने उस शुद्ध स्वरूपको देखनेके योग्य बन रहा हूं। और जब लड़ाईका समय आया उस समय मैं युद्धमें वीरताके साथ कूद पड़ा, यों जीत हुई।

आत्महितका अनिवार्य कार्य--तो हम अपने परिवारके लिए २३ घंटेका समय बांध लें, पर एक घंटा सुबह शाम आध-आध घंटे अपने आत्मकल्याणके लिए रखें। यह सब पर पदार्थोंका परिणमन है। जैसा होना हो, हो, किन्तु कुछ समय प्रभुस्वरूपका, आत्मस्वरूपका ही ध्यान रखो तो क्या होगा? आप बड़े अनर्थ सोच लें--दुकान मिट जायगी, परिवारके लोग तितर बितर हो जायेंगे, धन न रहेगा, शत्रुता बढ़ जायगी, अपयश हो जायगा, बड़ासे बड़ा अनर्थ सोच लो, जो हो सबको स्वीकार करो। इनमें परपरिणमन है, इनसे मेरा कोई सम्बंध नहीं, मैं तो एक शुद्ध ज्योतिमात्र आत्मप्रकाशको ही देखूँगा और इस आत्मतत्त्वके ध्यानमें ही रत होकर अपने कर्मकलंकोंको जलाऊँगा। ये जीव मेरे कबसे साथी हैं, साथी हो ही नहीं सकते। किसको प्रसन्न करनेके लिए आकुलता मचाई? अपनी रक्षाके लिए तो आध-आध घंटेका समय ऐसा नियत हो कि उस समय किसी भी परद्रव्यका ख्याल न रखो तो अपनेमें यह ज्ञायकस्वरूप भगवान प्रकट होगा और आनन्दको प्राप्त करेगा।

शुद्धनयके आलम्बनकी महिमा—सम्यग्दृष्टि पुरुष शुद्धनयका आलम्बन लेकर सदैव अपने स्वरूपास्तित्वका एकाग्रतासे चिंतन किया करता है। शुद्धनय वह है जहाँ केवल निरपेक्ष वस्तु स्वभाव देखा जा रहा है। शुद्धनयको ही देखा जा रहा है। इसकी पहिचान यह है कि उस साधुमें बोध चिन्ह प्रबल हो जाता है। जो जीव शुद्ध नयका आलम्बन लेकर ज्ञानस्वभावी निज आत्मतत्वको एकाग्रतासे भाता है वह रागादिकसे मुक्त मन वाले होकर बन्धरहित समयसारको निरखता है, किन्तु जो पुरुष फिर शुद्धनयसे च्युत होकर रागादिकसे सम्बन्ध कर लेता है वह ज्ञानविमुख होकर फिर कर्मभावोंसे बन्ध जाता है। ये कर्मबन्ध पूर्वमें बन्धे हुए कर्मोंके आस्रवोंसे नाना प्रकारका विचित्र परिणमन करने वाले हैं।

ज्ञानस्वभावसे च्युत उपयोगका परिणाम--जब तक शुद्ध नयमें उपयोग है तब तक यह जीव अबंधक है और सम्यग्दृष्टि भी है किन्तु शुद्धनयसे आज चिग गया, किसी बाहरी पदार्थोंमें उपयोग करने लगा तो फिर वह बधक हो जाता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव भी दसवें गुणस्थान पर्यन्त निरन्तर बन्धक है लेकिन अबुद्धिपूर्वक बंधकी यहाँ गिनती नहीं की है। इस दृष्टिसे जब तक यह जीव अपने शुद्ध स्वरूपके उपयोगमें है तब तक यह अबंधक है और जब अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे चिगकर बाह्य पदार्थोंमें उपयोगी हो जाता है तब यह नाना प्रकारके बन्धनोंको कर लेता है। इसी सम्बन्धमें २ गाथाओं द्वारा ज्ञानसे चिगनेकी वृत्तिको बतलाते हैं।

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरा ही भावे उयरग्गिसजुत्तो ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्प ।
बज्झंते कम्मं ते णय परिहीणाउ ते जीवा ॥१८०॥

बन्धविधि—जैसे किसी पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया आहार पेटकी अग्निसे संयुक्त होकर नाना प्रकारके मांस, मज्जा, खून आदि भावरूप परिणमता है उसी तरह ज्ञानी जीव के पूर्वमें रचा हुआ जो द्रव्यप्रत्यय है वह भावप्रत्ययसे संयुक्त होकर ज्ञानावरणादिक नाना प्रकारोंमें पुद्गलकर्मको बाँधता है।

बन्धनमुक्ति विधि—भैया ! यह जो कर्मोंका बंधन है वह शुद्धनयसे छूटेगा। अपने जीवनमें प्रेक्टिकल भी यह बात करके देखलो, जब यह चित्त अपने आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें विकल्प नहीं करता है, उनका ख्याल छोड़ देता है और स्वयं जिस स्वरूपमें है ज्ञानमय उस सहजस्वरूपमें जब अपनेको देखता है तो इसके ऊपर कोई संकट है क्या ? कोई संकट नहीं है और जहाँ अपने आत्मस्वरूपके ध्यानसे चिगे और किसी भी बाहरी पदार्थ में चित्त लगा वहाँ चित्तमें शल्य संकट क्षोभ सब पैदा हो जाते हैं।

सहज आनन्दका सामर्थ्य—अब जरा अपना परिणाम तो देखो कि इस स्थितिमें किसी भी मिनट रह भी पाता है क्या ? कि जब इसे अन्य पदार्थका भान न रहे, ख्याल न आए, केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमें रहे ऐसा अवसर पाया कभी ? जिसने ऐसा अवसर पाया वह धन्य है। भाई सीधी बात तो यह है कि इन बाहरी पदार्थोंका विकल्प हटाकर केवल अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें उपयोग जाय, उसकी कोशिश करिये। किसी क्षण बैठकर, हिम्मत बनाकर कि जब सब भिन्न पदार्थ हैं, और किसी भी पदार्थसे हमारा रंच भी हित नहीं है तो भी विकल्प चार मिनट किसी भी परवस्तुका ख्याल न आने दें, फिर देखो अपने आपमें कितना अलौकिक ज्ञानप्रकाश उपयोगमें आता है और कितना अनुपम आनन्द प्रकट होता है। उस आनन्दमें ही ऐसी सामर्थ्य है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंको दूर कर देता है।

शुद्धनयसे च्युत होनेकी स्थितिमें गुजरने वाली घटना पर एक दृष्टान्त—जब शुद्धनयकी दृष्टिसे च्युत हो जाते है तो नाना प्रकारके कर्मोंको बंधन, चिंताएं, शल्य उत्पन्न हो जाते हैं, उसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है, मनुष्यने आहार किया, जब तक भोजन मुख में नहीं चबाया, न गलेसे गटका तब तक अपना सब प्रकारका वश है खायें चाहे न खायें। जो नुक्सान करने वाली चीज है उसे न खायें या कम खायें। सब प्रकारका वश है और जो खा लिया और गलेसे नीचे चला गया, अब उसपर आपका क्या वश है ? क्या ऐसा हो

सकता है कि कोई रोग बढ़ाने वाली चीज खानेमें आ गई तो ऐसा सोचें कि यह न खाया हुआ हो जाय, यह तो खानेकी चीज न थी, तो क्या उसे हटाया जा सकता है ? नहीं। कदाचित उल्टी वगैरह भी कराकर हटाया जा सके तो वह हटाना है क्या ? नहीं। या कुछ भी हो। जब तक भोजन नहीं किया तब तक स्वाधीन है, भोजन कर चुकनेके बाद उदराग्नि में पहुंचनेपर जैसा जो कुछ होना है, हो रहा है।

दृष्टान्तमें भोजनका प्रकृति और प्रदेशरूप बन्धन—वही भोजन कुछ मांसरूप परिणम जाता है, कुछ चर्बी बन जाता है, कुछ खून बन जाता है, कुछ मल बन जाता है, कुछ पसीना बन जाता है। भोजन तो किया एक ढंगका, पर उदराग्निका सम्बंध पाकर उस भोजनमें जैसी योग्यता है, शक्ति है उस रूप परिणम जाता है। यह तो उनकी प्रकृति हुई और स्कंध सम्बन्धमें यह हुआ उसका प्रदेशबंध।

परिणम चुका मांस खून आदि रूपमें तो यह खून कितने दिन तक रहेगा ? यह मल कितने दिन तक रहेगा ? कोई १२ घंटे, यह मूत्र कोई ६ घंटे, यह पसीना कोई आध घंटे। गर्मीके दिनोंमें तो भोजन करते जाते हैं और वह भोजन पसीनेके रूपमें निकलता जाता है। तो जैसे पेटमें आए हुए भोजनका जो परिणमन है वह अपनी जुदा-जुदा स्थिति रखता है। कोई १० घंटे रह गया, कोई १२ घंटे रह गया, कोई आध घंटे रह गया, कोई २ घंटे रह गया तो ऐसी विचित्र स्थितियां हो जाती हैं।

दृष्टान्तमें भोजनस्कन्धकाअनुभाग बन्धन—उक्त तीन बन्धनोंके साथ ही कोई कम शक्ति देता है, कोई बड़ी शक्ति देता है, कोई शक्ति देता ही नहीं है। ऐसा अनुभागबन्धन हो जाता है। जैसे इस भोजनका जो वीर्यरूप परिणमन है वह सबसे अधिक शक्ति देता है, जो मांसरूप परिणमन है उससे कम, जो खूनरूप परिणमन है उससे कम, जो मलरूप परिणमन है उससे कम, जो पसीनारूप परिणमन है उससे कम शक्ति देने वाला है। तो भिन्न-भिन्न शक्तियां पड़ जाती हैं।

दृष्टान्त—इसी प्रकार जीवने जब तक रागद्वेष परिणाम नहीं किया तब तक तो इसका वश है, करे न करे, कम करे, विवेकसे करे, किन्तु जहाँ मनसे स्वच्छन्द बनकर यह रागद्वेष मोहमें प्रवेश कर गया, परिणाम बन गये अब अपने आप ही विचित्र कर्मोंका बन्धन हो जाता है।

कर्मोंमें प्रकृतिबंधन व प्रदेशबंधन, स्थितिबंधन व अनुभागबंधनका कथन—जो नये कर्म बनते हैं उन कर्मोंमें ज्ञानावरण नामक, कुछ दर्शनावरण नामक, कुछ वेदनीय, कुछ मोहनीय, कुछ आयु, कुछ नामकर्म, कुछ गोत्र, कुछ अन्तराय नामक, नाना प्रकारके परिणमन बन जाते हैं। यह तो उनकी प्रकृति बनी और वे कार्माण परमाणु स्कंध जो जीवके

साथ चिपटे हैं वह प्रदेशबंध हो गया। उसमें बद्ध कर्ममें स्थिति पड़ जाती है कि वे सागरों पर्यन्त भिन्न स्थिति लेकर रहेंगे। ऐसी स्थिति बन जाती है, और साथ ही उन कर्मोंमें फल देनेकी शक्ति हो जाती है कि यह इतने दर्जेका फल देगा, यह कितने दर्जेका फल देगा, देख लो अपने आप पर कितना बड़ा संकट है ?

वर्तमान परिणमन और यथार्थ कर्तव्य—जरासा पुण्य हुआ, वैभव हुआ तो लोकमें बड़ा कहलाना भूल नहीं सकते, अहंबुद्धि बनी रही, पर यह नहीं देखता कि इस जीवपर कितने संकट छाये हैं ? कितना तो कर्मजाल बना हुआ है और कितने भवोंका संतान बना हुआ है। अभी मनुष्य हैं, मरकर और कुछ बन गए तो क्या कर लोगे ? कौन मित्र मदद कर देगा ? इस संसारमें यह जीव अशरण है। इसे अपने ही परिणामोंसे पूरा पड़ता है। ये सब संकट किस अपराधसे आए हैं ? वह अपराध है केवल एक। हमारा जो सत्य सहज स्वरूप है उस रूप हम अपनेको नहीं मान पाये, अपने को नानारूप मान बैठे, इतनी भर तो भूल है और इस भूल पर शूल इतने छा गए हैं कि जिनका बरदाश्त करना कठिन हो रहा है। एक एक भूल मिटे तो हमारे लिए वह मोह मार्ग खुला हुआ है। जिस मार्गपर चलकर अनन्त महापुरुष, परम आत्मा हुए हैं। जिनकी आज हम आराधना करते हैं, वैसे ही अपने स्वरूपपर दृष्टि देना है, अपने आपका अनुभवन करना है।

द्वन्द्वमें दंद फंद—जैसे कोई बालक अकेला है तो अभी स्वतंत्र है, और जब शादी हो गई तो वह अपनेको मानने लगता है कि मैं स्त्री वाला हूं। तो देखो उसके कितनी शल्य और चिंताएँ छा जाती हैं ? ये आकुलताएँ आ गईं केवल इसलिए कि यह मान लिया कि मैं स्त्री वाला हूं। और कभी बच्चा हो गया तो यह मानने लगे कि मैं बच्चे वाला हूं। अब उसकी मनुष्यतामें और भार आ गया। और मान लो बहुत अच्छी आय है, हर एक प्रकार का आराम है फिर भी चिंताएँ नहीं छोड़ सकते। हर्ष और मौजमें भी आकुलताएँ हैं सुख में भी आकुलताएं हैं और दुःखमें भी आकुलताएं हैं। सांसारिक कोई भी सुख आकुलता-रहित नहीं है। बहुत बढ़िया रुचिकर भोजन करते हैं फिर भी शांतिसे भोजन नहीं करते हैं, भोजन करते हुए भी क्षोभ एकदम विदित हो जाता है। बिना आकुलतावोंके इस संसारमें कोई सुख भोग नहीं सकते। सर्वत्र आकुलताएं ही आकुलताएं हैं। यहाँ विश्वास करना धोखा है।

वर्तमान खतरा—यह सब तो बिना बुने हुए पलंगपर बिछा हुआ चादर है। जैसे बच्चे लोग बिना बुने हुए पलंगपर चादर तान देते है और कच्चे सूतसे उस पलंगकी पाटीमें छोर बाँधकर उस पलंगको सजा देते हैं और किसी बच्चेको बुलाकर उस पलंगपर बिठाते हैं तो उसके बैठनेपर उसके पैर और सिर दोनों एक साथ हो जाते हैं। अपने चरणोंमें अपना

सिर धर लेता है। तो जैसे वह धोखेका पलंग है इसी प्रकार यह वैभव, सम्पदा, परिवारका संग जिसके लिए लौकिक जन हाले फूले फिरते हैं ये सब खतरे वाले हैं। समयपर पापका उदय आये, सो आगे भी दुःख भोगना पड़ता है, कहीं शांति नहीं है, किन्तु मोही जीव इन परद्रव्योंका ही ख्याल करके मौज मानते हैं।

स्वप्नका सुख--एक लकड़हारा कुछ अपने साथी लकड़हारोंके साथ लकड़ी लेकर चला। धूपका समय था। रास्तेमें एक बड़ा वटका पेड़ मिला। पेड़के नीचे चारों ओर सब लोगोंने अपनी अपनी लकड़ी टिका दिया और सोचा कि आराम कर लें। आराम करने लगे, इतनेमें नींद सभी के आ गई। उनमें जो मुखिया लकड़हारा था उसे गहरी नींद आई। जाना तो था ३ बजे और बच गए ४। सबकी नींद खुल गई, पर उस मुखियाकी नींद न खुली। वह नींदमें क्या देख रहा है कि मैं इस नगरका राजा बना दिया गया हूँ। सिंहासन पर बैठा हूं। अब देखो पहिने तो है फटी लंगोटी जैसे कुछ थोड़े कपड़े, पर स्वप्नमें देख रहा है कि मैं राजा बन गया हूं। बहुतसे लोग देख रहे हैं, मुझे नमस्कार कर रहे हैं, सबका मुजरा ले रहे हैं और लकड़हारोंने चूंकि देर बहुत हो गई थी सो उसे पकड़कर जगाया। चलो उठो चार बज गए। अब वह नींदसे उठा, जगाने वालोंसे लड़ने लगा, बड़ी गालियाँ देने लगा। तुमने मेरा खोज मिटा दिया, मैं एक राजा था और कितने ही दरबारियोंके बीचमें बैठा था, पर तुमने मेरा राज्य छीन लिया। सब लोग यह देखकर दंग रह गए कि मेरे मुखिया साहब क्या कह रहे हैं। तो वह तो था तीन मिनटका कल्पित राज्य और यह समझ लो मोह नींदका स्वप्न है २५--३० वर्षका।

मोह नींदके स्वप्नमें कल्पित मौजें या आकुलतायें--भैया! इस लोकके अनन्त काल के आगे ये २५-५० वर्ष क्या कीमत रखते है? यहाँ पर भी स्वप्न जैसा ही सारा काम हो रहा है। इसे जरा व्यापक दृष्टि लगाकर देखो। मैं आत्मा अनादिसे हूं, अनन्त काल तक रहने वाला हूं। इन अनन्त कालोंके आगे ये ४०-५० वर्ष तो स्वप्नवत् ही हैं। यह स्वप्न नहीं है तो और है क्या? इसमें मस्त मत हो। जैसे स्वप्नमें ही कोई चीज गुम जाय तो यह स्वप्नमें ही रोता है, इसी प्रकार इस मोहरूपी स्वप्नमें कोई चीज गुम जाय तो दुःखी होता है, रोता है। तो इस मोहकी नींदमें ही यह जीव हंसता है और मोहमें ही रोता है। वस्तुतः इस जीवका कुछ नहीं है। तो इसके परिणाममें इसे मिलता क्या है? केवल कर्मबंध और आकुलताएँ। हाथ कुछ नहीं आता।

रागद्वेष करने पर दुर्दशा न होने देनेका अनधिकार--तो जैसे जब तक न खाया तब तक अपना वश है और खा लेने पर उस भोजनका जो कुछ भी होना है स्वयमेव होगा। इसी प्रकार जब तक इसने रागद्वेष नहीं किया है तब तक स्ववश है, पर विकार

करनेके बाद जो कुछ भी कर्मबंध होता है वह होकर ही रहता है। जैसे मुखसे वचन जब तक नहीं निकले तब तक तो इसके सामर्थ्य है कि वह सोच कर बोले, पर वचन मुखसे निकल जानेके बाद फिर वह चाहे कि ये वचन मुझे वापिस मिल जायें तो क्या यह हो सकता है ? नहीं हो सकता। जैसे कोई लोग गाली दे देते हैं तो कहते हैं भैया ! हमारे वचन हमें वापिस दे दो। तो क्या वे वचन मुट्ठीमें लेकर वापिस मिलेंगे ? अरे वे वचन वापिस न हो सकेंगे, केवल एक कल्पना बना ले इतना ही हो सकता है। इसी प्रकार जब यह राग द्वेषमें उपयुक्त हो जाता है तब अपना पतन कर लेता है और दूसरोंकी बरबादीका भी निमित्त हो जाता है। राग द्वेष होनेपर तथा रागद्वेषवश चेष्टा हो जानेपर फिर पश्चाताप करनेसे वह परिणमन अपरिणमन नहीं बन जाता। "वह पाप मेरा मिथ्या होओ" ऐसी माफी मांगनेसे माफी नहीं मिलती। हां, यह बात अवश्य है कि सहजस्वभावमय अन्तस्तत्वके दर्शन होनेपर, उस स्वरूपकी उपासनाके होनेपर अन्तर्ध्वनि निकलती है कि अन्य सब दुष्कृत हैं, मिथ्या है, यहाँ कहाँ हैं ? इस परम उपासनाके प्रसादसे कर्मकलङ्क क्षीण हो सकते हैं। अपना तो कर्तव्य है कि वीतराग ज्ञानस्वरूपकी भावनासे राग द्वेष पर विजय पाना चाहिये।

आस्रवसे दूर रहनेके लिये मन वचन कायकी सम्हालका अनुरोध——भैया ! मुखसे निकले हुए वचन अपना कर्म करके ही रहते हैं। उनपर वश नहीं चलता है। किसीको बुरा बोल दिया, किसीकी निन्दा कर दी, निकाल चुका वचन, अब तो उसका झगड़ा बन गया। उसपर अब वश नहीं रहा। जब तक वचन न निकले थे तब तक तो वश था। जैसे धनुष बाण धनुर्धारीके हाथमें है, जब तक बाण न छोड़े तब तक वश है, जब विचार कर लें और धनुष पर बाण लगाकर तानकर छोड़ दिया और फिर कहे कि अरे बाण ! मैंने भूलसे छोड़ दिया, तू वापिस आ जा, तो क्या वह वापिस आ सकता है ? नहीं आ सकता है। इसी प्रकार यह भी तो वचनबाण है। जब गुस्सेमें होकर बोलते हैं तो यह मुख धनुषकी तरह पसर जाता है। जैसा धनुषका आकार है वैसा ही इसका मुंह हो जाता है। मुंह फाड़कर देख लो, एक तरफ धनुषका डोरा-सा है और एक तरफ धनुषका डंडासा है। अगर यह तन गया और उससे वचनबाण निकाल दिया, तो फिर तुम्हारा वश नहीं है कि उसे वापिस कर लो। जिसपर वचनबाण छोड़ दिया उसके तो वह घाव करेगा ही, लेकिन जिसके यह वचन बाण बिंधेगा वह कुछ कमजोर तो नहीं हैं। आखिर चेतन ही तो है, वह उपद्रव ढा देगा, झगड़ा और विवादमें पड़ जायगा। मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह तन, मन, वचन इन तीनों चीजोंका सदुपयोग करे। इस मनुष्यजीवनका दुरुपयोग न हो और तन, मन, वचनोंका दुरुपयोग न हो तो उससे आस्रवमें अन्तर पड़ जाता है। इसी कारण ग्रन्थकारोंने कहा है कि

कायवाङ्मन:कर्मयोग:, स आस्रव: । काय वचन व मन इनका योग ही आस्रव है । ये आस्रव नहीं है पर आस्रवके निमित्तभूत होनेसे उसका ही उपचार किया गया है । जब हम तन, मन, वचनको वशमें रखते हैं और अपने उपयोगको शुद्धनयके विषयमें लगाते है, आत्माके शुद्ध स्वरूपको देखते हैं तब तो अबंधक हैं और जैसे ही अपने स्वरूपसे चिगे कि विकट बंधनमें पड़ जाते हैं ।

अपने भले बुरेके लिये स्वयंपर जिम्मेदारी—भैया ! पलंगपर पड़े हैं तो क्या, घरमें बैठे हैं तो क्या, किसी भी जगह हैं तो क्या, चल भी रहे है तो क्या, उपयोग तो अपने आपके पास है । जैसे चलते फिरते बम्बई और कलकत्ताका ख्याल किया है, तो ऐसा ख्याल किया जाता है कि रास्तेका पता भी नहीं पड़ता कि कैसे यहांपर आ गए । तो जैसे चलते फिरते हम उपयोगमें एकाग्रतासे परवस्तुवोंका विचार किया करते हैं, ऐसे ही हम इस प्रकार चलते फिरते, पड़े, लेटे, या खाते पीते भी अपने उपयोगसे अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि किया करें तो उसे रोकने वाला कौन है ? हम ही न करें तो हमारा अपराध है । करते तो हम अपराध हैं, अपने भावोंको ठीक हम नहीं रख सकते हैं, पर दोष देते हैं दुनिया भरको । अमुक भैयाने यों अपराध किया इसलिए मुझे नुकसान हुआ । उसने मुझे यों कह दिया इसलिए ऐसा हो गया ।

नाच न आवे आंगन टेढ़ा—भैया ! सब जीव स्वतन्त्र है, वे अपनेमें अपना परिणमन करते हैं । वे अपनी शांतिके लिए अपनी कषायकी चेष्टा करते हैं, हम आप अपनी ही कल्पनाएं बनाकर अपने आपमें चिन्ता और शल्य बनाते हैं, और परका नाम लगाते हैं कि इसने मुझे दु:खी किया । जैसे एक कहावतमें कहते हैं नाच न आवे आंगन टेढ़ा । यह बहुत बढ़िया मंदिर बना है, नाप तोलसे कोई कसर तो नहीं है और इसमें नृत्य शुरू करा दिया जाय संगीत द्वारा । नाचने वाला कभी सफल होता है और कभी नहीं सफल होता है । यदि उसका नाच न जमे तो अपनी कलाका दोष छिपानेके लिए कहता है कि अजी आज तो नृत्य जमेगा नहीं । यह आंगन तो ढंगका नहीं है । यही है—नाच न आवे आंगन टेढ़ा ।

संकटसे बचनेका यत्न—सो भैया ! हम दु:खी तो होते हैं खुद अपने भ्रमसे, रागद्वेषोंसे और दोष दिया करते हैं दूसरोंको, घरके भैया बड़े बुरे हैं, अमुक पुरुषने मेरे साथ यों बर्ताव किया । अरे अपने ज्ञानस्वभावमें डुबकी लगा ले, तुझे कोई दु:खी नहीं करता । जैसे कभी गांवके बाहर जाते हुएमें मधुमक्खियाँ किसीके पीछे काटनेके लिए लग जाएं तो वह दु:खी होता है । कैसे इनसे छूटें ? क्या पेड़के नीचे जानेसे वे मक्खियाँ काटना बंद कर देंगी ? नहीं । क्या घरमें घुस जानेके या किवाड़ बंद कर देनेसे वे काटना बंद कर देंगी । नहीं । तो अब वह अशरण है । उसे केवल एक उपाय है उनसे बचनेके लिए कि पासमें जो

एक तालाब है उसमें घुस जाय तो फिर वे मक्खियाँ क्या उसका कर लेंगी ? जरा समझदार हो तो थोड़ा पानीके भीतर ही तैरकर २० हाथ दूर निकल जाय। लेकिन पानीमें कब तक रहेगा, दिल घबड़ा जायगा। वह पानीसे सिर निकालता है फिर उसे मक्खियां घेर लेती हैं। फिर डुबकी लगाकर १०-२० हाथ दूर निकल जाय तो वह बच जाता है।

शल्योंका लगाव और विलगाव—इसी प्रकार जीव को ये सब चिन्ता, शल्य इत्यादि घेरे हुए हैं. यह घबड़ा गया, अब इसको कोई उपाय नहीं दिखता। क्या पिताकी गोदमें बैठ जानेसे चिंताएँ और शल्य मिट जायेंगी ? नहीं। किसीको घरमें इष्टका वियोग हो जाय तो उसे समझानेके लिए कितने ही लोग आते हैं, प्रेमी रिश्तेदार आते है, साले, बहनोई आदि ये सब समझाते हैं, भैया दुःखी न हो, पर उसके अन्दर तो एक कल्पना उठ गई है। उस कल्पनाका शल्य कौन मिटा दे ? उसका शल्य तो तब मिट सकता है जब कि वह ज्ञान-सरोवरमें डुबकी लगा ले।

प्राक् पदवीमें सम्यग्दृष्टिका पुनः पुनः यत्न—सम्यग्दृष्टिके कर्मविपाकवश जब चिंता और शल्य घर कर जाती हैं तो वह यही उपाय करता है कि दृष्टि झुकाकर अपने आपके शुद्धस्वरूपका अनुभव कर लेता है किन्तु इस पदवीमें ऐसे ज्ञानसरोवरके बीचमें कब तक डूबा रह सकता है ? इसे घबड़ाहट उत्पन्न हो जाती है क्योंकि भीतरमें रागकी प्रेरणा हो गई तो फिर अपना सिर निकालता है, अपना उपयोग फिर बाहरमें लगाता है, थोड़ी देर फिर कुछ पूर्व अनुभवके संस्कारसे चैनसे रहा, फिर बेचैन हो जाता है। इस बेचैनी और शल्यको दूर करनेके लिए वह इस ज्ञानसरोवरमें डुबकी लगा जाता है। जब तक यह जीव बाह्यपदार्थोंसे हटकर केवल ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें रहता है तब तक यह जीव अबंधक है, चिंता और शल्यसे दूर है।

शुद्धनयसे चिगनेपर बन्धन—ज्यों ही वह शुद्धनयसे चिगा त्यों ही वे संकट फिर सामने आ जाते हैं। तो इस शुद्धनयसे चिगनेपर चूंकि इसके रागादिक भावका सद्भाव है सो पूर्वकालमें बाँधे हुए इन द्रव्य पुद्गल कर्मोदयोंका अपने निमित्तके हेतुभूत रागादिकके सद्भावके कारण कर्मबंधरूप कार्य होना अनिवार्य है। सो ये अन्य-अन्य प्रकारके ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मोंके रूपसे परिणम जाते हैं। इसके लिए जो भोजनका दृष्टांत दिया है इससे बिल्कुल बात स्पष्ट हो जाती है।

बंधके प्रसंगमें हमारा विपरिणमनपर ही अधिकार—भैया जैसे लोग केवल उस बने हुए पटाकामें आग ही छुवाते हैं, पटाका फिर अपने आप फूटता है और जो सुर्र देकर उठने वाला पटाका है, जो लाल, पीला, हरा रंग देते हैं। क्या उनको हम करते हैं ? नहीं। केवल आग छुवा दी फिर काम स्वयमेव हो जाता है। इसी तरह हमने तो केवल रागद्वेष

मोह किया, फिर शल्य होना, कल्पना होना, नवीन कर्मबंध होना, ये सारीकी सारी बातें इस जीवमें अपने आप हो जाया करती हैं। इससे अपने आपमें सचेत रहना चाहिए, परिणामोंमें मलिनता कदाचित न आए तो यह सबसे बड़ी भारी सम्पत्ति है।

शुद्धनयसे च्युत न होनेकी भावना—जो पुरुष वस्तुके सहज शुद्ध स्वरूपको देखता है वह कर्मोंसे नहीं बंधता। कर्मोंको बाँधने वाला भाव है—दो द्रव्योंके परस्परमें सम्बन्ध तकने वाला भाव। जो शुद्धनयका आलम्बन करके वस्तुके एकत्वस्वरूपको देखता है वह पुरुष अबंधक है। यहाँ तात्पर्य यह लेना कि शुद्धनय हेय नहीं है। हे प्रभो ! लौकिक विपत्तियाँ चाहे कितनी ही आ जायें, सम्पत्तिकी कमी हो, लौकिक इज्जत भी नष्ट हो, सर्व परिचित लोग भी विपरीत परिणमें, कुछ भी हो, यहाँ कोई आपत्ति नहीं है। यह तो परवस्तुका परिणमन है। जिसको जैसा परिणमना है परिणमता है किन्तु मैं अपने अन्तरमें अपने उपयोग द्वारा एक उस शुद्धनयका आलम्बन किए रहूं। जिसके प्रतापसे कर्मोंका सम्वर और निर्जरण होता है।

शुद्धनयके आलम्बनके प्रतापसे सिद्धि—भैया ! शुद्धनयका त्याग न रहे, आस्रव रहे तो बंध नहीं होता। और जहाँ शुद्धनयका त्याग हुआ कि बंध होने लगता है। देखो समस्त पदार्थोंको वे स्वयं अपने आपकी सत्ताके कारण जैसे अवस्थित हैं उस ही रूपमें उन्हें निरखें। सर्व सम्पत्तिसे उत्कृष्ट सम्पत्ति क्या है अन्तरमें शुद्धनयका आश्रय न छोड़ना। ऐसी भी विपदाएँ आवें कि जिनसे तीन लोकके प्राणी भी चलते हुए मार्गको छोड़ दें, फिर भी यदि उसके शुद्धनयका आलम्बन नहीं छूटा है तो वह नुक्सानमें नहीं होता, लाभमें होता है। जितने भी अभी तक महात्मा सिद्ध बने है वे एक इस शुद्धनयका आलम्बन करके ही बने हैं।

उन्नत होनेवाले जीवका लक्ष्य—जैसे कोई सीढ़ीसे चढ़कर ऊपर आता है तो जिस सीढ़ीपर चढ़ना है उस सीढ़ीको नहीं देखता है, आगेकी ऊपरकी सीढ़ीको देखता है। जिस सीढ़ीपर वह पैर रखता है उस सीढ़ीसे प्रेम नहीं करता, उसका प्रेम ऊपर आनेको है। इसी प्रकार रागादिक उदयवश विवेक जागृत होनेके कारण कुछ शुभ क्रियावोंमें प्रवृत्ति होनेपर भी शुभ कियावोंकी प्रवृत्ति सीढ़ीपर पैर रखनेके समान है। जिस सीढ़ीपर पैर रखा जाता उस सीढ़ीपर दृष्टि नहीं रहती है, ऊपर दृष्टि होती है, इसी प्रकार जिस प्रवृत्तिमें यह सम्यग्दृष्टि जीव होता है उस प्रवृत्तिमें इसका लक्ष्य नहीं रहता है, इसका लक्ष्य ऊपरकी ओर हता है। वह कौनसा पद है जिस पदकी दृष्टि इस ज्ञानी जीवके रहती है, वह है परमार्थ पद, वस्तुके सहज स्वभावका दर्शन।

शुद्धनयकी आदेयता—कल्याणार्थी महापुरुषोंको शुद्धनय कभी भी न छोड़ना चाहिए, अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें बँधा हुआ रहना चाहिए। अपने ज्ञानकी स्थिरता और धीरतासे

बांधना चाहिए। यह हमारा बोध स्थिर है, गम्भीर है, शांत है, अक्षोभ है। यह हमारा ज्ञान उदार है, रागद्वेषमें ही अनुदारता सम्भव है। मात्र जाननमें अनुदारता कहाँसे आती है? वहाँ सर्व विश्वका ज्ञाताद्रष्टा रहता है। यह इसकी महिमा अद्भुत है। लोकमें सर्वस्व सार यही शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्वका दर्शन है। यह ज्ञानस्वभावी आनन्दनिधान आत्मा है। इसमें स्थिरता करना चाहिए। यह स्थिरता शुद्धनयके आलम्बनसे प्रकट होती है और इस स्थिरता के प्रभावसे फिर शुद्धनयका ग्रहण दृढ़ होता है।

शुद्धनयकी सर्वंकषता—यह शुद्धनय कर्मोका सर्वंकष है। जैसे सेवकसी कसनेका कद्दू आता है बारीक छेद वाला। यदि चाकूसे बनाया जाय तो उसके खण्ड-खण्डमें बड़े-बड़े अंश हो जाते हैं, पर कद्दूकसपर कसनेसे वहाँ सर्वंकषता हो जाती है, कण कण कस दिया जाता है। इसी प्रकार यह शुद्धनयकी दृष्टि, आत्माके सहज एकत्वस्वरूपकी दृष्टि सर्व प्रकारकी प्रवृत्तियोंको, कर्मोंको सर्वथा कस डालती है, बाहर कर देती है।

उद्देश्यसिद्धिसे कार्यसफलता—भैया! भोजन बनानेका प्रयोजन तो भोजन खाना है। कोई भोजन तो खूब बनाया करे और खानेका काम ही न रखे तो उसे लोग पागल अथवा यह अविवेकी है कहने लगेंगे। इसी प्रकार हम लोग सारे काम तो करें, मंदिर आएँ, सुबह नहायें, पूजा करनेमें २ घंटे समय दें, स्वाध्याय करें, गुरु सत्संग करें, सब कुछ तो कष्ट करें, भोजन तो बनाएँ पर उसे खायें नहीं अर्थात् इन सब कष्टोंके करनेके फलमें यह चाहिए था अनुभव कि एक आध मिनट सर्वविकल्पोंको त्यागकर आत्माके शुद्ध सहज ज्ञानज्योतिका दर्शन करें, लौकिक आनन्दका ही भोग करें, यह करें। नहीं तो ये सर्व हमारे कर्म उसी प्रकार हुए कि भोजन बनाया और खाया नहीं।

अपना अन्तिम और उत्तम सहारा शुद्धनयका अवलम्बन—इस लोकसे पार उतारने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। मुझे किसीका कोई सहारा नहीं, इस लौकिक सुख सुविधा तकके लिए दूसरोंका विश्वास नहीं है तो मुक्तिके लिए तो विश्वास ही क्या है? वह तो एक अनैमित्तिक काम है। जितना भी मेरा अनिष्ट हो सके, हो, जितना भी मुझपर उपद्रव हो सकता हो, हो; सब इष्ट दूर हो जावें, और जितने भी उपद्रव उपसर्ग आ सकते हों, आयें, पर हे नाथ! एक शुद्धनयका आलम्बन मैं न छोड़ूँ। यह मैं शुद्धनयके प्रतापसे अपने आपमें गुप्त रहकर अपना गुप्त कल्याण कर लूँगा। किसी भी मुमुक्षु पुरुषको शुद्धनयका त्याग कभी भी नहीं करना चाहिए। यह शुद्धनय सर्वकर्मोंका सर्वंकष है।

आत्माकेन्द्रकी स्थितिमें ज्ञानव्यक्तियोंका सिमटन—ये सर्व व्यवहारधर्म उनको भूल जानेके लिए लिए किया जाता है। तो कोई कहे कि यह व्यवहारधर्म इसी व्यवहारधर्मको भूल जानेके लिए किया जाता है तो हम पहिलेसे ही न भूले रहें। सो भैया! इस प्रकारसे

भूलनेके लिए नहीं कहा जा रहा है। व्यवहारधर्म करते हुएमें ऐसी अध्यात्म स्प्रिट लगावो कि वहाँ केवल आत्माके एकत्वस्वरूपका दर्शन हो, व्यवहारधर्मकी खबर ही न रहे। जो पुरुष आत्माके एकत्वके दर्शनरूप शुद्धनयमें स्थित हैं, ओहो वे अपने ज्ञानकी व्यक्तियोंको तत्काल समेट लेते हैं। कितना विशाल ज्ञान है ज्ञानी पुरुषका ? गुणस्थानोंमें समय-समयकी बात तो आगम ज्ञानके प्रतापसे ज्ञात है। तीन लोक, तीन कालके पदार्थोंकी रचनावोंका भी आगमज्ञानके उपायसे बड़ा ज्ञान हुआ है। सिद्ध लोक तककी जानते हैं, नीचे निगोद स्थान तककी जानते हैं। ३४४ घनराजू प्रमाण लोकमें कहाँ क्या है सबका ज्ञान है, किन्तु जब शुद्धनयका आश्रय करके यह ज्ञात आत्माके एकत्वका ज्ञान करता है तब सारे ज्ञानकी विशेषता सिमिट जाती है, सिकुड़ जाती है।

ज्ञानवृत्तियोंके सिमिटनेका परिणाम निर्विकल्प आनन्द—उन समस्त ज्ञानकी वृत्तियों को समेटकर इन कर्मोंके चक्करसे बाहर निकले हुए ज्ञानघन निश्चल शांतरूप निजप्रतापका यह अन्तरात्मा अवलोकन करता है। व्यवहारका प्रवर्तन और निश्चयका अवलोकन इन दोनोंका जहाँ समन्वय हो रहा है, बात मिल रही है ऐसी ज्ञानी संतोंकी यह चर्चा है। वे अपने आप उस सहजस्वरूपका अवलोकन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जब यह जीव केवल आत्माके सहजस्वरूपको देखता है तब समस्त ज्ञान विशेषको गौण करता है। जैसे भोजन जिस काल बनाया जा रहा है उस काल नाना बुद्धियां होती रहती हैं। इसमें अच्छा घी डाला, खूब सेंका, बादाम भी डाला, इतना काम और करना था, चीज बहुत बढ़िया बन रही है, इसमें सारी मूल्यवान सामग्री डाली जा रही है। नाना विकल्प किए जाते हैं और पात्रमें परोसा तब तक विकल्प चलते हैं, पर जिस समय वह केवल उसका स्वाद एक चित्त होकर लेता है तो इसमें क्या पड़ा है, कितना पड़ा है—वह सब ज्ञान विशेष सिमिट जाता है। केवल वह स्वादका आनन्द लेता है।

शाश्वत स्वाधीन आनन्द पानेकी अलौकिक वृत्ति—अलौकिक जनोंकी अलौकिक प्रवृत्ति होती है। वे सारे विश्वको जानते हैं। असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें कहाँ क्या रचना है, अधोलोक ऊर्द्धलोक कहाँ है, इस प्रकारका सर्जन कहाँ है, कैसे कर्म हैं, कैसे बंधन है, कैसे उदय होता है और समय-समयपर क्या स्थितियां बनती हैं ? बड़ी गहन सूक्ष्म चर्चा ज्ञात है, इतना बड़ा ज्ञान है और इतना ज्ञान विकल्प इनके बहुत काल तक रहता है। किन्तु जब वे उन सब ज्ञानके फलरूप शुद्धनयकी दृष्टिरूप अनुभव करते हैं उस समय वह सब ज्ञान विशेष सिमिट जाता है। वहाँ ठहरता नहीं है। और केवल एक वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुआ शाश्वत निर्वाण स्वाधीन सहजानन्द अनुभूत होता है।

शुद्धनयकी अवक्तव्य महिमा—इस शुद्धनयको कौन वर्णित कर सकता है ? सहज

जिह्वायें भी हों तो भी इसका प्रताप कहा नहीं जा सकता है। हमारे सारे संकटोंको दूर करनेमें समर्थ है तो वह इस शुद्धनयका आश्रय ही है। अपने जीवनका एक लक्ष्य बनावो। वस्तुस्वरूप अपने आप सहज जैसा है उसके ज्ञाताद्रष्टा रहो। इस शुद्धनयके आलम्बनसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। पर व्यवहारनयसे तो कुछ ज्ञान न करे और केवल शुद्धनयकी महिमा जानकर सीधा शुद्ध नयमें प्रवेश करनेका साहस करे तो उसके शुद्धनयका आलम्बन होना कठिन है। अतः दोनों नयोंका परिज्ञान करके और विरोध न करके आत्महितके लिये शुद्ध नयका आश्रय करें। जो शुद्धनयको देखता है वह साक्षात् प्रभुके दर्शन करता है।

सहज परमात्मतत्वके दर्शनका आनन्द या अनुभव वचनोंसे नहीं बताया जा सकता है। वचनोंसे तो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं बताया जा सकता है। कल सनीमामें किसी ने जो कुछ देखा हो उसे आज बताये तो क्या बता सकता है? नहीं। कहीं से बहुत उत्तम राग रागनियोंका संगीत सुनकर कोई आया हो और बहुत ही ठाठका आनन्द जमा हो, उसको बादमें वचनोंसे बताना चाहे तो बता सकता है क्या? नहीं। अधिकसे अधिक इन शब्दोंमें कहेगा कि वहाँ बहुत आनन्द जमा था। किसी भोज्यवस्तुका स्वाद जो लेता है वह दूसरेको बताना चाहे तो क्या बातोंसे बताया जा सकता है? नहीं। इन्द्रिय विषयोंके अनुभवकी भी बात दूसरोंको वचनोंसे बताई जाना अशक्य है। उसका तो उपाय यही है कि वह वस्तु उसको खिला दी जाय तो जान जायगा। दूसरे दिन सनीमा दिखा दिया जाय तो समझ जायगा। इस शुद्धनयके आलम्बनसे जो एक विलक्षण दुर्लभ आत्मीय आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्दको किसी प्रकार वचनों द्वारा बताया जा सकता है क्या? नहीं।

सहज आनन्दकी रुचिमें उसकी प्राप्तिकी सुगमता——उस सहज आनन्दके जाननेकी तो तरकीब इतनी है कि कुछ समय, महीनों या वर्षों आत्मज्ञान व आत्मसंयम करिये। अधिकसे अधिक समय निकालिए आत्मकल्याणके लिए, आत्मचिंतनके लिए। अन्य काममें फंसे होने की हालतमें संक्लेशसहित एक घंटा समय बचाकर धर्मध्यान करने के लिए आयें तो वह धर्मका क्षण मिलना दुर्लभ है? समय ही धर्मके लिए ही सब ओर चल करके पछतावाका मन बना करके अन्य कामोंके लिए जाना पड़े, ऐसी धर्मकी रसीली स्थिति बने तो ऐसेमें आत्मानुभवका क्षण मिलना सुगम है। इस शुद्ध नयमें कोई अन्तर्मुहूर्त भी तो ठहर जाय, वहाँ शुक्ल ध्यानकी प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है। यद्यपि यह सामर्थ्य आजकल हम आपमें नहीं है किन्तु इसकी रुचि तो तीव्र होनी चाहिए।

अवसर चूकनेका दुष्परिणाम——भैया! धन वैभव, जिसके मिलनेके कारण विवाद और संकट खड़े हो जाते हैं उनकी उपेक्षा करके प्रधानतया एक इस आत्मानुभवके लिए तो कमर कसकर रहना चाहिए। अन्यथा हमें तुम्हें जानने वाला कौन है? इस समय तो यह

सारा स्वप्न है। स्वप्नमें जैसे सारी बातें सत्य मालूम देती है इसी तरह मोहके स्वप्नमें सारी बातें सत्य मालूम होती हैं, सारी चीजें सत्य शरण मालूम देती है। यहाँसे हटे इस ३४३ घन राजू प्रमाण लोकमें न जाने किस जगह फिके, तो वहाँ शरण कौन होगा? एक निर्णय रखो, शरीर छिदना हो छिदे, विपत्तियां आती हों आएँ, लोग विरुद्ध बनते हों बनें, कितने भी उपद्रव आएँ पर तुम्हारा काम तो एक अपने आपमें उस शुद्धनयका आश्रय लेना है। इस दुनियासे अपरिचित बन जावो। हमें दुनियामें कोई जानता ही नहीं। जिसको हम नहीं जानते उससे हमारा स्नेह नहीं होता है, भय नहीं होता है, चिंता नहीं होती है। यह सारा जीव लोक मुझसे अपरिचित है, मैं किसीको नहीं जानता हूं और न मुझे कोई जानता है। मोहकी नींदके स्वप्नमें यह सम्बन्ध माना जा रहा है।

भेषके ज्ञानमें भेषके प्रभावकी समाप्ति—अब यह आस्रव अधिकार पूर्ण हो रहा है। आस्रवके भेदमें जो ये पुद्गलकर्म इस उपयोगरूपी रंगभूमिपर अपना नाटक कर रहे थे, इन दर्शकोंको उसके भेषका पता हो गया है। अब उसके इस भेषको देखकर रस नहीं आता है। जैसे किसी ड्रामा और नाटकमें दर्शक इस बातपर निगाह रखें कि यह तो अमुकका लड़का है और अमुकका भेष बनाकर आया है। इस ज्ञानके होनेपर उस दर्शकको उस नाटकमें रस नहीं आ सकता है। इसी प्रकार इस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको आस्रवके भेषमें आए हुए इन पुद्गल स्कंधोंका पता है और आस्रवके भेषमें आए हुए इन जीवोंका पता है, इस कारण अब इसे आस्रवके नाटकमें रस नहीं आता। जानता है कि ये सारे भिन्न काम हैं। ऐसा ज्ञान होनेसे उस आस्रवके भेषमें आए हुए वे कर्म दूर हो जाते हैं अर्थात् अब सम्वरतत्त्व प्रकट होने वाला है।

नीरसतामें ड्रामा बेकार—ड्रामा करने वालेको जब कोई उत्साह ही नहीं देता और ग्लानिभरी उपेक्षाभरी दृष्टिसे देखते हैं तो नाटक करने वाले या उसका मैनेजर किसी भी बहानेसे उस नाटकको बंद कर देता है। यहाँ तो दर्शकोंको रस ही नहीं आ रहा है। यह मिथ्यात्व अविरति कषायरूप आस्रव इस प्रभुको अपना नाटक दिखा रहा है, किन्तु इस प्रभु को यथार्थ ज्ञान होनेके कारण इसमें रस ही नहीं आ रहा है। तो यह चिदाभास इसका मैनेजर मोहभाव इस नाटकको बंद कर देता है। ये जन बड़े प्रभावको देखना चाहते हैं, उन्हें इसमें रस नहीं आ रहा है तो नाटक कैसे दिखाया जाय, कहाँ किया जाय? इन रागा-दिक कषायोंके क्षणमात्रमें दूर होनेसे नित्य उद्योतमान यह परमतत्त्वका अवलोकन करने वाला ज्ञान बड़ी वेगसे फैलता है। अपने रसके प्रवाहसे समस्त लोक पर्यन्त समस्त भावोंको अपने अन्तरंगमें मग्न करते हुए अब प्रकट होता है अर्थात् अब आस्रवका भेष समाप्त होता है और सम्वरतत्त्वका उदय होता है।

संवरतत्त्वके आगमनके समयका अनोखा वातावरण——यह प्रकरण आस्रवकी समाप्ति और सम्वरका प्रारम्भ कराने वाली संधिका है। इसमें वृत्ति और निवृत्तिरूप अनोखा वातावरण है। जैसे किसी बड़े आफीसरका तबादला होता है और नये आफीसरको चार्ज देना होता है तो चार्जके समय एक अनोखा वातावरण रहता है। यह परिवर्तित आफीसर अपना चार्ज दे रहा है, उसे अब इसमें ममता नहीं रही, सम्हालनेका मनमें संकल्प नहीं रहा। यह इन भावोंको रखते हुए चार्ज दे रहा है और नया आफीसर किसी उमंगको लेकर चार्ज ले रहा है। अब मुझे सब कुछ करना पड़ेगा यह सम्वरकारक ज्ञान बड़ी उमंग, बड़े जोश और कीर्तिके साथ इस ज्ञानीके उदित हो रहा है। जब यह ज्ञान उदित हुआ तो यह आस्रव अपना भेष बदलकर निकल जाता है। इस प्रकार यह अधिकार पूर्ण होता है।

॥ इति समयसार प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ॥

समयसार-प्रवचन अष्टम पुस्तक

अपना परिचय——अभी अभी ये भैया हमारा परिचय देनेको खड़े हुए थे। इन्हें हमने रोक दिया। इनको दुःख तो हुआ होगा। लेकिन इनका काम हम किये देते हैं। सुन लो भैया हमारा परिचय तीन चीजोंका पिंडोला है—(१) चेतन, (२) कर्म और (३) शरीर। आपको तीनोंका परिचय चाहिए। तो लो शरीरका तो यह परिचय है "जुकाम, बुखार, खांसी। गलेके अन्दर फांसी।" अब कर्मका परिचय लो, जो ये नाना कर्मफल चल रहे हैं सो यह सब उन कर्मोंका परिचय है। अब रही इस चेतनके परिचयकी बात। सो आपको अपने चेतनका परिचय होगा तो मेरा भी परिचय हो जायगा, क्योंकि हम आप सब एक स्वरूप है। देखो भैया! कहाँ तो हम आपकी एक समानता है और हम आपमेंसे ही कोई कोई क्रूराशयी पुरुष जीवोंके साथ कैसा बर्ताव करते हैं, सो उनकी करतूत सुनकर दिल काँप जाता है।

क्रूराशयों द्वारा हिंसाकी भीषण प्रवृत्ति——आजके हिंसाके रूपको देखो कि पशुवोंके ऊपर निर्दयतासे कैसा प्रहार किया जा रहा है? पशुवोंके छोटे बच्चोंका जो कोमल चमड़ा बनाया जाता है, सो पहिले उस बच्चेको पानीसे भिगोते हैं और जब चमड़ा फूल जाता है तो उन पशुवोंके छोटे-छोटे बच्चोंपर डंडे बरसाकर उनकी खाल निकालते हैं। उन पशुवोंके छोटे-छोटे बच्चोंकी खालसे ये सूटकेस घड़ीकी चैन मनीवेग आदि तमाम चीजें बनाया करते है। और और भी कितनी ही हिंसाएँ करते हैं। सो उसके प्रतीकारमें आपको सबसे छोटी सी एक बात हम यह कहेंगे कि आप सभी लोग चमड़ेसे बनी हुई चीजोंका प्रयोग मत किया करें। चमड़ेको बिल्कुल ही छोड़ दें। यदि पशुवोंकी रक्षाके लिए आप इतना भी नहीं कर सकते तो और क्या बताया जाय? पक्षियोंकी हिंसाका रूप देखिये। उसको तो आप सब लोग जानते ही हैं। औरोंकी तो बात छोड़ो, १० रुपयेके पीछे मनुष्य की जान ले लेते हैं। हिंसाका ऐसा नाच हो गया है। ऐसी स्थितिपर हम आपको, जितना बन सके, जितना अपनेमें बल और श्रद्धा हो उतनी पवित्रता अपनेमें बनानी चाहिए।

हिंसासे होनेवाली हानियाँ—आप देखिए कि हिंसासे कितनी ही हानियां हैं। घी दूधकी कमियां हो गईं और अनावश्यक वस्तुयें बन गईं। यह तो है हम आपके व्यवहारकी बात। और देखिये जिस जीवको तलवारसे मारा जाता है उसे उस समय क्लेश होता है, वह संक्लेश सहित ही प्रायः मरता है तो ऐसा मरण होनेपर वह अभी जिस गतिमें है उससे

नीची गतिमें जायगा। तो जो हिंसा करते हैं—उन्होंने मिथ्या आशय करके अपनेको मोक्ष-मार्गसे कितना दूर कर दिया? और उस पशु आदिको भी मोक्षमार्गसे कितना दूर कर दिया? आज यहाँ वे ५ इन्द्रिय और मन वाले है और मृत्युके बाद उनकी क्या गति होगी? तो सोचो तो सही कि यदि कीड़े मकोड़े मरकर बन गए तो उनको कितना मोक्षमार्गसे दूर कर दिया? जहाँ यह बतलाते हैं कि जीव अनन्तकाल तक निगोदमें रहा, वहाँसे मुश्किलसे निकल पाया, पंचेन्द्रिय हो गए, संज्ञी हो गए। कहाँ तो मोक्षमार्गके निकट आ रहे थे और एकदम ही ५ मिनटके प्रसंगमें वह जीव कितना दूर हो गया? उसकी परमार्थसे यह हिंसा हुई। और घातकने परमार्थसे दूसरेकी हिंसा नहीं की बल्कि अपनी ही हिंसा की। वह अपने स्वरूपको भूल गया और विषयकषायोंमें रत हो गया, तीव्र आसक्त हो गया तो उसने आपको मोक्षमार्गसे अत्यन्त दूर कर दिया। इस जीवने हिंसा की तो उसका परिणाम क्या हो गया कि उसे संक्लेश हो गया, उसका मरण हो गया और वह मरण करके नीची गतियोंमें चला गया।

हिंसासे स्वयंका ऐहिक बड़ा नुक्सान—हिंसा करनेसे ऐहिक और दूसरा नुक्सान यह होता है कि उसके प्रति लोगोंका अविश्वास हो जाता है और वह भी कभी सुख चैनसे नहीं रह पाता है। जहाँ परस्परमें अविश्वास हो गया वहां समझो जिन्दगीका बेड़ा पार होगा। चार चोर थे। वे कहींसे दो लाखका धन चुरा लाये। और वे नगरसे बाहर निकलकर एक जंगलमें चारोंके चारों रुक गए। अब उन चारों चोरोंने सोचा कि पहिले भोजन कर लें और फिर इस धनका बंटवारा बादमें करें। सो उनमेंसे दो भोजनका सामान खरीदने नगर चले गए। इन दोनोंने सोचा कि कोई जहरीली चीज ले लें, भोजनमें मिलाकर उन दोनोंको खिला देंगे तो वे दोनों मर जायेंगे और हम दोनों एक एक लाखका बँटवारा कर लेंगे। इधर तो इन दोनोंने यह सोचा और उसी समय उन दोनोंने क्या सोचा कि हम दोनों उन दोनोंको बंदूकसे मार दें, वे दोनों मर जायेंगे तो अपन दोनों आधा-आधा बांट लेंगे। अब वे दोनों अपनी तैयारीसे नगर आए और इधर दोनोंने बंदूकसे दोनोंको मार दिया। अब विष से मिले हुए सामानको उन दोनोंने खाया तो वे दोनों भी मर गये। अब चारों चोर मर गए और साराका सारा धन वहींका वहीं पड़ा रह गया।

अपने कर्तव्यका दर्शन—इस अहिंसाके सम्बन्धमें हम लोग क्या करें? जो करना है सो तो आप लोग प्रेक्टिकल सब कुछ कर रहे हैं। फिर भी जितना हम आप और अधिक कर सकें उतना अहिंसाके प्रति करना चाहिए। सबका भला इस अहिंसासे ही है। देखिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने इस अहिंसाको परमब्रह्म कहा है, देवता कहा है। कल्पना करो कि

अगर यहाँ सब देवता ही बस जायें याने अहिंसक हो जावें तो कितना अच्छा वातावरण बन जाय ? सब शांतमय हो जायेंगे। पर यह होना असम्भव है। यह संसार तो इन्हीं सब बातोंका घर है। जो अपनेको उन्नित हो उस पर दृष्टि दें। सबको क्या देखें—इस संसारमें बिरले ही जीव ऐसे होते हैं जो अपनेको निर्मल बनाते हैं।

अहिंसाके प्रति गृहस्थजनोंका मौलिक कर्तव्य—अहिंसाके बारेमें साधुजन क्या करते हैं कि चारों प्रकारकी हिंसावोंसे विल्कुल दूर रहते हैं। गृहस्थजन क्या करें ? एक चीज हमारी सूझमें आई है कि गृहस्थजनोंको अहिंसाके प्रति अपना मौलिक क्या कदम उठाना चाहिए। यहाँपर हम आपसे एक प्रश्न करते हैं कि घरमें जो चार, छः, दस, बीस आदमी हैं उनको प्रेमकी तराजूके एक पलड़ेमें बैठाल लो और जगतके जितने भी जीव हैं उन सबको एक पलड़ेमें बैठाल लो तो किस तरफका पलड़ा भारी रहना चाहिए ? इसकी निगाह कर लो। घरके जो दो चार जीव हैं, उनको ही समझ लिया कि ये मेरे सब कुछ हैं और जगतके अन्य जीव कुछ नहीं हैं। तो इससे अहिंसामें क्या कदम बढ़ेगा ? जितना धन घरके उन चार आदमियोंपर खर्च करते हो, उतना तो कमसे कम जगतके अन्य सब जीवोंपर खर्च किया करो। यदि आपको हजार रुपया खर्च करना है तो ५०० रु० खर्च करो अपने परिवारकी रक्षाके लिए और ५०० रु० खर्च करो जगतके अन्य जीवोंके लिए। इसी प्रकार तन मन उस वचनका भी प्रयोग सम-अनुपातपर करो। जब सब जीवोंका स्वरूप अपने उपयोगमें एक समान आ जायगा तब जाकर प्रेक्टिकल अहिंसा बन सकेगी।

हिंसाका साधकतम अपना दुर्भाव—इस प्रसंगमें एक बात मुख्यतया जानने योग्य है कि वास्तवमें जो हिंसा हुआ करती है वह अपने भावोंसे हुआ करती है। जैसे कोई डाक्टर रोगियोंकी दवा करता है, आपरेशन करता है, उन रोगियोंमें से कदाचित् कोई रोगी गुजर जाय तो क्या कोई डाक्टरको हिंसक कहता है ? नहीं कहता है। देखो—हिंसा होकर भी हिंसक नहीं होता है। और हिंसा न होकर भी कोई हिंसक हो जाता है। जैसे कोई शिकारी इरादेसे किसी पशु पक्षीको मारने का यत्न करता है पर वह न मरे, वहाँ तो वह बच गया, नहीं मरा, पर यह हिंसक हो गया। इसी प्रकार जो अयत्नाचारी है वह बाह्यमें जीवका हिंसक न होकर भी हिंसक हो जाया करता है।

भावोंकी विचित्रताका प्रभाव—भैया ! अब जरा भावोंकी विचित्रता देखियेगा। हिंसा करता है कोई एक और हिंसा लग जाती है अनेक लोगोंको। किसीने सांप मार दिया देखने वाले लोग कहते हैं वाह-वाह कैसे मारा, खुश होते हैं। लो, उन दसों लोगोंके हिंसा लग गई कि नहीं ? लग गई। और देखिये हिंसा करते हैं अनेक और हिंसक केवल एक

माना जाता है। सेनाके अनेक लोग लड़ाईमें मरते हैं, पर हिंसक केवल एक राजा माना जाता है। यह बात एक उद्देश्य व अपेक्षासे है। भावोंकी विचित्रता देखते जाइए। हिंसा करनेके पहिले ही हिंसाका फल मिल जाता है। हिंसा करनेका इरादा हुआ, लो पापबंध हो गया। उस पापकर्मका आबाधाकाल व्यतीत होनेपर उदय आ गया, सो लो फल पहिले भोग लिया और पूर्व इरादेके अनुकूल हिंसा इसके बाद कर सका।

अहिंसापालिका क्षमा—भैया! जैसे पतंग है ना। पतंग तो बड़ी दूर उड़ जाती है मगर डोर मेरे पास है तो सब कुछ सम्हाल है। इसी प्रकार इस जीवको अपनी सावधानी पहिले कर लेना है। अपने परिणामोंको शांत बनाना है। परिणामोंकी निर्मलता ही हम आपकी विजय है। लोकव्यवहारमें करो तो ऐसा। कोई कमजोर आपका कोई अपराध कर दे, तो उसे दुःखी कर देने दो, उसकी बातको अनसुनी कर दो। इस तरहसे प्रेक्टिकल रूपमें अपने परिणामोंको शांत करो तो सही।

हिंसाभावसे स्वयंका अहित—देखिए भैया! जो हिंसा करता है, किसी दूसरे जीवको दुःखी करनेका परिणाम करता है उसका बिगाड़ पहिले होगा, दूसरोंका बिगाड़ हो अथवा न हो। यह जीव किसी दूसरे जीवका बिगाड़ नहीं कर सकता है। प्रत्येक जीव अपनी ही हिंसा और अहिंसा कर सकते हैं। अभी आप यहां बैठे हैं और किसी चीजका रागद्वेष हो जाय, लो हिंसा हो गई। सब पापोंका आधार हिंसा है। रागद्वेषकी उत्पत्ति ही हिंसा है। तो हम अपनी वृत्तिमें ऐसा चलें कि हमारे निमित्तसे किसीको क्लेश न पहुंचे। और ऐसा भी न करें कि किसीको क्लेश तो नहीं पहुंचाते, मगर घरमें एक इकलौता लड़का है, तो उससे राग करते रहें। कोई कहे कि हम द्वेष तो नहीं करते, और कुछ करें तो क्या यह अहिंसा है? नहीं, रागद्वेष मोह भाव ही हिंसा है।

चैतन्यभाव हमारा शृङ्गार या अभिशाप—और देखिए हम और आपका स्वभाव एक चैतन्यभाव है। किन्तु वर्तमान स्थितिको देखकर बताओ कि यह जो चैतन्यभाव है वह अपना शृङ्गार है या अभिशाप? जरा इसपर विचार तो करो। शृंगार भी है और अभिशाप भी। इन जड़ पदार्थोंमें चेतना नहीं है पर कमसे कम दुःखसे तो रहित हैं, रागद्वेषके विकारोंसे तो रहित हैं। इन चेतनोंमें तो रागद्वेष ही झलकते हैं। ये चेतन जीव तो खोटे अभिप्राय रखते हैं इसलिए ये सारे जीव दुःखी हैं। इन चेतनोंको अपने द्रव्यस्वरूपका पता नहीं है। इनका स्वरूप तो ज्ञानानन्द घन, अनन्तआनन्दमय है। इसके ज्ञानमें लोक और अलोकका ज्ञान आ जाता है। जो ज्ञानका भूखा हो और उस ज्ञानमें रमता हो तो लोकालोक इसके जाननमें आ सकता है। ऐसा परमशृङ्गार रखने वाले हम और आप अपनी हिंसा करते चले जा रहे हैं, विषयकषायोंमें ही लीन होते चले जा रहे हैं। इस प्रकारसे हम आप अपने इस स्वर्ण-

मय मानवजीवनको प्राप्त करके उसे यों ही मोह रागद्वेषोंमें ही खोते चले जा रहे हैं। इस मानवजीवनको सफल करनेके लिए ज्ञानार्जन करना चाहिए।

आदतकी गतिशीलता––भैया चाहे हमसे जो चाहे विषय कहवा लो, हम तो कह पावेंगे अपने ही ढंगसे। जैसे एक रंगरेज था। वह आसमानी रंगकी पगड़ी रंगना जानता था। कोई आए, कहे लाल रंगकी पगड़ी रंगना है, बोले ठीक है, कोई कहे पीली रंगना है, बोले ठीक है, कोई कहे हरी रंगना है, बोले ठीक है। इस तरहसे सब पगड़ी धरा ले, और फिर कहे कि चाहे जिस रंगकी रंगावो पर अच्छी लगेगी आसमानी ही। हम तो वही रंगेंगे। इसी प्रकार हमसे भी चाहे जो कहलवावो, आखिर यहीं उतर जाना पड़ता है।

ज्ञेयकी त्रितयरूपता–अच्छा देखो एक बात और कहेंगे कि किसी भी पदार्थको जानें, हम तीन रूपोंमें जानते हैं––(१) शब्द, (२) अर्थ और (३) ज्ञान। जैसे आपका पुत्र है, तो वह आपका पुत्र भी तीन प्रकारका है—(१) शब्दपुत्र, (२) अर्थपुत्र और (३) ज्ञानपुत्र। शब्दपुत्र क्या है? पु और त्र जो लिखा हुआ है या बोला गया है तो उसका नाम है शब्दपुत्र और अर्थपुत्र कौन है? वह दो हाथ और दो पैरों वाला है वही है अर्थपुत्र। और ज्ञानपुत्र क्या है? उस पुत्रके सम्बन्धमें जो आप अपनी जानकारी बनाते है वह है ज्ञानपुत्र। ऐसे ही चौकी। शब्दचौकी, अर्थचौकी और ज्ञानचौकी। चौ और की ये शब्द हैं शब्दचौकी और यह जो चौकी दिखती है वह है अर्थचौकी। और इस चौकीके विषयमें जो ज्ञान बना वह है ज्ञानचौकी।

प्रेमका आश्रयभूत ज्ञानपुत्र––अब यह बतलावो कि आप शब्दपुत्रसे प्रेम करते हैं या अर्थपुत्रसे प्रेम करते है या ज्ञानपुत्रसे प्रेम करते हैं? तो यह तो जल्दी समझमें आ जायेगा कि हम शब्दपुत्रसे प्रेम नहीं करते। अरे कहीं लिखा है पु और त्र, तो ले लो उसे गोदमें खिलालो। तो शब्दपुत्रसे प्रेम कोई नहीं करता। तो अर्थपुत्रसे प्रेम करते होंगे, अरे अर्थपुत्रसे प्रेम करनेकी आपमें ताकत ही नहीं है, क्योंकि आपका आत्मा एक परिपूर्ण अखण्ड द्रव्य है, और आपके आत्माकी जो हरकत होगी, जो क्रिया होगी, जो वृत्ति होगी वह आपके असंख्यात प्रदेशोंमें होगी। आपके बाहर आपकी वृत्ति नहीं जा सकती। तब आपके रागद्वेष आपके प्रदेशोंके बाहर नहीं जा सकते। अर्थपुत्र आपसे इतना दूर है कि आप उससे प्रेम कर ही नहीं सकते तब आप किससे प्रेम करते हैं? ज्ञानपुत्रसे। जो पुत्रविषयक विकल्प है उससे आप प्रेम करते हैं।

भक्तिका आश्रयभूत ज्ञानभगवान—भैया! अब आप समझ लो कि भगवान भी तीन रूपोंमें है। शब्दभगवान, अर्थभगवान और ज्ञानभगवान। भ, ग, वा, न इन शब्दोंसे तो कोई प्रेम नहीं करता है याने शब्दभगवानसे कोई प्रेम नहीं करता; अर्थभगवान को,

वह सिद्ध क्षेत्रमें विराजमान है, वहाँ पर जानेकी यहाँ किसीमें ताकत ही नहीं है। क्योंकि तुम्हारी जो वृत्ति है वह तुम्हारे प्रदेशमें ही होगी। तुम्हारे प्रदेशसे बाहर तुम रागद्वेष नहीं कर सकते। भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवको विषय बनाकर, ज्ञेय बनाकर अपनेमें ज्ञानज्योति विकसित करके उसकी पूजा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम इस निर्दोष आत्माको पवित्र बना सकें तो भगवानसे भेंट हो सकती है अन्यथा भगवानसे भेंट नहीं हो सकती है।

सम्यग्ज्ञान व अहिंसाका अभिनन्दन——भगवानसे भेंट होना अर्थात् ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके गुणोंमें उपयोग जाना, निज विशुद्ध परमात्मतत्त्वकी उपासना करना, इन्द्रिय-संयम व प्राणसंयम सहित पवित्र चर्या करना, न्यायपूर्वक अपना व्यवहार करना, किसी भी प्राणीको न सताना, स्वयं किसी विषयमें अन्धा न होना, पञ्च पापोंसे दूर रहना आदि सब अहिंसाके साधन व अहिंसाके रूप हैं। इस अहिंसामय प्रवर्तनका मूल पोषक वस्तुस्वरूपका यथार्थ अवगमरूप सम्यग्ज्ञान है। सो भैया! सम्यग्ज्ञान व अहिंसाके प्रयोगसे अहिंसामय निज ज्ञानस्वरूप परमब्रह्मकी उपासना करके अहिंसाके फलभूत स्वाधीन शाश्वत आनन्दको प्राप्त होओ।

ज्ञानीके उपयोगरूपी रंग मंचपरसे ये कर्म आस्रवका भेप छोड़ निकलकर भाग गये तब अब सम्वरके रूपमें उसका यहाँ प्रवेश होता है। संवरका मूल बीज यह ज्ञान अब बड़े वेगसे प्रकट हो रहा है।

ज्ञानका अभ्युदय——आस्रवका विरोधी सम्वर तत्त्व है। आस्रवका और सम्वरका अनादिकालसे विरोध चला आ रहा है। यह आस्रव अनादिकालसे ही अपने विरोधी संवर पर विजय प्राप्त करके मदोन्मत्त हो रहा है, किन्तु अब ज्ञानने उस आस्रवका भी तिरस्कार किया और एक अद्भुत विजय प्राप्त की। सो यह ज्ञान संवरका सम्पादन करता हुआ, अपनेको अपने ही स्वरूपमें नियमित करता हुआ अब यह ज्ञान जहाँ कि चेतन ज्योति स्फुटायमान हो रही है, जहाँ केवल चित् प्रकाश ही अनुभूत हो रहा है ऐसे उज्ज्वल अपने रसके प्राभारको बढ़ा रहा है अर्थात् यह ज्ञान, ज्ञानकी वृत्तिको शुद्ध वृत्तिसे बढ़ा रहा है। जैसे लोकमें कहते हैं कि धनसे धन बढ़ता है। धन हो तो उससे धन बढ़नेका मौका मिलता है। यहाँ परमार्थसे देखो, ज्ञानसे ज्ञान मिलता है, बढ़ता है। ज्ञान हो तो उस ज्ञानकी वृद्धि बढ़ती चली जाती है। यह ज्ञान संवरको सम्पादित करता हुआ अपने ही रसके प्राभारको, बहावको, भण्डारको बढ़ाता है।

संवरके उपायका अभिनन्दन——इस प्रसंगमें सर्वप्रथम ही समस्त कर्मोंके सम्वरण करनेका जो परम उपाय है, भेदविज्ञान है उसका अभिनन्दन करते हैं। अभिनन्दन करनेमें कितनी स्थितियां आती हैं? गुणगान करना, और गुणगान करनेके साथ-साथ गुणगान

करने वालेका अपने आपमें उछल-उछलकर प्रसन्न होना। और केवल दो ही बातें नहीं हैं कि गुणगान किया जा रहा हो और गुणगान करने वाला अपने अंतरमें उछल रहा हो, प्रसन्न हो रहा हो, केवल ये दो ही बातें नहीं है, किन्तु तीसरी वात उसके साथ यह लगी रहती है कि उस गुणकी वृद्धिके लिए वर्द्धनशील प्रगतिशील बना रहना। अभिनन्दनमें तीन स्थितियाँ होती है--दूसरेका गुणगान करना, अपने आपमें आनन्दमग्न होना और उस गुण की वृद्धिके लिए प्रगतिशील होना। इन तीनों बातों सहित जो वर्णन किया जाता है उसे अभिनन्दन करना कहते हैं। यहाँ ज्ञानी पुरुष इस भेदविज्ञानका अभिनन्दन कर रहा है।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव य उवओगो णत्थि कोहम्मि ॥१८१॥

संवर तत्त्वकी शाश्वत उपयोगिता—यह सम्वर तत्त्वका प्रकरण है। सर्व तत्त्वोंमें श्रेष्ठ मूल और श्रेय इस सम्वर तत्त्वका है। कल्याण होनेका प्रारम्भ सम्वरसे है। कल्याण हो चुकनेपर भी सम्वर बना रहता है। निर्जरा तत्त्व पहिले रहता है, पर कल्याण होनेपर निर्जरा तत्त्व नहीं रहता है। कर्मोंके छोड़नेका नाम निर्जरा है। जब कर्म छोड़े जा चुकते हैं तो फिर निर्जरा किसकी करें, और नवीन कर्म न आ सकें, ऐसे अपने शुद्ध परिणामोंके होने का नाम सम्वर है। यह हुआ भावसम्वर, और नवीन कर्म न आ सकें ऐसी स्थितिका नाम है द्रव्यसम्वर। सो मोक्ष हो जानेपर भी ये दोनों प्रकारके सम्वर तत्त्व बने रहते हैं। इस सम्वरतत्त्वकी महिमा कैसे गाई जा सकती है? सबसे उत्कृष्ट महिमागान तो यही है कि उस सम्वरतत्त्वमें घुलमिल जाएँ, सम्वररूप स्वयं बन जायें।

संवरतत्त्वका मूल साधन भेदविज्ञान--इस सम्वरतत्त्वका मूल साधन है भेदविज्ञान। लोकमें कोई भ्रमसे दूसरेको अपना मान ले। तो उस दूसरेके पालनके लिए, उसके प्रसन्न करनेके लिए कितनी आकुलताएँ मचाता रहेगा? ये आकुलताएँ छूटें, इसका उपाय है भेदविज्ञान। ये संसारके समस्त संकट छूटें, इसका उपाय है भेदविज्ञान। कैसे भेदविज्ञान करें? मकान जुदा है, मैं जुदा हूँ। यहां भेदविज्ञानके लिए श्रम करना है क्या? नहीं। यह शरीर जुदा है, यह मैं आत्मा जुदा हूं, ऐसा ज्ञान करनेके लिए तुम्हें भारी शक्ति लगानी है क्या? ये तो प्रकट समझमें आ रहे है। मकान जुदी जगह खड़ा है, तुम जुदे क्षेत्रमें बैठे हो, शरीर जुदा स्वरूपमें पड़ा है, आप जुदे स्वरूपमें बैठे हैं। इसके लिए भेदविज्ञानका श्रम नहीं करना है। द्रव्यकर्म जुदा है और मेरा आत्मस्वरूप जुदा है। क्या इस बातके जाननेमें तुम्हें अपनी सारी शक्ति लगाना है? नहीं। अरे वे तो अत्यन्त भिन्न पदार्थ है। भेदविज्ञानके सकलसेही सही, यदि परवस्तुवोंके भेदमें ही सारी शक्ति लगा दिया तो उसको आगे बढ़नेका मौका ही न रहा।

परमें भेदज्ञानकी अपेक्षा निजमें भेदज्ञानकी श्रेयस्करता— सर्व परपदार्थोंमें घनिष्ठता कर्मोंसे है। यद्यपि ये द्रव्यकर्म आगमगम्य हैं तो भी जैसे वर्तमान दुनियाके नक्शोंको लिख-कर, पढ़कर, सुनकर स्पष्ट बोध रहता है, अमेरिका वहाँ है, रूस यहाँ है, इसी प्रकार आगम ज्ञानके माध्यमसे भी सुनकर, जानकर हमें स्पष्ट बोध है, सूक्ष्म कार्माणवर्गणावोंके रूपमें अनन्त कर्मस्कंध इस जीवके एक क्षेत्रावगाहमें हैं और आगमगम्यता होना इतनी ही बात नहीं है किन्तु युक्ति भी बतलाती है कि यदि किसी विजातीय परद्रव्यका सम्बंध न होता तो इस चैतन्यकी आज स्थिति चिंतनीय न होती। यह जो विचित्र नाना प्रकारका परिणमन पाया जाता है इसका अनुमापक यह द्रव्यकर्मका सम्बंध है। इन द्रव्यकर्मोंसे मैं न्यारा हूं ऐसी स्थितिके अवसरमें ठौर रहनेका, मग्न होनेका ठिकाना फिट नहीं बैठ पाता, पर इन सब परसे भी, परद्रव्योंसे भी आगे हटकर अपने आपके ही घरका भेदविज्ञान करनेके लिए चलना चाहिए।

निजमें भेदविज्ञान और इस पद्धतिके लिये एक दृष्टान्त—यह मैं अमूर्त चैतन्य तत्त्व जिस किसी प्रकार भी वर्तमानमें हूँ उसमें यह देखना है कि परमार्थभूत मैं क्या हूँ। और उपाधिरूप दंडरूप मुझमें क्या बात बस रही है? इन दोनों भावोंमें भेदविज्ञान करना सो भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा है। उपयोगमें उपयोग है, क्रोधादिकमें उपयोग नहीं है। यों देखा जा रहा है निज आत्मतत्त्वमें। जैसे पानीका लक्षण क्या है? पानीका लक्षण है द्रवत्व, बहना। द्रवत्वका स्वभाव रहना पानीका लक्षण है। गर्म हो जाय तो बहावको नहीं छोड़ता और ठंडा हो जाय तो भी बहावको नहीं छोड़ता। पानीका ठंडा होना भी स्वभाव नहीं है क्योंकि तेज ठंडी बर्फके सम्बंधसे वह पानी अधिक ठंडा हो जाता है। पानीका स्वभाव द्रवत्व है किन्तु जो पानी अग्निका सम्बंध पाकर गर्म हो गया है उस पानीका भेदविज्ञान तो करिये, किस तरह करोगे? गर्मीमें द्रवत्व नहीं, द्रवत्वमें गर्मी नहीं। यही भेदविज्ञान हो गया। पानी द्रवत्व स्वभावको लिए हुए है। और यह बहना कहीं गर्म होता है या कहीं ठंडा होता है? नहीं। बहनेका बहना ही है, ठंड और गर्मी नहीं है। इसी प्रकार इस आत्माको निरखिये—आत्माका लक्षण उपयोग है, जानना देखना है। इस जाननदेखनमें जानन देख नही है। क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है।

स्वभावविभावके भेदविज्ञानके लिये अन्य दृष्टान्त—प्रकृतमें एक मोटा दृष्टान्त लें। आपकी छाया जमीनपर पड़ रही हो तो वह जमीन छायारूप हो गई है। वहाँ जमीनका स्व-रूप क्या है? क्या छाया है? नहीं। जीवका स्वरूप दृष्टान्तमें कह रहे हैं। जो रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड है ऐसा मूलतत्त्व उस पृथ्वीका लक्षण है। अब देखो इस मूलतत्त्वमें छाया नहीं, छायामें मूलतत्त्व नहीं। सफेदीमें छाया नहीं, छायामें सफेदी नहीं। बल्कि सफेद फर्श

है और आपकी छाया पड़ जानेसे वह सफेदी तिरोहित हो गई है। सफेदी नहीं नजर आती है, कालापन नजर आता है। छाया हो जाने मे कुछ अंधेरा आ जाता है। और अंधकार है कालेरूपमें तो फर्शपर कालापन आकर भी फर्शका लक्षण काला है या सफेद ? सफेद फर्शकी सफेदीमें छाया नहीं है, छायामें सफेदी नहीं है। यह स्वरूप और विभावका भेदविज्ञान किया जा रहा है।

उपयोग व क्रोधमें परस्पर अभाव—उपयोगमें उपयोग है, क्रोधमें कोई भी उपयोग नहीं है। क्रोधमें तो क्रोध ही है, उपयोगमें कोई क्रोध नहीं है। यहां एक उपयोग आधार बताया और उस ही उपयोगको आधेय बताया, ऐसी स्थितिमें ज्ञान दर्शन उपयोग होनेसे, लक्षण होनेसे अभेदको ही, आत्माका उपयोग कह दिया। उस शुद्ध आत्मतत्त्वमें उपयोग ही ठहरता है, ज्ञानमें ज्ञान ही है, यों कहिए या यों कहिए, ज्ञानीमें ज्ञान ही है। ज्ञानीमें ज्ञानी है यों कहिए, ज्ञानी तो ज्ञानी ही है यों कहिए। स्वभावके स्पर्श करनेकी ये भेदाभेदकी ओर ले जाने वाली चार श्रेणियां हैं। उपयोगमें उपयोग ही है। क्रोधादिकमें कोई भी उपयोग नहीं है। एकका दूसरा कुछ नहीं लगता। फर्शपर छाया पड़ रही है तो सफेदीमें छाया नहीं है और छायामें सफेदी नहीं है। हो रही बात एक ही जगह दोनों, पर बिल्कुल स्पष्ट समझमें आ रहा है कि सफेदीमें छायाका कुछ नहीं लगता और छायामें सफेदीका कुछ नहीं लगता। जलमें द्रवत्व और उष्णता दोनों एक साथ हैं पर द्रवत्वमें उष्णताका कुछ नहीं लगता और उष्णताका द्रवत्वमें कुछ नहीं लगता क्योंकि इन दोनोंका भिन्न स्वरूप है।

उपयोग और कषायकी भिन्नता बतानेके लिये व्यक्तिरूपमें प्रयोग—भैया ! परसानीफिकेसन एक अलंकार होता है जहाँ किसी भी भावको किसी पुरुषका रूपक दे दिया जाता, जैसे यह कहा जाय कि बुढ़ापा दुनियासे यह कह रही है कि मैं अपनी पहिली जवानीको ढूँढ़ रहा हूं। यह है परसानीफिकेसन। बुढ़ापा कोई आदमी है क्या ? नहीं। पर ऐसा बोला जाता है कि नहीं ? बोला जाता है। कोई बूढ़ा आदमी कमर झुकाए मानों जमीनको निरखता हुआ नीचे झुककर जा रहा है तो कवि कहता है कि यह बूढ़ा कर क्या रहा है ? यह अपनी जवानी को ढूँढ़ता जा रहा है कि मेरी जवानी गिर कहाँ गई ? लो अब वह बुढ़ापा अपनी जवानी को ढूँढ़ रहा है। यही है परसोनीफिकेसन अलंकार। इसी प्रकार यहाँ उपयोगको और क्रोधादिक भावको इसी अलंकारमें देखिए तो ये दोनों व्यक्ति बन गए। जब यह आत्मा व्यक्ति बन गया तो यह प्रदेशी हो गया, अपनी जगह बनाने वाला हो गया। यह सब भावोंके आशयमें चल रहा है। उस समय यह कहा जायगा कि इस उपयोगके प्रदेश जुदे हैं और क्रोधके प्रदेश जुदे हैं।

यहाँ पर आत्माके प्रदेशोंसे मतलब नहीं है, कर्मोंके प्रदेशोंसे मतलब नहीं है किन्तु

आत्मीय और औपाधिक इन दोनों भावोंको व्यक्तिरूपसे उपस्थित किया है जिन भावोंसे इन्हें व्यक्तिका रूप दिया है कि वे ही भाव यहाँ प्रदेशीकी शकलमें निरखे जा रहे हैं। उपयोगके प्रदेश न्यारे हैं, क्रोधके प्रदेश न्यारे हैं। ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? दो मित्रोंमें थोड़ी गुन्जाइश तो निकले अलग-अलग होनेकी, बेमेल बननेकी, दिल हटनेकी, फिर वह हटाव बढ़ते-बढ़ते इतना बड़ा हो जाता है कि पूर्णरूपसे हटाव हो जाता है। यहाँ एक आत्मामें अभिन्न प्रदेशोंमें बर्त रहे साधु और दुष्ट, स्वभाव और विभाव, सहज और असहज इन भावों से थोड़ा दिल तो फटे, थोड़ी गुन्जाइश तो मिले, थोड़ी गुन्जाइशके बाद इतना बड़ा भेद सामने आयगा कि लो अब व्यक्तिरूप देकर उपयोगके प्रदेश जुदा कह रहे हैं और क्रोधके प्रदेश जुदा कह रहे हैं।

अन्तर्भेदज्ञानके सम्यक्त्वकी साधकता——जब उपयोगमें और क्रोधादिकमें भिन्न प्रदेशत्व है तो इनका सत्त्व एक नहीं हो सकता, ये दोनों एक नहीं हो सकते। यह सब उस भेदविज्ञानकी बात चल रही है जो भेदविज्ञान अनुभवमें आ जाय तो नियमसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व उत्पन्न होना चाहिए फिर संसारमें कोई शंका नहीं रहती। फिर इस जीवका भविष्य ज्ञानप्रकाशमें ही रहता है।

उपयोग और कषायका भिन्नप्रदेशित्व——अब तीसरी बात निरखिये। उपयोग और क्रोध जुदे-जुदे हैं इस बातको समझनेके लिए उपयोग आत्मामें से बलको ग्रहण करके प्रकट होता है और क्रोधादिक पर-उपाधिके सन्निधिसे बलको प्रकट करते हुए उत्पन्न होते हैं। इस कारण उपयोगका रक्षक है आत्मा और कषायोंका रक्षक है द्रव्यकर्म। ये सब दृष्टियां है और उसका जिस दृष्टिसे वर्णन हो उस दृष्टिसे देखना चाहिए। नहीं तो पहिचानते तो सब है, कोई किसी दृष्टिकी बातको अन्य दृष्टिकी बातमें घुसेड़ देता है तब तो वहां विवाद ही रहेगा। रास्ता नहीं कट सकता। ये दो मालिक बराबरके बिगड़े है आत्मा और द्रव्यकर्म। और दो भाव भी बराबरके बिगड़े हुए हैं उपयोग और कषाय। कभी कुछ ऐसी परिस्थिति हो जाय कि इन दोनोंमें मनमुटाव हो ले तो उपयोग आत्माकी गोदमें बैठेगा और कषाय कर्मोका मुँह ताकेगा। तब जो जिसके बलपर डटा है उसको उसके निकट ले जाइए, उपयोगको आत्मामें सम्मिलित कर दीजिए और कषायको कर्मोमें सम्मिलित कर दीजिए। अब यों उपयोग है जुदा प्रदेशवान, भिन्नप्रदेशी और कषाय है भिन्नप्रदेशी। जब उपयोगका क्रोधादिक कुछ नहीं है, दोनोंका भिन्न स्वरूप है, भिन्न व्यक्तित्व है, परस्परमें भिन्न प्रदेशियों अभाव है, तब उपयोगमें क्रोधादिक कैसे ठहरते बताया जाय?

उपयोग और कषायमें आधार-आधेय भावका अभाव——उपयोगके साथ क्रोधादिक का आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। यह सर्वोत्कृष्ट भेदविज्ञानकी बात चल रही है।

पानीका स्वभाव है बहना और पानीमें औपाधिक भाव आया है गर्मीसे, किन्तु गर्मीके आधार पर बहना ठहरता है या पानीके आधार पर गर्मी रहती है ? कुछ निर्णय क्या दिया जा सकता है ? नहीं दिया जा सकता है। बहनेके आधारमें गर्मी नहीं है, गर्मीके आधारमें बहना नहीं है। दोनों बातें बहुत घुलमिलकर हैं, फिर भी कितनी अत्यन्त जुदा मालूम हो रही हैं ? इतने ऊँचे चट्टानपर बैठकर देखा जा रहा है। बस यहाँ ऊँचे बैठे हुए सब मामलोंको निरखते जाइए। उपयोगमें और कषायमें आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। जो अपना हो उसे अपनावो। जो अपना नहीं है उससे मुख मोड़ लो। बस यही तो काम शान्तिके लिए किया जाता है। उपयोग अपना है, कषाय अपने नहीं हैं।

अपनेको अपनाना—जो अपना है उसे जब चाहे अपना बना लो रुकावट न आयगी। जो अपना नहीं है अनेक प्रयत्न करनेपर भी उसे अपना नहीं बनाया जा सकता है। उपयोग निज सहज स्वभाव है और कषाय औपाधिक भाव है, तो चूंकि भिन्न प्रदेशपना है, भिन्न स्वरूप है, भिन्न व्यक्तित्व है इसलिए एककी सत्ता दूसरेमें नहीं जा सकती। और इसी कारण आधार-आधेय सम्बंध भी नहीं है। अब यह दर्शक इस प्रकारके भेदविज्ञानका प्रयोग करता है।

परमार्थतः स्व-भावका स्व-भावमें आधार-आधेय भाव—उपयोग और कषायका परस्पर में आधार आधेय सम्बंध भी नहीं है——यह बात सुनकर जिज्ञासु यहाँ यह प्रश्न करता है कि फिर इनका आधार-आधेय सम्बंध किसके साथ है ? अर्थात् उपयोगका आधार कौन है और कषायका आधार कौन है ? उत्तर बताया है कि उपयोगका आधार उपयोग है और कषायका आधार कषाय है। अपने-अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित रहनेका नाम आधार-आधेय सम्बंध है। जिस स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह है आधार और जो प्रतिष्ठित है वह है आधेय। यह ज्ञानकषायमें प्रतिष्ठित नहीं है और कषाय ज्ञानपें प्रतिष्ठित नहीं है। क्रोधादिक अपने क्रोध होने रूप स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित हैं और ज्ञान जाननस्वरूपमें प्रतिष्ठित है। जाननपन ज्ञानसे भिन्न चीज नहीं है। वह ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादिक या गुस्सा करना आदिक भाव क्रोध से भिन्न चीज नहीं है, इसलिए क्रोधादिकका आधार क्रोधादिक है और जाननका आधार जाननस्वरूप है।

ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि—यहाँ कुछ ऋजुसूत्रनयके उपदेशका वातावरण समझाया है। ऋजुसूत्रनय द्रव्यभेद, क्षेत्रभेद, कालभेद व भावभेदसे भिन्न अखण्ड अंशको ग्रहण करता है अथवा किसी भी प्रकरणके सूक्ष्म भिन्न अंशको प्रकट करता है। इस आत्मामें दो प्रकारके भाव हो रहे हैं, एक ज्ञानभाव और एक कषायभाव। दोनों भावोंका स्वरूप जुदा-जुदा है। इस कारण ज्ञानका कषायसे मेल नहीं है। कषायका ज्ञानसे मेल नहीं है। कषाय और ज्ञान इनका अधिकरण एक नहीं बताया जा सकता है। वही तो हो ज्ञानका आधार और वही

हो कषायका आधार तो इसमें समानाधिकरण होनेसे अटपट व्यवस्था चलेगी और कदाचित् ज्ञानके बजाय कषाय होने लगे, कदाचित् कषायके बजाय ज्ञान होने लगे ऐसा उनमें विपरीत क्रम बन जायगा। अतः ज्ञानभाव और कषायभावका आधार किसी एकको नहीं कहा जा सकता। ऋजु सूत्रनयकी दृष्टिमें अभिन्न अंश ही दृष्ट होता है जिसका पुनः भेद नहीं किया जा सकता। इसकी दृष्टिसे पर्यायमें पर्याय है। पर्याय किस द्रव्यसे प्रकट होता है, ऐसा यहाँ नहीं देखना।

ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें अद्वैत—ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे तो इतना भी नहीं कहा जा सकता कि कौवा काला होता है। यदि कौवा काला हुआ करे तो जितना कौवा है वह सब काला होना चाहिए। किन्तु उसके भीतर खून लाल है, मांस लाल सफेद है, हड्डी सफेद है, वहाँ तो भिन्न-भिन्न रंग पाये जाते हैं। इसलिए कौवा काला नहीं होता। अथवा जो जो काले हों वे सब कौवा कहाने लगें। फिर तो बड़ी विडम्बना हो जायगी। इस कारण कौवा काला है यह कहना अशुद्ध है। यह ऋजूसूत्रनयकी दृष्टि कही जा रही है।

ऋजुसूत्रनयसे सूक्ष्म विश्लेषण—इस दृष्टिमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि रुई जल रही है। जलती हुई रुईको रुई जल रही है ऐसा नहीं बताया जा सकता है, क्योंकि जब जल नहीं रही है तब तो उसका नाम रुई है। और जब जल रही है तब रुई कहाँ रही? अग्नि रुईको जलाती है—यह बात तो और अटपट है। इस नयकी दृष्टिमें कोई लोक व्यवहारकी व्यवस्था नहीं बनती, किन्तु विषय बताया गया है। इसी दृष्टिमें प्रकृत बात देखिये—आत्मामें २ प्रकारके भाव हैं: (१) ज्ञानभाव और (२) कषायभाव। ज्ञानका आधार ज्ञान है और कषायका आधार कषाय है। ज्ञान आत्मा नहीं है, ज्ञान कषाय नहीं है, कषाय आत्मामें नहीं है, कषाय ज्ञानमें नहीं है। यदि ज्ञान आत्मा होता तो जानन आत्मा केवल ज्ञान गुणमात्र रह जायगा। फिर उसमें दर्शन श्रद्धा आदि ये सब कुछ नहीं कहे जा सकते। ज्ञान कषायमें तो है ही नहीं। यदि कषाय आत्मामें होता, आत्माका होता तो आत्मा कषाय मात्र रह जायगा। उसमें फिर न गुण होंगे, न स्वभाव होगा। इस कारण ज्ञानका आधार ज्ञान ही है और कषायका आधार कषाय ही है।

ज्ञान व पर ज्ञेयको ज्ञानसे चबाकर मोहीके व्यवहारकी वृत्ति—भैया! अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित हुआ करता है प्रत्येक भाव, इस कारण उपयोगमें ही उपयोग है, कषायमें ही कषाय है। उपयोगमें कषाय नहीं, कषायमें उपयोग नहीं। यह तो अज्ञानियोंका काम है कि उपयोग और कषायको मिलाकर चबाकर अनुभव किया करें। जैसे हाथीके सामने हलुवा भी रख दिया, घास भी रख दिया तो वह मूढ़ हाथी यह नहीं कर पाता कि केवल हलुवाको खाये। वह तो हलुवा घासमें लपेटकर ही खाता है। वह केवल मिठाईका स्वाद

नहीं ले सकता। ऐसे ही संसारके मोही जन केवलज्ञानका ही स्वाद नहीं ले सकते। वे ज्ञान और कषाय दोनोंको मिलाकर अपने अनुभवमें लिया करते है। जैसे कि इन बाहरी पदार्थो को हम जानते हैं तो खाली जानने तक नहीं रह पाते, किन्तु इस ज्ञेय पदार्थको और ज्ञानको मिला जुलाकर अनुभव किया करते है।

ज्ञानज्ञेयको मिश्रित कर अनुभवनेका एक दृष्टान्त—भोजन किया तो उस समय स्वादमें बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। हमने अमुक फलका स्वाद चख लिया, रस ले लिया। क्या किसी आत्मामें ऐसी सामर्थ्य है कि किसी फलका रस ग्रहण करे? फलका रस फलमें ही रहता है, आत्मामें नहीं पहुंचता है। आत्मा फलोंके रसको ग्रहण नहीं कर सकता। और रस ग्रहण करनेकी बात तो दूर रहो, परमार्थतः फलके रसको वह आत्मा जान भी नहीं सकता, किन्तु फलके रसका विषय बनाकर आत्माने जो अपने आपमें विकल्प किया, अर्थ ग्रहण किया, ज्ञेयाकार परिणमन किया उसको जानता है। जब आत्माका पुद्गलके साथ जानने तकका भी सम्बंध नहीं है तो ग्रहण करने और भोगनेकी तो कथा ही क्या कही जाय? ऐसा अत्यन्त पार्थक्य है इस ज्ञातामें और ज्ञेयमें, किन्तु इस पार्थक्य को अपने उपयोगसे हटाकर ज्ञेयको ज्ञानको मिलाजुलाकर एकमेक करके यह मोही जीव अनुभव किया करता है।

ज्ञान और कषायको एक रसरूप करके अनुभवनेकी अज्ञानीकी प्रकृति—यह अज्ञानी जीव ज्ञानको और कषायको मिलाजुलाकर एक रस मानकर अनुभव किया करता है। कषायको जाननेकी सामर्थ्य कषायमें नहीं है। कषाय, कषायको समझ नहीं सकता। यह समझने वाला तो ज्ञान है और समझमें आ रहा कषाय सो कषाय तो ज्ञेय है और ज्ञाता ज्ञान है। मूढ़ जीव ज्ञान करे केवल ज्ञानरूपमें ग्रहण नहीं करता? कषाय और ज्ञान इन दोनोंको मिलाजुलाकर ग्रहण किया करता है, मिलता तो कुछ नहीं है, किन्तु कल्पना की बात बनती। जैसे गाय भैंसोंको सानी बनाया करते हैं ग्वाला लोग। भुसमें आटा पानीको मिलाकर तिड़ीबिड़ी कर दिया, अब उस सानीको पशु खाते हैं। तो जैसे मिलाजुलाकर सानी बनाकर पशुवोंको खिलाया जाता है इसी प्रकार मिलाजुलाकर ज्ञान-ज्ञेयकी सानी बनाकर ये संसारी मोही जीव भोगा करते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टि—वस्तुतः ज्ञानमें ज्ञेय नहीं है, ज्ञेयमें ज्ञान नहीं है। ऐसा अलौकिक भेदविज्ञान जिन धर्मात्मा जनोंके ज्ञानमें उतर गया है वे निकट भव्य है। अल्पकालमें ही मुक्तिको प्राप्त होंगे। शेप जीव तो विकल्पोंमें ही अपनी शान्ति मानते हैं और अपनी बुद्धिमानी समझते हैं। उनकी दृष्टिमें सारी दुनियामें केवल डेढ़ अक्ल है। एक अक्ल तो वे अपनेमें मानते हैं और आधी अक्ल सारी दुनियाके जीवोंमें मानते हैं। किसी दूसरेकी कुछ भी सामर्थ्य अपने विश्वासमें नहीं रखता।

यों इस सम्वरके प्रकरणमें प्रथम गाथामें ही वह सब सार बता दिया गया है जो सम्वर तत्त्वका एक मर्म है। अब जिस प्रकार उपयोगमें कषाय नहीं है, कषायमें उपयोग नहीं है, यह मूलके भेदकी बात कही गई है, इसी प्रकार परपदार्थोंकी बात यहाँ कही जा है कि कर्मोंमें और नोकर्मोंमें उपयोग नहीं है और उपयोगमें कर्म नोकर्म नहीं हैं।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥

नाना पदार्थविषयक भेदविज्ञान—८ प्रकारके कर्मोंमें और ५ प्रकारके नोकर्मोंमें उपयोग नहीं है, यह स्थूल भेदविज्ञान है। पहिले एक वस्तुविषयक भेदविज्ञान था। अब यहाँ नाना पदार्थविषयक भेदविज्ञान है।

कर्मका घर—ये कर्म अनन्त कर्म परमाणुवोंके पुञ्ज हैं। लोकमें सर्वत्र ठसाठस अनन्त कार्माण वर्गणाएँ भरी हैं। और प्रत्येक संसारी जीवके साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें जो कर्मरूप नहीं भी है, प्रकृत्या इस आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाहमें हैं और किसी विलक्षण न होने लायक वह होने वाली बात है कि जो कर्मरूप नहीं भी है तो भी आत्माके साथ ऐसे चिपटे हुए हैं कि मानो इस इन्तजारमें कि जरा करे तो यह विभाव जीव कि हमारी बन आयगी, तत्काल कर्मरूप बन जायेंगे। यों अनन्त कार्माणस्कंध विस्रसोपचयके रूपमें जीवके साथ चिपटे हैं। यह जीव एक भव छोड़कर दूसरे भवको जाये तो वहाँ भी इसी प्रकार साथ जाते हैं जैसे कर्मोंके साथ परिणमे हुए कार्माण स्कंध साथ जाते हैं। ये सारे शत्रुरूप हैं निमित्तदृष्टिसे। कोई शत्रु सामनेरूपमें आ गया, कोई शत्रु शीत युद्धके सकलमें बैठा है अर्थात् सामने लड़ाईमें तो नहीं है मगर विश्वास उसका नहीं है। जिस चाहे समय शत्रुके रूपमें सामने खड़ा हो जायगा उम्मीदवार।

कर्म और आत्माका परस्पर अत्यन्ताभाव व निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—यों भिन्न पुद्गल द्रव्य हैं ये कर्म। इस आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका कोई प्रवेश नहीं है कर्मों में, इसी प्रकार कर्मोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका कोई प्रवेश नहीं है आत्मामें। सब अपने-अपने स्वरूपमें रह रहे हैं। किन्तु बिगड़ा हुआ होनेके कारण दोनोंका परस्परमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है। और कैसा अनिवार्य निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि जीव विभाव परिणमन करे तो ये कर्मप्रदेश अमुक-अमुक स्थिति अनुभागरूप कर्म प्रकृति बन जायेंगे। और क्षयोपशम आदिका निमित्त पाकर आत्मामें विशुद्ध परिणाम जागृत हो तो जैसे ये कार्माण वर्गणायें ऊँची स्थितिसे हटकर नीची स्थितिमें मिल जाय, विशिष्ट अनुभागसे हटकर साधारण अनुभागमें हो जाय और स्थितिका बहुत पहिले क्षयका परिणमन हो जाय, ये सब बातें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें स्वयमेव सर्वत्र अपने-अपनेमें होती रहती हैं।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे विभाव व्यवस्था—करनेमें उत्तम व्यवस्था नहीं होती, होनेमें उत्तम व्यवस्था बनती है। किया जानेमें सैकड़ों चूकें हो सकती हैं और यथा योग्य निमित्त सन्निधान होनेपर स्वयमेव ही दूसरेमें कुछ परिणमन होकर रहनेमें कभी चूक नहीं हो सकती। यदि घड़ी की सुईको घुमानेके लिए एक आदमी नियुक्त कर दिया जाय तो वह कितनी भूल करेगा, पर चाभी देते ही निमित्तकी सन्निधिसे वह योग्य घड़ी ७ दिन तक कभी चूक नहीं कर पाती क्योंकि वहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पूर्वक हो रहा है, इस समस्त लोक में यदि बनाने वाला कोई एक होता तो नाना अव्यवस्थाएँ प्रत्येक समय खड़ी रहा करतीं। किन्तु यह किया कुछ नहीं जाता। जो कुछ होता है वह योग्य उपादानमें अनुकूल निमित्तकी सन्निधिमें स्वयं होता है, निमित्त पाकर उपादानमें विभावपरिणमन स्वयं की वृत्तिसे होता है। करने वाला किसी अन्यद्रव्यका कोई अन्य द्रव्य नहीं है। यह कर्मोंके और आत्माके भेदकी बात कही जा रही है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी निमित्त व उपादानका परस्परमें अत्यन्ताभाव—यद्यपि कर्मोंका और विभावोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध घनिष्ठ है, इतनेपर भी स्वरूप पर दृष्टि करो तो जीवमें कर्म नहीं है और कर्मोंमें जीव नहीं हैं। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश गायका गला गिरवासे बंधा हुआ है, पर स्वरूपदृष्टिसे देखो तो गिरवामें गलेका अंश भी नहीं है और गिरवेका गलेमें अंश भी नहीं है। गिरवा गलेके ऊपर लोट रहा है और गला अपने गलेमें ही प्रतिष्ठित है, फिर भी वहाँ ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका वातावरण है कि वह गाय स्वतंत्र होकर कहीं हट कर जा नहीं सकती। इसी प्रकार जीव और कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध देखें तो यह जीव कर्मोंसे बंधा हुआ है। यह मनमानी नहीं कर सकता। कर्मबद्ध हुए है और उनके उदयकालमें नाना विभावोंरूप परिणमना पड़ता है किन्तु स्वरूप चतुष्टयको देखो तो आत्मामें कर्मोंका नाम नहीं है व कर्मोंमें आत्माका नाम भी नहीं है।

स्वरूपचतुष्टयकी दृष्टिमें स्वतन्त्रता— स्वरूपचतुष्टयकी दृष्टिसे देखना निश्चयदृष्टि है और दो पदार्थोंके सम्बन्धसे देखना यह व्यवहारदृष्टि है। यद्यपि व्यवहारकी बात असत्य नहीं है किन्तु निश्चयदृष्टिके रंगमंच पर बैठकर देखते हैं तो व्यवहारका विषय दिखा नहीं करता। जैसे कि जब व्यवहारदृष्टिके मंचपर बैठकर निहारा करते हैं तो निश्चयदृष्टिका विषय इसकी दृष्टिमें नहीं आ पाता। यहां निश्चयदृष्टिसे देखा जा रहा है, कर्मोंमें उपयोग नहीं है और उपयोगमें कर्म नहीं हैं।

पञ्च शरीरोंका विवरण—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण नाम के ५ शरीर हैं। इन शरीरोंमें उपयोग नहीं है और उपयोगमें शरीर नहीं है। औदारिक

शरीर तो मनुष्य तिर्यञ्चोंकी देहका नाम है। जो स्थूल हो उसे औदारिक शरीर कहते हैं। जिसका उपघात हो सकता है वह औदारिक शरीर है। मनुष्य और तिर्यञ्चके शरीर औदारिक शरीर कहलाते हैं। देव और नारकियोंके शरीर वैक्रियक शरीर कहलाते हैं। जिसमें छोटा बड़ा होनेकी योग्यता है, एक अथवा नानारूप होनेकी योग्यता है ऐसी प्रक्रिया वाले शरीरको वैक्रियक शरीर कहते हैं और छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके मस्तिष्कसे निकले हुए धवल पवित्र शरीरको आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक और वैक्रियक शरीरके तेज का कारणभूत तैजस शरीरके पिण्डको तैजस शरीर कहते हैं। और कर्मोंके समूहको, विशिष्ट सन्निवेशमें प्राप्त हुए कर्मोंके समुदायको कार्माण शरीर कहते हैं।

आत्मा व नोकर्मोंका परस्पर अत्यन्ताभाव—कार्माण शरीर और कर्मोंमें ऐसा अन्तर है जैसा ईंट और भींतमें अन्तर है। ईंटें सब पड़ी हुई हैं, वे बिखरी हुई हैं वे ईंटें हैं और वे ही ईंटें एक सिलसिलेसे ही चिन दी जाती हैं तो उसका नाम भींत कहलाता है। ये कर्म औदारिक अथवा वैक्रियक शरीरके प्रस्तारके अनुकूल उनमें उनके आकारमें जो बन जाते हैं उनका नाम है कार्माणशरीर। इन ५ प्रकारके शरीरोंमें उपयोग नहीं है और उपयोगमें ५ प्रकारके शरीर नहीं हैं, क्योंकि इनका तो परस्परमें अत्यन्त विपरीत स्वरूप है। उपयोग तो चेतन हैं और कर्म नोकर्म जड़ हैं। इनका तो परस्पर में रंच भी सम्बंध नहीं है।

भिन्न पदार्थोंके मोहमें संक्लेश—जैसे विजातीय पुरुष एक साथ एक कार्यालयमें रह रहे हैं तो वे रहते तो एक जगह है पर उनमें सम्बंध कुछ नहीं है। इसी प्रकार कर्म, नोकर्म और जीव ये एक क्षेत्रमें रह रहे हैं, प्रदेशोंका एक क्षेत्रावगाह हो रहा है, किन्तु स्वरूपका सांकर्य रंच भी नहीं है। इसमें परमार्थसे आधार और आधेयका सम्बंध रंच भी नहीं हो सकता। यों कर्म नोकर्ममें उपयोग नहीं, उपयोगमें कर्म नोकर्म नहीं, फिर भी मोही जीव इस शरीरको देखकर यह माना करता है कि यह मैं हूँ, और इसी कारण जगह-जगह अपना अहंकार किया करता है। यह मैं हूं, यह मेरी बात नहीं मानता है, यह मेरा अपमान करता है, मेरी बात नहीं रही आदिक विकल्प मोही जीवके पर्याय बुद्धिके कारण होते हैं।

देहकी भिन्नताका निर्णय होनेपर अहंकारका अभाव—मैं शरीररूप नहीं हूँ ऐसा निर्णय होनेके पश्चात् फिर आत्मामें अहंकार नहीं हो सकता। मैं जब शरीर भी नहीं हूं तो और फिर क्या हो सकता हूं? मुझे लोग पहिचान भी नहीं सकते हैं। इस मूर्तिक पिण्डको देखा करते हैं तो उसको ही पहिचाना करते हैं। पर इस मुझ आत्मतत्त्वको कोई पहिचानता भी नहीं है। ऐसा गुप्त सुरक्षित ज्ञानज्योतिमात्र मैं आत्मतत्त्व हूं। इस प्रकारसे सम्यग्दृष्टि जीव भेदविज्ञान कर रहा है।

ज्ञानमें और अज्ञानमें आधार-आधेय भावकी असंभवता—ज्ञानमें और कषायमें परमार्थसे आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है तथा ज्ञानमें और कर्म नोकर्ममें भी परस्परमें आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इन सबका स्वरूप परस्परमें एक दूसरेसे विपरीत है। जैसा कि जाननमात्र ज्ञानका स्वरूप है क्या ज्ञानका स्वरूप गुस्सा करना आदिक भी है ? नहीं। और क्रोधादिक कषायका जैसा गुस्सा करना आदिक स्वरूप है, क्या यह स्वरूप ज्ञान का हो सकता है ? नहीं। जाननमें और कषायमें भेद प्रकट है और जब स्वभावभेद है वस्तु-भेद भी है, समझिये। है इस कारण ज्ञानमें और अज्ञानमें आधार-आधेयपना नहीं है। ज्ञान में तो आया केवल यह निजतत्त्व और अज्ञानमें आये पर और परभाव। परद्रव्य तो हुए कर्म और नोकर्म। परभाव हुआ कषायभाव। इनमें और उपयोगमें परस्पर सद्भाव नहीं है।

अब आगे बतलाते हैं कि ऐसा समागम जीवके तब होता है जब वह ज्ञानभावके सिवाय अन्य कुछ परिणति क्रियाएँ नहीं करता।

> एयं तु अविवरीयं णाणं जइया उ होदि जीवस्स।
> तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥

यथार्थज्ञान होनेपर मिथ्या विकल्पोंका अभाव—जीवके ऐसा सत्यार्थ ज्ञान जिस कालमें होता है उस कालमें केवल उपयोगस्वरूप यह शुद्ध आत्मा उपयोगके सिवाय अन्य कुछ भी भावोंको नहीं करता है। यह ज्ञानमात्र आत्मा है। वह ज्ञानके सिवाय और कहाँ रहेगा ? पर पदार्थ खुदके अपने असाधारण स्वरूपमें ही रहते हैं।

आकाशका अन्य द्रव्यके साथ आधार-आधेयपनेका अभाव—जैसे पूछा जाय कि बतलावो आकाश कहाँ रहता है ? चौकी कहाँ रहती है ? बतलावो। आकाश कहाँ रहता है ? उत्तर दो। आकाश अपने प्रदेशोंमें रहता है तो जैसे एक इस आकाशको अपनी बुद्धिमें रखकर जब आधार-आधेय भाव सोचा जाता है तो शेष जो अन्य द्रव्य हैं उनका अधिरोपण तो हो नहीं सकता। क्या ऐसा कहा जा सकेगा कि आकाश जीवमें रहता है, आकाश पुद्-गल आदिक द्रव्योंमें रहता है, ऐसा अधिरोपण नहीं हो सकता है। जैमें कहीं वृक्षोंका अधि-रोपण कर दिया कि यहाँ लगाना है, इसी तरह आकाशको यह नहीं कहा जा सका कि किस जगह लगाना है। बुद्धिमें भिन्न अधिकरण न आ सकेगा।

सभी द्रव्योंका परस्पर आधार-आधेय भावका अभाव—आकाश आधेय हो, अन्य द्रव्य आधार हों, ऐसा नहीं हो सकता। जब भिन्न आधार नहीं बन सकता तो एक आकाश को एक ही प्रदेशमें रहने वाले द्रव्योंमें भी परस्पर आधार और आधेय भाव नहीं झलक सकता। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें नहीं रहता। यद्यपि इस आकाशमें हम जीवादिक बहुतसे द्रव्य रह रहे हैं फिर भी हम आकाशमें नहीं रह रहे हैं। आप हम सब जीव आकाश

में नहीं रहते। कहां रहते हैं ? अपने प्रदेशोंमें रहते हैं। ये आकाशको छोड़कर क्या अन्यत्र रहते हैं ? इससे हमें क्या मतलब ? आकाश पड़ा है दुनियाभरमें पड़ा रहे, पर मैं आकाशमें नहीं रहता। मैं अपने प्रदेशोंमें ही रहता हूं। प्रत्येक पदार्थ अपने ही प्रदेशमें रहते हैं।

ज्ञानका ज्ञानमें ही आधार-आधेय भाव—एक ही ज्ञानको जिस कालमें अपनी बुद्धि में रखकर आधार-आधेय भाव लिया जायगा तो शेष द्रव्यांतरोंका अधिरोप रुक जायगा। इसलिए कुछ बुद्धिमें भिन्न आधार न मिलेगा। ज्ञान किसमें रहता है ? ज्ञान, ज्ञानमें रहता है। ज्ञान आत्मामें रहता है यह भी सिद्ध है पर और सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो ज्ञान, ज्ञानमें रहता है। और इससे भी अधिक सूक्ष्म दृष्टिमें जावो तो यह कहा जायगा कि आपको ऐसा प्रश्न ही न करना चाहिए कि ज्ञान कहां रहता है। ज्ञानमें ज्ञान है। उसमें षट्कारककी बात लगाना भी व्यवहार है। यद्यपि वह परमार्थ निर्देशक व्यवहार है लेकिन व्यवहार ही तो है। इसका कारण यह है कि भिन्न षट्कारकोंके परिचय वाले मनुष्यके समझनेके लिए अभिन्न षट्कारकका उपाय बताया है। तो ज्ञानका कोई भिन्न अध्ययन न मिलेगा। जब कोई भिन्न अध्ययन नहीं मिलता तो एक ही ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपमें प्रतिष्ठित करने वाला ज्ञान है। वहां अन्य आधार और आधेय प्रतिभात नहीं होता।

ज्ञानानुभूति द्वारा आत्मानुभवपूर्वक भेदविज्ञान—भैया ! आत्मा भी नहीं दिखता, अर्थात् अनन्त गुणपर्यायसे पिण्डरूपसे आत्मा नहीं दिखता। वह आत्मा केवल ज्ञानमात्र अनुभव में आता है और अनुभवमें आया हुआ ऐसा ज्ञानमात्र भाव ही आत्मा है। आत्माका अनुभव ज्ञानभावके अनुभवसे होता है। आत्माकी दशाएँ देखनेसे आत्माका अनुभव नहीं होता। किन्तु ज्ञानमात्र ज्योति सामान्य अनुभवमें आनेपर ही आत्माका अनुभव होता है। इसलिए ज्ञानमें ज्ञान है। ज्ञानमें अन्य कुछ नहीं है और ज्ञान अन्य किसीमें नहीं है। क्रोधमें क्रोध ही है, क्रोधमें अन्य कुछ नहीं है, और क्रोध अन्य किसीमें नहीं है। ऐसा भेदविज्ञान इस सम्यग्दृष्टिके प्रतिष्ठित होता है। यह भेदविज्ञान परमार्थ शरण है, रक्षक है। इस भेदविज्ञानके प्रतापसे ही जीव संसारके संकटोंसे मुक्त होता है।

अज्ञानभावकी विदीर्णताके लिये परिणाम—भैया ! धन, समाज समागम, वैभव, राजपाट ये किसी काम न आयेंगे। ये मोहकी नींदमें थोड़े दिनोंका स्वप्न है पर यह आत्मज्ञान यह भेदविज्ञान प्रकट तो हो जाय, एक बार संसारसे दिल फट तो जाय फिर उसका उत्थान उद्धार सुनिश्चित है। हे सत्पुरुषों ! इस भेदविज्ञानको प्राप्त करके रागादिक भावों से रहित एक शुद्ध ज्ञानघनका आश्रय करो, एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें ही रमकर आनन्द पावो। यह भेदविज्ञान किस प्रकारके परिचयसे प्रकट होता है ? चैतन्यस्वरूपका धारण करने वाला तो है ज्ञान और जड़रूपताका धारण करने वाला है रागादि कषाय। जहां कषाय और

चैतन्यस्वरूपमें भेद प्रतिभास नहीं होता उस अज्ञान दशाको निज स्वरूपके अनुभवके बलसे विदीर्ण कर दो।

अज्ञानरूप संधिका विदारण—भैया ! जहाँ ज्ञानानन्द है, वहाँ अज्ञानदशा नहीं ठहरती। जहाँ अज्ञान दशा है वहां ज्ञानकी झलक नहीं होती। ये दोनों विपरीत परिणमन हैं। सो हे सत्पुरुषों ! अपने अन्तरमें बड़ी दारुण परख करो, अपने इस मिले हुए चैतन्यस्वरूप व कषाय भावोंकी संधिका घात कर दो। जैसे जमी हुई दो चीजोंके बीचमें किसी वस्तुको छिन्न भिन्न कर देते हैं अथवा किसी काठपर बड़ी दारुणतासे करौंतीको चलाकर दो टुकड़े कर देते हैं इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप और कषायभाव इन दोनोंका जिस कुबुद्धिमें एकीकरण होता है, इस भावपर भेदविज्ञानकी तीक्ष्ण धारा चलाओ। इससे ज्ञानका और रागका भेदविज्ञान प्रकट हो जायगा। सो इस अज्ञानभावसे उन्मुख होकर अपने आनन्द स्वरूपको प्राप्त करो।

भेदविज्ञानका श्रेय—भैया ! जो पुरुष द्वितीय वस्तुसे अलग हटा होता है वह ही इस आत्मीय आनन्दको प्राप्त करता है। ज्ञान तो चैतन्यस्वरूप है और रागादिक चूँकि पुद्गलके विकार हैं अर्थात् पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे उत्पन्न हुए विकार हैं इसलिए जड़ हैं। ज्ञानी इन पुद्गलोंको जड़रूप मानते हैं। सो जब भेदविज्ञान प्रकट होता है, रागादिक भावोंसे भिन्न अपने भावोंके अभ्याससे प्रकट होता है। तब ऐसा लगता है कि अहो यह तो मैं ज्ञानमात्र ही हूँ। ज्ञानका स्वभाव तो जाननमात्र ही है, पर ज्ञानमें जो रागादिककी आकुलता विकल्पजाल कलुषता प्रतिभात होती हैं वे सब पुद्गलके विकार हैं। यों ज्ञान और रागादिकके भेदका विज्ञान यह ज्ञानी जीव प्राप्त करता है। यह भेदविज्ञान सब विभाव भाव के मेटनेका कारण है और परम सम्वर भावको प्राप्त कराता है। इसलिए हे संतपुरुषों ! इस भेदविज्ञानको पाकर रागादिकसे रहित होकर शुद्ध ज्ञानमय आत्माका आश्रय लेकर आनन्द को प्राप्त करो।

ज्ञानानन्दमय आत्मदेवसे ज्ञानभाव व आनन्दभावकी उद्भूति—आनन्द आत्माके आश्रयसे ही मिल सकता है, लेकिन सुखमें भी जो जीव सुखका अनुभव करता है वह आत्मा की ओर झुककर ही सुखका अनुभव करता है। जिसे जब तृप्ति और संतोष होता है चाहे वह किसी भी भोगके प्रकरणमें होता हो, संतोष लेनेकी पद्धति आत्मामें झुककर लेनेकी है। कोई पुरुष आंखें फाड़कर बाहरी पदार्थोंमें झुककर संतोष नहीं पाता। अनेक प्रसंगोंमें भी उसे यदि संतोष मिलता है तो अपने-आपमें ही झुककर मिलता है। इस प्रकार यह भेदविज्ञान जब ज्ञानके विपरीतपनेकी कणिकाको भी नहीं ग्रहण करता और अविचल ठहर जाता है। चूँकि शुद्धोपयोगमय आत्मस्वरूपकी ही बात हुई ना, इस कारण ज्ञान, ज्ञानरूप

होता हुआ फिर कुछ भी रागद्वेष मोहरूप परिणामको नहीं रचता।

जीवका मूलकार जानन—भैया ! इस जीवके जाननेकी आदत है। वह जाने बिना कभी रह ही नहीं सकता। निगोद पर्यायमें हो तो वहाँ भी जानेगा, अन्य पर्यायोंमें हो तो वहाँ भी जानेगा। अरहंत और सिद्ध हो जाय तो वहाँ भी वह जानेगा। जानन आत्माका स्वभाव है। जानना छूट नहीं सकता, पर यह जानना जाननेके विपरीतपनेको जाने तो संसार में रुलता है और यह जानना जाननेके विपरीतपनेकी कणिकाको भी ग्रहण न करे तो यह फिर रागद्वेषोंकी सृष्टि नहीं रचता। जो भी जीव दुखी हुए वे अपने ही अपराधसे दुखी हुए।

केवलका निरखन—भैया ! भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। तुम्हें अपने आपको अकेला शुद्ध निरखना है तो उसका उपाय केवल भेदविज्ञान है। केवलको निरखना है तो उसमें दो पुरुषार्थ होते हैं। पहिला तो मूल हुआ पदार्थोंके यथार्थस्वरूपको जानकर परसे हटना फिर द्वितीय पुरुषार्थ होता है केवलज्ञान। मायने आत्माके बल मायने अपनी शक्ति लगाना अर्थात् जो अपने आत्मामें ही अपनी ज्ञानात्मक शक्तिका प्रयोग करे वह शुद्ध आत्माको प्राप्त कर सकता है। शुद्ध आत्माको प्राप्त कर ले तो वहाँ रागद्वेषमोहका अभाव रूप संवर प्रकट होता है। यह संवरतत्त्वका अधिकार है। संवरकी उपयोगिता और संवरके उपायका इसमें वर्णन चल रहा है।

आत्माका शाश्वत हितू संवर—हमारा निजी शाश्वव साथी एक संवरतत्त्व है। आस्रव तो सदैव धोखा देने वाला है। बंध तो दु:खरूप दशा है। निर्जरा भी हमारा मित्र है। पर वह ऐसा उदासीन मित्र है कि वह आपका काम संभाल देगा पर सदाके लिए आप का साथ न निभायेगा। हम आप संकटमें हों तब आपकी रक्षा कर देगा। जब आपको सुरक्षित कर दिया फिर आपका साथ न करेगा। जरूरत भी नहीं रहती मुक्तिके बाद निर्जराकी। एक संवरतत्त्व ऐसा है जो अब भी हमारा मित्र है, संकटसे बचाने वाला है। संकटोंसे बचा करके फिर कभी हमपर संकट न आ सके ऐसा सदैव जागरूक रहता है। सिद्ध होनेके पश्चात् भी यह संवरतत्व पहरेदारका काम करता रहता है, अनन्तकाल तक फिर कोई प्रकारके कर्म नहीं आ सकते, ऐसा अद्‌भुत पराक्रम संवरतत्त्वका सदैव बना रहता है। वह संवरतत्त्व रागद्वेष मोहके अभावरूप है। शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होनेसे रागद्वेष मोहके अभावरूप संवर तत्त्व प्रकट होता है। ग्रन्थोंके अध्ययनका फल संवर होना चाहिए। हम अध्ययन करते जायें और उसको हम अपनी शक्तिके अनुसार उतारें नहीं तो इसी बातपर सुवा बत्तीसीका बोल बना है।

सुआरटन, चतुर अज्ञानीके रटन—भैया ! सुवाको खूब पढ़ा दिया कि नलनी पर बैठना नहीं और बैठ भी जाना तो दाने नहीं चुगना। दाने चुगना तो उलटना नही और

उलट भी जाना तो छोड़कर भाग जाना। उसे इस तरहसे पक्का याद हो गया। जैसे हमारे अनेक भाइयोंको पूजा एकदम याद है। इसी तरह उस सुवाने सब याद कर लिया। एक दिन पिंजड़ा खुला ही रह गया, मौका पाया झट पिंजड़ेसे भाग गया। खूब उछलता कूदता जहाँ शिकारीने पक्षियोंके फाँसनेके लिए षडयंत्र रच रखा था, वहीं पर पहुंच गया। उस नलनी पर बैठा हुआ ही रटता जा रहा है कि नलनी पर बैठना नहीं। बैठ जाना तो दाने चुगना नहीं। दाने चुगना तो उलटना नहीं और उलट जाना तो पंजा छोड़कर भाग जाना। ऐसा ही पढ़ता हुआ तोता उस नलनी पर बैठ गया। ऐसा ही पाठ पढ़ता हुआ वह दाने चुगने लगा, ऐसा ही पाठ पढ़ता हुआ वह उलट गया पर पंजा नहीं छोड़ता है, कहीं गिर न जायें। सो पंजोंसे उसे दृढ़ पकड़े हुए यही पाठ वह रटता चला जा रहा है। इसी प्रकार यह अज्ञानी मोही जीव भी धर्मसे पुण्यसे सब सुख मिलता है—इस तृष्णामें आकर धर्मके कार्य करता है पर शुद्ध आत्माके अनुभवरूप संवरतत्त्वको प्रकट नहीं करता है। तो इतना सब परिश्रम करनेके बावजूद भी वह मोक्षमार्गमें नहीं आ पाता। हां, कुछ मंदकषाय होनेसे पुण्य बंधता है। तो जरा कुछ धन वैभव समागम इसे मिल जायेगा पर इससे आत्मा का पूरा क्या पड़ता है? आखिर इन सबको भी तो छोड़कर जाना ही पड़ेगा।

भेदविज्ञानका अभिनन्दन—यह आत्मा अपने ज्ञानद्वारा अपने आपके ज्ञानमें ही ठहरे तो इसका उपकार हो सकता है। इस तरह संवरके परम उपायभूत भेदविज्ञानका उक्त तीन गाथावोंमें अभिनन्दन किया गया है। अभिनन्दन कहते ही इसे हैं कि गुणानुवाद करते जाना और खुदमें प्रसन्न होते जाना तथा जिस गुणका अनुवाद किया जा रहा है उस गुणरूप चलनेका यत्न करना। सो ऐसा अभिनन्दन ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। परपदार्थोंसे निज-निजस्वरूपास्तित्वकी दृष्टिसे यह विविक्त है। जो स्वयं सहज एतावन्मात्र है वह शुद्ध ही देखनेमें जाना जाता है और शुद्ध आत्माके अवलम्बनसे ही रागद्वेष मोहका अभाव हो जाता है। रागद्वेषके मूलभूत मोहको अभावका ही नाम सम्यक्त्व है। अब प्रश्न किया जा रहा है कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति कैसे होती है?

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥१८४॥
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

ज्ञानीकी असाताकी स्थितिमें भी ज्ञानसे अविचलितता—जैसे अग्निसे तप्त हुआ स्वर्ण अपने स्वर्णपनेको नहीं छोड़ता है उसी तरह ज्ञानी जीव कर्मोंके उदयसे तप्तायमान

हुआ भी ज्ञानीपनेके स्वभावको नहीं छोड़ता है। इस तरह ज्ञानी जानता है और अज्ञानी रागको ही आत्मा मानता है क्योंकि वह अज्ञानी अज्ञानरूपी अंधकारसे ग्रस्त है, इस कारण आत्माके स्वभावको नहीं जानता। जिस जीवके उत्तम प्रकारसे भेदविज्ञान हुआ है उसके क्रोधादिक नहीं है। इस ज्ञान और कषायका स्वरूप न्यारा-न्यारा है। इनका परस्परमें आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। ज्ञान अपने स्वरूपमें है, कषाय अपने स्वरूपमें है। इन दो प्रकारके भावोंका स्वभावका और विभावका जो भेदविज्ञान कर लेता है वह ज्ञानी भेद-विज्ञानके सदभावके कारण केवल जानता रहता है।

संकट मात्र भ्रम—इस लोकमें संकट केवल भ्रमका है। और तो कुछ संकट ही इस लोकमें नहीं है। जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब एक स्वरूप हैं और अपने जीवसे सब पृथक् पृथक् सत्ता रखने वाले है। इस दृष्टिसे देखो तो अपने आत्माके सिवाय अन्य कोई भी आत्मा अपना नहीं है, चाहे कोई घरमें उत्पन्न हुआ है, चाहे आपको दोस्त मानने लगे हों, कोई आपके कुछ नहीं है। जब स्वरूपकी दृष्टिसे देखा तो कौन गैर है ? जितने भी जीव हैं वे सब हमारे ही स्वरूप वाले तो हैं। हम किससे मुंह मरोड़ें और किससे प्रेम करें ? यहाँ सब अंधकार है। स्वरूपदृष्टिसे देखनेपर ये सब जीव एक समान दिखते हैं और भेददृष्टिसे देखनेपर सब जीव पृथक् दिखते हैं। और अपने सहज ज्ञानस्वभावके अतिरिक्त सब जीव अपनेसे न्यारे दिखते हैं। ऐसा जो ज्ञानी जीव है वह अपने ज्ञानीपनको नहीं छोड़ सकता है।

निर्भ्रान्त दशामें भ्रमकी असंभवता—किसी सामने पड़ी हुई रस्सीमें यह भ्रम हो जाय कि यह सांप है तो कितना आकुलित होता है और जब निकट जाकर जान लेता है कि यह तो कोरी रस्सी है, ऐसा मात्र ज्ञान होनेके बाद फिर घबड़ाहट नहीं रहती है और ऐसा जाननेके बाद जो उसके ज्ञान जागृत हुआ उस ज्ञानको फिर कौन मेटेगा ? कोई मित्र आकर कहे कि भाई मेरे कहनेसे इस रस्सीको सांप जान लो और वैसे ही आकुलित हो तो क्या वह ऐसा कर सकता है ? नहीं कर सकता है। एक बार यथार्थ ज्ञान हो जाय और उसको टटोलकर स्पष्ट ज्ञान कर ले, फिर मित्रके समझानेसे या किसीके कहनेसे वह रस्सीको सांप जान ले क्या ऐसा हो सकता है ? नहीं।

यथार्थज्ञान होनेपर ज्ञानित्वका अपरिहार—यथार्थ भेदविज्ञान होनेके बाद फिर यह अपने ज्ञानीपनको नहीं छोड़ता। जैसे तीव्र अग्निमें तपाया गया स्वर्ण अपने स्वर्णपनेको नहीं छोड़ता है इसी प्रकार कर्मोदयको प्राप्त हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभावको नहीं छोड़ता। स्वर्णको कितनी ही बार अग्निमें तपावो, क्या तपानेसे स्वर्ण अपने स्वर्णपनेको छोड़ देगा ? नहीं, बल्कि स्वर्णको अग्निमें तपानेसे स्वर्णत्वके और कांति बढ़ जायगी। ज्ञानी जीवके कैसे ही कर्मोंका उदय हो, पर उन कर्मोंके विपाकमें यह कहीं अज्ञानी न बन जायगा। यह तो

ज्ञानीपनके स्वभावको न छोड़ेगा। कितने ही तीव्र उपसर्ग हों, कर्मोंके उदयसे वह संतप्त हो फिर भी भेदविज्ञानी जीव शुद्ध आत्माके सम्वेदनको नहीं छोड़ता है।

उपसर्गमें भी ज्ञानीका ज्ञानित्व—जैसे सुकुमाल सुकौशल, पांडवोंपर और भी अनेक महापुरुषोंपर कितने ही उपसर्ग आए पर उन उपसर्गोंके समय वे अपने शुद्ध ज्ञानसे विचलित हुए। यह सब ज्ञानकी महिमा है। जैसे रस्सीको रस्सी जान ले कोई, फिर कोई चाहे मुक्का घूंसा मारे पर कहे कि अरे तू इस रस्सीको सांप जान, तो क्या वह रस्मीको सांप समझ सकता है? नहीं। बस इसी प्रकार जिसने आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन कर लिया है और सर्व साधारण शुद्ध तत्व समझ लिया है वह कितने ही परिसह और उपसर्गमें पड़ जाय किन्तु यथार्थ जान लेनेसे वह उल्टा जान कैसे सकता है? शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्वेदन और सहजानन्दका अनुभवन जो किए है वह तो नहीं मिटाया जा सकता है। ऐसे उपसर्गमें जब वह निर्विकल्प समाधिमें रत है उस कालमें सुख दुःखका भी ज्ञान नहीं है और कदाचित् निर्विकल्प समाधिमें रत नहीं है किन्तु ध्यान अवस्थामें है उस कालमें वह परिणमन ज्ञेयमात्र रहता है कि यह भी ऐसा हो रहा है।

भेदविज्ञानका अलौकिक बल—भेदविज्ञानकी कितनी पराकाष्ठा है यहां कि जैसे दूसरेके बुखारका दूसरा पुरुष ज्ञानकी कर सकते हैं दुःख नहीं भोग सकता है, इसी प्रकार ये भी सर्व आत्मासे भिन्न वस्तु हैं, ऐसा भेदविज्ञान उनके दृढ़ होता है जो ज्ञातामात्र रहते हैं। फिर उससे कोई नीचे दर्जेकी तीसरी परिस्थितिमें कदाचित कुछ वेदना भी जागृत होती है तो वह सामान्य रूपसे होती तो है, किन्तु ज्ञानबलके प्रतापसे उस वेदनाको नगण्य मानकर वह अपने कार्योंमें प्रवृत्त होता है। साधुसंतोंके उपसर्गके समयमें ये तीनों प्रकारकी परिस्थितियां होती है। सो जो जैसे विकास वाला साधु है वह अपने आपमें उस योग्य विकासको करता है। किन्तु ज्ञानी ज्ञानीपनेके स्वभावको नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों विरुद्ध कारण जुट जाये तो भी स्वभाव दूर नही किया जा सकता। यदि उस स्वभावको भी दूर कर दिया जाय तो वस्तुका तो अत्यन्त अभाव हो जायगा।

ज्ञानीके ज्ञानका अनुच्छेद—ज्ञानीका ज्ञान है शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहना। यदि ज्ञाताद्रष्टा रहना नष्ट हो जाय तो अब वह ज्ञानी ही क्या रहा, और ज्ञान ही न रहा तो आत्मा ही क्या रहा? वस्तुका उच्छेद हो जायेगा, पर वस्तुका उच्छेद नहीं है। जो सत् पदार्थ है उसका नाश असम्भव है। ऐसा जानता हुआ कर्मोंसे आक्रान्त भी ज्ञानी हो रहा है तो भी न राग करता है, न द्वेष करता है, और न मोह करता है किन्तु शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है।

ज्ञानीके ज्ञानकी एकरूपता—आत्मा ज्ञानमात्र है, उसका काम जानना है। और

अयथार्थ जाननका अदल बदल होता है पर यथार्थ जाननका अदल बदल नहीं होता है। जहां यह ज्ञान हुआ कि लो यह मैं तो ज्ञान ज्योतिमात्र हूं जो कुछ कर सकता हूँ अपनेमें कर सकता हूँ, उसका जो फल मिलता है वह अपने लिए मिलता है। अपने ही परिणमनसे हट कर अपने ही परिणमनको करता हूँ और ये सब अपनेमें किया करता हूँ। मेरे स्वरूपका किसी भी अन्य पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जो पुरुष जानता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है। अर्थात् समस्त परपदार्थोंसे भिन्न और उन सब परका निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले विभावोंसे भिन्न केवलज्ञान ज्योतिमात्र मैं हूँ—इस प्रकारका अनुभव करता है।

संकटसे छूटनेके लिये मोहीका संकटरूप यत्न—भैया! जगतके जीव जितना भी यत्न करते हैं वे सब सुख पानेके लिए करते हैं और आनन्दकी प्राप्ति इस जीवको शुद्धज्ञान से ही हो सकती है। इस जीवको जितने भी संकट हैं वे सब भ्रमसे हैं। घरमें रहकर अच्छे मजे मौजके परिवार को देखकर आनन्द मानते हैं, सम्पदा बढ़ती है तो खुश होते हैं अथवा कुछ अपनी ही गोष्ठीके बीच कुछ दिलचस्प बातें मनके अनुकूल होती हैं तो आनन्द मानते हैं किन्तु यह सबका सब जो कुछ गुजर रहा है यह जीवपर संकट है। क्या धन इस जीवका सहायक होगा? नहीं। मृत्युके बाद तो साथमें रंच भी न जायगा और जब तक जीवित हैं तब तक भी सुखका विषय नहीं बन सकता। किन्तु धनपर ही सबकी दृष्टि है, धन कम है तो दुःखी रहते हैं और अधिक है तो तृष्णामें व्याकुलता रहेगी। ये सबके सब जिन्हें कहते हैं पुण्य वैभव, वे सब संकट हैं इस जीवपर।

संकट मेटनेका उपाय—इस जीवके संकट मेटनेका उपाय है शुद्ध ज्ञानका अनुभव होना। यह संसार एक जाल है, गोरखधंधा है। इससे निकलना कठिन भी है और बड़ा सुगम भी है। अहो इसी समय सर्व परका विकल्प त्यागकर अपने इन्द्रियमनको संयत करके अन्तरमें ही कुछ निरखा जाय तो लो इसी समय सुख हो गया और इतनी बात नहीं की जा सकती है तो सुख कभी मिल ही नहीं सकता। कैसे लावोगे, कहाँसे लावोगे सुख? जड़ वस्तुवोंमें तो सुख गुण है ही नहीं। उनका संचय विग्रह किया तो सुख आयगा कहाँसे? अन्य जीवोंमें सुख गुण तो है मगर उनका सुख गुण उनके ही लिए है, मेरे लिए नहीं है। ऐसा जो वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जानता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है और जो शुद्ध आत्माको जानता है वह संकटसे दूर हो जाता है।

भेदविज्ञान बिना आत्माकी उपलब्धिका अन्य उपाय नहीं—जिसके भेदविज्ञान नहीं है वह भेदविज्ञानके अभावसे अज्ञान अंधकारसे आच्छन्न होकर, डूबकर, तिरोहित होकर चैतन्य चमत्कार मात्र आत्माके स्वभावको न जानता हुआ, रागादिकको ही आत्मा मानता

हुआ राग करता है, द्वेष करता है, मोह करता है। वह परसे विविक्त इस निज शुद्ध आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिका प्रताप—शुद्धके मायने हैं सबसे न्यारा। न्यारा बन जाय, शुद्ध पर्याय तो अपने आप हो जायगी। केवल ज्ञानपरिणमन करनेके लिए उद्यम नहीं करता है। वह तो स्वयं होगा। यत्न तो इस बातका करना है कि परपदार्थोंमें मैं हूं, मुझमें पर हैं, मैं इस रूप हूं, इस प्रकारका जो परमें सम्मिश्रण हो रहा है उस परके उपयोगसे हटना है और सबसे न्यारे विविक्त केवल अपनेको स्वभावमात्र निरखना है। ऐसी दृष्टि यदि कुछ क्षण तक लगातार रह जाय, अन्तर्मुहूर्त तक लगातार निर्विघ्न रह जाय तो इस अनन्त ज्ञानके अनुभव में ही सामर्थ्य है कि बिना चाहे, बिना उपयोग लगाए, बिना बुद्धि किए समस्त लोकालोकका एक साथ ज्ञान हो जाता है। भैया! जिसमें लोग सुख मान रहे हैं, घर गृहस्थीमें, धन वैभवमें, ये सब शुद्ध ज्ञान विकासके बाधक हैं। तो जो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपको देखेगा उसको सर्व कुछ प्राप्त होगा। इससे यह निश्चय करना कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है।

भेदविज्ञानके स्थान—अब भेदविज्ञान कितनी श्रेणियोंमें हो गया? स्पष्ट पृथक् तो धन वैभव मकान हैं, सो इन्हें प्रथम ही भिन्न निरखना चाहिए। फिर इनके बाद जो चेतन पदार्थ हैं पुत्र, मित्र, स्त्री इन सबको अपनेसे भिन्न देखना, तीसरे भिन्न देखना इस देहसे? जिस देहसे एक क्षेत्रावगाह रूपसे ठहरा है। इस देहसे न्यारा देखना, यह भेदविज्ञान तीसरी श्रेणीका है। उससे उत्कृष्ट इसके पश्चात् जैसे कि आगमके द्वारा जाना गया है और युक्तियों से समझा गया है, ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्मसे भिन्न अपनेको तकें यह हुई चौथी बात। पांचवीं बात—इन कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जो रागद्वेषादि भाव होते हैं उन राग-द्वेषादि भावोंसे अपनेको न्यारा समझो। छठी बात—जो इतने विचार विकल्प हुआ करते उन विचार विकल्पोंसे न्यारा अपनेको समझो। ७ वीं बात—जो इतना जाननमें परिवर्तन चल रहा है यद्यपि उन परिवर्तनोंका सम्बंध रागद्वेष भावोंसे नही है, रागद्वेष पहिले थे इस संस्कारके कारण रागद्वेषमें मिट जाने पर जो ज्ञप्ति परिवर्तन रहता है, जाननकी अस्थिरता रहती है उस ज्ञप्ति परिवर्तनरूप क्रियासे भी अपनेको भिन्न समझना है। फिर इसके पश्चात् शुद्ध आत्माकी उपलब्धिके प्रतापसे केवलज्ञान प्रकट होगा, किन्तु प्रकट होने वाले उस केवल ज्ञानसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको देखो।

ज्ञानस्वभावकी अनुभूति केवलज्ञान—भैया! केवलज्ञान अभेद स्वानुभूतिके पश्चात् प्रकट होता है, अनादिसे नहीं है। वह समय-समय पर उत्पन्न होता है। प्रति समय नीवन नवीन ज्ञान, ज्ञानरूपसे परिणमा करता है। यह मैं स्वतःसिद्ध अनादि अनन्त ज्ञानस्वभाव

मात्र हूं, यों समस्त पर और परभावोंसे और समस्त पर्यायोंसे भी न्यारा ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको देखना यह है भेद विज्ञानका फल। पहिले हुआ भेदविज्ञान उससे किया परसे अपने को न्यारा, फिर भी इस ही कर्मके फलसे परको छोड़कर केवल निजको ग्रहण किया और अब केवल निजमें ही ग्रहण करने लगा। ऐसे भेदविज्ञानके फलमें जो अभेद ज्ञान प्राप्त किया उस अभेद ज्ञानमें इतनी सामर्थ्य है कि भव-भवके भी बांधे हुए कर्म क्षणमात्रमें ही खिर जाते हैं और यह निर्मल आत्मा लोकालोकका ज्ञाता हो जाता है।

आनन्दमय पदकी प्राप्तिका मूल उपाय आन्तरिक भेदविज्ञान—जीव तो ज्ञान और आनन्दमें सहज तन्मय है। कहींसे ज्ञान और आनन्द लाना नहीं है। बस केवल इसने जो ऊधम कर रखा है विवेक करके उन ऊधमोंको, विभावोंको दूर करना है। परमात्मतत्व तो स्वयमेव प्रकट होता है। जरा निरूपित भेदविज्ञानको पुनः उपयोगमें लायें, घरसे मैं न्यारा हूँ इसको दुनिया कहती है। देहसे भी जुदा हूँ इसे भी दुनिया मानती है पर अपने आपमें उत्पन्न होने वाले ज्ञान और कषाय इन दोनोंमें भेद किया जाना सफल भेदविज्ञान है। जैसे कभी लोग कहते हैं ना कि एक मन तो कहता है कि अमुक काम किया जाय और एक मन कहता है कि यह काम करने योग्य नहीं है। वे दो मन हैं क्या? अरे वे कुछ नहीं है। वे ज्ञान और कषायके प्रतीक भाव हैं। कषाय कहता है कि ऐसा कर डालना चाहिए, तब ज्ञान कहता है कि यह करने योग्य नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और कषायमें प्रकट स्वरूपभेद है।

स्वरूपभेदसे वास्तविक भेद—एकका दूसरा क्या लगता है? भिन्न प्रदेश है, भिन्न सत्ता है, भिन्न स्वरूप है। इस ज्ञान और कषायका तो आधार-आधेय भेद भी नहीं है कि कषायमें कषाय स्थित है व ज्ञानमें ज्ञान स्थित है। तब फिर क्या है? स्वरूप प्रतिष्ठितत्व सम्बन्ध है। ज्ञान अपने जाननस्वरूपमें है, कषाय अपने गुस्सा आदिकके रूपमें स्थित है। ज्ञानमें कषाय नहीं है, कषायमें ज्ञान नहीं है ऐसे अपने आपमें ही स्वभावको तिरोहित करके उत्पन्न होने वाले कषायमें और स्वभावमें भेद किया जा रहा है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। यह कषाय परभाव है। इसमें तो आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं।

ज्ञान और कषायकी अनाधाराधेयतापर एक दृष्टांत—जैसे आकाश जुदा है और ये मकान आदिक जुदा हैं। आकाशमें मकान नहीं हैं मकानमें आकाश नहीं है। अथवा मोटेरूप में चाहे समझ लो कि एक घरमें ही दो भाई रहते हैं किन्तु उनका किसी कारण चित्त परस्परमें फट जाय तो उस भाईका वह कुछ नहीं है। उसमें वह नहीं, उसमें वह नहीं। इसी प्रकार जितने भी जगतके पदार्थ है इन सब पदार्थोंका स्वरूप फटा हुआ है, बंटा हुआ है। आकाश भी यहीं है और ये मकान आदिक भी यहीं हैं किन्तु आकाशका अस्तित्व आकाशमें है। आकाशके प्रदेश आकाशमें ही हैं, आकाशमें मकान नहीं, मकानमें आकाश नहीं। व्यव-

हारदृष्टिसे तो यद्यपि यह साफ नजर आ रहा है कि आकाशमें ही तो मकान है, पर स्वरूप-दृष्टिसे देखें तो मकानमें मकान है, आकाशमें आकाश है। उनमें आधार-आधेयका सम्बंध नहीं है।

ज्ञान और कषायकी अनाधाराधेयतापर दूध पानीका दृष्टान्त—जैसे और दृष्टान्त लो। पावभर दूधमें पावभर पानी मिल गया, वे एकमें मिल जानेसे एक रस हो गए, पर दूधमें पानी नहीं है और पानीमें दूध नहीं है। दिखनेमें ऐसे न्यारे नहीं आते हैं किन्तु आग पर गर्म करनेसे वे न्यारे-न्यारे स्पष्ट मालूम होते हैं। पानी तो भाप बनकर उड़ जाता है और दूध रह जाता है। दूधमें दूध था और पानीमें पानी था। वे दोनों तन्मय नहीं हो गए थे। इस प्रकारकी भेदयुक्तिसे दूधमें दूध रह गया और पानीमें पानी रह गया। इसी प्रकार एक ही क्षेत्रमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल छहो बराबर रह रहे हैं। फिर भी किसीमें कोई दूसरा नहीं है। आकाशमें पांचों द्रव्य नहीं है। जीवमें पांचों द्रव्य नहीं है। किसी भी द्रव्यमें बाकी कोई द्रव्य नहीं है।

सम्यक्त्व भावकी आदेयता—भैया! सबसे उत्कृष्ट भाव है यह सम्यक्त्व भाव। यदि सम्यक्त्व प्रकट होता है तो फिर अन्य वस्तुवोंका महत्त्व क्या है? 'चक्रवर्तीकी सम्पदा इन्द्र सारिखे भोग। काकवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग ॥' अपने आपके स्वरूपकी महिमा जब तक अपने आपको न मालूम हो तब तक अपनेको दीन समझना चाहिए और जब अपने स्वरूपकी महिमा अपनी समझमें आ जाय तब यह समझना चाहिए कि हम अब सत्पथपर हैं। अपनी ऋद्धि समृद्धिपर ध्यान देनेसे निराकुलता होती है। जितनी शक्ति बने उतना करो, पर शक्ति न हो तो श्रद्धासे न चिगो। श्रद्धासे चिग जानेपर फिर इस जीवका हित नहीं हो सकता है।

इस प्रकार दो गाथावोंमें यह वर्णन किया गया है कि शुद्ध आत्माके अनुभवसे ही हित होता है और शुद्ध आत्माकी प्राप्ति भेदविज्ञानसे होती है। इसलिए सर्व प्रयत्न करके मूलमें स्वभाव और विभावका भेदविज्ञान उत्पन्न कर लेना चाहिये। अब शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे सम्वर किस तरह होता है, ऐसा प्रश्न होनेपर इसमें समाधानमें यह गाथा कही जा रही है:—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१८६॥

जो जीव शुद्ध आत्मतत्त्वको जानता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है और जो अशुद्धको ही जानता है वह अशुद्ध ही आत्माको प्राप्त होता है।

शुद्ध आत्माकी उपासनाका परिणाम—जो महात्मा नित्य ही अविच्छिन्न धारावाही

ज्ञानसे अर्थात् ऐसे ज्ञानसे जिस ज्ञानकी धारा कभी न टूटे ऐसे ज्ञानसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करते हुए रहता है तो ज्ञानभावसे ज्ञानमय ही भाव होता है, इस कारण भिन्न जो कर्मास्त्रवणका निमित्त है, रागद्वेष मोहकी संतान हैं उनका निरोध होनेसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। जो अपने आपको ही परतत्त्व जानता हैं अन्य किसीको नहीं जानता, वह अपने आपके प्रदेशोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। अपने गुणोंका प्रयोग अपने आपके द्रव्यमें होता है, द्रव्यपर होता है, अपने द्रव्यके लिए होता है। इस कारण ज्ञान गुण एक जो क्रिया करता है वह आत्माके प्रदेशोंमें करता है, अपने आप ही करता है, अपने को ही करता है। इस कारण वस्तुतः यह आत्मा अपने आपको ही जानता है, परको नहीं जानता।

दृष्टिके अनुसार सृष्टि—अब अपने आपको कैसा जाने यह आत्मा कि अपनी अशुद्ध सृष्टि करले या अपनी शुद्ध सृष्टि करले। यदि अपनेको शुद्ध ज्ञानस्वभावमय जानता है तो इसकी सृष्टि शुद्ध ज्ञानमय होगी। यदि विकाररूप अपनेको समझता है तो इसकी सृष्टि विकाररूप होगी। यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुष सराग अवस्थामें रागसहित परिणमता है, रागसे दूर नहीं हुआ है, अवस्था रागकी चल रही है, तिस पर भी ज्ञानी पुरुषमें ऐसी ज्ञानकला है कि जिस ज्ञानकलाके द्वारा यह अपने आपको विकाररहित शुद्ध स्वभावरूपमें देखता है। बस इसका समस्त पुरुषार्थ यथार्थ जाननमें है। यथार्थ जान लेने वालेके प्रतिपक्षमें कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि इस आत्माको दुःखी कर सके। यथार्थ नहीं जानता और दुःखी हो रहा है। निजको निज परको पर जान, यही यथार्थ ज्ञानका चिन्ह है। स्वयं यह जैसा है जितना है उतना यह अपनेको माने, शेष समस्त परद्रव्य जितने हैं जैसे हैं उनको वैसा मानें तो यह कहलाता है यथार्थ ज्ञान।

उपयोगके अनुसार परिणतिका गुजरना—जिस प्रकारका उपयोग होता है उस प्रकारकी ही बात गुजरती है। यह जीव जब अपनेको परिवार वाला हूं, घर वाला हूँ, मैं अमुक हूं, अमुक कुलका हूं, इस प्रकारसे मानता है उसे आकुलताएँ नियमसे आयेंगी क्योंकि उसने अपनेको यथार्थरूप माना। उपयोगका आश्रय जब परद्रव्य होता है तब चूँकि वे समस्त परद्रव्य भिन्न हैं और पर्याय रूपमें आए हैं इस कारण अध्रुव हैं। सो उन परद्रव्यों के मिट जानेके कारण यह क्लेश करेगा ही। सो जिसकी दृष्टि अपने आपपर ऐसी उपयोग रूप है जिस उपयोगके कारण परसे सम्बंध करना पड़ता है वह उपयोग इसकी आकुलतावों का जनक है किन्तु जहाँ यह ज्ञानी आत्मा अपने सहज अशरण भावरूप अपनेको मानता है उस समय कोई क्लेश नहीं होता।

अपने आपको जैसा माने उसपर सुख दुःखकी निर्भरता—भैया! अपनेको कैसा मानें—इसपर ही सुख दुःख निर्भर हैं। सुख दुःख होनेकी जड़ यही है। बाह्यपदार्थोंमें निग्रह

अनुग्रह करनेमें सुख दुःखकी व्यवस्था नहीं है। सिर्फ इतने पर ही सुख दुःखकी व्यवस्था निर्भर है कि मैं कैसा हूँ इसे जैसा मानें। जहां यह माना गया कि मैं अमुक जातिका हूं, अमुक पोजीशनका हूँ, इस रूपसे जब अपनेको माना गया तो यह तो अयथार्थ बात हुई। क्या ये कुल, जाति, पोजीशन आदि आत्माके स्वरूप हैं? नहीं। अस्वरूप रूप अपनेको माने तो वहाँ क्षोभ होगा ही और कुछ क्षणोंके लिए सब विकल्पोंसे हटकर बाहरमें द्रव्य, क्षेत्र, काल सबका ध्यान भुलाकर केवल स्वयं यह अपने आप जैसा है ज्ञानज्योति ऐसा ही उपयोग में लें। जो अमूर्त है किन्तु आनन्दका अविनाभावी है ऐसा जाननस्वरूपमात्र अपने को उपयोगमें लें तो चूंकि वहाँ किसी परका ख्याल ही नहीं है तो उसे क्षोभ किस बात पर हो?

परद्रव्यके अनाश्रयसे क्लेशमुक्ति—जितने क्षोभ होते हैं उन क्षोभोंका विषय परपदार्थ होते हैं। कोई परपदार्थ ख्यालमें न रखे और क्षोभ या दुःख हो जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसी कारण जैनदर्शनमें अशांति मेटने के लिए स्वद्रव्यका आश्रय कराया है, परद्रव्यका आश्रय छुड़ाया गया है। स्वद्रव्यका आश्रय कैसे हो, इसका उपाय है भेद-विज्ञान। परसे हटना स्वमें लगना यह बात भेदविज्ञान बिना नहीं होती। जब कि कोई लोग ईश्वर मर्जीपर ही अपना मोक्ष समझते हैं। भक्ति किए जावो, जब भगवानके मनमें आयगा तब अपना मोक्ष हो जायगा किन्तु अपने आपमें परमात्मस्वरूपकी श्रद्धा लेना और अन्य सबको भूला देना यही मुक्तिका उपाय है। ऐसा होनेके लिए ही हम ऐसे स्वरूप वाले रूपका ध्यान करते हैं। भेदविज्ञानसे ही परसे निवृत्ति और स्वमें वृत्ति हो सकेगी।

पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानपर कल्याणकी निर्भरता—भैया! भेदविज्ञान कब हो जब स्व व परका भिन्न-भिन्न स्वरूप हमारे ध्यानमें जमे। कब जमे? जब हम उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप पहिचान लें, इस विषयका बहुत अधिक विवेचन जैनसिद्धान्तमें है। पदार्थोंके यथार्थस्वरूपके ज्ञानपर हम आपका कल्याण निर्भर है। पदार्थोंमें २ प्रकारके गुण हैं। एक तो ऐसा गुण जो सभी पदार्थोंमें मिल जाय। क्या ऐसे गुण नहीं होते जो सभी पदार्थों में मिलें? जैसे अस्तित्व है, सत्ता है, क्या जीवमें ही है, पुद्गलमें नहीं है। इसी प्रकार सभी द्रव्योंमें वस्तुत्व होता है अर्थात् अपने स्वरूप से ही होना, परके स्वरूपसे नहीं होना, यह बात किसी एकमें नहीं पाई जाती है। जितने सत् हैं उन सबसे यह बात पाई जाती है कि वे अपने स्वरूपसे हैं और परके स्वरूपसे नहीं है? यदि ऐसा न हो तो अस्तित्व भी नहीं रह सकता। कोई द्रव्य अपने स्वरूपसे भी हों और परके स्वरूपसे भी हों तो फिर वह वस्तु ही क्या रही? वस्तुत्व हो तो अस्तित्व सम्भव है अन्यथा सत्ता भी असम्भव है। अपने स्वरूपसे रहना क्या यह सब द्रव्योंमें सम्भव नहीं है? तो वस्तुत्व भी

सब द्रव्योंमें पाया जाता है और प्रत्येक समय परिणमन चलता रहता है। ऐसे भी गुण पदार्थोंमें हैं कि नहीं हैं। इस कारण द्रव्यत्व गुण भी प्रत्येक पदार्थोंमें है। और वह अपनेमें ही परिणमता है, परमें नहीं, यह अगुरुलघुत्व गुण है। इन गुणोंसे वस्तुकी स्वतन्त्रता ज्ञात होती है।

खुदके परिचयकी कठिनताका कारण—भैया! यह भेदविज्ञान का प्रकरण है। संवर भावका अधिकार है। इस जीवने अब तक सब कुछ काम भोग सम्बन्धी कथा सुनी वही इन्हें रुचिकर हुई। इनका ही इन्हें परिचय हुआ, पर आत्महित करने वाली कथा, आत्मकथा, वस्तुस्वरूपकी कथा अब तक सुननेमें नहीं आई, परिचयमें नहीं आई, अनुभवमें नहीं आई, इस कारण संसारी जीवके अपने पतेकी बात अनहोनीसी मालूम होती है। पर अपना ही परिचय अपनेको न मिल सके यह तो बड़े विषादकी बात है। खुद है और खुदको न जान सके, इसके जाननेकी तरकीब भी बहिर्मुख और अन्तरमुख दोनों प्रकारसे हैं किन्तु बहिर्मुख पद्धतिसे तो केवल स्वरूप को जान लेगा व अन्तर्मुख पद्धतिसे आत्मामें उतारता हुआ जान सकेगा।

असाधारणगुणके साथ पाये जाने वाले साधारण गुणोंकी चर्चा—यह सब पदार्थों की चर्चा है। पदार्थोंका सही-सही स्वरूप जाने बिना भेदविज्ञान नहीं हो सकता। भेदविज्ञान हुए बिना आत्माकी प्रतीति नहीं हो सकती। आत्माकी प्रतीति हुए बिना शांति नहीं मिल सकती। समस्त पदार्थ कुछ ऐसा-गुणोंरूप हैं जो गुण सभी पदार्थोंमें पाये जाते हैं और सभी पदार्थ ऐसे असाधारण गुण रूप हैं जो केवल उस ही जातिमें पाये जायें और अन्य जातिके द्रव्योंमें न पाये जायें। अभी साधारण गुणोंकी चर्चा चल रही है। अस्तित्व वस्तुत्व और द्रव्यत्व ये गुण सभी पदार्थोंमें है। और आगेके तीन गुण ऐसे हैं जो सब पदार्थोंमें पाये जाते हैं। जैसे वस्तुके परिणमनका स्वभाव तो है किन्तु क्या वस्तु अटपट रूप परिणम सकती है? क्या मैं शरीररूप परिणम जाऊं? नहीं परिणम सकते हैं।

क्या नारकी तलवार बन जाते हैं—आप प्रश्न कर सकते हैं कि नारकी जीव जिनको अपृथक् विक्रिया है वे जब चाहें तब नारकीको तलवारसे मारें तो वे तलवार वाले हो जाते हैं। उनको तलवार ढूंढ़नी नहीं पड़ती। तो वे नारकी तो तलवाररूप परिणमते? उत्तर—वहाँ ऐसी असाता है कि नारकी चाहे कि तलवारसे मारुँ तो जैसे ही उसने मारनेके लिए हाथ उठाया और इच्छा की कि यह हाथ ही तलवाररूप परिणम जाता है। उनका यह शरीर ही तलवाररूप बनता है। कहीं बाहरसे कोई चीज उठाकार तलवार नहीं बनाया वह तलवार देहका प्रसार है। जैसे यहाँ भी बहुत चीजें तो नहीं बन सकती हाथसे, मगर कलछली भी बना सकें, चमीटा भी बना सकें, काँटा भी बना सकें, और मुग्दर भी

बना सकें। कितनी ही चीजें अपन भी यहां हाथसे थोड़ी-थोड़ी बना लेते हैं पर अपनी विक्रिया नहीं है इसलिए इस हाथका ही तरेड़ वरेड़ करके किसी रूप बना लेते हैं, पर नारकी जीवके अपृथक् वैक्रिया है। वह इच्छा करते ही अपनेको सर्परूप बना ले, बिच्छूरूप बना ले यह सब उनके शरीरका विस्तार है।

सिंहादिकरूप भी नारकशरीरकी विक्रिया—जैसे कहते है कि इस जीवको सिंह खाता है, तो वहां सिंह कहां रहता है। जब वह नारकी यह ख्याल करता है कि मैं इसे सिंहरूप बनकर खाऊँ तो वह सिंहरूप बनकर उसको पीड़ित करता है। वह सिंहरूप भी नारकी जीवके शरीरका विस्तार है। यों अपने आपमें ही अपनेको परिणमाता है, किसी दूसरी वस्तुको नहीं परिणमता है। वस्तुवोंमें परिणमनका स्वभाव पड़ा है, परिणमते रहते हैं पर अपनी जातिरूप परिणमेंगे, परकी जातिरूप न परिणमेंगे।

तो यह भी गुण सब द्रव्योंमें हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही रूप परिणमेगा, दूसरेके रूप न परिणमेगा। इसको बोलते हैं अगुरुलघुत्व और प्रत्येक पदार्थ प्रदेशमें है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है कि है और, आकार कुछ भी न हो। चाहे अमूर्त आकार हो या मूर्त आकार हो। यह प्रदेशवत्व भी सभी पदार्थोंमें है और सभी पदार्थ किसी न किसी प्रकारके ज्ञानके द्वारा प्रमेय हैं। ऐसा प्रमेयत्व गुण भी है। यों समस्त द्रव्योंमें चाहे अमूर्त द्रव्य हो, चाहे मूर्त द्रव्य हो, पर सभी द्रव्योंमें ६ साधारण गुण होते हैं। यह तो साधारण गुणोंकी बात कही है।

असाधारण गुण भेदविज्ञानका आधार—प्रत्येक पदार्थमें असाधारण गुण भी होते हैं, जो अपनी जातिमें रह सके किन्तु दूसरेकी जातिमें न रह सके। चेतन गुण जीवके ही न मिलेगा, पुद्गल आदिक द्रव्योंमें न मिलेगा। पुद्गलोमें मूर्तिकता गुण मिलेगा, रूप, रस, गंध, स्पर्शमयता मिलेगी, अन्य द्रव्योंमें न मिलेगी। तो यह जो भेदविज्ञान होता है वह सर्व गुणोसे नहीं होता है किन्तु असाधारण गुणोंसे होता है। साधारण गुणोंसे इसकी सुरक्षा रहती है। आत्मामें जो चैतन्य नामक असाधारण गुण है उसके कारण इसकी जो सृष्टि होती है वह चेतनात्मक होती है।

सोपाधिदशामें ज्ञानके करण—उपाधिसम्बन्धसे ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण ५ इन्द्रियां और एक मन है। इस प्रकार ६ उत्पन्न होते हैं। इन ६ करणोंके द्वारा यह जीव जानता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत ये तो स्पष्ट हैं पर एक अंतःकरण है जो लोगों को दिख नहीं सकता। भीतर ही है। उसका नाम है मन, और यही अंतःकरण आजके बतानेमे दिल और मस्तिष्क दो रूपोंमें माना गया है। शास्त्रोंमें मनको अनवस्थित कहा है।

कुछ इस प्रकारके रंग तरंग वाले हैं कि ये अपना आकार भी कुछ हद तक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें करते हैं और इनका भाव तो अत्यन्त ही अनवस्थित है। जैसे कि लोग कहा करते हैं कि यह मन थोड़ी क्षणोंमें किधर है और हजारों मील जानेमें इसे एक सेकेण्ड भी नहीं लगता। भीतरमें विकल्पोंके भी नाना परिणमन हैं।

मनकी अनवस्थितताका एक उदाहरण—एक श्रावकने अपने मित्र साधुके सम्बंधमें समवशरणमें पूछा—प्रभो ! अमुक साधुका इस समय कैसा परिणाम है ? उत्तर मिला कि इससे एक ही सेकेण्ड पहिले ऐसा परिणाम था कि यह मरकर ७ वें नर्कमें जाता किन्तु इस समय उसके अन्दर ऐसा परिणाम है कि वह ७ वें स्वर्गमें उच्च देव होगा। तो मनकी अवस्थितताको हम आप सब जानते हैं। क्षणमें क्रूर परिणाम हो जाय और कुछ क्षणमें ही विशुद्ध परिणाम हो जाय। पर क्रूरता छोड़कर विशुद्ध परिणाममें आ जाना यह ज्ञानी पुरुष से ही बनता है। अज्ञानी पुरुषमें यह साहस नहीं है कि क्रूरता शीघ्र छोड़ सके। बड़ा समय लगेगा। उसका मन क्षण-क्षणमें डोलता रहता है।

मनकी द्विप्रकारीय गति—यही मन दो प्रकारके कामोंका कारण बनता है। एक तो जाननका कारण और एक प्रीति अप्रीति करनेका कारण। इस मनमें ही ये दो प्रकारके काम हैं। जिस प्रकारतामें यह मन जाननेका कारण है उस प्रकारको कहते है मस्तिष्क और जिस प्रकारतामें यह प्रेम करता है, द्वेष करता है उसे कहते हैं दिल। दिल और दिमाग ये दोनों जैनसिद्धान्तमें पृथक् करण नहीं बताये गए हैं किन्तु एक ही अन्तःकरण है। इस मन में ही दो प्रकारकी कारणता है—एक जाननेका करण बनना और एक रागद्वेषका करण बनना।

व्यावहारिक अनुभव और उसका कारण—व्यावहारिक अनुभवमें ऐसा देखा जाता है कि जाननेकी उत्सुकता करता है तब सिरपर या इस मस्तिष्कपर जोर डालता है। और जब प्रेमकी बात है राग अनुराग और भक्तिकी बात है तब दिलपर जोर पहुंचता है। सो इससे कहीं दो जगह करण नहीं बन गया कि मस्तिष्क सिरमें पहुंचा और दिल वक्षस्थलमें पहुंचा। किन्तु एक ही जगह रचनाकी प्राप्ति मनकी अनवस्थितताके कारण वह अपनी-२ प्रकारतामें दो प्रकारके मूड बनाता है। जैसे अपना उपयोग एक है पर इस उपयोगको बाहर की ओर करके भी हम पदार्थोंको जानते हैं तो बहिर्मुखता होकर पदार्थोंको जानना नए ढंग से होता है और इस उपयोगको ही अन्तर्मुख करके हम कुछ जानते हैं तो अन्तर्मुख करके जाननेका ढंग और दूसरी किस्मका है। इसी प्रकार यह मन जब जाननका साधन होता है तो वह सिरकी ओर उन्मुख होकर कारण बनता है। और यह मन जब रागद्वेषका साधन बनता है तब यह अपने आपमें केन्द्रित होकर, विलीन होकर कारण बनता है।

मनकी वृत्तियां—मनकी बहिर्मुखवृत्ति ज्ञानका साधन है और मनकी अन्तर्मुखवृत्ति रागद्वेष का कारण है और ऐसा अब अनुभवमें भी आ सकता है कि जब हम किसीसे राग करते हैं तो हम अपने आपके दिलमें केन्द्रित हो जाते हैं, बैठ जाते हैं, घुस जाते हैं, विलीन हो जाते हैं और आत्मानुभव करते हैं किन्तु जब इस मनको जाननके साधनरूपसे बनाते है तब यह मन अपने मूल स्थानसे बहिर्मुख तरंग लेकर अपनी वृत्ति करता है इसलिए दिल और दिमाग दोनों ही मनकी अवस्थाएं हैं, कोई ७ वां करण नहीं है कि जैसे ५ करण बाहरी हुए. ऐसे ही अंतःकरण हुआ मन याने दिल अथवा दिमाग।

असाधारण गुणसे व्यवस्था—चर्चा प्रकृतमें यह चल रही थी कि पदार्थोंके असाधारण गुणके द्वारा परवस्तुवोंका भेदविज्ञान हो सकता है। साधारण गुणोंसे वस्तुका भेद नहीं होता है। अस्तित्वसे क्या भेद करें ? सभी पदार्थ अस्तित्वमय हैं, इसी प्रकार शेष ५ साधारण गुणोंसे हम पदार्थोंका क्या भेद करें ? सभी पदार्थ ६ साधारण गुणोंसे तन्मय हैं। तब भेदविज्ञानके लिए हम पदार्थोंमें असाधारण गुणोंको जाना करते हैं। यहां आत्माका असाधारण गुण बताया है चैतन्यस्वरूप। जो मात्र चैतन्यस्वरूपको अविच्छिन्न ज्ञानधाराके द्वारा जानता हुआ शुद्ध स्थित रहता है, ज्ञानघन भावोंसे युक्त हो रहा है, इस कारण वह ज्ञानमय ही होता है और फिर ज्ञानमय भाव हो जानेके कारण रागद्वेष मोहकी सत्ता रुक जाती है और वह शुद्ध चैतन्यमात्र निराकुल सहज आनन्दमय अनुभवको प्राप्त होता है।

ज्ञानमय भावसे अज्ञानमयभावका निरोध—शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिमें यह जीव शुद्ध ज्ञानमय होता है। आगे यह कहेंगे कि जब ही यह जीव अपनेको अशुद्ध स्वरूपमें जानता है उस समय यह जीव अशुद्ध अवस्थाको प्राप्त होता है। इस कारण सर्वपदार्थोंसे पृथक् केवल निज असाधारण गुणमय आत्मस्वरूप की पहिचान कर लेना आत्महितके लिए तो आवश्यक है। जो जीव निरन्तर धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माको प्राप्त करता हुआ ठहरता है उसका ज्ञानमय भाव होता है। सो ज्ञानमय भावसे अज्ञानमय भाव रुक जाता है। रागद्वेष मोह अज्ञानमय भाव हैं। यह अज्ञानमय भाव रुके तो सही फिर ज्ञानका अनुभव होता है।

क्लेशका कारण अज्ञानमयी कल्पनायें—जगतके जीवोंको क्लेश और कुछ नहीं है। अपने आपके प्रदेशमें अपनी कल्पना और ख्याल बनाकर अज्ञानमय भाव उत्पन्न करता है और दुःखी हो रहा है। शांति होनेके लिए बाहरमें कुछ नहीं करना है, अपने आपके अन्तरमें कुछ करना है। किन्तु जो ज्ञानमय भावसे अशुद्ध आत्माको ही देखता रहता है अर्थात् मैं क्रोधी हूँ, मैं चतुर हूँ, मैं धनी हूँ, अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं—इस प्रकार अपने शुद्ध आत्माको देखता है उसका अशुद्ध अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भावसे रागद्वेष भाव नहीं रुक सकते। ज्ञानमय भाव तो रागद्वेष मोहके आस्रवणके ही कारण हैं। अज्ञान-

मय अपने आपको जानता हुआ वह अशुद्ध आत्माको प्राप्त करता है।

संवरका कारण—इससे यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है। और संवरतत्त्व अद्भुत अद्वितीय है। मित्र कहो, पिता कहो, ईश्वर कहो, रक्षक कहो, यह एक संवर परिणाम है। स्वामी समंतभद्राचार्यने कहा है कि पाप रुक गया है तो और सम्पदासे क्या प्रयोजन है? सबसे अतुल महिनीय सम्पदा है तो पापनिरोध है। पर यदि पाप नहीं रुकता है, आता है तो अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन, क्योंकि पाप तो कर रहे हैं। उसके फलमें तो आकुलता ही होगी। और कर्म विपाकके समयमें भी आकुलताएँ होंगी, सो भैया! अपने आपको इस प्रकार देखना चाहिए कि मैं अकेला हूँ, घररहित हूं, शरीररहित हूं। और की तो बात क्या, अपने आपमें जो ममता रागद्वेष विभाव परिणाम होते हैं उन परिणामोंसे भी रहित हूं। मेरे सहज सत्त्वके कारण इस सहजस्वरूपमें केवल चैतन्य चमत्कारका स्वरूप विलसित होता है। मैं शुद्ध हूं, ज्ञानी हूं, ज्ञानानन्दघन हूं। इसे योगीन्द्र ही समझ सकते हैं, ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। ये सब संयोगजन्य भाव विभाव ये वाह्य चीजें हैं। वे वस्तुयें मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। ये तो चेतन अचेतन प्रत्येक द्रव्य प्रदेशोंसे भी भिन्न हैं और ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मप्रदेशोंमें होते हैं किन्तु कुछ समयके लिए होते हैं, निमित्त पाकर होते हैं, अन्तरमें स्वरसतः उत्पन्न नहीं होते; इस कारण वे भी बाह्य भाव हैं। वे मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार भेदविज्ञान करनेसे जो अनात्मा है उससे उपेक्षा हो जाती है। और जो आत्मतत्त्व है उसमें प्रवेश होता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा का उपयोग द्वारा यदि आलम्बन है तो कर्मोंका संवर होता है।

धारावाही शुद्धावलोकनका फल—पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि एक कलसमें कह रहे हैं—यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते। तदयमुदयमात्मारामात्मानमात्मा परपरिणति रोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति। यदि धारावाही ज्ञानके द्वारा इस ही प्रकार ध्रुव आत्मतत्त्वको प्राप्त करता हुआ शुद्ध आत्माको पाता है, शुद्ध आत्मारूप उपयोगमें ठहरता है तो यह आत्मा उदय होता हुआ अपने आत्माके प्रदेशोंसे, रागद्वेष भावोंसे दूर करके शुद्धतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे सम्वर होता है। क्या करना है? कर्म नहीं आने देना है। इन कर्मोके आनेके निमित्तभूत जो रागादिक विकार हैं उन रागादिक विकारोंमें उपयोग न लगावो। कर्मोंका उदय आता है, ये होते हैं, पर तुम्हारे ज्ञानमें तो वह बल है कि न उपयोग उसमें लगावें। जब रागादिक विकारोंका उपयोग द्वारा ग्रहण न करेंगे तो ये रागादिक विकार स्वयमेव छूट जायेंगे।

आत्मशरण ही परमार्थरक्षा—इन जीवोंका शरण केवल सम्वरभाव है। विषय कषायोंमें जो अनुरक्ति करते हैं उनके ये रक्षक न होंगे। रक्षक मात्र अपना परिणाम होगा।

जिस परिणाममें शुद्ध ज्ञानस्वरूप दृष्ट हो रहा हो, यह एक ध्रुव शुद्ध है। इस आत्मस्वभाव भगवानके ज्ञान बिना यह जीव अब तक रुलता चला आया है और जिस-जिस भवमें जिन जिन मोही जीवोंका संग मिलता है उन उन असहाय मोही जीवोंको यह अपना लेता है, किन्तु इस अपनानेका परिणाम तो उत्तम नहीं निकलता। जैन शासन पानेका तो फल यह है कि अपने आपमें अपने आपको ज्ञानमात्र निरख लेवें। यह बात जैसे बने तैसे कर लो।

आत्महितैषीकी आत्महितमें प्रगति—आत्मकल्याणके लिए भव्य जीवने न किसीका संकोच किया, न चिंता की किन्तु जैसे ही यह आत्मदेव आनन्दमय अनुभूत हुआ तैसे ही उनका सारा ढांचा बदल गया। ६ खण्डकी विभूतिमें रहने वाले हजारों राजावोंके बीच अपनी प्रतिष्ठा पाने वाले चक्रवर्ती भी जिस क्षण ज्ञान प्राप्त करते हैं और अपने आत्माके शांत आनन्दमय स्वरूपका स्पर्श करते हैं, उनका एकदम सर्व ढांचा बदल जाता है। मकान वह ही है, रानियां वे ही हैं, राजा लोग वही हैं किन्तु उनका झुकाव उन बाह्यकी ओर नहीं रहता है। अपने आत्मतत्त्वकी ओर झुकाव रहता है, और ऐसा झुकाव सारे जीवनभर बना रहा तो कोई अवसर पाकर कदाचित विरक्त हो जाय तो पूर्व जो पुरुषार्थ किया गया है उसके फल में अन्तर्मुहूर्तमें थोड़े ही दिनोंमें कैवल्यकी प्राप्ति होती है। कोई आग ऐसी होती है कि मालूम नहीं पड़ती। बहुतसे कोयलेमें आग सुलगा दी तो कुछ कोयलोंमें यह मालूम नहीं पड़ता कि जल रहे हैं किन्तु भीतर ही भीतर वे दहक रहे हैं, जल रहे हैं। एकदम स्पष्ट फिर वह आग हो जाती है। गृहस्थावस्थामें यह भेदविज्ञानकी आग यदि जल रही है तो लोगोंको पता नहीं पड़ता है उसकी ज्ञानकी महिमाका, किन्तु कोई क्षण पाकर एकदम उसका प्रताप विकसित हो जाता है।

शान्तिका उपाय ज्ञानस्वरूपानुभव—भैया! शांतिका उपाय कितना ही यत्न करके देख लो अन्यत्र न मिलेगा। जब शुद्ध ज्ञानस्वरूप मैं हूं, सबसे जुदा हूं, आकाशवत् अमूर्त हूं सो इस रूपमें जो कि यथार्थस्वरूप है, अनुभव करनेपर शांति मिलेगी। चाहे यह अनुभव अभी शीघ्र बना लिया जाय, चाहे यह अनुभव कभी भी बना लिया जाय पर इस यथार्थ अनुभवके बिना आत्मशांति नहीं प्राप्त कर सकते। अब सम्वरकी महिमा सुनकर जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि वह सम्वर किस प्रकारसे होता है? उत्तरमें श्री कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं:—

अप्पाणमप्पणा संधिऊण दो पुण्णपापजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णम्हि ॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं ॥१८८॥

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मविप्पमुक्कं ॥१८९॥

कुन्दकुन्ददेव सीधे सरल शब्दोंमें कह रहे हैं कि जो आत्मा अपने आत्माको अपने द्वारा पुण्य पापरूप सभी योगोंको रोककर दर्शन ज्ञानमें स्थित होता हुआ अन्य वस्तुकी इच्छा रहित और सर्व संगोंसे मुक्त होता हुआ आत्माके ही द्वारा आत्माको ही ध्याता है तथा कर्म नोकर्मोंको नहीं ध्याता, सो आप चेतता हुआ चेतनारूप होनेसे उस रूपके एकत्वका अनुभव करता है वह जीव दर्शन ज्ञानमय हुआ, और अन्यरूप नहीं हुआ करता है, सो आत्माका ध्यान करता हुआ थोड़े ही दिनोंमें कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त होता है ।

आत्महितके अर्थ प्रथम कर्तव्य——भैया ! क्या किया इसने ? अपने आत्माको पुण्य और पाप दोनों योगों से रोका । यद्यपि पुण्य और पापमें मुकाबलेतन पुण्यभाव भला है क्योंकि पापमें तो विषय और कषायोंकी तीव्रता रहती है और उन परिणामोंसे रहा सहा पुण्य भी बर्बाद हो जाता है । पाप सर्वथा वर्जनीय है । पापकी अपेक्षा पुण्यभाव शुभ है किन्तु जिसको सदा कालके लिए स्वाधीन शांति चाहिए, और स्वाधीन शांतिका जिसने कदाचित् दर्शन किया है ऐसे पुरुषका उपयोग न पापमें फंसता है और न पुण्यमें फंसता है । वह तो सीधा साक्षात् ज्ञानस्वभाव रूप धर्ममें उपयोगको लगाता है । तो ज्ञानी जीव सर्वप्रथम क्या करे कि पुण्य पापरूप रोगोंको अपने आत्मासे रोके ।

योगनिरोधका परिणाम——पुण्यपाप योगोंको रोककर हितार्थी शुद्ध ज्ञानमात्र अनुभव करे यही हुआ ज्ञान और दर्शनमें स्थित होना । जैसे कभी किसी दुकानकी चिंता हो या विदेशमें कोई आपका कारखाना हो और उसकी आप चिंता करते हुए बैठे हों तो बातें करने वाला या वक्ता यह पूछता है कि इस समय तुम कहाँ हो ? तो वह बीती बातका जवाब देता है कि हम बम्बईमें थे । याने बम्बईकी सोच रहे थे कामकाजके बारेमें तो वह कहाँ स्थित हुआ ? बाम्बेमें स्थित हुआ । अपने प्रदेशकी बात नहीं कह रहे हैं । वह अपने असंख्यात प्रदेशोंमें ही स्थित है किन्तु उपयोग द्वारा बाम्बेमें स्थित है । अच्छा समस्त परद्रव्योंका विकल्प त्यागकर यदि कोई आत्माके उस शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूपमें अपना उपयोग लगाये तो बतावो कि अब वह कहाँ स्थित है ? वह दर्शन ज्ञानमें स्थित है । तो इस प्रकार पुण्यपापरूप दोनों योगोंको रोककर दर्शन और ज्ञानमें स्थित होता हुआ अन्य पदार्थोंकी इच्छासे विरक्त होकर जो पूर्व रोगोंसे मुक्त हुआ अपने आत्माका ध्यान करता है वह जीव उस शुद्ध आनन्दमात्र अपने परिणमनको प्राप्त करता है ।

आन्तरिक आनन्दका बल——इस स्वाधीन आनन्दके अनुभवमें ही वह सामर्थ्य है कि भव भवके बाँधे हुए कर्मोंका क्षय कर सकता है । आनन्द तो सभी लोग चाहते हैं, पर आनन्द

के उपायमें जरा हिम्मत करके चलना चाहिए। आनन्दका उपाय है निज शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि रखना। अन्य सब धोखा है, मायाजाल है। किससे स्नेह करते हो? गृहमें जो ४-६ सदस्य आए हैं उनमें भी लगिए यह गृहस्थ धर्म है, सद्व्यवहार करो, रक्षा करो किन्तु अन्तरमें यह संस्कार बसाना कि ये लोग मेरे हैं, ये मेरे सर्वस्व है यह तो मिथ्या परिणाम है और जहाँ ऐसा मिथ्यात्व अध्यवसान हो जाता है वहाँ निराकुलताका दर्शन नहीं होता। वह जीव अन्तरमें आकुलित ही बना रहता है। क्या होगा अब, कैसे इनकी रक्षा हो, कैसे इनका खर्च चले, कैसे यह सब गाड़ी खिंचे? अरे यह सब कर्माधीन है। तुम तो अन्तरमें ज्ञान सुधारस चखो।

निर्णयानुसारिणी चेष्टा--ज्ञानी पुरुष तो कायदे कानूनके अनुसार अपना काम करते हैं, अतः ज्ञानीके चित्तमें कोई दुःख नहीं होता। क्या कायदा कानून है गृहस्थोंका? धर्म, अर्थ, काम तीन पुरुषार्थ हैं। धर्ममें पुण्य करना, सुबह उठना, पूजा, भक्ति करना है; अर्थमें धन कमानेके समय अपनी दुकान आफिस आदिका कार्य करना, फल क्या मिले? उस फल में अपना अधिकार न जमावो। जो भवितव्यमें है, जो कर्मोदयसे प्राप्त होता हो होने दो। कर्तव्य यह है कि जो प्राप्त हुआ है उसमें ही अपना विभाग बना लो। सोचते है लोग व्यर्थमें कि मेरा गुजारा इतने में नहीं होता। अरे कदाचित इससे आधा या चौथाई ही होता तो क्या उतनेमें गुजारा न होता? अवश्य होता। अन्य लोगोंको देख लो गुजारा चलता है कि नहीं चलता है। कामका मतलब पालन, सेवा, भोग उपभोग है। मोही पर्यायबुद्धि भी छोड़ना नहीं चाहते, विषय कषाय भोगनेकी प्रसक्ति भी दूर नहीं करना चाहते और चाहते हैं कि शांति प्राप्त हो, सो नहीं हो सकता है। कर्तव्य यह है गृहस्थका कि त्रिवर्गका समान सेवन करें।

गृहस्थका लक्ष्य--गृहस्थोंका मुख्य ध्येय धर्म धारण करना है, जिन खटपटोंमें उनका सयय अधिक लगता है उनका ध्यान नहीं है। हालांकि गृहस्थ धर्म ऐसा है कि अधिक समय बाहरी कामोंमें उपार्जनमें जाता है पर लक्ष्य उसका उपार्जन है ही नहीं। उसका लक्ष्य तो केवल एक है कि कब कैवल्य अवस्था हो? मैं केवल रह जाऊँ, सहज ज्ञानस्वभावमात्र ही अनुभऊँ। ऐसा ज्ञानस्वरूप हमारी दृष्टिमें बसा रहे। ऐसी दृष्टि बिना यह धर्मका अधिकारी नहीं हो पाता है। धर्म कही क्रियाकांडोंसे नहीं मिलता है। क्रियाकांड तो धर्म करनेका वातावरण बनाया करते है। धर्म तो आत्मस्वभाव जो ज्ञानमात्र है उसका अनुभवन है। पूजा करते हुएमें हमें यह अवसर आ सकता है क्योंकि प्रभुके गुणोंपर हमारी दृष्टि जा रही है ना। और कैसा ही स्वरूप मेरा है तो ऐसा अवसर आता है कि हम अपने स्वरूप का अनुभव कर सकें। गुरुसत्संग, शास्त्र स्वाध्याय तो ऐसे वातावरण है कि जो विषय

कषायोंसे दूर रख कर मुझे एक ज्ञानस्वरूपका स्पर्श करा सकेंगे। इसलिए ये सब बाह्य क्रियाकलाप हमारे धर्मधारण करनेके प्रयोजक हैं, पर ये क्रियाकलाप स्वयमेव धर्म नहीं हैं। धर्म तो आत्माका शुद्ध परिणाम है। भैया! आत्मस्वभावरूप इस धर्मभावमें स्थित होना यह गृहस्थका लक्ष्य होता है। यद्यपि गृहस्थ रहता है निम्न पदमें पर देखता है उच्च पदको, यह है गृहस्थका उन्नतिकारक साधन।

संवरोपयोगी कार्यत्रितय—ज्ञानी पुरुष संवरतत्त्वके लिए पुण्यपाप रूप दोनों योगों को रोकता है और शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें स्थित होता है। और अन्य द्रव्योंकी इच्छासे विरक्त होता है। भैया! तीन चीजें यहाँ कही गई हैं, सर्वप्रथम पुण्य पाप योगोंसे उपेक्षा करना, द्वितीय बात अपने दर्शन ज्ञानस्वरूपमें स्थित होना और तीसरी बात समस्त इच्छा विकल्पों को दूर करना। ये सब बातें हैं, वैसे तीनों बातें एक हैं एक ही आत्मामें, यों तीनों बातें स्वयं आ जाती हैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे। इस प्रकार यह जीव शुभ अशुभ योगोंसे दूर हुआ इससे दर्शन ज्ञानमें स्थित होता है। इससे रागद्वेष मोह संतान रुकते हैं, नवीन कर्मोंका आस्रव रुकता है, अपना ही पथ विशद होता है।

दृष्टिका प्रताप—जो जीव शुभ अशुभ योगमें प्रवर्तमान अपने आत्माको दृढ़तर भेद-विज्ञानके द्वारा आत्मामें ही ठहराता है और शुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक निज आत्मद्रव्यमें ही प्रतिष्ठित करता है तथा परद्रव्योंकी इच्छाको त्यागकर समस्त परिग्रहों से विमुक्त होता है, सो अत्यन्त निष्प्रकम्प होता हुआ रंच भी कर्म और नोकर्मको न छूकर आत्माका ध्यान करता हुआ एक निज एकत्वस्वरूपको चेतता है, वह शीघ्र ही सकलकर्मविमुक्त होता हुआ आत्माको प्राप्त कर लेता है। किसी चीजको पानेका उपाय केवल दृष्टि है। आत्माके हाथ पैर नहीं, किसी पदार्थको छू सकता नहीं, यह तो केवलज्ञान दर्शनात्मक है और ज्ञानदर्शनकी परिणति करता है। वह दृष्टिसे ही छूता है, तो जिसकी दृष्टि सहज शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप पर है उसने शुद्ध आत्माको पाया और जिसकी दृष्टि औपाधिक विकाररूप अपनेको मानने की है उसने अशुद्ध आत्माको पाया। अशुद्ध आत्माके पानेमें ये शुभ अशुभ योग आया करते है जो कि रागद्वेषमोहमूलक हैं। किसी पदार्थ सम्बन्धी रागद्वेष या मोह हो गया तो शुभ या अशुभ योग ही तो हुआ करता है। ऐसे शुभ अशुभ योगमें वर्तमान आत्माको अथवा योगोंसे हटकर अपने आत्माको रोकना यह ही सम्वरका उपाय है।

विजयका कारण उपेक्षा—एक कहावतमें कहते हैं कि "बड़ी मार करतारकी दिलसे दिया उतार।" घरमें १० आदमी रहते हैं। उनमें एक भाई प्रमुख है जो सबकी व्यवस्था करता है, वह अकृपा करे तो सब लोगोंकी उपेक्षा कर देता है। जिसकी उपेक्षा की जाती है वह यह सोचता है कि इससे तो भला यह था कि मार लेता, पीट लेता, गाली दे देता

पर यह उपेक्षा की जाना असह्य है। बरबादीका प्रबल कारण उपेक्षा है। रागद्वेष या कर्मादिक इनका विनाश उपेक्षासे होता है। इनकी उपेक्षा कर दें, ये अपने आप मिट जायेंगे। उपेक्षा कब होगी जब परम आनन्दमय अत्यन्त विविक्त चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मस्वरूप दृष्टिमें हो। जिस बच्चेको खेलनेकी आदत है उसको खिलौना दे दो तो वह अपने खिलौनेको खेलता रहेगा। आप उसे खिलौना न दोगे तो दूसरेके खिलौनेपर ललचायेगा, रोवेगा। मुझे तो खिलौना चाहिए। इसी प्रकार इस जीवको रमण करनेकी आदत है, चारित्रगुण है इसमें, तो कहीं न कहीं रमेगा। यदि परम आनन्दमय निज स्वरूप इसके उपयोगमें रहे तो वह अपने उपयोगमें खेलेगा और अपने आपके शुद्ध स्वरूपका पता न होगा तो बाहरी पदार्थोंमें खेलेगा। इन्हीं बाहरी पदार्थोंको कहते हैं विषय, विषयोंमें लगेगा। तो यहाँ यह ज्ञानी जीव चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको उपयोगमें लेता है। तो ऐसा शुद्ध, परसे विविक्त ज्ञानदर्शनात्मक आत्मद्रव्यको प्राप्त करता हुआ समस्त परद्रव्यमयताको अतिकान्त करके अपनेको किसी भी अन्य भावमय न मान करके सकल कर्मोंसे रहित रागद्वेष विकारोंसे रहित, ज्ञप्ति परिवर्तन क्रियासे रहित आत्माको प्राप्त कर लेता है, यही कर्मोंके सम्वरका उपाय है।

इस प्रकरणमें पूज्य श्री अमृतचन्द्रजी सूरि एक कलसमें कहते हैं:—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति स च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥

अक्षय कर्ममोक्षके अधिकारी—जो अपनी महिमामें रत है, अपने सहज ज्ञानज्योतिर्मय स्वरूपका परिचय होनेसे अगाध, गम्भीर, शुद्ध प्रकाशमें रत है, इस जीवके भेदविज्ञानके बलके द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नियमसे होती है। और इस ही कारण समस्त अन्य द्रव्योंसे दूर अचलित स्थित भव्योंके अक्षय कर्मोंका मोक्ष होता है। ऐसा मोक्ष होता है कि उस मोक्षका फिर कभी क्षय नहीं होता है। स्कूलमें पढ़ने वाले बच्चोंको छुट्टी प्यारी होती है। छुट्टी तो हो गई चार बजे, मगर उस छुट्टीका क्षय हो जायगा, यह उनको दुःख है। फिर दूसरा दिन आयगा १० बजे, फिर स्कूल जाना पड़ेगा। तो बच्चोंकी छुट्टीका तो क्षय है, किन्तु सिद्धभगवानको जो छुट्टी मिल गई उसका क्षय नहीं है। उन्हें छुट्टी मिली है तो अनन्तकालके लिए मिली है। वे छूट गए।

भैया! सिद्ध देवोंके भी हमारी जैसी संसारावस्था थी, तब झगड़े रहते थे, परेशानी रहती थी उन भावोंकी आत्मीयताकी कल्पनामें। परेशानी करने वाला कोई दूसरा नहीं था। कोई दूसरा द्रव्य तो आत्माको छूता भी नहीं है, और जिन परद्रव्योंका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, एक क्षेत्रावगाह है वे द्रव्य अब भी स्वयं नहीं छू रहे, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमि-

त्तिक सम्बंध है कि जिस जीवने रागादिक विकार परिणाम किया उस जीवके एक क्षेत्रमें अनन्त कार्माण वर्गणाएं बद्ध और स्पृष्ट रहती है और नवीन भी बँध जाती हैं। बँध रही इस हालतमें भी, आत्माके स्वरूपको छुवा नहीं है, निमित्तनैमित्तिक बंधन जरूर है। जब उन्हें छुट्टी नहीं मिली थी सिद्ध भगवंतोंको तब क्या हालत थी ? पीड़ित थे, परेशान थे, विकारोंको अपनाते थे। जन्म किया, मरण किया, किस-किस गतिमें भ्रमण किया करते थे, कैसे-कैसे कष्ट सहे। उन सब कष्टोंसे सिद्ध भगवंतोंको छुट्टी मिल गई। उनके अक्षय कर्म मोक्ष हुआ है। तो जो अपनी महिमामें रत हैं ऐसे पुरुषोंको शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है।

सामान्य उपयोगकी महिमा—सामान्य व्यापक चीज है, विशेष व्याप्य चीज है, अपने आपके सहज ज्ञानस्वभावका जब उपयोग होता है तो यह भरा और असीम हो जाता है, और जहाँ अपनी महिमासे च्युत हुआ और किन्हीं बाहरी पदार्थोंमें उपयोग दिया तो यही संकुचित हो जाता है। जैसे फूल खिल जाय और रात्रि आये तो वह मुंद जाय। दिन आये तो फिर खिल जाय। इसी प्रकार यह उपयोग अथवा आत्मा जब शुद्ध सामान्यतत्त्वका उपयोग करता है उस कालमें यह खिल जाता है, व्यापक हो जाता है, अत्यन्त आनन्दमय हो जाता है। और जब अंधेरा छाता है विशेषोपयुक्त हो जाता है, उस शुद्ध सहजस्वरूपके अवलम्बनसे चिगता है, बाहरी पदार्थोंमें स्थित होता है तो यह बुझ जाता है, संकुचित हो जाता है। इस संकुचितपनेकी हालतमें यह जीव दुःखी रहता है, और खिले हुएकी हालतमें असीम व्यापक सामान्यरूप होनेकी हालतमें यह आनन्दमय रहता है। इस प्रकार सम्वरके प्रकरणमें यहाँ ज्ञानी संतोंकी महिमा गाई जा रही है कि वे अपनी महिमामें रहते हैं, इस कारण उन्हें शुद्धतत्त्वकी प्राप्ति होती है और समस्त परद्रव्योंसे दूर स्थित होनेके कारण कर्मों का अविनाशी मोक्ष होता है। अब प्रश्न किया जा रहा है कि यह सम्वर किस क्रमसे होता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं:—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्सवि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणंपि जायइ णिरोहो।
कम्मस्साभावेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१९२॥

संसारनिरोधका क्रम—किस क्रमसे संसारनिरोध होता है उस क्रमका यहाँ वर्णन चल रहा है। रागद्वेष मोहरूपी आस्रवोंके कारण सर्वज्ञदेवने मिथ्यात्व अज्ञान अविरति भाव

और योग इन चारों अध्यवसानोंको कहा है। अज्ञानके इस आस्रवका अभाव होनेसे नियमसे आस्रवका क्षय होता है। करुणानुयोगकी दृष्टिसे तो मिथ्यात्व जहाँ है वहाँ मिथ्यात्वजनित आस्रव नहीं है। जहाँ अविरति नहीं है वहाँ अविरतिजनित आस्रव नहीं है। इसी प्रकार कषायादिकसे भी अलग होनेसे कषायजनित कर्मोंका भी निरोध होता है। तथा योगका अभाव होनेपर सर्वथा आस्रवका अभाव होता है। कर्मोंके निरोधसे नोकर्मका निरोध होता है और नोकर्मका निरोध होनेसे संसारका निरोध होता है और संसारके ही निरोधका नाम मोक्ष है। जगहका नाम संसार नहीं है, किन्तु मलिन परिणामोंका नाम संसार है। और निर्दोष परिणामोंका नाम मोक्ष है। द्वेष सहितपनेको संसार कहते हैं और द्वेष रहितपने को मोक्ष कहते हैं।

परिणामशुद्धिका फल निराकुलता—भैया ! वीतरागतासे पहिले ज्ञानी जीवके राग द्वेष भी कुछ पदवियों तक चलता है किन्तु राग द्वेषमें वे बसते नहीं हैं। उदय है, होते हैं विभाव, पर उन उदयोंमें, उनके उपयोगोंमें ज्ञानी जीव फंसते नहीं है। जैसे पानीमें नाव रहे तो नावका बिगाड़ नहीं होता पर नावमें पानी आ जाय तो नावका बिगाड़ है। इसी प्रकार संसारमें ज्ञानी आत्मा बसता है पर ज्ञानीमें संसार बस जाय तो ज्ञानभाव छूटकर अज्ञानभाव आ जाता है। जगतका नाम संसार नहीं है, मुक्त जीव भी लोकके अन्दर ही हैं, कही अलोकमें नहीं पहुंच जाते हैं, लोकमें रहकर भी अनन्त आनन्दमय हैं।

मलीमसपरिणामका फल क्लेश—जिस जगह मुक्त जीव हैं उस ही स्थानमें अनन्त निगोदिया जीव भी है। उस ही एकक्षेत्रमें हैं जिस क्षेत्रमें मुक्त जीव है। पर निगोदिया जीव वहाँ उतने दुःखी हैं जितने दुःखी यहाँके निगोदिया हैं। वहां ऐसी रंच भी सुविधा नहीं है कि चलो वे सिद्धलोकके वासी निगोदिया हैं तो इनका स्वासमें १८ बार जन्ममरण होता है तो कमसे कम उनका जन्ममरण आधा कर दें, स्वांसमें ९ बार ही जन्ममरण करें, सो नहीं है। वैसा ही क्लेश, वैसी ही मलिनता उनमें है जैसे कि यहाँके निगोदिया जीवोंमें है। इस लोकमें ही समस्त द्रव्य रहते हैं, उन द्रव्योंके रहनेसे कुछ अन्तर नहीं पड़ता है। रह रहे हैं। परमार्थसे समस्त द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमें रह रहे हैं, पर खुदके स्वरूपका जैसा परिणाम है वैसा ही उनको फल मिलता रहता है।

स्वरक्षाका उपाय—भैया ! इन संसारके जीवोंका रक्षक कोई दूसरा नहीं है। आँख पसारकर देखते हैं, जो दृष्टिगोचर होता है वह सब अपने ही तरह मायामय परिणति वाला है। वे स्वयं अशरण हैं, उनका क्या सहारा सोचते हो। सहारा तो अपने आपके उस अनादि अनन्त अहेतुक स्वभावका लो। इसका ही सहारा लो। जगत चाहे कैसा ही परिणमे, अपने प्रभुका सहारा लेने वाला कर्मोंका क्षय करके मुक्तिको प्राप्त करेगा। और अपना सहारा

छोड़ दिया, बाहरमें दृष्टि दिया तो बाह्यपदार्थ न तो शरण हैं, न उनका सदा संयोग है, कुछ कालका समागम है पर अंतमें उनका वियोग नियमसे होगा। जैसे कि चींटी भींतपर चढ़ती है फिर गिर जाती है, फिर चढ़ती है फिर गिर जाती है, फिर चढ़ती है। इसी प्रकार यहाँ भी भाव चढ़ता है, फिर गिर जाता है। गिरने दो चढ़ने दो, पर अपनी धुन यही रखो कि हमको तो अपने परिणामोंमें चढ़ना ही है। यह निज शुद्ध ज्ञानमात्र जो परमानन्दमय स्वरूप है उसकी दृष्टि करना है। उस दृष्टिमें रहें तो हमारी रक्षा है और उस दृष्टिमें न रहें तो न पड़ौसके लोग रक्षक हैं और न कुटुम्बके लोग रक्षक हैं। हमारी रक्षा करनेमें समर्थ कोई दूसरा पुरुष नहीं है।

जिनशासनसे उपलभ्य भव—जैन शासनकी प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट फल यही है कि ऐसी दृष्टि जगे कि मैं सर्वसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र हूं। मेरा न कोई दूसरा सुधार कर सकता और न कोई बिगाड़ कर सकता। मुझे कोई सुख या दुःख नहीं दे सकता। यह मैं ही अपने आपके स्वरूपसे चिगकर बाह्य अर्थोंमें विकल्प करता हूँ तो स्वयं ही बिगड़ता हूं, स्वयं ही दुःखी होता हूं। सर्व पदार्थ स्वयं सत् हैं। किसी भी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ परिणमन नहीं कराता। ऐसा आत्मस्वरूप समझकर अपने आपमें रमनेका यत्न करना चाहिए। यदि अपने खिलौनेमें न रम सके तो बाहरी दूसरे पदार्थरूपी खिलौनोंमें बुद्धि फंस जायगी और दूसरेका खिलौना तो दूसरेका ही है। उसपर तो इस बालक जीवका कुछ अधिकार नहीं है। तो वे खिलौने सदा साथ रहते नहीं, मनके माफिक परिणमते नहीं तो निरन्तर आकुलताएं बनी रहती हैं।

वास्तविक जीवन—भैया! कोई क्षण ऐसा हो जब ज्ञानमात्र आत्मस्वभावका अनुभव हो, वही वास्तविक नया दिन है, नया क्षण है वही। जीवनका प्रारम्भ वहांसे है जहांसे पासा एकदम पलट जाय, यह बड़े साहसकी बात है। आजका समय कई बातोंमें कुछ क्षीण है। शरीर बलसे, मनोबलसे सत्संगबलसे सब ओरसे ह्रासका परिणाम होता जा रहा है। ऐसे समयमें भी जो ज्ञानी गृहस्थ संत श्रावक अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि बनाए हुए गृहस्थ धर्मको निभाते हैं वे इस कालके आदर्श मुमुक्षु है। जितनी क्षण अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि तो स्वरक्षा है और जितने क्षण अपने स्वभावसे चिगकर बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि रहेगी उतने क्षण अरक्षा है।

मोक्षमार्ग व संसारमार्ग—संवर अधिकारके प्रकरणमें ये अंतिम तीन गाथाएँ हैं। यहाँ संवरका क्रम बतलाया जा रहा है। संवरका विरोधी है आस्रव। उस आस्रवका मूल है अध्यवसान अर्थात् मिथ्यात्व अविरति अज्ञान और योग। इन चार चीजोंमें तीन चीजें तो वही है जो मोक्ष मार्गके विपरीत है और योग भी किसी अंशमें चारित्रका विघात है।

सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । मोक्ष तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकताको कहा है । तो मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः । संसार, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रको कहा है। इसीका नाम है मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति । ये तीनों भावात्मक चीजें हैं और योग प्रदेशात्मक चीज हैं। आस्रवका कारण अध्यवसाय है और साथ ही योग है । इन चार अध्यवसायोंका मूल है आत्मा और कर्मके एकत्वका निश्चय । आत्मा है ज्ञायक स्वभावमात्र और इसका कर्म है रागादिक विकार भाव । इन रागादिक कर्मोंमें और इस ज्ञायक स्वभावमें भेद न करके एकत्वका परिचय रहना सो ही कर्मोंका आस्रवका मूल है। किन्तु जैसे हंस अपनी चोंचके स्पर्शसे दूध और पानीको अलग कर देता है, पानीको छोड़कर केवल दूध ग्रहण कर लेता है इसी प्रकार ज्ञानी भव्य हंस स्वभाव और विकारमें इस मिले हुए तत्त्वमें उपयोग और विकारको अलग अलग कर लेता है। जो ध्रुव है, अनादि अनन्त अहेतुक है, निश्चय प्राणरूप है, ऐसा ज्ञानस्वभावी तो मैं हूं । और उपाधिका निमित्त पाकर जो विकारभाव होते हैं वे विकारभाव मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं ।

ज्ञानी जीवसे विपरीत अज्ञानीकी स्थिति—भैया ! स्वभाव व विभावमें भेदविज्ञान करके विकारोंको छोड़कर स्वभावका जो ग्रहण करता है और स्वभावको पी लेता है, अर्थात् स्वभाव दृष्टि करके एक समरसरूप अनुभव करता है वह विवेकी पुरुष है, ज्ञानी संत निकट भव्य है किन्तु इससे उल्टा जो अभव्य है, जिसका होनहार उत्तम नहीं है वह हाथीकी तरह सुन्दर और असुन्दर भोजनको मिलाकर एक साथ खा लेता है । हाथीके सामने मिठाई भी डाल दी जाय और घास भी डाल दी जाय तो उसकी ऐसी वृत्ति है कि वह घासमें मिलाकर चबा लेता है । इसी प्रकार अज्ञानी जीव उसके समक्ष दो तत्त्व मौजूद है—एक ज्ञानरूप तत्त्व और दूसरा अज्ञानरूप तत्त्व । तो वह अज्ञानी जीव ज्ञेय और ज्ञानको मिलाकर एक रसरूप अनुभव करता है । वह ज्ञान तो स्वयंमें ही है ना, पर उस ज्ञानमें एक ऐसी कल्पना आ गई कि अपने स्वरूपको तो भूल गया और ज्ञेयको याने परस्वरूपको सर्वस्व मानने लगा, तो ऐसी कल्पनामें इसने ज्ञान और ज्ञेयको मिलाकर एकरसरूप अनुभव किया, इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयका मिश्रित स्वाद यह अज्ञानी जीव लेता है । ऐसी तो अज्ञानी जीवकी स्थिति है और ज्ञानी जीवकी स्थिति यह है कि वह स्पष्ट एकदम ज्ञानस्वभावको परखता है, जानता है और उसमें रमनेका यत्न करता है ।

सांसारिक सृष्टिका हेतु—आस्रव भाव हैं मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान और योग । उसका कारण है आत्मा और कर्मोंके एकत्वका निश्चय करना । ये आस्रव भाव नवीन कर्मों के आनेके हेतु हैं और ये कर्म नवीन शरीर पानेके हेतु हैं और ये नवीन कर्म संसारके हेतु हैं । तब यह निश्चय करो कि नित्य ही यह आत्मा, आत्मा और कर्मोंमें एकत्वका

भ्रम करके मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगमय अपने आत्माका निश्चय करता है। जैसे अब सब भाई अपने आपमें ऐसा निश्चय किए बैठे हैं कि मैं अमुक लाल हूं, मैं अमुक चंद हूं, अमुक स्थितिका हूं, ऐसे घर वाला हूं; ऐसा निश्चय भी एक स्वभावके विपरीत निश्चय है। पर ऐसा होते हुए भी चूंकि व्यवहारमें कुछ न कुछ नाम तो रखना ही पड़ता है और कुछ न कुछ परिणमनमें रहना ही पड़ता है, सो रहते हुए भी अपने आपमें जो यह निश्चय बनाए रहता है कि यह मैं सामान्य जीव एक ऐसा शुद्ध आत्मा हूँ जिसका कि कुछ नाम नहीं। यह तो केवल अपने स्वभावमें अंतः चकचकायमान चैतन्य चमत्काररूप है। ऐसा अपने आपका विश्वास रखे तो वे क्रियाकलाप सब खतम हो जाते हैं। जो अपनेको नाम वाला, परिवार वाला, समागम वाला अनुभव करता है ऐसा निश्चय करने वाला रागद्वेष मोहरूपी आस्रव भावको भाता है। उस आस्रवभावसे कर्मोंका बंध होता है। उन कर्मोंसे फिर नोकर्म होते हैं। उन नोकर्मोंसे फिर संसार उत्पन्न होता है, और इस संसारके होनेसे ही दुःख है।

यथार्थ दर्शनके लिये प्रेरणा—हम रहते कहाँ हैं? कहीं रहें पर हमारी दृष्टिमें सर्वोच्च तत्त्व रहना चाहिए। यह सर्वोच्च तत्त्व क्या है? व्यवहारसे तो परमात्मस्वरूप है और परमार्थसे आत्मस्वरूप है। ये दो ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। जहाँ तक हो आत्मस्वरूपमें स्थित रहें। न हो सके तो उस आत्मतत्त्वकी दृष्टि करनेके लिए हम परमात्मस्वरूपका ध्यान करते रहें। इन दोके अतिरिक्त और तो कोई शुद्ध तत्त्व नहीं है इसी कारण व्यवहार में शरण है तो अरहंतदेव सिद्ध भगवान शरण हैं। परमार्थसे शरण है तो हमारा भगवान शरण है। यों दृष्टि उस शुद्ध सर्वोच्च तत्त्वपर रहनी चाहिए। ऐसा ख्याल छोड़ दो, संस्कार और विश्वास छोड़ दो कि मैं अमुक नाम धारी हूं, मैं अमुक जातिका हूं, मैं अमुक पोजीशन का हूं, मैं अमुक संग वाला हूँ, इस विपरीताशयको छोड़ दो, ऐसा ख्याल करो कि यह मैं केवल अपने आपमें अपने स्वरूप हूं, और ऐसा ही हम संस्कार बनाएँ कि मैं शरीरसे बिल्कुल पृथक् केवल चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व हूं। ऐसी दृष्टि होनेपर हम अपनेको शुद्ध पायेंगे, और शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेसे यह सम्वरतत्त्व प्रकट होगा। यह सम्वरतत्त्व हमारा परम सुखदायी है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने आपको वस भावनासे वासित बनाए रहें कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूं, अन्य अविकरूप मैं नहीं हूं, मैं अन्य विकाररूप नहीं हूँ—इस भावनासे सम्वरतत्त्व प्राप्त होता है।

संसारनिरोधका हेतु और संवरका क्रम—संसारका निरोध कैसे होता है? संसारके हेतु क्या हैं उनका निरोध करें तो संसारका निरोध हो सकता है। संसारका हेतु है शरीर, शरीरका हेतु है कर्म; कर्मोंका निरोध हो तो नोकर्मका निरोध हो सकता है और कर्मोंका

हेतु है आस्रव भाव याने के रागद्वेष मोह, और रागद्वेष मोहका साधन है आत्मा और कर्मो के एकत्वका अभ्यास। आत्मा जो कुछ करता है उस क्रियामें और अपने स्वरूपमें आस्रवसे होते हैं कर्म, कर्मोंसे नोकर्म और नोकर्मसे संसार होता है। जहाँ इस जीवने अपनी ओर अपनी क्रिया की, भेदविज्ञान किया अर्थात् मैं शाश्वत ज्ञानस्वभावी हूँ और परिणतियां मेरे स्वभावसे अत्यन्त भिन्न हैं—ऐसा भेदविज्ञान जब किया और शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्माको प्राप्त किया तो मिथ्यात्व, अज्ञान अविरति योगरूपी अध्यवसानोंका अभाव हो जाता है। जब रागादिकका अभाव होगा, जब मिथ्यात्व आदिकका भी अभाव होगा और जब रागादिकका अभाव हुआ तो कर्मोंका भी अभाव हो जाता है। कर्मोंका अभाव हो जाने पर नोकर्मोंका भी अभाव होता है और नोकर्मोंका अभाव होनेपर संसारका भी अभाव होता है। ऐसा यह संवरका क्रम है।

अनवरत भेदविज्ञान करने की प्रेरणा—भैया! शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि होनेसे साक्षात् सम्वरतत्त्व उपलब्ध होता है और वह उपलब्धि भेदविज्ञान से होती है। इस कारण भेदविज्ञानकी ही निरंतर भावना करनी चाहिए। यह भेदविज्ञान तब तक बनाए रहना चाहिए जब तक परसे च्युत होकर यह ज्ञानस्वरूपी अपने आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित न हो जाय। शरीर को छोड़कर आत्माके सहजस्वरूप चैतन्यभाव का अध्ययन करना चाहिए। जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही हुए हैं और जितने भी अभी तक बंधे है वे सब भेदविज्ञानके अभावसे बंधे हुए हैं। यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षासे रागादिक विकल्परहित स्वसम्वेदनरूप भाव श्रुतज्ञान शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे परोक्ष कहा जाता है याने ज्ञानके ५ भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इन पांचोंमें से आत्मानुभवरूप भावज्ञानको किसमें गर्भित करोगे? मति श्रुतके सिवाय कोई तीसरा ज्ञान तो अपने नहीं है। या तो मति रूप कहो या श्रुत रूप कहो। मतिज्ञान कहो तो परोक्ष हुआ, श्रुतज्ञान कहो तो सविकल्प हुआ। सो यह यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष कहा जाता है तो भी इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए विकल्प ज्ञानकी अपेक्षासे वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस कारणसे आत्मा स्वसम्वेदन ज्ञानकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष होता है और केवलज्ञानकी अपेक्षा से वह परोक्ष कहलाता है। पर उस स्वसम्वेदन ज्ञानको केवल परोक्ष नहीं कहना चाहिए।

स्वानुभवकी अतीन्द्रिय प्रत्यक्षता—भैया! क्या चतुर्थकालमें भी केवलज्ञानी इस ज्ञानको हाथमें रखकर दिखा पाते थे? वे भी दिव्यध्वनिसे बोलकर चले जाया करते थे। वहाँ भी उनके उपदेशके श्रवणसे श्रोताजनोंको जो बोध होता था वह सब परोक्ष ही था। किन्तु स्वानुभवके कालमें वह एकज्ञानस्वरूपका अनुभव प्रत्यक्ष था। आत्माके सम्बन्धमें जितनी भी विवेचना सुनी जाय और जो कुछ भी विकल्प किया जा रहा हो वह सब परोक्ष है

किन्तु समाधि कालमें ज्ञानानुभवके समयमें वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। सो वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष इस कालमें भी हो सकता है। इस कारण परोक्ष आत्माका कैसा ध्यान किया जाता है ? ऐसा प्रश्न होनेपर इन गाथावोंको कहा गया है। सीधी बात यह है कि आत्मानुभव की कोई ऐसी सरल तरकीब पायें कि अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर लें। सबसे विविक्त केवलज्ञान ज्योतिमात्र मैं हूँ--ऐसा अपने आपको अनुभवें तो आत्मानुभव हो जाता है। स्व-सम्वेदनका उपाय ज्ञानगुण ही है। अनुभव तो यह आत्माका कुछ न कुछ कर ही रहा है, अपनेको परिवारवाला माने, किसी जाति काल वाला माने, किसी गोष्ठी वाला माने, पर अपनेको कुछ न कुछ यह मानता जरूर है। बजाय उन सब कल्पनावोंके केवलज्ञान मात्र अपनेको माने तो यह भाव स्वानुभवजनक होगा। अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवना यही स्वानु-भवका उपाय है स्वानुभव ज्ञप्तिमें अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

स्वानुभवका उपाय—यह ज्ञान, ज्ञानमें ही निश्चल प्राप्त हो, एतदर्थ पहिले तो भेद-विज्ञानके उदय होनेका अभ्यास हो, ज्ञानमार्गमें आगे बढ़ें। उसमें सबसे पहिले करने योग्य काम है सो भेदविज्ञानका है। सर्वद्रव्य भेदविज्ञानके दारा प्रसिद्ध होते हैं। इस भेदविज्ञानसे भिन्न-भिन्न द्रव्योंको भिन्न-भिन्न समझा जाता है। मैं आत्मा जुदा हूं और शेष पुद्गलादिक जुदा हैं। पहिले तो भेदविज्ञानसे यह जाना जाता है, फिर भेदविज्ञानसे शरीर और आत्मा जुदा है, फिर यह जाना जाता है कि शरीर जड़ है, मैं आत्मा चेतन हूं। फिर तीसरी बारमें आगम और युक्तिसे सिद्ध हुए कर्मोंमें और अपने आपके आत्मामें भेद किया जाता है कि वे कर्म जुदा हैं और मैं आत्मा जुदा हूं। चौथी बारमें उन कर्मोंके उदयकी अवस्थाको पाकर जो आत्मामें रागादिक विभाव होते हैं उन रागादिक विभावोंमें और अपने आत्मामें भेदविज्ञान किया जाता है। ये रागादिक विभाव जुदा हैं और यह मैं ज्ञायकस्वरूपी ये रागादिक विभाव जुदा हैं और यह मैं ज्ञायकस्वरूपी आत्मा जुदा हूँ। ऐसा फिर भेद-विज्ञान किया जाता है। उन कर्मोंके अनेक अवस्थावोंका निमित्त पाकर जो वितर्क उत्पन्न होते हैं, युक्ति विचार उत्पन्न होते हैं उन विचारोंसे भी यह मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा जुदा हूं, इसका भेद विज्ञान किया जाता है, फिर आगे और बढ़कर ऐसा भेदविज्ञान किया जाता है कि शुद्ध ज्ञानकी किरणें भी जा रही है। जो ज्ञानकी शुद्ध परिणति होती है उस परिणतिसे भी भिन्न ज्ञानस्वभावमात्र मैं आत्मा हूं, ऐसा वस्तुज्ञान किया जाता है। यावन्मात्र परि-णति है, उन सब परिणतियोंरूप अपनेको न तक कर अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभाव मात्र अपने आपको निरखकर अपने आपकी ओर उन्मुख हो, यह है स्वानुभव का उपाय।

भेदविज्ञान द्वारा साध्य लक्ष्य—स्वानुभवके उपायमें प्रथम तो भेदविज्ञानका उदय

हुग्रा, फिर भेदविज्ञानके ग्रभ्याससे शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति हुई, उस शुद्ध तत्त्वकी प्राप्तिसे रागादिकके समूहको पृथक् करके ग्रास्रव रुका, ग्रास्रवके रुकनेसे कर्मोंका सम्वर हुग्रा। कर्मोंका सम्वर होनेसे ग्रात्माने परमशान्तिको धारण किया, जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह ज्ञानका उदय भेदविज्ञानके प्रतापसे होता है। कुछ क्षयोपशमके दोषसे ज्ञानमें जो मलिनता थी ग्रब वह नहीं रही। ग्रब यह दोषरहित है। ग्रब दोषोंके न होनेसे निर्मलता है। इस ज्ञानस्वभावको तका जा रहा है। यह एक है, ग्रपरिणामी है, स्वत:सिद्ध है, मेरा निश्चय प्राण है, जो कभी जुदा नहीं किया जा सकता, इस रूप ही मैं सदा वर्तता हूं। इससे ग्रागे ग्रौर मैं कुछ नहीं करता हूँ, ऐसा स्वरूप मात्र ग्रपनेको तकना बस यही भेदविज्ञान द्वारा साध्य फल है।

भेदविज्ञानसाध्य ग्रात्मसंतोषकी श्रेयस्करता—भैया! भेदविज्ञान द्वारा साध्य ग्रात्मसंतोषके कारण ही कर्मोंका क्षय हुग्रा करता है। कर्मोंका विनाश क्लेशोंसे नहीं हुग्रा करता है। कर्मोका विनाश ऋद्धि सिद्धिसे हुग्रा करता है। उसका जो चैतन्यस्वभाव है उसकी प्रसिद्धि ही ऋद्धि सिद्धि है। वही उसका लक्ष्य है, वही उसकी लक्ष्मी है। चाहे चैतन्य कहो, चाहे लक्ष्य कहो, चाहे लक्ष्मी कहो एक ही बात है। यही मेरा ज्ञानस्वरूप है, इसको छोड़कर यह न रहा, न रहेगा। ऐसे परमपिता, शरणभूत ग्रपने ग्रापके स्वभावको न लखकर ग्रब तक यह प्राणी संसारमें भ्रमण कर रहा है। जिस किसीको ग्रपना मान लिया उसे इष्ट मान लेता है ग्रौर जिसको पराया मान लिया उसे ग्रनिष्ट मान लेता है। यही रागद्वेष मोह भाव है। इसका मूल ग्रज्ञानभाव है। उस ग्रज्ञानका उच्छेद भेदविज्ञानके द्वारा होता है। सो भेदविज्ञान कर जिन महापुरुषोंने इस ग्रज्ञानका उच्छेद किया, यथार्थस्वरूप ग्रपने उपयोगमें लिया, वे किसी भी परिस्थितिमें रहें ग्रपने ग्रन्तरमें ग्रनाकुलताका ही स्वाद लिया करते हैं। यों ज्ञानका प्रबल उदय हुग्रा ग्रौर यह ज्ञान सम्वरके भेदविज्ञानसे इस उपयोगभूमिमें ग्राया जाता है। यह उपयोग दर्शक है ग्रौर ग्रब उपयोगभूमिके सम्वरके रूपमें ग्राकर यह भेष निकालता है ग्रौर यों सम्वराधिकार यहाँ पूर्ण होता है।

निर्जराधिकार

ग्रब निर्जराका प्रवेश होता है। मोक्षमार्गके पर्यायभूत ७ ग्रथवा ९ तत्त्वोंमें यह एक निर्जरा नामक तत्व मोक्षका मार्गभूत है। इस उपयोगमें ज्ञानपात्रका ग्रब निर्जरा तत्वके भेषमें प्रवेश होता है।

निर्जराकी संवरपूर्वकता—भैया! निर्जरासे पहिले सम्वर तत्व ग्राया था। सम्वर तत्व विकार शत्रुवोंके रोकनेका काम करता है। रागादिक ग्रास्रवोंके रुकनेसे ग्रपनी धुराको धारण करता हुग्रा यह उत्कृष्ट सम्वर तत्व ग्राया था ग्रौर ग्रब वह सम्वर साथ चल रहा है। सम्वरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षका मार्ग है ग्रन्यथा जो बंधे हुए कर्म हैं उनका उदय ग्राने

पर तो निर्जरा होती ही रहती है। निर्जरा कहो, उदय कहो एक ही बात है। सूर्य निकलना कहो या उदय होना कहो एक ही बात है। सूर्य निकलता है सूर्य उदित होता है—दोनोंका अर्थ एक ही है। पर जो निकलना सम्वरपूर्वक नहीं है उसको तो उदय कहते हैं। और जो निकलना सम्वरपूर्वक है उसको निर्जरा कहते हैं। कर्म उदयमें आए, खिर गए, वे नवीन कर्मोंके बंधका कारण नहीं बनते, तो वे खिर ही गए, उसको निर्जरा कहते हैं। तो रागादिक आस्रवोंके निरोधसे अपनी धुराको धारण करके यह उत्कृष्ट सम्वर तत्व होता है। अब पहिले बँधे हुए कर्मोंको जलानेके लिए निर्जराका उदय होता है। कोई कर्जा चुकाने जाय और नवीन कर्जा ले आए तो वह कर्जेसे मुक्त तो नहीं कहला सकता। दूसरेसे कर्जा लिया, दूसरे का चुकाया, ऐसी स्थितिमें थोड़ा इतना तो सुख हो जाता है कि जिसका पुराना कर्जा है वह सिर नहीं चढ़ता, मगर वस्तुतः कर्जदार तो है ही। कर्जसे उन्मुक्त नहीं होता। इसी प्रकार कर्म उदयमें आते हैं, झड़ जाते हैं पर नवीन कर्म बँध जाते हैं। तब वे तो ज्योंके त्यों रहे किन्तु सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे नवीन कर्म तो रुके हुए हैं और पूर्वबद्ध कर्म खिर जाते हैं। ऐसी स्थितिको मोक्षमार्ग कहते हैं।

निर्जराका अवसर—यह निर्जरा कब प्रकट होती है? जब ज्ञानज्योति संसारप्रसारक आवरणसे रहित हो जाती है। मोहसे यह ज्योति मूर्छित नहीं होती है। आत्माका सर्वोत्कृष्ट वैभव है तो ज्ञानज्योतिका मूर्छित न होना है। लाखों करोड़ोंकी सम्पत्ति भी प्राप्त न हो हो जाय, बाह्य अर्थोंमें ही झुकाव बना रहे, अपने ज्ञानस्वभावकी रंच भी स्मृति न हो तो यह समस्त वैभव भी इस जीवका क्या हित करेगा? सर्वोत्कृष्ट वैभव तो निज ज्ञानज्योतिका आलम्बन है। सो जब ज्ञानज्योति प्रकट हो, आवरणसे मुक्त हो तब भी जीव रागादिकसे मूर्छित नहीं होता है, इसीका नाम निर्जरा है।

रागादिकसे भिन्न अपने आपको ज्ञानमात्र निहारना अपूर्व पुरुषार्थ—जैसे द्रव्य निर्जरामें यह कहा जायगा कि कर्म झड़ गए, पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें झड़ गईं तो भाव निर्जरामें यह कहा जायगा कि रागादिक झड़ गए अर्थात् रागादिक मूर्छा करने वाले उत्पन्न नहीं हुए। रागादिक भाव हों और उन रागादिकसे पृथक् भावोंका आशय बना रहे तो उसे निर्जरा ही कहते हैं। सबसे बड़ा पुरुषार्थ है ज्ञानी पुरुषोंमें कि वर्तमानमें जो रागादिक भाव हो रहे हैं उससे भिन्न ज्ञानमात्र अपनेको तकना—यह भावात्मक पुरुषार्थ है। यह सबसे किया जा सकता है। ऐसा अन्तरमें पुरुषार्थ हो तो उसके फलमें सर्व सिद्धि प्राप्त होती है। पहिले बँधे हुए कर्म क्षणभरमें ही झड़ जाते हैं, नवीन कर्मोंका बंध नहीं होता, कोई संकट और आकुलताएँ उसके अनुभवमें नहीं आतीं, उसके आत्मसिद्धिकी आनन्दकी धारा बहती है। कब किसके? जो पुरुष अपने आपको वर्तमानमें उदित रागादिकसे न्यारा समझता है।

परिकरमें भी ज्ञानदृष्टिकी संभावना—भैया ! यह बात घर गृहस्थी लोकव्यवहारमें भी हो सकती है कि करते भी जाते हैं और उसमें मन नहीं है, उससे बिलगाव है तो परमार्थसे तो परमार्थमें भी यह बात न हो सकेगी । हो जाते हैं रागादिक और रागादिकसे लगाव नहीं है ऐसी स्थिति हो, यही सबसे बड़ा वैभव है । प्रयत्न यह करना चाहिए । क्या कि वर्तमानमें जो विकार चलते हैं, बंध चलते हैं, वाञ्छा चलती है, प्रवृत्ति चलती है उन सबसे पृथक् ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसी दृष्टि जगे तो गृहस्थीमें घरमें रहकर भी जीव मोक्षमार्गी है । मोक्ष मार्गकी यही तो विशेषता है कि कितने ही संकट आएँ, कितने ही समागम जुटें, कैसी ही परिस्थिति आए प्रत्येक परिस्थितिमें अपनी ज्ञानदृष्टिको न भुलाना । ज्ञानदृष्टिको भूले तो फिर जगतमें कोई शरण न होगा ।

सब जीवोंकी भिन्नता व समानता—भैया ! यह सब मोहकी नींदका स्वप्न है कि ये शरण हैं । जब तक पुण्यका उदय चल रहा है तब तक लोग तुम्हारे साथी हैं, तुम्हारे पुण्यका उदय न रहे तो वे स्वयमेव ही तुमसे विलग हो जाते हैं । यहां लोकमें किसका विश्वास करें ? एक शरण मानो तो अपने शुद्ध सम्यक्त्व परिणामका मानो । जगतमें कौन जीव पराया है और कौन अपना है जिसे अपना समझते हो ! ये अभी तो कुछ समयसे मिले हुए हैं । इससे पहिले कहां थे ? तुम्हारे कुछ थे क्या ? कहो पूर्वभवके वे शत्रु भी हों और कदाचित् आपके घरमें सम्मिलित हो गए तो आप उन्हें अपना मान रहे हो और बाकी अन्य जीवोंको पराया मान रहे हो । जिन्हें तुम पराया मानते हो कहो पूर्वभवमें वे तुम्हारे हितैषी रहे हों । आज वे तुम्हारे घरमें नहीं पैदा हो सके तो गैर समझते हो । जीवके स्वरूपको तो देखो । सब जीव एक स्वरूप वाले हैं । ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टिके अन्तरमें बनी रहती है ।

मात्र जाननहार रहनेका उद्यम—भैया ! गृहस्थी है, करना पड़ता है, भार लदा है, सम्हालना पड़ता है, पर शुद्ध बात तो सदा बनी रहनी चाहिए । शान्ति कौन देगा ? किसमें ताकत है जो किसी दूसरेमें शान्ति उत्पन्न कर सके ? किसीमें सामर्थ्य नहीं है । खुद ही ज्ञान को उल्टा कर औंधा कर चल रहे हैं, अटपट चल रहे हैं इसलिए दुःखी हैं । अपने ज्ञानको सुल्टा दें तो लो अभी सुखी हो जाएँ । अपने आपके आत्माको छोड़कर अन्य किसीको शरण और रक्षक मत मानो । ज्ञाताद्रष्टा रहो, जानते रहो सब, पर किसीसे राग न करो । जिनको कल्पनासे मान रखा है कि ये मेरे हैं उन्हींसे अपना हित समझते हैं, और शेष अन्य जीवोंको मान लिया कि ये तो गैर हैं, ऐसा मान लेनेसे उनसे उपेक्षा करते हैं ।

प्रभुदर्शनका संकल्प—कितना यह प्रभु बिगड़ रहा है ? इसीमें इसको अपने प्रभुके दर्शन नहीं हो पाते हैं । जहाँ जगतके जीवोंमें ये मेरे हैं, ये पराये हैं ऐसा भाव रहता है वहाँ प्रभुके दर्शन नहीं हो पाते हैं । और प्रभु दर्शनके बिना संसारसे पार नहीं हो सकते ।

इसलिए किसी क्षण तो ऐसा घुलमिल जावो कि सर्व जीवोंमें खुद मिल गए और कुछ अपने आपका पता न रहे। एक जाननस्वरूपमें ही एकमेक हो गए। ऐसी दृष्टि कभी तो जगा लो। अपने जीवनमें किसी भी समय प्रायः ऐसी दृष्टि बनानेके लिए कोई किसी दिन सोचे और हो जाय, ऐसा नहीं हो पाता। उसके लिए प्रतिदिन उद्यम होना चाहिए।

प्रभुदर्शनका उद्यम—किसी भी क्षण तो ऐसा साहस बनाओ कि मैं तो किसी भी परद्रव्यको अपने उपयोग आसनपर न ठहराऊँगा। मैं सबसे न्यारे अपने आपके स्वरूपमें रहूंगा। ऐसी दृढ़ साधनाके साथ क्षणभर ठहर जायें तो वहाँ प्रभुताके दर्शन होते हैं। ऐसे ज्ञानको ही अपना सर्वस्व समझने वाले ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपकी ओर झुकते हैं। सारा जहान प्रतिकूल हो जाय तो मैं अपने स्वरूपके प्रतिकूल न हो जाऊँ, और अपने अन्तर्मुख रहूं।

परपरिणतिसे मेरे परिणमनका अभाव—भैया! जगतके सर्व प्राणी मेरे अनुकूल हो जाएँ, मेरा ही सब गुणानुवाद किया करें तो इससे भी मेरा हित नहीं हो सकता। मैं ही बहिर्मुखताको छोड़कर निज अन्तर्मुखताको ग्रहण करूँ तो मेरा सुधार हो सकता है। इस संसारमें मैं अकेला हूं, ऐसी अपने आपके अन्दर भावना तो की जाय। यदि संसारके इन जीवोंमें ही लगाव रहा तो यह संसारचक्र बढ़ता चला जाता है। ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया है तो इसमें जरा अपना जो हितरूप है, अपना ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि नियमसे कर लेनेका यत्न करिये।

अपना ध्यान—भैया! किसी की नहीं सुनना है। केवल एक अपने आपके अनुभव की धुन रखना है, करना पड़े सब, पर धुन न छूटे, हमारा लक्ष्य न छूटे। यहाँ न कोई विश्वासके योग्य है और न कोई रमणके योग्य है, न मेरे लिए कोई सुन्दर है। मेरे लिए मैं ही सुन्दर हूँ, शिवरूप हूँ और शुद्ध हूं—ऐसा अपने आपमें बल बढ़ायें तो उनके कर्मोंकी निर्जरा होती है। इस निर्जराके प्रकरणमें कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

ज्ञानीके उपभोगकी निर्जरानिमित्तता—कहते हैं कि चेतन और अचेतन द्रव्योंका जो इन्द्रियोंके द्वारा जो उपभोग करते हैं सम्यग्दृष्टि, वह सब निर्जराका निमित्त होता है। सभी कहते हैं कि बंधे हुए कर्म बिल्कुल छोड़ देते हुए नहीं झड़ते हैं। हां उदयसे एक समय भी पहिले यदि उसका संक्रमण कर देते हैं तो उसमें अन्तर आ सकता है। ऐसे कर्मोंका निष्फल कर देनेमें समर्थ एकत्वनिश्चयगत समयसारका आलम्बन है। एकत्व भावना भावनाओंमें प्रधान भावना है। इस एकत्व भावनाको कितने पदोंमें जीव भाया करते हैं।

पहिले सर्व बाह्य पदार्थोको अपनेसे पृथक् मानो, फिर शरीरसे पृथक् कर्मोसे पृथक् मानो, रागादिक विकारोंसे अलग अपनेको मानो। अपनेमें जो विचार वितर्क उत्पन्न होता है उन परिणतियोंसे भिन्न अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो। बहुत अन्तरमें प्रवेश करने वाले ज्ञानीके पूर्वबद्ध कर्मो के उदयसे कुछ रागादिक पीड़ा होती हैं। जब भेदज्ञान होता है तब उसे वह आफत समझता है और अपने एक अविनाशी ज्ञानस्वभावकी ओर लिप्सा बनी रहती है। इसही कारण उन अचेतन और चेतन द्रव्योंमें उपभोग किए जानेपर भी यह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंकी निर्जरा करता है।

निर्जराका कारण रागका अभाव--वीतराग पुरुषका उपभोग निर्जराके लिए ही है। राग नहीं है तो वह कर्म बन्धन नहीं कराता है। जहाँ ही मौका तका वहाँसे ही छुट्टी ले लेता है। और राग है तो वह बंधन होता है। आप देख लो कि जिसको गैर मान रखा है किसी कारण उससे सम्मिलित हुआ, कुछ व्यवहार प्रवृत्ति हुई, किन्तु राग नहीं है तो जहाँ ही अवसर पाता है वहाँसे ही छुट्टी ले लेता है। घरके जिन लोगोंको अपना मान लिया है उनके द्वारा संकट भी बहुत आएँ, क्लेश भी बहुत आएँ तो भी आखिर अंत तक उनको निभाते हैं, उनमें प्रवृत्त रहते हैं। विरागका उपभोग निर्जराके लिए ही होता है और सरागों का उपभोग चूँकि उनके रागादिकका सद्भाव है अतः वह उपभोग उनके बंधके निमित्त ही होता है। वह उपभोग मिथ्यात्व बंधका कारण होता है।

एकत्वके उपयोगीके निर्जरा--सम्यग्दृष्टिके रागादिकका अभाव होता है। यह रागादिकका अभाव निर्जराका निमित्त होता है। यह बात द्रव्यानुयोगकी कही जा रही है। करणानुयोग यह बताता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मामें भी जितने अंशमें रागादिक हैं वे विकार के ही कारण हैं। यहाँ द्रव्यानुयोगमें उपयोगकी मुख्यतासे कथन है कि यदि व्यवहारमें वृत्ति नहीं करता है, व्यवहारसे हटा हुआ होता है तो वह निवृत्ति निर्जराके लिए होती है। यहाँ द्रव्यनिर्जराका स्वरूप बतला रहे हैं। कर्म आ रहे हैं उदयमें और जीवके रागादिकका निमित्त पाकर चोट भी पहुंचे पर यह विश्वास व वृत्ति हो कि परमें हमें देखना ही नहीं है, केवल निज ज्ञायकस्वरूपको देखे तो कर्म निजीर्ण हो जाता है।

कल्पनाके संकट—देखो भैया ! उदय आ गया तो यही आत्मापर गहरी चोट कही गई है। यहाँ तो संकट ही क्या है ? जिस चाहे विकल्पको करके संकट मान लिया। जैसा वस्तुका स्वरूप नहीं है वैसा मानकर अपनेमें दुःख उत्पन्न कर लिया। अरे संकट वहाँ नहीं है। संकट तो निजमें है। जो कषाय उत्पन्न होती है, विकार भाव चलता है, वाञ्छा चलती है वह संकट है, और वह ऐसा गहरा संकट है कि इस जीवको वहिर्मुख बनाकर इसका होश छुड़ाकर बाह्यमें मस्त करा देता है, संसारके जन्म मरणका चक्र बढ़ाता है।

अत्यल्प परिचित क्षेत्रसे मोहका परिहार––भैया ! कितने जगहको आप जानते हैं ? ३४३ घन राजू प्रमाण लोकमें हजार दो हजार बीसवीं जगहके लोगोंको आपने समझ लिया तो बाकी कितने जीव पड़े हुए हैं ? उनका तो आपको परिचय ही नहीं है। इस थोड़े से क्षेत्रका राग छोड़ दो तो यह तुम्हारे लिए भला ही तो है। इस जगतमें अन्य जीवोंसे तुम्हारा कुछ भी सम्बंध नहीं है तो उस ही असम्बंधमें इनको भी बना लो।

अत्यल्प परिचित जीवोंके मोहका परिहार––कितने जगतके जीव हैं ? क्या कोई हद है ? अनन्तानन्त जीव हैं, जिनमें अनन्त जीव मुक्त भी हो जाएँ तो भी अनन्त जीव शेष रहते हैं। उनके समल परिचयमें आए हुए १००-५० पुरुषोंको क्या गिनती है ? समुद्रके एक बूँदकी गिनती हो सकती है पर इन जगतके जीवोंमें गिनती नहीं है। यह समुद्र असंख्यात बिन्दुवोंका समूह है। पर ये जीव तो अनन्त हैं। एक-एक बूँद घट-घटकर समुद्रका अंत कभी आ सकता है, पर अनन्त जीव यहाँसे मुक्त हो जायें तो भी इन जीवोंका अंत नहीं आ सकता है। इन अनन्त जीवोंमें से इन १० ५० जीवोंको अपना मान लिया अथवा १०-५ लाख पुरुषोंकी दृष्टिमें हम अच्छे कहलायें, तो भला बतलावो ये कितनेसे जीव हैं, उन अनन्त जीवोंको तो हम कुछ नहीं समझते। उन अनन्त जीवोंका हमें परिचय ही नहीं है। उन ही अपरिचित जीवोंमें इनको भी शामिल कर दो, क्योंकि जैसे ये हैं तैसे ही तो वे भी हैं।

प्रभुकी आज्ञा माननेमें वास्तविक प्रभुभक्ति—भैया ! इन जगतके जीवोंमें ये गैर हैं, ये मेरे हैं ऐसा भेद न डालो। श्रद्धामें, प्रतीतिमें स्वरूप तो निहारो। भगवान जिनेन्द्रने जो मार्ग बताया है उसपर हम नहीं चल सकते तो हमने भगवानकी क्या भक्ति की ? प्रभुकी भक्ति यही है कि स्वरूपदृष्टि करके इन जगतके जीवोंमें भेद मत डालो, अन्तर न डालो। सब कुछ व्यवहारमें करना पड़ता है, ऐसा उदय है, १०-२० आदमियोंका भार है, सम्हालना पड़ता है सब, किन्तु अपने स्वरूपके परिचयकी और धर्मका जब अवसर आये तब अन्तर मत डालो। सर्व एक चैतन्यस्वरूप हैं। हे प्रभो ! यह व्यक्तिगतता, यह पृथक्ता मेरी समाप्त हो और उस चेतनस्वरूपमें ही मग्न होऊँ, उपयोगमें हमारी व्यक्तिगत सत्ता न रहे तो यह हमारे हितकी बात है।

निजस्वरूपभक्तिका यत्न—सो भैया ! अन्तरमें करनेकी सारभूत बात निजस्वरूप भक्ति है। मुक्तिके मार्गमें जो निर्मल हुए हैं ऐसे परमात्मप्रभुके गुणोंको तकें, स्वरूपको देखें। घरमें बसे हुए जीवोंका गुणगान करनेसे क्या पूरा पड़ेगा ? प्रभुका गुणगान हो और उस ही के समान अपने अन्तरमें स्वरूपको निरखो, यह तांता लगना चाहिए। किसी भी क्षण सबको भूल जावो। यदि ऐसा उत्तम होनहार बन सकता है तो उसका तो आदर होना चाहिए किन्तु इस इष्ट अनिष्ट भावके कारण यह अन्तर मिट नहीं पाता, झट फंस जाता है।

ज्ञान ज्ञानके स्रोतकी ओर—भैया ! अपने भागे हुए ज्ञानको अपनेमें लावो। जैसे पानी समुद्रसे उठता है, सूर्यकी गर्मीके आश्रयसे उठता है, मगर बादलोंके रूपमें सब जगह घिर जाता है, उड़ता रहता है। बर्षातमें बरषता है और बरषकर नीचे-नीचे बहकर फिर समुद्रमें प्रवेश कर जाता है। इसी प्रकार प्रथम तो इस आत्माका ज्ञान रागादिकके कर्मोंके आतापके निमित्तसे अपने आपके स्थानको छोड़कर उड़ा, संसारमें चारों ओर बिखर गया, कहाँ कहाँ ज्ञान जाता है कहाँ-कहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती ? चारों ओर बिखरता है। बिखरा हुआ यह ज्ञान ज्ञानबलसे फिर नीचेकी ओर आया। जहाँसे आया था उस ओर मिलनेके लिए अब फिर प्रयत्न करता है और नीचे नीचे बहकर भीतर ही आकर इस ही आत्मामें प्रवेश कर जाता है। ऐसी होती है संतोंकी वृत्ति।

स्वरूपसे बाहरकी दृष्टिमें संकट—जब तक यह उपयोग अपने अध्यात्मको छोड़कर बाहरी अर्थोंमें विकल्पित रहता है तब तक दुःखमें रहता है। जैसे नदीमें जो कछुवा आदि जानवर होते हैं वे पानीके अन्दर किलोल मचाते हैं, उन्होंने पानीसे जरासा बाहर अपना सिर निकाला कि अन्य पक्षी लोग उसके ऊपर चोंच चलाने लगते हैं। उस समय उनका कर्तव्य यह है कि जब संकट बहुत ऊपर आ गए तो धीरेसे अपनी चोंच को अपने शरीरको पानीमें डुबो लें। फिर पक्षी लोग उसका क्या करेंगे ? इसी प्रकार यह जीव जब तक अपने उपयोगको बाहरमें नहीं भगाता है, निजकी दृष्टिमें रत है तब तक शांति है, सुख है, आनन्द है। और जहां अपने उपयोगको अपने ज्ञानसरोवरसे बाहर निकाला याने मोह नींदमें देखे जाने वाले पदार्थोंकी ओर उड़ा कि बस, अनेक संकट अनुभूति होने लगते हैं।

स्वयंमें ही संतोषकी प्राप्ति—भैया ! अज्ञानमें तो संकट ही है, क्योंकि इच्छा तो आशयमें चल रही है और जैसी इच्छा करता है तैसी ही बाहरमें परिणति नहीं देख पाते हैं। हमारा कहीं बाहरमें कुछ परिणमन कर सकनेका अधिकार ही नहीं है। सत् जुदा-जुदा है। अपनी स्वरूप सीमाका कोई तांता तोड़ दे तो आज ही सबका अभाव हो जाय। ये सब चीजें आज हैं, यह बात सबको सिद्ध करती है कि सारी चीजें अपने-अपने स्वरूपसे सत् हैं। ऐसा ही भेदविज्ञान करके अन्तरमें प्रवेश हो जाय तो यह अपना पालन पोषण और संतोष करता है। अपने आत्मस्वभावको छोड़कर बाहरमें कितना ही भ्रमा जाय, रमा जाय, और कितनी ही बड़ी-बड़ी चतुराईकी बातें कर ली जायें, और वैभव इज्जत पोजीशन कल्पनाके अनुसार कुछ भी किया जाय उन सबमें आत्मसंतोष न होगा, अंतमें संतोष होगा तो अपने आपके उपयोगमें ही होगा।

रागके आश्रयका अभाव—सहजस्वभावके आश्रयसे कर्म निर्जराको प्राप्त होते हैं। मैं तो चैतन्यमात्र हूँ, ये रागद्वेषादिक विकार है, यह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसी दृढ़ भावना

के कारण उसके द्रव्यनिर्जरा होती है। नहीं तो उदयागत कर्मोंका काम था। जैसे कि आस्रवाधिकारमें बताया गया कि नवीन द्रव्य कर्मोंका बंध करता है, मगर यहाँ नहीं कर सकता है क्योंकि उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्म करनेका निमित्तपना रागादि भावोंके कारण आया करता है। अब ये रागादिक भाव उपयोगको छू नहीं रहे हैं। होते हैं राग, पर रागमें राग नहीं है। मिथ्यादृष्टिके ही रागमें राग होता है। कदाचित् सम्यग्दृष्टिके भी राग होता है पर रागमें राग नहीं है।

रागमें राग न होनेका एक उदाहरण—जैसे घरमें चक्की पीसते हुएमें राग है और जो राग है उस रागमें भी राग है। वहाँ आसक्ति हुआ करती है। और जो कैदखानेमें चक्की पीसते हैं वे कोड़ेके बलसे पीसते है, वहाँ राग नहीं है। राग करना पड़े तो भी रागसे वे उठे रहते हैं। वहां चक्की पीसनेमें आसक्ति नहीं है। वह तो अवसर ताकता रहता है कि यह सिपाही जरासा मुख मोड़े कि पीसना छोड़ दिया। सम्यग्दृष्टि तो अवसर तका करता है। कब ऐसा अवसर आए कि कब इन सब खटपटोंसे मैं छुटकारा पाऊँ। और इसी कारण जब कभी रंच भी अवसर आता है तो वह अपने अवसरको व्यर्थ नहीं खोता है। ऐसे व्यक्ति के कर्मोंकी निर्जरा होती है। रागादिक भाव भी निर्जीर्ण होते हैं। इस प्रकार निर्जराका स्वरूप कहा, अब भावनिर्जराका स्वरूप कुन्दकुन्दाचार्य अगली गाथामें बता रहे हैं—

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१९४॥

परद्रव्योंके भोगे जानेपर सुख अथवा दुःख उत्पन्न होता है, सो उदयमें आये हुए उस सुख दुःखका यहाँ अनुभव तो होता है, किन्तु उनमें राग भाव न होनेके कारण वे द्रव्य कर्म निर्जराको प्राप्त होते हैं।

भावनिर्जरा—परद्रव्योंका इन्द्रियों द्वारा उपभोग जब होता है तब उसका निमित्त या तो सुखरूप भाव होगा या दुःखरूप भाव होगा, क्योंकि भोगके प्रसंगमें उस भोगमें यह निश्चित है कि या तो साताका विकल्प होगा या असाताका विकल्प होगा। साता और असाताके विकल्पका कारण क्षोभ परिणाम है। क्षोभ हुए बिना न कोई साता कर सकता है, न असाता कर सकता है। जीव क्षोभसहित हुआ करता है तब उस भोगके फलमें नियमसे इस जीवको सुख या दुःखका परिणाग होता है। यह सुख दुःखरूप परिणाम जहाँ अनुभूत किया जाता है, बँध जाता है। उस समय मिथ्यादृष्टियोंके तो वह बंधका कारण बनता है क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंके रागादिक परिणामोंका सद्भाव है किन्तु उस परिणमनमें राग न होनेसे ज्ञाता पुरुषके बंधका कारण नहीं बनता है। उस सुख दुःखके भोगे जानेपर यद्यपि कर्मोंकी निर्जरा मिथ्यादृष्टिके भी बरावर चलती रहती है तो भी वह चूंकि वन्धक है सो बंध

कर लेना भी अनिर्जीर्ण है। वह कर्जा चुकाना क्या है जिसमें दूसरेसे कर्जा लिया और दूसरे को चुकाया। हाँ, प्रत्येक सम्यग्दृष्टि जीवके चूँकि रागादिक भावोंका अभाव है सो बंधका कारण नहीं बनता। वह निर्जीर्ण होकर निर्जराको ही प्राप्त होता है। तो भावनिर्जरा रागादिकका अभाव है।

निर्जराके हेतुके सम्बंधमें एक प्रश्नोत्तर—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आपने तो यह बतलाया पहिले कि रागद्वेषादिका अभाव होना निर्जराका कारण बनता है पर सम्यग्दृष्टि के तो रागादिक हैं ही। १०वें गुणस्थान तक राग होता है। उसके कैसे निर्जरा हो जायगी? रागका अभाव ही तो निर्जरा है। राग होता है सूक्ष्म सम्पराय तक। निर्जराका वह कारण कैसे बन गया? ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर दिया जायगा कि प्रथम तो इस मोक्षकी कारणभूत निर्जराके लिए वीतराग सम्यग्दृष्टिका ग्रहण है। जिसके राग न हो ऐसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानीकी बात कही जा रही है कि उसके निर्जरा होती है। दूसरी बात यह है कि इस प्रसंग में जब कि इस ज्ञान शब्दके कहनेमें चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टिका भी ग्रहण कर लिया जाय तो सराग सम्यग्दृष्टि और वीतराग सम्यग्दृष्टि दोनोंकी एक कक्षा तो नहीं बन जायगी, वहाँ तो एक मुख्य गौण मानना पड़ेगा। ज्ञानी जीवके राग उठता है तो निरन्तर निर्जरा चलती है, ऐसा कथन मुख्य रूपसे तो वीतराग सम्यग्दृष्टिको लेना है और गौणरूपसे सराग सम्यग्दृष्टिको ग्रहण करना है।

अपेक्षाकृत निर्जरा—निर्जराके अपेक्षाकृत वर्णनको देखो, मिथ्यादृष्टिके जो निर्जरा होती है उसकी अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टिके असंख्यातगुणी निर्जरा विशेष है। मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वके सन्मुख होता है अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामोंको करता है। ये तीनों परिणाम वहाँपर मिथ्यादृष्टि अवस्थामें होते हैं। अनिवृत्तिकरण परिणाममें अंतरकरण होता है, अनिवृत्ति करके अन्तमें उपशम सम्यक्त्व होता है। यह जीव अपूर्वकरणमें आकर निर्जरा कर डालता है। अत्यधिक कर्मोंकी निर्जरा तो यह मिथ्यादृष्टि अपूर्वकरण परिणाकमें और अनिवृत्तिकरण परिणाममें कर डालता है जब कि सम्यक्त्व होता है तब शेष कर्म एक आनेसे कम समझो। करणानुयोगके ग्रन्थोंसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सम्यक्त्व होनेके पहिले इस जीवपर बहुतसे कर्मोंका भार लदा था। अब सम्यक्त्व होते ही भार कम रहता है। शेषका भार कब झड़ गया है सो बतलावो। वह झड़ गया है मिथ्यात्व अवस्थामें। सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षासे असंयत सम्यग्दृष्टिको देखा जाय तो अब इस असंयत सम्यग्दृष्टि जीवके अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न होनेवाला रागभाव नहीं है, और राग न हो तो निर्जरा होती है। तो जिन अंशोंमें ज्ञानी जीवोंके रागादिक नहीं हैं तो वहाँ निर्जरा ही मानी जायगी।

सम्यग्दृष्टियोंमें अपेक्षाकृत विशेष निर्जरा—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका उदय भी नहीं है। इस कारण इस चौकड़ी द्वारा जनित रागादिक नहीं है। इसका इस रागकी उपेक्षाके अभावसे संवर और निर्जरा और विशेष हो जाती हैं, फिर इसकी अपेक्षा प्रत्याख्यानावरण रहित ज्ञानीके और विशेष निर्जरा है। दो उत्तर हुए। तीसरा उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा संवरपूर्वक होती है और मिथ्यादृष्टिके निर्जरा बंधपूर्वक होती है। मिथ्यादृष्टिके उदयागत कर्म नवीन कर्मोंको बँधाकर बिदा होते हैं, यों ही चुपचाप बिदा नहीं होते हैं, सो मिथ्यादृष्टिकी निर्जरा बंधपूर्वक होती है और सम्यग्दृष्टिकी निर्जरा संवरपूर्वक होती है। इस कारणसे मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा समस्त सम्यग्दृष्टिको अबंधक कहा है पर पहिले कहे गए दोनों अपेक्षावोंसे भी जानना। जिस उपेक्षासे जब वर्णन किया जाता है उस उपेक्षामें रहकर उस वर्णनको डटकर किया जायगा।

अपेक्षाकृत वर्णनकी समीनताका उदाहरण—जैसे स्याद्वादके प्रकरणमें जब नित्यत्व सप्तभंगीका प्रयोग करते है तो इस प्रकार करते हैं—स्यात् नित्यमेव। स्यात् अनित्यमेव। उसमें 'एव' शब्द बोला। पदार्थ एक अपेक्षासे नित्य ही हैं। अगर इसमें संशय करोगे तो दोष लगेगा। जैसे किसी पुरुषके लिए कहा जाय उसके पिताका नाम लेकर कि यह तो उसका पुत्र ही है। इसमें 'ही' लगानेमें कोई भय रहता है क्या ? नहीं। यदि उसमें एव न लगाकर कहें कि क्या उसका पुत्र भी है तो इसमें दोष लग जायगा। क्या इसका पिता भी बन जायगा ? अपेक्षा लगाया और भी लगाया तो इसमें अनर्थ होता है। अपेक्षा न लगायें और भीतरमें अवश्य अपेक्षा समझें तो 'भी' की शोभा है पर अपेक्षा लगाकर 'भी' बोलना अनर्थ है। तो भैया ! ये तीन प्रकारके जो प्रकरणमें उत्तर दिए गए हैं उनकी उन उन अपेक्षावोंसे वैसा ही निर्णय करना। जहाँ एकदम सीधा सामान्य रूपसे यह कहा जाय कि सम्यग्दृष्टि जीवके बंध नहीं होता है। चाहे वह चतुर्थ गुणस्थान वाला हो और चाहे कोई गुणस्थान वाला हो वहाँ क्या भाव लगाना कि मिथ्यादृष्टि जीवोंके बधपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिए मिथ्यात्वसे बंधने वाली प्रकृतियोंकी सम्यग्दृष्टि जीवके संवरपूर्वक ही निर्जरा होती है। इस कारण सर्वथा अबंधक कह सकते हैं।

अज्ञानीके ज्ञानकलाका अनादर—देखो इस सम्यग्दृष्टिकी महिमाको जानकर, सुनकर अनेक पुरुष यह सोचेंगे कि ओह हमको तो चौथा गुणस्थान ही भला है। अधिक तपस्या व्रत नहीं करना है। देखो तो ये असंयत सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकारके भोग भोगते रहते है फिर भी यहाँ अबंधक कहा गया है। तो जहाँ दोनों हाथ लड्डू मिलते हों, घर भी न

छोड़ना पड़े, व्रत, तप, संयम भी न करना पड़े और अबंधक भी बन जायें, ऐसा तो बहुत सस्ता मामला है। हमको तो चतुर्थ गुणस्थान ही सम्यक् है। लेकिन कहना ही आसान है, किन्तु वह कौनसी अग्नि कणिका उस सम्यग्दृष्टिके अन्दर जल रही है जिसके कारण भोग भोगते हुए भी कर्मोंसे नहीं बंधता है। उसकी कलाको तो निरखो। वह कौनसी कला है ? वह कला है ज्ञानकी, वैराग्यकी। दूसरे अज्ञानी जीव सुनकर भले ही खुश होते हैं कि असंयत सम्यक्त्व चाहिए, वह मजेमें हैं, घरमें रहें, भोग भी भोगें तो भी कर्मोंसे नहीं बंधते हैं। मगर यह भी देखो कि वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भोग कैसे भोग रहा है कि भोग भोगते हुएमें कष्ट मान रहा है, आपत्ति समझ रहा है, उससे निवृत्त होनेकी इच्छा करता है। जिस भोगसे हटनेकी भावना हो वह भोग क्या भोग है ? सम्यग्दृष्टि की ज्ञानकलाका आदर अज्ञानी जीव कैसे कर सकता है ?

ज्ञान और वैराग्यका सामर्थ्य—ऐसी स्थिति ज्ञान और वैराग्यके कारण होती है। देखो कितनी उम्र गुजर गई, कितना-कितना खाये, कितने भोग भोगे ? उन सबसे जो सुख हुआ है वह तो बहुत इकट्ठा हो गया होगा। क्योंकि ४०–५० वर्ष का सुख इकट्ठा हो गया होगा। पर अपनी आत्मभूमिकी तिजोरीमें देखो तो सही कि कितना दुःख इसमें है ? जितने भोग भोगे हैं उनका दुःख और पछतावा तो सम्भव है कि हृदयमें हो, पर जो सुख भोगा वह सुख तो उसमें रंचमात्र भी नहीं है। यह ज्ञान और वैराग्यमें ही सामर्थ्य है कि कोई व्यक्ति भोग भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बंधता है। इन दोनों प्रकारकी सामर्थ्यमें यह ज्ञानकी सामर्थ्य बतलाते हैं।

जह विसमुवभुजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुजंदि णेव बज्झये णाणी ॥१९५॥

एक मांत्रिकके दृष्टान्तपूर्वक उपयोगकालमें भी ज्ञानीके कर्मनिर्जरणका कथन—जैसे विषको भोगते हुए भी वैद्य पुरुष मरणको प्राप्त नहीं होता है उस ही प्रकार ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगता तो है किन्तु बंधको प्राप्त नहीं होता है। विज्जो शब्दके यहाँ दो अर्थ है–एक तो वैद्य आयुर्वेदिक और दूसरा विद्यासिद्ध पुरुष। विद्यासे वैद्य बना है, जो विद्या का जानकार हो। जैसे किसीको मंत्रविद्या सिद्ध है और जिसमें ऐसा प्रताप है कि विष भी खाये तो उसका असर नहीं होता। ऐसा विद्यावान पुरुष विष खाता हुआ भी मरणको नहीं प्राप्त होता है और विद्याहीन पुरुष विष खानेपर ही शीघ्र मरणको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जिसको स्वरूपविद्या अनुभवमें आ गई है, जिसकी निरंतर आत्महितके लिए आत्मरक्षाके लिए अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि दृढ़तम हो गई है ऐसा विद्यावान पुरुष, सहज ज्ञानवान पुरुष इस भोगको भोगता हुआ भी, कर्मफलोंको पाता हुआ भी कर्मोंसे नहीं

बंधता है।

कर्मभोगके कालमें भी ज्ञानीकी कर्मनिर्जरापर एक वैद्यका दृष्टान्त—अथवा जैसे कोई आयुर्वेदका जानकार वैद्य है, उसे संखिया विष दे दें और वह औषधिके रूपमें विधिवत् सिद्ध कर ले तो उस ही संखियाको खाते हुए भी वह मरणको प्राप्त नहीं होता। उस ही प्रकार ज्ञानी पुरुष इस कर्मफलरूप भोगोंको भोगता हुआ भी उस भोगपरिणामके साथ-साथ ज्ञान-दृष्टिकी औषधिके कारण उसकी मार्मिक शक्तिको दूर कर देता है। फिर उस उस भोगको भोगता हुआ भी यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष बंधको प्राप्त नहीं होता है। अतः इस सम्यग्दृष्टिको अबंधक कहा है।

संसारबन्धनकी बन्धनता—जैसे किसी पुरुषपर १ लाखका कर्जा है और उसने ९९ हजार ९९९ रुपया कर्जा चुका दिया है और १ रुपया शेष देना रह गया है तो वह कर्जा नहीं कहलाता है। जैसे आप किसी धनिककी ऐसी कथा सुनते है कि जब कोई गरीब था तो उसके इतनी नौबत आ गई कि घरका लोटा भी दूसरेके यहाँ धरोहर धर दिया और उन्हीं पैसोंसे खानेका काम चलाया। कहीं वह चला गया और व्यापार बढ़ गया तो वह करोड़पति हो गया। बादमें ख्याल आया कि अमुकके यहाँ धरोहरमें लोटा रखा है, और उसने कहा अपना हिसाब कर लो। हमारा लोटा दे दो और अपना हिसाब ठीक करा लो। हिसाब किया तो १० हजारका कर्जा हो गया। वह तो २—४ रुपयोंका धरोहर था। पर वह कहता है कि अपने १० हजार ले लो। मुझे कर्जदार नहीं कहलाना है। उसके वैभवको देखकर लोग यह नहीं समझते हैं कि ये कर्जदार है तो इस लोक की व्यवस्था भी तो देखना चाहिए। वैभव देखकर ही तो व्यवस्था वनती है। इसी प्रकार यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जब अनन्त संसारको काट चुका, कोड़ाकोड़ी सागरों की स्थितिको खतम कर दिया मिथ्यादृष्ट अवस्थामें सम्यक्त्वकी उन्मुखतामें तो अब समझो कि सम्यक्त्व जगने पर बहुत कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति रहती है, उसका संसार कट चुका, अब संसारका बन्धक नहीं रहा।

ज्ञानीका संसारच्छेद—देखो भैया! कोड़ाकोड़ीसे बहुत ही नीचेकी स्थिति है वह अन्तः कोड़ाकोड़ी। ७० कोड़ाकोड़ी खतम हो जायें और मामूली स्थिति रह जाय तो समझो कि यह ज्ञानी जीव सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए मिथ्यात्व अवस्थामें कितनी निर्जरा कर डालता है? अब उसके लिए निर्जरा करने लायक कर्म अत्यल्प रह गए, ५ प्रतिशत भी नहीं बैठता। तो अब देख लो मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा यह सम्यग्दृष्टि जीव अबंधक हुआ ना। यह सब ज्ञान और वैराग्यका ही तो प्रताप है। यों ज्ञान और वैराग्यमें सामर्थ्य देखी जा रही है।

अज्ञानीके बंधका कारणभूत भी उपभोग ज्ञानीके बंधका अकारण—जैसे किसी पुरुष

के लिए विष मरणका कारण है और वैद्यमें वह सामर्थ्य है कि वह उस विषकी शक्तिको कील देता है, रोक देता है इसलिए अब वह नहीं मरता है। इसी प्रकार जो पुद्गल रागादिक भावोंका सद्भाव होनेके कारण ज्ञानी जनोंके बंधके कारण होते हैं वही उपभोग अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्य होनेसे चूंकि रागादिक नहीं रहते हैं सो उपभोगकी आसक्तिको विच्छिन्न कर देते हैं। अब वे ज्ञानी जीव कर्म नहीं बांधते हैं।

भ्रमके विच्छेदमें विकास—भैया ! हम ज्ञानमय हैं, कुछ न कुछ निरन्तर जानते रहते हैं। हम कैसा जानें कि सुख हो जाय और कैसा जानें कि दुःख हो जाय। ये सुख और दुःख ज्ञानपर ही निर्भर हैं। बाह्य वस्तुवोंपर सुख और दुःख निर्भर नहीं है। बाह्य पदार्थ हमें दुःख नहीं देते हैं किन्तु मेरे ही ज्ञानकी कला यदि उल्टी चलती है तो दुःख होता है और हमारे ही ज्ञानकी कला यदि स्वरूपके प्रतिकूल चलती है तो दुःख होता है और हमारे ही ज्ञानकी कला यदि स्वरूपके अनुकूल चलती है तो सुख हो जाता है। अपने दुःखमें किसी दूसरे जीवको अपराधी बताएँ तो यह एक भ्रम है।

कुत्तेके उपमाकी अरुचिकरता—इस ही भ्रममें रहने के अन्तरका एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। एक जानवर होता है कुत्ता। बड़ा आज्ञाकारी होता है। रोटीके दोटुकड़ोंमें ही कितना विनयवान हो जाता है? आपके चरणोंमें गिर जाता है। कितना आपके काम आता है। अगर कोई पशु आक्रमण तुम्हारे ऊपर करे तो वह उसका मुकाबला करता है, रात्रिमें चोर आदि आये तो उन पर टूटकर मुकाबला करता है। इस तरहसे कितना आज्ञाकारी और विनयशील कुत्ता होता है। यदि कोई सभामें किसी की प्रशंसा करे कि भाई आप तो बड़े परोपकारी हैं, इस देशकी समाज की आप निश्छल सेवा करते हैं। इनका वर्णन कहाँ तक किया जाय, ये तो कुत्तेके समान हैं। देखो अच्छी बात कही गई है, कुत्ता उपकारी है, विनयशील है, आज्ञाकारी है, सर्व गुण युक्त है तो भी उसकी उपमा सुनकर क्या यह खुश होगा? नहीं। न तो सुनने वाले खुश होते हैं और न जिसकी प्रशंसा की गई वह खुश होता है, बल्कि बुरा मान जाते हैं। यहाँ क्या कारण हो गया है?

सिंहकी उपमाकी रुचिकरता—और देखो सिंह जो महादुष्ट है, हिंसक है, जिसकी शकल दिख जाय तो देखते ही होसहवास उड़ जाते हैं। अजायबघरमें लोहेके सीकचोंके अन्दर सिंह बँधे रहते हैं। देखने वाले जाते हैं तो जान रहे हैं कि सींकचेके अन्दर बंद है यहाँसे निकल नहीं सकते, किन्तु जरासा गुर्रा जायें तो देखने वाले डरके मारे १० हाथ दूर भाग जाते हैं। इस प्रकारका भय पैदा करा देने वाला, बध करने वाला सिंह है, पर यदि कोई यह प्रशंसा कर दे कि आप तो सिंहके समान हैं तो कहा तो गया कि आप सिंहके समान आक्रमणकारी हैं, आप किसी कामके नहीं हैं, दूसरोंको मारने वाले हैं, किसीके काम

न आने वाले हैं, अर्थ तो यह हुआ, पर सिंहकी उपमा सुनकर सुनने वाले और जिसको कहा जा रहा है वह भी सभी प्रसन्न हो जाते हैं।

दृष्टिसे वृत्तिमें अन्तर—कुत्ता और सिंहकी उपमामें यह फर्क कहाँसे आ गया? यह फर्क इस ही प्रकरणको सिद्ध करने वाला है कि कुत्तेमें सब गुण हैं किन्तु एक अज्ञान ऐसा है कि जिसके कारण सब गुण पानीमें फिर गए। वह अज्ञान है केवल दृष्टिका। कुत्ते को लाठी कोई मारे तो वह लाठीको चबाता है, वह समझता है कि मुझे मारने वाली लाठी है उसके आशु बुद्धि नहीं होती। वह जानता है कि मुझे लाठीने मारा। जब कि सिंहके सही दृष्टि होती है। उसे कोई तलवार मारे, भाला मारे, तीर मारे, बन्दूक मारे तो वह इन को देखता भी नहीं है, सीधे आक्रामकपर ही वह आक्रमण कर देता है। उसकी दृष्टि शुद्ध होती है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि तो निमित्तोंको सुख दु:ख पाता मानता है, किन्तु पुरुष भोगोंके साधन होनेपर भी उनपर दृष्टि नहीं देता है। वह अपने विकल्पोंको क्लेश-कारी मानता है। वह समझता है कि मुझे दु:खी करने वाला मेरा विकल्प ही है। मुझे कोई अन्य पदार्थ दु:खी नहीं करते हैं।

बाह्यमें स्वकी बाधकताका अभाव——भैया! जब तक अंतरंगमें समीचीन दृष्टि नहीं जगती है तब तक इस जीवका कल्याण नहीं हो सकता है। कितना ही वैभव एकत्रित हो जाय पर इससे पूरा न पड़ेगा। क्या इसका वियोग कभी होगा नहीं? अवश्य होगा। अपने आपमें जो परिणाम बनाए जाते हैं, संकल्प विकल्प किये जाते हैं उनके फलमें जो भाव-बंध और द्रव्यबंध होता है उसको भोगना पड़ेगा। तो अपने एकत्वका निर्णय करो कि मैं केवल एक अकेला ही चैतन्यरूप मात्र हूं। यह मैं केवल अपने चैतन्यभावके परिणमनको ही कर सकता हूं और इसको ही भोग सकता हूँ। मेरा विरोधी जगतमें कोई दूसरा जीव नहीं है। सब जीव अपने-अपने परिणामोंके अनुसार अपनी-अपनी योजनाएँ किया करते हैं। मेरा विरोधक बाहरमें कुछ नहीं हो सकता है। मैं ही अज्ञानवश सर्व चेष्टावोंको चखकर एकरूप बनाकर स्वयं दु:खी हुआ करता हूं। ऐसा यथार्थ निश्चित हो जाना सर्ववैभवोंसे बढ़कर है, जो तीन लोककी सम्पदासे बढ़कर है, उत्कृष्ट है। इससे उत्कृष्ट और कोई वैभव नहीं हो सकता है।

निजशरणकी दृष्टि——भैया! मरकर भी, पचकर भी, असह्य वेदना भोगकर भी यदि एक यह आत्मस्पर्शकी दृष्टि बन जाती है तो समझो कि कृतकृत्यता होगी। जो करने योग्य काम हैं वे कर लो, अंतरंगमें विश्वास किसी उत्कृष्ट तत्त्वका ही रहना चाहिए। इन जड़ों में और भिन्न चेतन पुरुषोंके समागममें महत्त्व न देना चाहिए। रहते हैं वहाँ, व्यवस्था करते हैं, वहाँ महत्त्व नहीं देना चाहिए। इस लोकमें किसी जीवका कोई अन्य शरण नहीं

है। अपनी सावधानी ही अपने लिए वास्तविक शरण है—ऐसा जानकर अपनेको विश्राममें लाकर विश्राम मिलता है, परपदार्थोंमें इष्ट अनिष्टका ख्याल न करनेसे होने वाले विश्राममें रहकर अपने आपके अतुल इस ज्ञानसम्पदाका अनुभव करें और कृतकृत्यताके मार्गमें बढ़े यही मनुष्यजन्ममें एक सर्वोत्कृष्ट अपना कर्तव्य है:—

अब वैराग्यका सामर्थ्य दिखाते हैं।

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण मज्झदि तहेव ॥१९६॥

जैसे कोई पुरुष मदिराको अरति भावसे पीता हुआ मतवाला नहीं होता है इसी प्रकार ज्ञानी जीव भी द्रव्योंके उपयोगमें अरत होता हुआ बँधता नहीं है।

वैराग्यका बल—जैसे किसी पुरुषको किसी औषधिमें किंचित् मदिरा पिलावें तो चूँकि उस पीने वालेको मदिरामें रति नहीं है इसलिए पी करके भी मतवाला नहीं होता है। इसी प्रकार कर्मोंके उदयवश किंचित उपभोग भी करता है तो भी अरतिभावको भोगता है इस कारण उसके कर्मोंका बंध नहीं होता है। ज्ञानी जीव चूंकि अपने सहज ज्ञानमात्र स्वरूपका उपयोग द्वारा अनुभवन कर लेता है और उस चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके अनुभवनके प्रसादसे एक अलौकिक आनन्द प्रकट कर लेता है। इस कारण उसको अन्य द्रव्योंके उपभोगके प्रति तीव्र विरागभाव है। कोई ज्ञानी गृहस्थ भी हो और वह घरके परिवार जनोंसे और कामकाजोंसे कुछ व्यवहार भी रखता है तो भी अन्तरसे पूर्ण हटा रहनेका परिणाम रहता है। इस कारण विषयोंको भोगता हुआ भी तीव्र वैराग्यभावकी सामर्थ्यसे वह ज्ञानी जीव बँधता नहीं है।

कर्मबन्धकी आशयमूलकता—यह ज्ञानी विषयोंका सेवन करके भी विषयोंके सेवनके फलको प्राप्त नहीं करता है अर्थात् विषयसेवनका फल हुआ कर्मबंध। कर्मबंधको नहीं करता है ऐसा उसमें ज्ञान और वैराग्यका बल है। जिस वैभवके कारण विषयोंको सेवता हुआ भी यह असेवक कहा जाता है। किसी कार्यमें प्रवृत्त होकर भी यदि कार्य रुचिपूर्वक नहीं किया जाता, अंतरंगसे हटकर किया जाता है तो वह उसका सेवक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कर्मबंध मन, वचन, कायकी चेष्टावोंको देखकर नहीं होता, किन्तु भीतरी आशयके अनुकूल कर्मबंध होता है। अब इस ही बातको दिखाते हैं कि ऐसा क्यों हो जाता है कि सेवता हुआ भी सेवक नहीं है। कुछ दृष्टान्तोंसहित इसका विवरण करते हैं।

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥१९७॥

ममताके अभावसे करता हुआ भी अकारक—कोई पुरुष विषयोंको सेवता हुआ भी

सेवने वाला कहा जाता है जैसे किसी पुरुषके किसी कार्यके करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् उस प्रकरणमें सब क्रियावोंको करता है तो वह भी किसीका कराया हुआ करता है, उदयवश करता है, वह कार्यके करनेका स्वामी नहीं कहा जाता है। इस सम्बंधमें अनेक दृष्टान्त हैं। एक कैदी सिपाहियोंके कोड़ोंकी प्रेरणासे चक्कीको पीसता है, मगर उस पीसनेमें रतिभाव नहीं है। उसे उस पीसनेमें अरतिभाव है। तो करता कुछ है और करनेका मनमें आशय नहीं है, ऐसे अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। एक मुनीम सेठकी चाकरी करता है और वैभव सम्हालता है, तिजोरी सुरक्षित रखता है, बैंकोंका लेनदेनका व्यवहार भी करता है, हमारा तुमपर इतना गया है, तुम्हारा हमपर इतना आया है, ऐसा व्यवहार भी करता है, पर दो मिनटको भी उसके चित्तमें यह आशय नहीं है कि यह मेरा है या मैं इसका मालिक हूं। मगर देखने वाले लोग यह समझते हैं कि यह बहुत व्यापारमें श्रम करता है, इसके बड़ा राग है किन्तु उसका हृदय रागसे रहित है। बल्कि सेठ जी मुश्किलसे एक घंटेके लिए दूकान पर बैठते हों या इधर उधर ही कहीं बैठे हों, पर वह सेठ आशयमें राग बढ़ाता रहता है, वह सेठ बंधक है। यह मुनीम बंधक नहीं है।

सेवते हुएके भी असेवकतापर एक दृष्टान्त—स्वसुराल जाने वाली लड़की दस बार स्वसुराल हो आई हो, फिर भी जब जायगी तब ऐसा रुदन करके जाती है कि सुनकर दूसरों रुदन आ जाता है। पर यह बहुत सम्भव है कि उसका हृदय खुशीसे भरा हुआ है। अब घर जा रही हैं, सब व्यवस्था सम्हालेंगी। तो आशय कुछ है और करते कुछ हैं, ऐसी बहुतसी बातें जगतमें हुआ करती हैं। इस प्रकार यह ज्ञानी पुरुष इस जगतमें रहकर मन वचन काय की चेष्टाएँ करता है और वे चेष्टाएँ ऐसी दिखती हैं जैसी मिथ्यादृष्टि पुरुषकी चेष्टाएँ होती है। लेकिन अन्तरमें किसके क्या है, इस बातको अज्ञानी नहीं समझ सकते। अज्ञानी इस स्वरूपको समझ सकता है कि कहाँ लौ लगी है, कहाँ दृष्टि है?

निर्मोही और मोहीमें अन्तर—भैया! इस लोकमें जो कुछ भी समागम मिले हैं वे सब असार और अनित्य हैं, सदा रहने वाले नहीं हैं। और जब तक रहते हैं तब तक भी वे शांतिके हेतु नहीं हैं। वे हेतु बनेंगे तो अशान्तिके ही बनेंगे। ऐसे अशांतिके हेतुभूत ये समस्त समागम हैं। इन समागमोंमें जो रुचि रखता है वह इस जगतमें जन्म मरणके चक्र लगाता है। यथार्थ स्वरूपके परिचयी पुरुष उससे अलग रहते हैं। कितना अन्तर है ऐसे निर्मोह गृहस्थ और निर्मोह साधुमें? निर्मोह गृहस्थ गृहस्थीमें रहता हुआ भी साधुताकी भावना करता हो और सर्वकुछ छोड़े हुए साधुजन यदि ऐसा सोचें कि गृहस्थी परिवार होता है तो वहाँ बड़ा आराम आनन्द है ऐसा यदि भाव है तो इन दोनोंमें कितना महान अन्तर हो जाता

है ? इसी दृष्टिसे यह निर्णय साधुसम्मत है कि निर्मोह गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें स्थित है किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है ।

परके आश्रयमें निर्विकल्पता असंभव— भैया ! आत्मकल्याणके लिए करनेका काम तो सरल है । न उसमें मेहनत है, न उसमें क्षोभ है । केवल अपने उपयोग द्वारा अपने आपके उपयोगको जानते रहना है । कितना स्वाधीन काम है जहाँ रंच भी खेद नही, स्वाधीन काम है । किन्तु जिसका होनहार अच्छा है वही करनेमें समर्थ हो सकता है । लाखों और करोड़ोंका वैभव हो जाय, अरे जितने देशका विस्तार पड़ा है उन सबको ही अपना मान लो ना । कितना ही धनी हो गए आखिर इस भवमें भी आत्माके स्वरूपसे अत्यन्त परे है, आत्मामें उन सबका अत्यन्ताभाव है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सर्व दृष्टियोंसे पृथक है । उनका विकल्प ही तो हो सकता है, पर उनका लक्ष्य करके निर्विकल्प अवस्था नहीं हो सकती है । जो हमारे घातके ही निमित्त बनते हैं उनमें हम रुचिपूर्वक लगते हैं, यही तो उल्टा चलना है ।

स्वोपलब्धि बिना परनिवृत्ति असंभव— भैया ! हम कर रहे है, करना पड़ता है । पर जानें तो सही कि यह मेरे करने योग्य कार्य नहीं है । मेरे स्वभावसे यह अत्यन्त परे है, बाह्य है, विभाव है, विरुद्ध चेष्टायें हैं । यह मेरे करने योग्य नहीं है—इतना ध्यान तो जाय । पर इतना ध्यान कैसे होजाय ? इससे अलौकिक विलक्षण अनुपम सारभूत ध्रुव सारतत्त्वको निरखते रहें । जब ऐसी दृष्टि जगे तभी कल्याण है ।

स्वरसका अनुभव होनेपर विषयविषपरिहार संभव—कोई भिखारी अपनी झोलीमें बासी रोटियां लिए हुए है, उसे बहुत समझावो कि अरे भिखारी तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे, तुझे मैं ताजी पूड़ियाँ बनवाकर दूँगा । तो उसे विश्वास नहीं होता है । वह उन बासी रोटियोंको फेंक नहीं सकता है । उन्हें वह सम्हाले रहता है । अरे तुम्हें दया आई है तो पूड़िया बनवाकर उसकी पहिले झोली भर दो फिर वह फेंक देगा । पुड़ियोंकी आशा लगा कर वह उन रोटियोंको फेंक दे ऐसा बल उसमें नहीं है । इसी प्रकार अज्ञानी मोही जीव बासी तिवासी अनादि कालसे जूठे किए गए भोग अपनी झोलीमें भरे हुए है । गुरुजन, संत-जन यह समझाते है कि अरे इनको तू उगल, इन विषयभोगोंकी वासनाको तू तज, इनमें सुख नहीं है । पर मोही मान कैसे जाय ? यदि उसकी दृष्टिमें उससे अनुपम जैसे सुखको प्राप्त करानेके लिए गुरुजनोंका उपदेश है उसकी झलक आ जाय तो फिर उसे छोड़नेमें विलम्ब नहीं रहता है ।

यथार्थज्ञानका परपरिहारस्वभाव--वह ज्ञानसे तो तुरन्त छोड़ देता है । अब बाहर के छोड़नेमें भले ही थोड़ा समय लगे, वह बात अलग है । जैसे किसी धोबीके यहाँ किसीका

और उसके पड़ौसीका चादर धुलने गया हो, तीसरे चौथे दिन जाकर वह चादर ले आये, बदलेमें पड़ौसीकी चादर आ गई। न धोबी ने विवेक किया और न लाने वालेने विवेक किया। वह अपनी ही समझ रहा है। सो उस चद्दरको ताने हुए सो रहा है। पड़ौसी भी बादमें गया सो धोबी दूसरेकी चादर उसे देने लगा। उसने देखा तो कहा यह मेरी चादर नहीं है, इस चादरमें मेरी चादरके निशान नहीं पाये जाते हैं। कहा ओह मालूम होता है कि वह चादर बदल गई है। कहा तुम्हारी चादर अमुक पड़ौसीके यहां पहुंच गई है। वह जाता है वहाँ, देखा कि पड़ौसी उस चादरको ओढ़े हुए सो रहा है। वह उस चादरको खींचकर कहता है अरे भाई उठो। वह जग जाता है। क्या है? भाई यह चादर मेरी है। यह बदल गई है। तुम्हारी चादर धोबीके यहां रखी है। इतनी बात सुनकर उसने उस चादरको देखा तो अपनी चादरके उसे चिन्ह न मिले। और जो नाना चिन्ह थे जिनका परिचय ही न था। इतनी बात जाननेपर ही उसके ज्ञानमें स्पष्ट विवेक हो गया कि यह चादर मेरी नहीं है। ज्ञानने चद्दरको त्याग दिया।

मोहरहित रागकी नीरसता—यथार्थ ज्ञान होनेके पहिले यथार्थज्ञान न करने तक उस चादरको वह ज्ञान अंगीकार कर रहा था, उससे राग कर रहा था। अब जैसे ही यथार्थ ज्ञान हुआ उसका चादरसे राग छूट गया। ज्ञानने चद्दरका त्याग कर दिया। अब भले ही थोड़ा उस चादरको उतारनेसे देर लगे या थोड़ा ऐसा राग उत्पन्न हो कि हमारी चादर मिले तब अपनी ले लो। भले ही चादरके ऊपर ऐसा झगड़ा करे, पर उस चादरसे मोह उसका छूट गया। चाहे यह भले ही कहे कि मेरा चादर धोबीसे लाकर दो। किन्तु ज्ञानने चादरको सर्वथा छोड़ दिया। शरीरपर चादर होनेपर भी ज्ञानने पूर्ण त्याग कर दिया, क्योंकि यथार्थ ज्ञान हो गया ना। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुषको आत्माका यथार्थज्ञान हो जाता है तो वह आत्माके अतिरिक्त सर्वभावोंको, परभावोंको सर्वथा त्याग देता है। भले ही कर्मोदयवश कमजोरीसे रहना पड़ता हो परपदार्थोंके बीचमें, पर वह ज्ञानसे ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त सबका त्याग कर देता है।

ममत्वके सद्भाव व अभावसे प्राकरणिकता व अप्राकरणिकता—यह ज्ञानी पुरुष किसी भी प्रकरणमें व्यापार करता हुआ भी प्रकरणका स्वामी नहीं होता। वह प्राकरणिक नहीं होता है किन्तु अन्य पुरुष जिनको राग है, मोह है वे कार्यमें यद्यपि नहीं लग रहे हैं, फिर भी कार्यका स्वामी बननेके कारण प्राकरणिक होते रहते हैं, बंधक होते रहते हैं। जैसे बारात निकलनेके दिन पड़ौसिनियोंको गीत गानेके लिए बुलाया जाता है। गीत गानेके फलमें आध-आध पाव बतासे मिल जायेंगे, सो वे बड़ी तेजीसे गीत गाती हैं। "बनी राम लखनकी जोरी, मेरा दूल्हा सरदार" आदि अनेक तरहके गीत बड़े अनुरागसे गाती हैं परन्तु उन्हें दूल्हासे

रंच भी अनुराग नहीं है। किन्तु वह माँ जो बहुत कामोंमें लगी रहनेके कारण गानेका ए तुक भी नहीं गाती है, न उतना समय है लेकिन उन सबकी मालिक वह माँ है। कदाचि घोड़ेसे गिरकर दूल्हाके हाथ पैर टूट जायें तो पड़ौसिनियोंको दुःख न होगा, जो बहुत तेजी गीत गा रही हैं। दुःख होगा उसे जो उस प्रकरणमें अपनेको स्वामी मानता है। वे पड़ सिनियां उस प्रकरणमें अपनेको स्वामी नहीं मानतीं।

सम्यग्दृष्टिका परिणाम— इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव प्राक् पदवीमें पूर्व संचित कर्म दयसे उत्पन्न हुए विषयोंको सेवता हुआ भी उन विषयोंमें स्वामित्व अंगीकार नहीं करता इसलिए प्राकरणिक नहीं होता है, किन्तु अन्य जीव जो उन विषयोंको न भी सेवते हु वासनामें निरन्तर लगे रहते हैं वे चूँकि उनके रागादिक भाव सद्भाव निरन्तर चल रहते हैं इस कारण विषय फलके सेवनेका स्वामित्व होनेसे सेवक ही कहलाते हैं। य सम्यग्दृष्टि पुरुषमें नियमतः ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति स्पष्ट प्रकट होती है। वह क्या कर चाहता है? सम्यग्दृष्टिका क्या प्रोग्राम है? वह चाहता है कि मैं अपने ही वस्तुत्वको अप उपयोगमें ग्रहण करूँ। ओह यह कितना उदार है, किसी परवस्तुका दिल नहीं दुखाता है बिगाड़, परिवर्तन नहीं करना चाहता है। इसमें कितना धैर्य है, यह किसी भी परवस्तुक वाञ्छाका क्षोभ नहीं करता है। यह कितना गम्भीर है? अपने आपमें अपने आप ही समात हुआ चला जा रहा है। इतनी गहराईके भीतरमें वह गहराई दूर नहीं है, निकट है, किन् उथला होनेपर भी अत्यन्त गम्भीर है। यह अपने वस्तुत्वको ग्रहण कदनेके लिए ही अपन स्वरूपकी प्राप्ति करता है और परस्वरूपका त्याग करता है।

सम्यक्त्वकी श्रेयस्करता—भैया! प्रत्येक द्रव्य चाहे मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृ हो, चाहे अचेतन हो सब अपने अपने द्रव्यमें है। कोई किसी परद्रव्यमें नहीं है। मिथ्यादृष्टि कल्पनासे परवस्तुवोंको अपनेमें बसाये है प्रदेशतः नहीं बसा सकता। हमें तो परद्रव्योंका त्याग करना है। परद्रव्योंमें जो ममेदम् अहमिदम् संकल्प है उस संकल्पका त्याग किये विना परद्रव्यका त्याग न होगा। अब रहा बाह्य त्याग तो इस ही सम्यक्त्वरूपी अग्निकणिकाके प्रसादसे वे सब चीजें छूट जायेंगी। सम्यग्दर्शनका अद्भुत माहात्म्य है। तीन कालमें भी सम्यक्त्वके समान श्रेयस्कर तत्त्व नहीं है और मिथ्यात्वके समान अश्रेयस्कर तत्त्व नहीं है। इस सम्यग्दृष्टि पुरुषके अन्दर नियत ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति है जिसके कारण अपनेको और परपदार्थोंको परस्पर विविक्त जानकर परसे अत्यन्त विराम लेता है और अपने आपके आत्मामें ठहरता है। ऐसी अद्भुत शक्ति वाले सम्यग्दृष्टि पुरुषको जिनेश्वरका लघुनन्दन कहा है।

आत्मतत्त्वका सामान्य—भैया! आत्मा बुरा कोई नहीं होता। वह एक द्रव्य है, पर

एक विभाव और मिथ्यात्व ही दु:खदायी चीज है। उसके सम्बन्धसे आत्मा बुरा कहलाता है। आत्मा तो सब एक समान ही हैं। कैसे आत्मद्रव्यको बुरा कहेंगे हैं ? औपाधिक परिणतिसे लोगोंमें भेद पड़ गया है पर वस्तुत: समस्त आत्मा एक चैतन्य स्वरूप हैं। द्रव्यदृष्टिमें घुस कर निरखो तो सब जीवोंके प्रति स्वरूपमें भक्ति उत्पन्न होगी। क्योंकि इस द्रव्यदृष्टिने सब जीवोंको ज्ञायकस्वरूप दिखा दिया है। यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा भ्रम कर करके अपने आप दु:खी हो रहा है। आत्माका यह भ्रम छूटे तो इसमें संकट ही नहीं है। इसका तो आनन्दस्वरूप ही है। आनन्द पानेके लिए परकी अपेक्षाकी जरूरत नहीं है।

कठिन परिस्थितियोंसे छुटकारा पानेका सम्यग्दृष्टिका सामर्थ्य—किन्तु भैया ! एक यह भी बड़ा झंझट सामने आता है कि कल्याण चाहते हुए भी जैसे कि जुवारियोंके बीच जुवारी पहुँच जाय तो उसे उस गोष्ठीसे निकलना कठिन है। इसी प्रकार यह संसारकी गोष्ठी है, जहाँ कि लोग धनके अर्थ, संगति समागमके अर्थ, परिवारके अर्थ बस रहे हों, ऐसे लोकके बीच रहनेपर उस गोष्ठीसे निकल जाना कठिन हो जाता है, अर्थात् उपयोगमें ये वाह्य समागम न रहें किन्तु ज्ञायकस्वरूप निज भगवान आत्मतत्त्व बसे तो ऐसी स्थिति बनना कठिन हो जाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुषमें ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्य है कि वह समस्त हेय तत्त्वोंको हेय समझकर ध्रुव अनादि अनन्त चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका ग्रहण कर लेता है। इस ही निज वस्तुत्वको विशद ग्रहण करने के लिए सम्यग्दृष्टिमें पुरुषार्थ है।

आत्मार्थीका सत्याग्रह व असहयोग—जैसे गुलाम देशको आजाद करनेके लिए असहयोग और सत्याग्रह—इन दो उपायोंको अपनाया गया था इसी प्रकार अनादिकालसे चला आया हुआ गुलाम यह जीव जब अपनी निधिकी खबर करता है तो अपनेको आजाद बनानेके लिए यह भी दो उपायोंका आलम्बन लेता है असहयोग और सत्याग्रह। इस ज्ञानी संतने समस्त परद्रव्योंका असहयोग कर दिया है। वह किसी भी परद्रव्यका सहयोग नहीं चाहता। सबसे हटकर अपने आपमें बसे हुए इस ध्रुवस्वभावका आग्रह कर लिया है, यही ज्ञानीका सत्याग्रह है, अपने शुद्ध स्वरूपका ग्रहण करनेका आग्रह है और इस आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य सब परभाव हैं उनसे इसने असहोग किया है। सत्याग्रह और असहयोग इन दोनों उपायोंको करके वह अपने कार्यमें सफल होता है। सम्यग्दृष्टिका यह एक ही प्रोग्राम है। वह इस प्रकारसे अपने सत्यका आग्रह करता है और असत्यका असहयोग करता है। और इस विधिसे वह सम्यग्दृष्टि जीव अनेक परपदार्थोंके बीच रहकर भी अनाकुल रहता है। उसके विह्वलता नहीं जगती है। ज्ञान और वैराग्यमें ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्य है कि ज्ञानबलका अधिकारी कहीं आकुलित नहीं हो सकता है। ज्ञान और वैराग्यके पानेके लिए हम सबका भरसक प्रयत्न होना चाहिए और जड़ वैभवोंको हेय समझना चाहिए। उस ज्ञान

और वैराग्यकी प्राप्तिके लिये सम्यग्दृष्टि पुरुष स्व और परको सामान्यतया किस प्रकार जानता है ? इसका वर्णन अब किया जा रहा है।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण हु ते मज्झ सहावा जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९८॥

आत्माका मौलिक लक्ष्य आनन्द——आत्माका लक्ष्य है कि आनन्द मिले, आत्माकी अन्य कुछ परिस्थिति हो जाय, उससे खेद नहीं होता है, आनन्दके घातसे खेद होता है, जैसे मान लो हाथीके शरीरमें पहुंच गए अथवा चींटीके शरीरमें पहुँच गए, बहुत बड़ा प्रदेश विस्तार हो गया, कहीं थोड़ा प्रदेश विस्तार हो गया तो अन्य कुछ भी गुजरे उन स्थितियोंसे आत्मा अपना अहित नहीं समझता। एक आनन्दमें बाधा आए तो वह इसे असह्य है। एक ही उद्देश्य है कि मुझे आनन्द मिले। भैया ! वह आनन्द मिलता कैसे है ? इन परपदार्थोंमें इन जड़ वैभवोंमें तो आनन्दनामक गुण ही नहीं है। उनसे किसी प्रकार आनन्द प्राप्त हो। वहाँसे आनन्द नहीं निकलता है, आनन्द नहीं आता है और जहाँ आनन्द नामक गुण है ऐसे जो ये अनेक जीव हैं उनका आनन्द गुण उन ही में परिणत होकर वहीं समाप्त हो जाता है। उन बाहरी पदार्थोंसे आनन्दका रंच भी प्रसार नहीं होता है। उनसे मुझे आनन्द कैसे मिल सकता है ? फलतः किसी भी परपदार्थसे मेरेमें आनन्द नहीं आता है। जड़में तो आनन्द ही नहीं है। उनसे आनन्द आयगा कैसे ? जिसके आनन्द है वह अपनेमें ही अपने ही आनन्दको परिणत करके अपनेमें अनुभूत कर लेता है। उनसे बाहर उनका आनन्द जरा भी निकलता नहीं है। फिर उनसे आनन्द कैसे मिले ? फलतः किसी भी परपदार्थसे आनन्द नहीं मिलता है किन्तु स्वयंमें ही आनन्द नामक गुण तन्मयतासे अनादि स्वतः सिद्ध है। उस आनन्द गुणसे ही आनन्द पर्याय व्यक्त हो सकती है।

आनन्दकी व्यक्तिकी ज्ञानपर निर्भरता—भैया ! हमने अपनेमें आनन्द समझा नहीं और परवस्तुवोंसे आनन्दकी आशा रखी है। इस कारण हम आप आनन्दमय होकर भी आनन्दसे च्युत रहे। वह आनन्द किस प्रकार प्राप्त होता है, उसकी कुछ चर्चा यहाँकी जा रही है। यह आनन्दपरिणमन ज्ञानकी दिशापर निर्भर है। हम ज्ञानको किस प्रकार बनाएँ कि आनन्द परिणमन बने और किस प्रकार बनायें कि सुख या दुःखरूप परिणमन बने। ज्ञानगुण आनन्दगुण यद्यपि २ गुण है, लक्षणभूत हैं किन्तु इसका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् कैसा ज्ञान होनेपर आनन्दगुण किस प्रकार परिणमन करता है और कैसा ज्ञान होनेपर कैसा परिणमन करता है ? यह बात तो कुछ अनुभवसिद्ध है। जब ज्ञान इस प्रकार परिणत होता है कि इसमें मुझे टोटा पड़ा, इतना नुकसान हुआ। उस रूपसे जब ज्ञान जानन परिणमन करता है तो अनाकुलता उत्पन्न होती हैं और जब यों परिणमता है

कि टोटा पड़ गया तो क्या है, वह परचीज ही तो थी। न साथ लाये थे और न साथ जायेंगे। उससे तो यहाँ कुछ भी हानि नहीं होती है। जब इस प्रकारका ज्ञान बनता है तो उसके अनाकुलता रहती है। ज्ञान और आनन्द परस्परमें अविनाभावी हैं। तो इससे भी और अधिक चलकर देखें। हम अपने आपको तो पहिचान सकें कि मैं तो शुद्ध ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं। ऐसे शुद्ध सहज स्वभावकी सुभमें दृष्टि आ सके तो यह आनन्दगुण शुद्धरूप से परिणम सकता है।

व्यवहारनयके कथनमार्गसे परमस्वभावमें पहुंचनेका यत्न---सहज स्वभावको उपयोग में सुरक्षित रखनेके लिए यह उद्देश्यरूप गाथा कही जा रही है। इस गाथाका अर्थ है, नाना प्रकारका जो उदय विपाक है, उसे जिनवरोंने कर्मोंको बताया है, वह मेरा स्वभाव नहीं है किन्तु यह मैं एक ज्ञानस्वभावमात्र हूं। उत्थानिकामें यह कहा गया है कि स्व और परमें सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार जानता है। यहाँ स्वकी तो चर्चा की है, परकी चर्चा नहीं की गई है। बतला रहे हैं कि रागद्वेष मोह भावको कि ये कर्मोंके हैं ऐसा जिनेन्द्रने बतलाया है। देखिए उद्देश्य जब विशुद्ध होता है तो किसी भी चर्चामें इस अपने उद्देश्यपर पहुंचता है। हमारा उद्देश्य है कि अपनी दृष्टिसे अपनेको यथार्थ और शुद्ध निरखें। ऐसा देखनेके लिए जहां निश्चयनयकी पद्धति हमें बहुत काम देती है---यह मैं हूं, जैसा भी कुछ देखूं, अन्य किसीका मेल न मिलाऊं। केवल एक निजको ही देखें, निजकी ही शुद्ध परिणति देखें, शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखें तो वह हो गया शुद्ध निश्चयनय और पर्यायकी दृष्टि न करके केवल एक स्वभावमात्रको देखें तो वह हो गया परमशुद्ध निश्चयनमय। तो जिस स्वभाव को ग्रहण करनेके लिए हमारे शुद्ध निश्चयनयकी पद्धति हमको बहुत कार्यकर होती है। यह मैं ही स्वभावको निरखने के लिए व्यवहारपद्धतिसे चलकर स्वभावकी ओर पहुँचनेकी कोशिश की है।

गाथामें विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनयके उपयोगकी झलक—भैया! एक नय होता है विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय। इसमें जिससे रुचि है उसे तो शुद्धरूपमें देखा जा रहा है और जो हेय है, जिसकी रुचि नहीं है उसको अन्यत्र गिराकर देखा जाता है। विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनयमें यह दृष्टि है। जैसे मानो एक प्रश्न हो कि बतलावो रागादिक भाव किसके हैं? रागादिक भाव आत्मीय हैं या पौद्गलिक हैं? तो अशुद्ध निश्चय नयका उत्तर है कि रागादिक भाव आत्मीय हैं। विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयसे रागादिक पौद्गलिक हैं। परमशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक हैं ही नहीं। जैसे एक दर्पण सामने है, उसमें जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह नीचे खड़े हुए बहुतसे पत्थरोंका निमित्त मात्र पाकर वह द्रव्य छायारूप परिणत होता रहता है। इस घटनासे हम यों भी जान सकते हैं कि

देखो अमुक पदार्थकी सन्निधिका निमित्त पाकर यह छायारूप परिणति होती है। हम इ यों भी देख सकते है कि देखो दर्पणमें इस इस रूप परिणमन हो रहा है। क्या हम नहीं देख सकते है ? यह दर्पण ऐसा परिणमता है। हम न देखें उस उपाधिको, वि वर्तमानमें दर्पण जिस प्रकार परिणत हो रहा है उस प्रकार दर्पणको देखें तो मुझे रोक सकता है ? यही है अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि।

अशुद्धनिश्चयदृष्टिका प्रभाव—अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें क्या प्रभाव है ? किसी परपदार्थको इसने दृष्टिमें नहीं लिया, अतः रागका अंकुर अथवा वर्द्धन वर्तन आगे न होने पायगा। इसका कारण यह है कि राग होता है तो किसी परवस्तुको विक में डालता हुआ होता है। जब परकी अपेक्षा न रखे, केवल वस्तु जिस प्रकार है उस प्रकार देखनेमें लग रहा है तो परवस्तुवोंको उपयोगमें न लिया, परका आलम्बन न वि तो यह रागभाव स्वयं ही अपना स्थान नहीं रख सकता है। परका विकल्परूप आलम लिए बिना विकार भाव उत्पन्न नहीं होता है। अशुद्ध निश्चयदृष्टिसे परका आलम्बन नहीं लिया गया तो यह समाप्त हो जाता है और समाप्त क्या हो जाता है, इस रागभ की दृष्टि भी ओझल होकर परमशुद्ध निश्चयनयके विषयमें पहुंच जाती है, यह है अ निश्चयनयकी दृष्टि का प्रभाव।

शुद्ध निश्चयनयदृष्टिका प्रताप—भैया ! अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिमें तो थोड़ी कठिन पड़ती है अपने उद्देश्यमें पहुंचने के लिए। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें कुछ सरलता है जहाँ पर अशुद्ध पर्यायको निरखा जा रहा था, अब इस दृष्टिमें शुद्ध पर्याय परिणत द्रव्य देखा जा रहा है। पहिले तो अपने रागभावको देख कर रागसे उतरकर स्वभावमें पहुंच का यत्न था। अब शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें शुद्ध पर्यायको निरखकर पर्यायको गौण क हम स्वभावमें पहुंचना चाहते हैं। यह बात होना सुगम है क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका जै स्वभाव है उसरूप परिणमन होता है। तो उस परिणमनको लक्ष्यमें लेकर परिणमनक गौण कर स्वभावमें जरा जल्दी मेल पा सकते हैं कि और परमशुद्ध निश्चयदृष्टिमें अप उद्देश्यमें ले जानेमें तत्काल समर्थ होता रहता है। यहाँ तो विलम्बकी भी बात नहीं है स्वभाव निरखो यही परम शुद्ध निश्चयनयका काम है।

विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनयका प्रयोग—अब प्रकरणमें विवक्षित एक देश शु निश्चयनयको देखिये जिसको शुद्ध रखनेकी विवक्षा है उसे तो हम शुद्ध रखते हैं और जिसा रुचि नहीं है, जो अनात्मीय है, पर भाव है उसे उपेक्षित करते हैं। ऐसी पद्धतिमें ऐसे आशय में यह उत्तर मिलता है कि राग पौद्गलिक है। हमारा कहनेका उद्देश्य यह है कि राग मेरे नहीं है। मैं तो शुद्ध टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध ज्ञायकस्वभाव हूँ। इस रूपसे यह

देखा जा रहा है कि हम राग के विषयमें अपनेमें कुछ लपेटा-लपेटी न करें, सीधा बोल दें, चूंकि पुद्गल कर्मके उदय होनेपर यह होता है और उदय न होनेपर यह नहीं होता है, इसलिए राग पौद्गलिक है।

प्रकरणके अनुसार दृष्टिका पूर्ण प्रयोग--भैया ! अन्य द्रव्य होकर भी जो थोड़ा बहुत सम्बन्ध रखता था, कर्मोके साथ निमित्तनैमित्तिक रूप उसे और ढकेलकर और एकदम उसमें ही प्रतिष्ठित कर दें अर्थात् रागको अत्यन्त हेय कर दें, यह इस दृष्टिकी देन है और इस दृष्टिमें वह अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपको सुरक्षित बना लेता है, जब जिस दृष्टिमें जो देखा जा रहा है उसमें ही दृष्टि देकर निरखें। जहाँ जो प्रकरण जैसा आवे उस प्रकरणके माफिक हम उसको देख लें। जिसकी दृष्टि देनेमें राग है ही नहीं वह है परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि। एक दृष्टिमें राग पौद्गलिक है यह है व्यवहारदृष्टि और अपने आपको शुद्ध रखनेके उद्देश्यसे कहा जा रहा है तो यह है विविक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि। राग आत्मा में है, यह है अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि।

सिद्धहस्तकी लीला—किसी कार्यमें कुशल पुरुष जो कि अत्यन्त अभ्यस्त है, जैसे वह उस कार्यको किसी भी प्रकार स्थित होकर व्याप्त होकर वह अपनी कुशलतासे उस कार्यको कर लेता है। जैसे कोई खेलमें बड़ा अभ्यस्त है तो नाना लीलावोंके साथ अपने उस खेल को सम्पन्न करता है। जो चित्र बनानेमें बहुत अभ्यस्त है वह क्षणमात्रमें ही हंसते, खेलते, बोलते चालते जैसा मनचाहे चित्र बना देता है। वह ऐसी सावधानी नहीं रखता है जैसी कि एक अनाड़ी लिखने वाला करता है। वह व्यक्ति उस कार्यमें प्रवीण हो जाता है, सफल हो जाता है। इसी प्रकार टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ध्रुव स्वतःसिद्ध सनातन इस ज्ञायकस्वभावका जिन्हें परिचय होता है ऐसे पुरुष किसी भी नयके वर्णनसे प्रयोजन शुद्ध तत्त्वके निहारनेका निकालते ही हैं। इस स्वभावके ग्रहण करनेका अभ्यस्त ज्ञानी संत व्यवहारदृष्टिसे भी कुछ कहा जा रहा हो, बोला जा रहा हो तो वहांपर भी उनके अर्थ निकालनेकी शैली होती है स्वभावके ग्रहण करनेकी ही।

टंकोत्कीर्णका भाव—यहाँ कह रहे हैं कि जो कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके भाव है वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। यह मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध ज्ञायक भाव स्वभावी हूं। टंकोत्कीर्णवत्का क्या अर्थ है ? इसमें दो भाव हैं। एक तो टांकीसे उकेरी हुई प्रतिमा जैसी निश्चल रहती है, हाथ पैर नहीं मुड़ सकते हैं, अखण्ड अभंग निश्चल ही रहती है, समस्त उलट जाय पर उसके खण्ड होकर कोई हाथ पैर मुड़ जाय ऐसी बात नहीं हुआ करती है। जैसे टांकीसे उकेरी गई प्रतिमा निश्चल होती है इसी प्रकार यह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अपने स्वरूपमें निश्चल रहता है।

टंकोत्कीर्णवत्‌का दूसरा भाव——टंकोत्कीर्णवत्‌का दूसरा भाव यह है कि जैसे मूर्तिको कारीगर नहीं बनाता है किन्तु उस मूर्तिको जिस कारीगरने बनाया है उसने मूर्ति बनाये जाने वाले पत्थरके भीतर यह जान लिया कि इसमें यह मूर्ति है। तो उस मूर्तिको बनानेके यत्नमें केवल उस मूर्तिके आवरक पत्थरोंको हटाया है। उस मूर्तिमें कोई नई चीज लाकर नहीं उत्पन्न किया। इसी प्रकार इस सम्यग्दृष्टि जीवने अपने आपके इस ज्ञायकस्वभावको जाना है, निरखा है, वह इस परमात्मत्वको कुछ नई चीज लगाकर प्रकट नहीं किया करता है किन्तु इस परमात्मत्वके आवरक जो विषय कषायोंके परिणाम हैं उनको प्रज्ञाके छेनीसे, प्रज्ञाकी हथौड़ीसे और प्रज्ञाके ही उपयोगसे यह जीव सर्व आवरकोंको हटा देता है। तो जो था वह व्यक्तरूप प्रकट हो जाता है। ऐसा टंकोत्कीर्णवत् प्रकट होने वाला यह ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्व है। यह मैं ज्ञायकस्वभावरूप हूं किन्तु किसी भी रागादिक विकार रूप नहीं हूं——ऐसी भावना इस सम्यग्दृष्टि पुरुषमें होती है। यों स्वपरका सामान्यरूपसे विवेचन किया है। अब उस ही स्व और परको विशेष पद्धतियोंमें सम्यग्दृष्टि किस प्रकार जानता है, इसका वर्णन करते हैं।

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोहयो हवदि एसो।
ण हु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

कर्मका संक्षिप्त परिचय——रागनामक पुद्गल कर्म है। पुद्गलको कर्म कहना चाहिए या विभावोंको कर्म कहना चाहिए? कर्म शब्द जीवके रागादिक विकारोंमें भी लगाया जाता है और कर्म नाम पौद्गलिक इन कार्माणवर्गणावोंमें भी लगाया जाता है। तो किसीका तो असलमें कर्म नाम होगा और किसीका उपचारसे कर्म नाम होगा। कर्म शब्दकी व्युत्पत्ति करके सोचें तो पुद्गलका कर्म नाम नहीं हो सकता। तब इन दोनोंमें असलमें कर्म नाम है किसका? जीवके रागादिक विभावका। कर्मका अर्थ है क्रियते इति कर्म। जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। प्रथम तो दुनियामें की जाने वाली बात कोई नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ करता है यह तो त्रिकाल असम्भव है और खुद-खुदका कर्ता है, यह मत्त वाणी जैसी बात है। खुद खुदको करता है तो वह खुद कौन है जो करने वाला है। और वह खुद कौन है जो किया जा रहा है। जब वह स्वयं एक है तो एक एकको करे क्या? इसलिए जो करनेकी धातु है वह व्यवहारके लिए प्रयुक्त है। निश्चय भाषामें 'करने' शब्दका नाम कहीं आना ही न चाहिए। कोई कुछ करता है या नहीं करता है, इसके निर्णयकी बात उपस्थित करना तो दूर रहो पर 'करना' शब्द ही नहीं बोला जा सकता है। लोकव्यवहारके नाते 'करना' शब्द बोल दें तो करने शब्दकी शोभा चेतनके विभावके साथ हो सकती है पर अचेतनके साथ नहीं होती है।

चेतनके लिये करनेका व्यवहार—लोक व्यवहारमें अचेतनके लिए करनेका नाम नहीं लगाया जाता है और लगाया जाता है तो किसी दूसरी धातुका भाव लेकर। करनेका नाम चेतनके साथ जोड़ा जाता है। जो किया जाय उसे कर्म कहते है। चेतनके द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है। चेतनके द्वारा किये जाते हैं ये रागादिक विकार इसलिए उनका नाम तो सीधा कर्म है और इन कर्मोका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें जो कर्मत्व अवस्था हुई इस कारण उसको कर्म उपचारसे कहा जाता है। उपचार ही सही पर परिणति दोनों जगह होती है, जीवमें जीवकी शक्तिसे होती है, कर्मोमें कर्मोंकी शक्तिसे होती है। फिर भी कर्म दोनोंका नाम है।

रागकी कार्यकारणता—राग नामका एक पुद्गल कर्म है, उसके फलमें उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है वह मेरा स्वभाव नहीं है। यह रागरूप भाव कहाँ होता है? आत्मा की एक परिणतिमें होता है। पर यह विभाव किसी अन्यको निमित्तमात्र किए बिना स्वयं स्वरसतः होता है तो यह राग स्वभाव कहलायेगा, विभाव नहीं हो सकता। इस रागके उत्पन्न होनेकी शैली ही यह है कि वह उदयागत कर्मोका निमित्त पाकर स्वयं अपने परिणामोंसे रागरूप परिणम जाता है। वह उदयागत कर्म कैसे इस जीवमें बंधा? उस बंधन के मर्मभूत कारणपर इस समय दृष्टि दें। जो नवीन कर्म आस्रुत होते हैं याने आस्रवको प्राप्त होते है उसका कारण है उदयागत पुद्गलकर्म, न कि जीव विभाव। और उदयागत पुद्गल कर्मो में नवीन कर्मोके आस्रवका निमित्तपना बन जाय इसका निमित्त है जीवका विभाव।

व्यक्त अर्थमें गर्भित अव्यक्त भाव—भैया! सुगम भाषामें प्रत्येक जगह यह वर्णन आया है कि जीवके विभावोंका निमित्त पाकर नवीन कर्म आते हैं इसका सीधा यह अर्थ नहीं है पर जो सही अर्थ है उस अर्थमें इसका विरोध नहीं। उद्देश्य एक है। इस कारण ऐसा बोल देना गलत भी नहीं है। बात वहाँ यह होती है कि नवीन कर्मोका आस्रवण तो होता है उदयागत पुद्गलकर्मोके निमित्तसे और उदयागत पुद्गलकर्मोमें नवीन कर्मोके आस्रवणका निमित्तपना आ जाय इसका निमित्त होता है जीवका विभाव। तो यह जीवका विभाव कैसा विलक्षण भाव है कि उदयागत कर्मोका निमित्त पाकर जीवविभाव होता है, और जीवविभावका निमित्त पाकर उदयागत पुद्गलकर्मोमें नवीन कर्मोके आस्रवणका निमित्तपना आता है।

रागकी औपाधिकता—बद्ध हुए कर्म कषायके अनुसार उन कर्मोमें स्थित भी हो गए। अब उसका आया समय उदय या उदीरणाका पहिले उन बद्ध कर्मोके बँधनेका टाइम निर्णीत हो गया था। समय पर खिरे उसका नाम उदय है। उदय कहो या निकलना कहो

एक ही बात है। सूर्यका उदय हो या सूर्यका निकलना हो दोनोंमें अन्तर नहीं है। जब वे बद्ध कर्म आत्मासे निकलनेको होते हैं तब उनकी स्थिति ऐसी विचित्र होती है कि उन निकलने वाले कर्मोंका निमित्त मात्र पाकर यह जीव स्वयं रागादिक विकारोंसे परिणम जाता है। ये रागादिक विकार औपाधिक भाव हैं, यह मेरा स्वभाव नहीं हैं।

ज्ञानीके स्वभावस्पर्शका उत्साह—आत्माके सहज स्वरूपका परिचय करने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी संत किसी भी नयका प्रयोग और व्यवहार इस ढंगसे करता है कि स्वभाव को छू लिया जाय। उसका उद्देश्य एक स्वभावका आश्रय करना है। और वह किसी भी नये मार्गसे चलकर अपने उद्देश्यकी ही पूर्तिमें लगा रहता है। यह निश्चयनयके विपरीत बात बोली जा रही है कि रागादिक विकार पौद्गलिक हैं, औपाधिक हैं ऐसा कहनेमें यह ज्ञानी पुरुष अपने स्वभाव स्पर्शके लिए एक मार्ग पाता है। ओह वे पौद्गलिक हैं, मेरे स्वभाव नहीं है। मैं तो यह टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वरूप हूँ। इसी प्रकार जैसे राग के सम्बंधमें बात कही, द्वेषके सम्बंधमें भी वैसी ही बात है! वह द्वेष नामक पुद्गल प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर होने वाला भाव है, मेरा स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ इनमें भी यही बात समझना है।

विविक्त भावोंसे विविक्तता—भैया! ये विभाव आत्माके परिणमन हैं, किन्तु औपाधिक है, स्वरसतः उत्पन्न होने वाले नहीं है। उनको पर बताकर परसे विविक्त स्वका ज्ञान कराया गया है। इसी प्रकारसे प्रत्येक द्रव्य ऐसा है कि जिसका आत्मासे कुछ अधिक सम्बंध है और उस सम्बंधके कारण और उसमें आगे बढ़कर मोही जीव मुग्ध होता है, उन्हें अपना मानता है और अपनेमें कर्मोंका बंध कर लेता है। उन परद्रव्योंको भी इसी तरह जानो कि ये कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, घ्राण, चक्षु, प्राण, रसना और स्पर्शन—ये सब भी पर हैं। मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो यह टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञायकस्वभावरूप हूँ।

बाह्यहेतुवोंका द्वैविध्य—भैया! बाह्यहेतुवोंमें दो प्रकारके हेतु हैं, एक निमित्तभूत और एक आश्रयभूत। जीवके विभावमें निमित्तभूत हेतु तो पौद्गलिक कर्म हैं और आश्रयभूत कारण हैं, कर्मोंके अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ जिनको उपयोगमें लेकर, जिनको ज्ञेय बनाकर, जिनका आश्रय कर, विचार कर, ख्याल कर हम रागादिक भावोंकी दृष्टि करते हैं वह कहलाता है आश्रयभूत। तो निमित्तभूत और आश्रयभूत ये दो प्रकारके हेतु हैं। इनमें निमित्तभूत कारणका तो निमित्तनैमित्तिक भावोंकी विधिमें घनिष्ठ सम्बंध नहीं है और इसी कारण आश्रयभूत पदार्थोंका कार्यमें अविनाभाव नहीं बनता है।

एक आश्रय होनेपर भी एक जातिके भावका अभाव—वक्ता जन एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि कोई वेश्या मरी, उसे देखकर कामी पुरुषके यह भाव जगा कि यह जीवित

रहती तो और दो चार दिन मिलतें। साधुके यह भाव रहता है कि इसने दुर्लभ नर पर्याय पाकर व्यर्थ ही इस भवको गंवा दिया। तो कुत्ते-स्यालोंका यह भाव हुआ कि इसे यों ही छोड़ दिया जाय तो हम पशुवोंका कई दिनोंका भोजन हो जायगा। वह परआश्रयभूत पदार्थ है, इसलिए भिन्न-भिन्न लोगोंने अपने भिन्न भाव बना लिए। कोई तो सुन्दर वस्तुको देखकर राग करता है और कोई नहीं भी राग करता है तो यह नियम भी नहीं घटित होता है कि अमुक संयोग मिले तो इसके ऐसा कषायभाव जगे ही, ऐसा नियम नहीं है। यह तो आश्रय लेने वालेकी योग्यतापर निर्भर है, किन्तु निमित्तभूत कारण जो कर्मोदय है उसमें कर्मोदयके आश्रयभूत पदार्थोंके कारण कारणता नहीं है। मिथ्यात्व नामक प्रकृतिके उदयमें जीवमें मिथ्यात्व भाव होता है. अन्य प्रकारका भाव नहीं होता है। राग नामक प्रकृतिके उदय होनेपर जीवमें राग नामक भाव होता है। वे सब विभाव पुद्गलकर्मके विपाकसे प्रभूत हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ और रागको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न हो जाता है।

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुयदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

विकारके त्यागका मूल यथार्थज्ञान—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपको ज्ञायकस्वभावी मानता है और यथार्थ तत्त्वको जानता हुआ उदयको अथवा कर्मविपाकको छोड़ देता है। अथवा ऐसा जान रहा है कि यह उदय मेरा स्वरूप नहीं है। यह तो कर्मोंका विपाक है। ऐसा समझकर विकारका त्याग कर देता है। इससे पहिले सामान्य रूपसे और विशेषरूपसे यह बताया है कि रागभाव मेरा स्वरूप नहीं है। इस अज्ञानी जीवको सबसे अधिक किस बातका मोह है इसका विचार करें। कोई कहेगा कि सबसे अधिक मोह घर, धन वैभवका है, किन्तु घर और धन वैभवका सबसें अधिक मोह नहीं है। उससे भी अधिक मोह परिवारमें है। मोही जीवकी कहानी बता रहे हैं। और परिवारमें भी सबसे अधिक मोह नहीं है किन्तु अपने शरीरमें है। अपने शरीरपर कोई आफत आए और घरके लोगोंपर कोई आफत आए, जैसे मान लो जान जानेका सवाल है सबका तो यह जीव अपनी जान बचायेगा। परिवारकी जान जानेकी उपेक्षा कर देगा। तब सबसे अधिक मोह हुआ अपने शरीरका, प्राणोंका। किन्तु शरीर और प्राणोंसे भी अधिक मोह होता है अपनी बातका। लोग बातके पीछे अपनी आत्महत्या तक भी कर डालते हैं। दोनोंमें झगड़ा, हठ, विवाद बात ही बातका है। बात माने रागद्वेषमोह विकार। सबसे अधिक मोह होता है रागादिक विकारोंमें।

तत्त्वज्ञानका फल—जिसने रागादिक विकारोंसे न्यारा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको

जाना है ऐसा पुरुष कर्मोंका शिकार नहीं होता। उसकी तो प्रतिसमय निर्जरा होती रहती है। इस सम्यग्दृष्टि जीवने परस्वभावरूप जो भाव है अर्थात् विकार भाव, कर्मोंके उदयके निमित्तसे होने वाले जीवके विरुद्ध परिणमन उन सबसे अपनेको पृथक करके टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञायक स्वभावरूप आत्माके तत्त्वको जान लिया है। सो जब यह सम्यग्दृष्टि जीव केवल तत्त्वको जान रहा है तो जाननेका फल तो यह है कि जो पर हो, परभाव हो, पराया हो, अहित हो, असार हो, न्यारा हो तो उससे मुख मोड़ लेवे और जो अपना हो, हित हो, सार हो, सुखद हो उसको ग्रहण कर लेवे। सो यह सम्यग्दृष्टि जीव इन सब परपदार्थोंको और रागादिक परभावोंको तो त्याग देता है और निजस्वभावका उपादान करता है याने ग्रहण करता है। इस प्रकार स्वके ग्रहण करने से और परके त्याग करनेसे निष्पन्न होने वाला जो निज आत्माका वस्तुत्व है उसकी अपने उपयोगमें सिद्धि करता है और कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको त्याग देता है। इस कारण यह ज्ञानी पुरुष नियमसे ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न होता है।

ज्ञानीकी होड़में अज्ञानीकी फिसाड़—ऐसी सम्यग्दृष्टि की विभूतिको सुनकर सम्यग्दर्शनके महात्म्यको समझकर कोई यह कहने लगे कुछ थोड़ासा सुन लेनेके कारण कि यह मैं तो स्वयं सम्यग्दृष्टि हूं, मेरा कभी भी बंध नहीं होता है। इस प्रकार उठाया है और फुलाया है मुखको जिसने, मुखकी मुद्रा जिसने विचित्र बनायी है ऐसा पुरुष, जो अटपट आचरण करे तो करे अथवा ऐसा मोही रागी पुरुष किसी कारणसे धर्मकी धुन भी रखा करे, महाव्रत भी पाले, समितिमें सावधान रहे, बड़ा ऊँचा तप किया करे तो भी यदि उसके आत्मा और अनात्माका ज्ञान नहीं है तो वह पापमय है, सम्यक्त्वसे रीता है। यह अंतरंग की बात कही जा रही है। भैया! कर्म शरीरकी चेष्टा देखकर नहीं बंधते हैं, नहीं छूटते हैं किन्तु आत्मीय योगको उपयोगका निमित्त पाकर बंधते हैं और छूटते हैं।

बाह्यतपका क्लेश व अन्तरमें अज्ञान—यदि कोई पुरुष धर्मोपदेशसे जैसा कि उसने समझ रखा है मुनि भी हो जाय, महाव्रत और समिति भी पाले, बड़ा दुर्धर तप करे, किन्तु अन्तरमें यदि ज्ञायकस्वरूप भगवानका अनुभव न हो, जिस अनुभवके कारण रागादिक विकार और समस्त परपदार्थ अत्यन्त भिन्न और हेय जाने जाते हैं ऐसा सम्यग्ज्ञान न हो तो वह अब भी पापमय है। मिथ्यात्वसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। जहाँ विपरीत आशय है, स्वयंके स्वरूपका कुछ भी परिचय नहीं है, बाह्य अर्थोंपर अत्यन्त झुकाव है, सर्व कुछ बाह्य जगत ही वह अपना सर्वस्व माने हुए है, ऐसा पुरुष अन्तरमें पापस्वरूप है।

स्वरूपपरिचयके बिना सर्वत्र अन्धता—श्रावक जन भी गृहस्थके योग्य धर्म कार्य करके भी पूजन, भक्ति, स्वाध्याय, गुरु उपासना आदि अनेक कार्य करके भी यदि अन्तरमें

अपने स्वरूपका पता नहीं पड़ सकता है, ज्ञानमात्र शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं किया है तो वह अन्तरमें अब भी अंधा है, पापमय है। मोक्षमार्ग न मिलेगा। इस कारण यदि सुगति चाहिए, शांति चाहिए, कल्याण चाहिए तो सर्व प्रयत्न करके इस मोहको त्यागो। मोहके त्यागे बिना न शांति मिलेगी, न कर्म झड़ेंगे और पाया हुआ दुर्लभ मनुष्य जीवन बेकार चला जायगा। भैया ! मोह करना बिल्कुल व्यर्थकी बात है। जगतमें अनन्ते जीव हैं। कोई जीव किसीका कुटुम्बी सदा साथी नहीं होता, फिर आज दो चार जीवोंमें ही अपनी ममता डालकर क्या यह अंधकार नहीं बना रहे हैं। और जिसमें ममता डाले हुए हो वे अब भी तो अत्यन्त जुदा हैं। उनका तुममें अत्यन्ताभाव है। न उनसे कुछ आपमें आता है और न आपका कुछ उनमें जाता है। ऐसी व्यर्थकी ममता ही हमारे सर्व कल्याणमें बाधक है। सर्व प्रथम कर्तव्य तो यह है कि मोह छूटे, समस्त बाह्य पदार्थोंसे मोह हटाना है, धन सम्पत्तिसे मोह दूर हटाना है, घर महलोंसे मोह हटाना है, परिवार जनोंसे मोह हटाना है, शरीरसे मोह हटाना है, अपनी बात अपने रागसे मोह हटाना है और केवल शुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव करना है।

इस गाथामें सत्पथके लिये सावधानी दी है कि स्वका अनुभव जगे बिना, सम्यक्त्व पाये बिना यह जीव बाह्यमें दुर्धर धर्मके नामपर, तपके नामपर काय क्लेश भी कर करके विपरीत आशयके कारण अन्तरमें अब भी पापमय है। इस कारण भव्यजनो ! सर्व यत्नसे आत्मानुभवकी प्राप्ति करो। अब इसके बाद यह कथन करते हैं कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता है ?

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥

रागकी अपनायतमें सम्यग्दृष्टित्वका अभाव—जिस जीवके परमाणुमात्र भी राग है, रागादिक विकारका अंश मात्र भी है, वह समस्त आगमोंका धारी होकर भी आत्माको नहीं जानता है। यहां किस रागका निषेध किया जा रहा है ? जिनकी श्रद्धा भी रागसे रँगी है अर्थात् जो रागकी कणिका मात्रको भी आत्माका स्वरूप या हेतु जानते हैं, रागरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपका परिचय नहीं पाते हैं, ऐसे जीव जितने सर्व आगमको द्रव्यलिङ्गी मुनि भी ज्ञात कर सकते हैं इतने सब आगम धारण करके भी वे आत्माको नहीं जानते हैं। और जब अपने आपके स्वरूपको नहीं जानते हैं तो अनात्माको भी वे नहीं जानते हैं। जो जीव आत्मा और अनात्माको नहीं जानता है अर्थात् जीव और अजीवको नहीं जानता है वह

सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

वस्तुस्वरूप जाने बिना लौकिक यथार्थज्ञानकी भी परमार्थतः असमीचीनता—इस टीकामें पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि कहते हैं कि जिस जीवके रागादिक अज्ञानमय भावोंका लेश भी सद्भाव है, वह श्रुतकेवलीकी तरह भी हो तो भी ज्ञानभावका अभाव होनेसे वह आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता है वह अनात्माको भी नहीं जानता है। यथार्थतया उसे किसीका बोध नहीं है। एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्य पदार्थोंको, जैसे कि हो तो रस्सी और जान ले साँप कुछ अंधेरे उजेलेमें तो उसे सम्यग्ज्ञानसे रहित नहीं कहा जायगा। और एक मिथ्यादृष्टि पुरुष खम्भेको खम्भा जान रहा, चौकीको चौकी जान रहा, जो कुछ सामने आता है वह ठीक ठीक जान रहा है, और व्यवहारके अनुकूल भी जाने तो भी वह सम्यग्ज्ञानी नहीं हो पाता है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष पुद्गलोंको पुद्गलोंकी जातिमें कुछ भी हो जाय किन्तु उसे द्रव्य गुण पर्यायके सम्बंधमें रंच भी शंका नहीं है। कारणविपर्यास स्वरूपविपर्यास व भेदाभेदविपर्यास उसके उपयोगमें नहीं समा पाते हैं।

दृश्यमान पदार्थमें सम्यग्दृष्टिका बोध—ज्ञानीने जान भी लिया कि यह सांप है, किन्तु वस्तुस्वरूपमें भ्रम नहीं है। ये सब जो मूर्तिक नजर आते हैं वे पुद्गल पिण्ड हैं, अनन्त परमाणुवोंके पिण्ड हैं, अनन्त परमाणुवोंकी ये व्यञ्जन पर्यायें है और साँप हैं तो क्या, अन्य कुछ है तो क्या है तो वह दृश्यमान एक व्यञ्जन पर्याय जीव है तो उसमें जो गुण हैं उन गुणोंका वहाँ विकृत परिणमन है, सर्व कुछ सम्यक् ज्ञान है, मगर उनके प्रति विपर्यासपन नहीं आ पाता है ऐसा शुद्ध बोध है।

वस्तुके प्रायोजनिक ज्ञानसे ज्ञानित्वपर दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष ज्ञानी संतसे कहे कि चलो जी मैसूर चलेंगे, वहाँ कृष्णसागर बड़ा अच्छा बना हुआ है, वहाँ अमुक अजायब घर ठीक है अथवा आगराका ताजमहल और लाल किला प्रसिद्ध है चलो दिखा दें, तो वह कहता है कि मैंने सब कुछ देख लिया। अरे तुमने तो देखा नहीं और कहते हो कि देख लिया। हाँ देख लिया। वहाँ पुद्गल पिण्ड है, रूप, रस, गंध, स्पर्शमय है, वे सब पर हैं, उनसे मुझमें कोई बात नहीं आती है, भिन्न वस्तु हैं, उनसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। वे अप्रयोजनीय हैं। इतनी ही तो बात है उनमें। सो वह कहता है कि हम देखने नहीं जायेंगे, जो कुछ देखना था देख चुके। इसी प्रकार स्वको स्वके रूपसे और स्वातिरिक्त समस्त विश्वको, पदार्थोंको अनात्मारूपसे जिसने जान लिया, यही प्रायोजनिक ज्ञान है। जिसने जान लिया है उसको तो सन्तोष है कि मैं सबको जानता हूं।

आत्मत्व व अनात्मत्वके ज्ञान बिना सद्दृष्टित्व असंभव—श्री नेमिचन्द जी सिद्धान्त चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें जो मंगलाचरण किया उसमें प्रथम ही कहते हैं कि "जीवमजीवं दव्वं"।

जीव और अजीवको जिसने निर्दिष्ट किया, शुरूसे ही "मुत्तममुत्तं" नहीं कहा, मूर्तिक अमूर्तिकमें भी सब द्रव्य आ जाते हैं तो भी ऐसा न कहकर जीव अजीवका मर्म यह है कि अजीवसे हटना और जीवमें आना। जो प्रयोजन होता है उसके ही माफिक पुरुष प्रारम्भमें ही वचन निकालता है। जिसने आत्माको और अनात्माको नहीं जाना तो समस्त मोक्षमार्ग के आधारभूत तो यही भेदविज्ञान है। आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वको ही न जाना तो आगे बतायेंगे कि वह सम्यग्दृष्टि कैसे होगा ? यह आत्मा है यह अनात्मा है ऐसा भेदपूर्वक ज्ञान तब होता है जब स्वरूपकी सत्ता और पररूपकी असत्ताके माध्यमसे एक वस्तुका निश्चय किया जाता हो।

अनेकान्तकी अनिवार्यता—भैया ! अनेकांत टाले भी नहीं टाला जा सकता। जो अनेकांतको मना करता है वह अनेकांतके प्रयोगसे ही जबरदस्ती हठपूर्वक अनेकांतको मना करता है। कोई भी वस्तु हो या कोईसा भी सिद्धान्त स्थापित किया जाय वह सिद्धान्त है ऐसा कहनेमें ही यह बात आपतित होती है कि इससे भिन्न अन्य कुछ सिद्धान्त नहीं है। इससे भिन्न सिद्धान्त भी हो तो यह सिद्धान्त यहाँ नहीं ठहर सकता। किसी भी पदार्थको सिद्ध करनेमें उसके अन्य पदार्थोंका नास्तित्व तो आ ही जाता है। इस तरह प्रारम्भमें ही अस्तित्वकी स्थितिमें अनेकान्त बसा हुआ है।

रागान्धके सम्यग्दृष्टित्वका अभाव—अपने आत्माके ज्ञानस्वरूपकी सत्ताका निर्णय हो और समस्त परकी व परभावकी आत्मामें असत्ता है ऐसा निर्णय हो तो आत्मा और अनात्माका सही परिज्ञान कहा जा सकता है। जो आत्मा अनात्माको नहीं जानता है, जो रागादि परभावोंको आत्मस्वरूप मानता है वह जीव और अजीवको भी नहीं जानता। वह तो रागरूप अजीवतत्त्वमें आत्मत्वकी प्रतीति रखता है। यद्यपि आत्माको जीव और अनात्माको अजीव कहते हैं तो भी यह पुनरुक्त नहीं होता। यहाँ आत्मा माना निजको और अनात्मा माना अनिजको। जो आत्मा अनात्माको नहीं जानता उसे द्रव्य, गुण, पर्याय पिण्डरूप जीवको और जीवके द्रव्य गुण पर्यायके पिण्डरूप अजीवको नहीं जाना। और जो जीव अजीवको नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं होता है। इस कारण रागी पुरुषके ज्ञानका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि नहीं होता है।

असंयतों व देशसंयतोंके निरास्रवत्वकी जिज्ञासा व प्रथम समाधान—यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि चौथे और पांचवे गुणस्थान वाले तीर्थंकर अथवा जो राजा राजकुमार, भरत आदि चक्रवर्ती, राम, पांडव आदि महापुरुष वे सब अपने जीवनमें बहुतसा राग करते थे, घरमें रहते थे, राज्य चलाते थे तो क्या वे सम्यग्दृष्टि न थे ? यहाँ तो कहा जा रहा है कि जो रागका अंश भी रखता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। भैया ! उत्तर इसके कई आयेंगे,

जिसमें प्रथम उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा इस सम्यग्दृष्टिको निरास्रव है तो यह ४३ प्रकृतियोंका बंध नहीं कर रहा है। जिसमें दो तो बंधके अयोग्य ही हैं। ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। यह सराग सम्यग्दृष्टि होता है क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवके अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जनित और मिथ्यात्व उदय जनित रागादिक नहीं होते हैं, जो पत्थरकी रेखा आदिके समान होते हैं। ऐसा राग लेश भी हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

सम्यग्दृष्टिके निरास्रवत्वका द्वितीय समाधान—इस ग्रन्थमें पंचम गुणस्थानवर्ती जीव के ऊपरके गुणस्थानवर्ती साधु संत वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवको मुख्य रूपसे ग्रहण किया गया है उन्हें लक्ष्यमें लिया गया है और सराग सम्यग्दृष्टि पुरुषको गौणरूपसे लक्ष्यमें रखा है। इस ग्रन्थका स्वाध्याय करते समय यह ध्यानमें रहना चाहिए कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव मुख्य रूप से निर्ग्रन्थ साधुवोंके प्रति सम्बोध करके सब कुछ कह रहे हैं और जो उन्हें कहा जा रहा है वह सब गृहस्थ जनोंमें भी चूँकि एक ध्येयके हैं सो लागू होता है किन्तु सम्बोधनेमें उपदेशमें मुख्य लक्ष्य है निर्ग्रन्थ साधुका। उनका मुख्यरूपसे ग्रहण है और सराग सम्यग्दृष्टि जीवका गौणरूपसे ग्रहण है। तब यह ध्यानमें रखा जायगा कि यह सब कुछ उन साधु संतोंके लिए कहा जा रहा है कि परमाणु मात्र भी राग हो तो श्रुतकेवलीकी तरह भी हो जाय तो भी आत्मा और अनात्माका ज्ञान न होनेसे वह सम्यग्दृष्टि न होगा।

सम्यग्दृष्टिके निरास्रवत्वका तृतीय समाधान—तीसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके रागरहित निजस्वरूपका सर्वथा निर्णय होता है। अपने स्वरूपको सम्यग्दृष्टि यों नहीं देख सकता कि हमारा रंच रागवाला आत्मा है। धर्मकार्योंमें आवश्यक कामोंमें बड़ी सावधानी बर्तकर सब क्रियाएँ करके उन क्रियावोंको करते हुएमें वह इतना विविक्त रहता है, जानता है, श्रद्धान करता है कि एक जाननमात्र वृत्तिको छोड़कर अन्य सब ये वृत्तियाँ मेरा स्वरूप नहीं हैं। तो श्रद्धामें रंचमात्र भी जिसके राग बस रहा हो, यह मेरा ही है, वह जीव बहुत शास्त्रज्ञाता हो जानेपर भी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है।

अध्रुवकी प्रीति तजनेका उपदेश—अनादिकालसे नित्य मत्त हुए कषायोंमें व्यग्र हुए ये संसारी प्राणी, ये रागी जीव प्रत्येक पदमें, स्थानमें, जन्म जन्ममें ये सोते ही रह आये हैं। वे जिस पदमें सोते आए हैं उस पदको तुम अपद समझो अर्थात् हे भव्य जीव! वह तुम्हारे रमनेका स्थान नहीं है। हे अज्ञानके अंधजनों! अब अपने अज्ञानको छोड़ो और वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान करो। उस पदको छोड़ो और इस निज पदमें आवो। जहाँ पर यह चैतन्यधातु यह ज्ञानस्वरूप सिद्ध है, शुद्ध है, सबसे न्यारा है, स्वच्छ है, यह आत्माका ज्ञानस्वभाव अपने ही लक्षण रसके भारको भरता है, स्थायीपनेको प्राप्त हो रहा है। इन

अस्थायी चीजोंमें रुचि मत करो। जो चीज नष्ट हो जाने वाली है उनमें अंतरंगसे रुचि करोगे तो उनके वियोगके कालमें अत्यन्त विषाद होगा। सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपको समझते रहो तो न संयोगमें क्षोभ होगा और न वियोगमें क्षोभ होगा। अध्रुवको छोड़कर इस ध्रुव ज्ञानस्वभावमें रुचि करो।

ध्रुवमें परमार्थताकी दृष्टि—भैया ! बड़े-बड़े संतोंने कौनसा वह विलक्षणकार्य किया जिसके प्रसादसे वे भगवंत हुए। परमें रुचि तो कुछ किया ही नहीं। करनेकी बात तो जाने दो, बाहरके समागमोंका भी जिसने त्याग कर दिया ऐसे ज्ञानीसंत महंतोंने कुछ अपनेमें ही विलक्षण सुलक्षण स्वलक्षणरूप कार्य किया, जिसके प्रसादसे वे निर्मल स्वच्छ आनन्दमय हुए। अपने आपके भावोंसे ही सद्गति मिलती है और अपने आपके ही भावोंसे दुर्गति मिलती है। हमारा भवितव्य तो हमारे परिणामोंपर ही निर्भर है। मैं अपने परिणामोंमें बाह्य वृत्तिकी हठ करूँ तो उसका फल अच्छा नहीं होता है। यदि मैं अपने परिणामोंमें अन्तर वृत्तिकी हठ रखूँ तो चूंकि यह अन्तरात्मा मेरे स्वाधीन है, अतः इसकी वृत्तिमें आनन्द है, शांति है, अध्रुवकी प्रीति तजकर एक ध्रुव आनन्द ज्ञायकस्वभावकी रुचि करो।

प्रभुकी आन्तरिक भक्ति—मंदिरमें जिनमूर्तिके समक्ष हमारा यह भाव बने कि हे प्रभो ! तुम्हारी पर्याय और स्वभाव एकसरस हो गया है और मेरा परिणमन और स्वभाव एक रस नहीं हुआ है। यही हममें और प्रभु आपमें अन्तर है। पर प्रभु अपने ज्ञानस्वभावके साथ पर्यायमें भी एक रस हो गया है। हम स्वभावसे तो ज्ञानरूप है पर पर्यायमें परिणामनमें अर्थात् जो मुझपर बीत रही है वह विरुद्ध बात बीत रही है। स्वभावतः सारा विश्व इसके ज्ञानमें अनायास आता रहे पर हम चल चलकर, प्रवृत्ति कर करके जानना चाहते हैं, फिर भी हमें जानकारी नहीं हो पाती है। हमारा परिणमन स्वभावसे ऐसा विपरीत चला हुआ है। हम आनन्दमय हैं किन्तु क्या गुजर रहा है हमपर कि क्षोभके बिना कुछ समय भी नहीं रह पाते हैं। सांसारिक सुख मिलता है तो वहाँ वह अपना क्षोभ मचाया करता है और कोई क्लेश हुआ करता है तो वहाँ क्षोभ तो होता ही है। कहाँ तो मेरा है आनन्दस्वभाव और कहाँ विरुद्ध चलना पड़ता है। प्रभो ! आपमें और मुझमें यही अन्तर है। आप अन्तरमें व बाह्यमें भी समरस हो, हम अन्तरमें तो शुद्ध है और बाह्यमें परिणामनमें विविधिरूप हो रहे हैं। यह विविधता मेरी मिटे।

जीवलोककी ब्रह्मरूपता—कुछ लोग कहते हैं कि यह सृष्टि कैसे बनी ? जब ब्रह्माने अपने अन्तरमें विकल्प किया कि एकोऽहं बहु स्याम्। मैं एक हूं, बहुत बन जाऊँ—बस इतना सोचने भरका ही काम था कि यह सर्व सृष्टि बन गई। इसका प्रयोजन यथार्थमें यह लेना कि जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब ब्रह्मरूप है। ब्रह्म कहते हैं उसे जो अपने गुणोंसे

बढ़ते रहनेका स्वभाव रखे स्वगुणैः बृंहणाति इति ब्रह्म। सो इस चेतनको देखो कि यह अपने गुणोंको बढ़ानेका स्वभाव रखता है। सर्वज्ञ बननेमें श्रम नहीं करना पड़ता है। सर्वज्ञता तो इसके स्वभावकी सहज कला है। यह ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञताके लिए उद्यत है किन्तु इसके आवरण जो पड़ा है उस आवरणके कारण सर्वज्ञता प्रकट नहीं होती है। वह आवरण क्या है? विषय और कषायके परिणाम। यह विषय कषायोंका परिणमन ही सर्वज्ञताका आवरक है। ज्ञानबलसे जब विषयकषाय परिणाम सर्वथा निर्मूल हो जाय तब इसकी सर्वज्ञतामें अन्तर्मुहूर्तसे अधिक विलम्ब नहीं लग सकता। तो यह अपने गुणोंसे बढ़ते रहनेमें स्वभाव वाला है, सर्व चेतन ब्रह्म है।

ब्रह्मकी एकरूपता—ये ब्रह्म यद्यपि अनन्त हैं तो भी जातिदृष्टिसे लक्षणदृष्टिसे स्वभावदृष्टिसे सब एक हैं। जैसे एक घड़ेका पानी १० गिलासोंमें अलग-अलग भर दिया तो पानीरूप पिण्ड १० जगह है पर ठंडेपनपर जब दृष्टि देंगे कि यह ठंडापन स्वरूप है तो उस स्वरूपको १० जगह तो कहें क्या वह तो पिण्डरूपको भी नजर नहीं करने देता। इसी प्रकार यद्यपि ये जीव सब अनन्त हैं किन्तु इन जीवोंमें जो स्वभाव लक्षण अनादि प्रसिद्ध है उस केवल स्वभावपर दृष्टि दें तो जीवकी व्यक्तियां ही नजर नहीं आतीं। केवल एक चैतन्यस्वरूप दृष्ट होता है। यों ब्रह्म एक हो तो स्वभावदृष्टिसे तो एक देखा, किन्तु वस्तुत्व गुणके प्रतापसे जो अर्थक्रिया चलती थी उसको एक साथ लपेटे रहा। तब यह बात प्रसिद्ध हुई है कि एक ब्रह्म समस्त सृष्टि करता है। देखो भैया! जरा समन्वयात्मक दृष्टिसे निहारिये—सृष्टि होनेका जो सिस्टम था वह यह था ना, कि एकोऽहं बहु स्याम्। प्रत्येक जीव अपने आपमें एकत्वविभक्त है, सर्वसे न्यारा और अपने आपके स्वरूपमें तन्मय है। ऐसा अद्वैत होकर भी जब इसने अपने आपमें बहुरूपकी श्रद्धा की तो यह सृष्टि चलने लगी।

स्वानुभूतिका स्रोत—इस जीवकी अनुभूति स्वलक्षणके अनुभवसे होती है। पदार्थोंके पहिचाननेकी चार पद्धतियाँ है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। जैसे इस चस्माघरको समझना है तो द्रव्य तो यह है। क्षेत्रसे इतना लम्बा चौड़ा है, कालसे इतना पुराना है और भावसे जो इसमें गुण हों उन गुणोंरूप है। जीवद्रव्यको भी पहिचानो। यह जीव द्रव्य गुण पर्याय पिण्डरूप है। क्षेत्रसे असंख्यातप्रदेशी है। कालसे जिस-जिस परिणतिसे परिणत है उस-उस रूप है। और भावसे ज्ञान दर्शन आदिक अनन्त शक्तिरूप है। पर जिस एक अनुभूति स्वभावसे जीवका परिचय हुआ है उसका इन चारोंमें ही जिकर नहीं आया और जिस दृष्टिसे स्वानुभूति होती है वह स्वानुभूतिका स्रोत न द्रव्यमें मिला, न क्षेत्रमें मिला, न कालमें मिला, न भावमें मिला।

स्वानुभूतिकी भावविकल्पसे अगम्यता—गुणपर्यायका पिण्ड आत्मा है, ऐसे दृष्टिकी

स्थितिमें स्वानुभव नहीं जगता। पर परिचय तो किया जाता है कुछ, असंख्यातप्रदेशी इतना लम्बा चौड़ा आत्मा है, ऐसी दृष्टिमें भी स्वानुभव नहीं जगता किन्तु स्वानुभव जगने के लिए जो आत्माके बारेमें प्रथम ज्ञान चाहिए वह होता रहता है। कालकी दृष्टिमें भी स्वानुभूति नहीं जगती है। अब रह गया भाव, यह भाव दो प्रकारसे देखा जाता है, एक भेद रूपसे और दूसरा अभेद रूपसे। भेदरूपसे देखनेपर तो अनन्त गुण ध्यानमें आते हैं। इस आत्मामें ज्ञानगुण दर्शनगुण चारित्रगुण आदिक हैं। सो ऐसे गुणोंको देखते जावो, वहाँपर भी विकल्प है, स्वानुभूति नहीं होती है।

स्वानुभूतिका स्रोत अभेदस्वभावप्रतिभास—किन्तु जो एक अभेदभाव है, अभेदस्वरूप है, चैतन्यस्वभाव है जो कि समस्त परभावोंसे भिन्न है और सर्व ओरसे पूर्ण है, पूर्ण था, पूर्ण है, पूर्ण रहेगा। और जिस पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है जिसमें जो पर्याय प्रकट होती है वह उसमें पूर्ण है। परिणमन कुछ भी अधूरा नहीं होता है। कोई परिणमन ऐसा उथल पुथल मचाये कि मैं तो अधूरा ही बन पाया हूं, आधा अगले समयमें बनूँगा ऐसा नहीं हुआ करता है। इस पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है, और पूर्ण प्रकट होनेपर प्रथम परिणमन पूर्ण विलीन हो जाता है। पूर्णके विलीन होनेपर ही यह पूर्ण, पूर्ण ही बना रहता है। ऐसा यह चारों ओरसे पूर्ण चित् स्वभाव है, अभेद भाव है। जो आदि अंत, मध्य कर रहित है सो रागसे भी हटे और अपूर्ण स्वभाव परिणमनसे भी हटे, मति ज्ञानादिक परिणमनसे भी हटे और चूँकि परिणति सब अध्रुव है, स्वभाव परिणमन भी प्रतिक्षण पूर्ण-पूर्ण प्रकट होता रहता है। वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, उनसे भी हटकर जब अन्तरमें देखा कुछ तो एक चैतन्यस्वभाव दृष्ट हुआ। किन्तु इस चित्स्वभावके प्रति भी यह मैं इस एक स्वभावरूप हूँ। ऐसे एकका भी संकल्प कर लेता है तब तक भी स्वभाव नहीं होता। उस संकल्प-विकल्पको भी छोड़कर अभेद प्रतिभास हो तब स्वानुभव होता है।

अभेद स्वादका एक दृष्टान्त—जैसे कोई बढ़िया भोजन बनानेके बाद उस भोजनको एक चित्त होकर खाता है उस समय उस भोजनकी भी चर्चा, कथन, चिंता न आना चाहिए, नहीं तो उस भोजनके सुखमें अतिशय नहीं होता। हलुवा खाते जावो और उसके सम्बंधमें यह विचार करते जावो कि इसमें अच्छा घी पड़ा है, शक्कर पड़ी है तो इस विकल्पसे वह जो एकरस होकर खानेका सुख भोगा जाता है वह स्थिति तो नहीं आ पाती है। यह एक लौकिकताकी बात कही जा रही है। इस चैतन्यस्वभावके अनुभव समयमें भी ऐसी ही बात है कि इस चैतन्यस्वभावको एक अलौकिक ज्ञेय बनाकर लो यह है, यह एक ही सार है, इस तरहकी चिंता न रखें तब तक भी रंच अनुभव नहीं होता है। इस एकपनेके संकल्प विकल्प का भी त्याग करे तो केवल अनुभवनमात्र स्थिति होती है वह स्वानुभवकी स्थिति है। देखो

इसमें जो आश्रय रहा, अवलम्बन रहा, विषय रहा, ज्ञेय हुआ, वह एक स्थायी भाव है।

स्वरसनिर्भर स्वपदकी दृष्टिके लिये आदेश—हे जगतके प्राणियों जिस पदमें अनन्त कालसे अब तक रमते चले आए हो वह तुम्हारा पद नहीं है। चेतो, समझो और देखो—इस नयकी गलीसे चलकर इस अपने अंतः परमात्मत्वके पदमें आवो। यहाँ ही उस चैतन्य धातुका दर्शन होगा जो स्वतः सिद्ध है, शुद्ध है अर्थात् समस्त परद्रव्योंसे विविक्त है। और अपने आपमें उत्पन्न हुए औपाधिक भावोंसे भी विविक्त है ऐसा शुद्ध ध्रुव यह चैतन्य धातु अपने रसके भारसे स्थायी भावको प्राप्त होता है।

ध्रुवस्वभावावलम्बनकी कलाका प्रताप—यह निर्जराका प्रकरण है। कौनसी कला है जिस कलाके निमित्तसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं। वह कला एक ही है और वह है निजी स्थायी जाननस्वभावका अवलम्बन, इस एक काम करनेमें अन्य पर-पदार्थोंमें कर्मोंमें कितने ही काम स्वयमेव होते रहते हैं, बहुत लम्बी स्थिति वाली प्रकृतियाँ अपने भावोंकी स्थितिमें संक्रान्त हो जाती हैं, इसी प्रकार अधिक दूर लम्बी डिग्रियोंको अनु-भागोंको थोडे अनुभागके वर्गमें प्राप्त हो जाता है और स्वयमेव फिर वह बिना फल दिए अथवा निष्फलवत फल दिए निजीर्ण हो जाता है। कितने भवोंके ? अनन्त भवोंके भी।

स्वभावाश्रयकलासे अनन्तभवकर्मबद्धक्षय—यहाँ शंका हो सकती है कि अनन्त भवोंके बाँधे हुए कर्म अब कहाँ हैं इस समय। तो इसका समाधान यह है कि अनन्त कई प्रकारके होते हैं, सर्वावधि ज्ञान जितनी लम्बी संख्याको नहीं जान सकता उसको भी अनन्त कहते हैं। अवधिज्ञानका उत्कृष्ट विषय असंख्यात है। यहाँ वह अनन्त नहीं लेना कि जिसका अंत ही न हो किन्तु अवधिज्ञानके द्वारा अगम्य अनन्त भवोंके बांधे हुए कर्म खिर जाते हैं। इतने अनन्त तो कोई लाख करोड़ वर्ष तक निगोदमें रहे तो उसमें ही हो जाते हैं। वहाँके बँधे कर्म भी तो अनेक इस समय भी हैं। तो इतने भी कर्म जिस कलाके प्रसादसे क्षणभरमें ध्वस्त हो जाते हैं वह कला है स्वभाव आश्रयकी कला।

निज चैतन्यधातुकी स्थायिता—हे मुमुक्षु जीवों ! अनादिकालसे जिस पदमें रमते चले आये हो उस पदको अपना पद न समझकर वहाँसे हटकर इस निज पदमें आवो जिस पदमें यह चैतन्य धातु स्थायीपनेमें विराजता है। जैसे शब्दका मूल धातु शब्दका कारण है और इससे कितने ही शब्द निकालते जावो। इस प्रकार यह चैतन्यस्वभाव उस वर्षकी तरह है। कितने ही शब्द निकालते जावो, वह मूलमें एक ही रूप है। अथवा सोने चाँदी आदिके जो धातुयें हैं उनके कितने ही गहने बनाते चले जावो, उन सब गहनोंमें उस धातुने अपना धातुत्व नहीं छोड़ा। स्वर्णके कितने ही गहने बनाए जायें पर स्वर्णत्व नहीं छूटता। ऐसा यह निज पद है। ऐसी निज पदकी सामर्थ्यको सुनकर अब जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करता है कि

वह पद क्या है ? इसके समाधानमें आचार्यदेव कहते हैं—

अपदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

अध्रुवको छोड़कर ध्रुवके आश्रयका उपदेश—इस आत्मामें पर उपाधिका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए द्रव्यभावरूप सभी भावोंको छोड़कर अर्थात् व्यंजन पर्याय और गुणपर्याय की दृष्टि तजकर एक नियत स्थिर और स्वभावसे ही उपलभ्यमान स्वानुभव प्रत्यक्षगोचर चैतन्य स्वभावको हे मुमुक्षु तुम ग्रहण करो। इस भगवान आत्मामें द्रव्यभाव रूप बहुत भाव दिखते हैं। कुछ ऐसे हैं जो इस आत्मभगवानके स्वभावरूपसे नहीं पाये जाते हैं, वे अनित्य हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, कितने ही प्रकारसे होते रहते हैं, अनेक हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी भाव हैं। कभी कुछ होता है कभी कुछ होता है, कभी किसी भी प्रकारसे यह चलता रहता है। वे सब अस्थायी भाव हैं। हे मुमुक्षु आत्मन् ! तू उनकी प्रीतिमें शांति नहीं पा सकता। उनको तू छोड़ और अपने आपमें जो स्वभावरूपसे पाया जाता है, नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है शाश्वत रहने वाला है, सो चूँकि वही स्थायी भाव है, सो स्थायी सत् सामर्थ्यका आश्रय ही लेने योग्य है। अतः तू इस निज पदको ग्रहण कर।

शरणयोग्य आत्मभावकी गवेषणा—इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि इस आत्मामें कौनसा भाव ऐसा है जिसका हम शरण गहें ? यह जीव परका शरण नहीं गहता। जो भी शरण गहता है वह अपना ही गहता है। कल्पनामें यह अज्ञानी मानता है कि मेरा पिता शरण है, भाई शरण है। ये सब ज्ञानमें कल्पनाएं होती हैं पर शरण बनाता है अपने ही परिणाम को। कोई ज्ञानी आत्माको शरण बनाता है तो कोई ज्ञानी परिणामोंको शरण बनाता है। तो इस आत्मामें ऐसा कौनसा भाव है जिसकी हमें शरण लेना चाहिए, आत्मामें अनेक प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं, पर्यायें उत्पन्न होती हैं। कुछ तो पर्यायें द्रव्यपर्यायें कहलाती है और कुछ गुणपर्यायें कहलाती हैं। आत्माकी वृत्तिका सम्बन्ध पाकर जो पर्यायें होती हैं वे तो हैं द्रव्यपर्यायें और आत्माके गुणोंकी जो दशा है वह है गुणपर्याय। जैसे मनुष्य पशु पक्षी ये सब द्रव्यपर्यायें कहलाती हैं क्योंकि ये आत्माके प्रदेशोंका सम्बन्ध पाकर हुए हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, शांति, संतोष ज्ञान ये सब गुणपर्यायें कहलाती हैं, इनका प्रदेशोंसे सम्बन्ध नहीं है। हम किसीको मनुष्य रूपमें देखते हैं तो लम्बाई चौड़ाई इन्हीं शकलोंमें देखते हैं, ये सब द्रव्यपर्यायें हैं। जीवमें जितनी द्रव्यपर्यायें हैं वे सब क्षणिक हैं। कोई मनुष्य सदा न रहेगा। कोई पशु सदा न रहेगा और जितनी गुणपर्यायें हैं वे भी क्षणिक है। न विषय, न कषाय, न मौज, न अशान्ति, न अज्ञान कुछ भी सदा नहीं रहता।

वभावपरिणमनोंकी नियतताके व समानताके साथ अध्रुवता— प्रश्न— शांति तो

सदा रह सकती है ? उत्तर—उनसे भी सूक्ष्मतासे देखें तो प्रत्येक समयमें शान्ति जुदा-जुदा है। प्रत्येक समयमें जो अनुभव होता है वह जुदा-जुदा है। चाहे एक समान हों, पर है भिन्न भिन्न परिणमन। उन सब पर्यायोंमें से कुछ तो हैं स्वभावपर्यायें और कुछ हैं विभाव-पर्यायें। जैसे शुद्ध ज्ञान होना स्वभावपर्याय है और क्रोध मान आदिक भाव होना यह विभाव पर्याय है। तो जो आत्माका स्वभाव नहीं है ऐसे जो क्रोध मान आदिक कषाय हैं ये सब अनियत हैं, नियत नहीं हैं। अभी क्रोध हो, मान हो, फिर माया हो, कभी क्रोध बड़ी तेजी में हो तो इसमें नियतपना नहीं है। और जो स्वभावपर्याय हैं उनमें नियतपना तो है। जैसे केवल ज्ञानीके जो ज्ञान चलता रहता है वह एकसा चलता रहता है। आनन्द जो चलता है वह एकसा चलता है और संसारी जीवके न तो ज्ञान एकसा है और न सुख दुःख एकसा है। तो जाननस्वभावसे जो विरुद्ध परिणमन है वह सब अनियत है और अनेक है। केवलज्ञानीका तो एक शुद्ध परिणमन है स्वच्छ ज्ञान है। तीन लोक और तीन कालको जान गया तो ऐसा ही जानता रहेगा हमेशा। सो उसे निराकुलताका अनुभव होता है तो वैसी ही निराकुलताका अनुभव चलेगा।

अस्थिरताका मूल अज्ञानभाव—संसार अवस्थामें, मलिन हालतमें जीवके अनेक प्रकारके भाव चलते हैं, एक भाव प्रायः ठहर ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि रागद्वेष अन्तरमें चलते रहते हैं और फिर पर्याय बुद्धि साथमें हो तब तो गजब ही हो जाता है। कहते हैं हमारा मन स्थिर नहीं है। थोड़ी देरमें कुछ विचार हुए, थोड़ी देरमें कहीं जाना। तो कैसे अस्थिरता हुई, क्योंकि मूलमें रागद्वेष बसा है। और जिसके पर्याय बुद्धि बसी है अर्थात् मैं सबमें अच्छा कहलाऊं, सब लोग मुझे बड़ा मानें, उनमें मैं एक चतुर पुरुष हूँ, श्रेष्ठ हूँ, इस प्रकारकी पर्याय बुद्धि करे तो उसका चित्त तो किसी भी जगह स्थिर नहीं रह पाता। तो अस्थिरताका मूल कारण है अज्ञानभाव।

परभावको छोड़कर परमभावको ग्रहण करनेका उपदेश—अज्ञानभावमें अनेक दशायें होती हैं वे सब क्षणिक हैं, कभी हुईं कभी न हुईं, ऐसा यह व्यभिचारी भाव है। कभी कार्य हुआ तो कभी न हुआ। क्रोध भी सदा नहीं रहता है, मिटेगा, मान आयगा, मिटेगा और कषाय आयगा तो ये बदल बदलकर नाना कषाय चलती रहती हैं। ये सबके सब अस्थायी भाव है। ये आत्मामें स्थिर नहीं रह सकते हैं। ये आत्माको भी अस्थिर करते हैं और स्वयं भी अस्थिर हैं। इसलिए इन भावोंपर विश्वास न करो। ये ऐसे असद्भूत हैं और जो आत्मा स्वभावरूपसे उपलभ्यमान है, नियत अवस्था वाला है, एक है, नित्य है, सदा रहता है, ऐसा जो कुछ एक भाव हो वह ही स्थायी भाव है। उसे कहते हैं चैतन्यस्वभाव। सब कुछ बद-लता रहता है पर चैतन्यस्वभाव अपरिणामी है। हे हितार्थियों, इस परमभावको ग्रहण करो।

पारिणामिक चैतन्यस्वभाव--इस न बदलने वाले स्वभावको पारिणामिक कहते हैं। अर्थात् परिणाम जिसका प्रयोजन है, परिणाम तो होते रहते हैं और जिसके परिणाम हुए उसे कहते हैं पारिणामिक। सो पारिणामिक स्थायी भाव है। तो भैया ! परमार्थ रस-तया स्वादने योग्य यह ज्ञान ही एक पद है। अर्थात् हे भव्य जीवो, न तो अपनेको गाँव वाला समझो, न परिवार वाला समझो, न मनुष्य न स्त्री और न किसी पोजीशनरूप, किन्तु अनादि अनन्त अहेतुक स्वतःसिद्ध एक चैतन्यस्वभावमात्र अपना अनुभव करो। ऐसा अनुभव करो कि जिस अनुभवमें जीव जीवमें परस्पर भेद न रहे। जैसे बहुतसे लोग बैठे हैं यहां अग्रवाल, परवार, जायसवाल उनमें अपने प्रयोजनसे अपनी-अपनी बिरादरीसे जुदा भी अनुभव कर सकते हैं। ये और हैं, हमारे तो ये हैं। सम्बन्ध व्यवहार इन्हींमें होना है। इस तरहसे देखा और जब कोई धर्मके नामसे देखो तो सब एक समान हैं। धर्मके नातेसे फिर फर्क नहीं आता है। जैसे विवाह शादी सामाजिक व्यवहारमें कुछ फर्क आता है कि हमारी भाजी इनके यहाँ जायगी, इनके यहाँ न जायगी, फर्क रहता है और जब दशलक्षणी आयी, उत्सव हुआ, धर्मका काम हुआ कि यह ध्यान नहीं रहता कि यह हमारी जातिके हैं, यह दूसरी जातिके हैं। यहां तो एक जैनत्व ही दृष्टिमें आता है। इसी प्रकार तब तक रागद्वेषकी बात चलती है, जब तक अपने स्वार्थ और कषायकी बात चलती है तब तक तो जीवमें छटनी रहती है कि यह मेरा है और यह पराया है। जब यह धर्मके अनुभवमें उतरता है तब इसे यह मेरा है, यह पराया है, यह छटनी नहीं रहती है। वहाँ तो सब जीव और स्वयं मात्र ज्ञानस्वरूप अनुभवमें रहता है।

कल्याणमय स्वाद ज्ञानपद---भैया ! सर्व जीवोंमें एक चैतन्यस्वभावकी दृष्टि जाती है कि सब जीव एक रस है तो इस दृष्टिका ही नाम कल्याणका उपाय है। यह सारा जगत ब्रह्मस्वरूप है ऐसा मानकर उस स्वभावदृष्टिको ग्रहण करना चाहिए, सो भी मार्ग ठीक है किन्तु ब्रह्म एक अलग चीज है और वह एकस्वरूप है, सर्वव्यापक है और उस एकने ही नाना जीव बनाये हैं, ऐसी दृष्टि जानेसे भेद हो गया और यों देखा जाय कि सर्व जीव हैं और सभी जीवोंकी उन सब जीवोंमें अलग-अलग माया चल रही है। उनकी अपनी-अपनी परिणति चल रही है। सर्व वस्तुवोंके स्वरूपको देखो तो सर्व जीव अमूर्त ज्ञानानन्द नजर आये। इस स्वरूपदृष्टिसे किसी भी जीवमें और मुझमें अन्तर नहीं है। ऐसे केवल चैतन्य-स्वरूपको निरखो तो वहाँ सब जीव एकस्वरूप हो जाते हैं और जहाँ एक स्वरूप सब जीव हुए वहाँ इसके निराकुलता उत्पन्न होती है और जहाँ छटनी है वहाँ आकुलता होती है। इस कारण जहाँ विपत्तियोंका नाम नहीं है ऐसा जो एक ज्ञानानुभव है उस ज्ञानानुभवका ही स्वाद लेना चाहिए।

सहजस्वरूपदर्शनमें प्रभुदर्शन—भैया ! स्वकीय सामान्य ज्ञानज्योतिके अनुभवमें आने पर सर्वभाव, क्षणिक, क्रोधादिक मनुष्यादिक ये सब परिणमन अपद हो जाते है, इसके उपयोगमें स्थान नही पाते है। सब कहते हैं कि यह जीव प्रभुमें मग्न हो जाय, ब्रह्ममें मग्न हो जाय, पर ब्रह्ममें मग्न होनेका तरीका क्या है ? ब्रह्म है ज्ञानानन्दस्वरूप और अपने उस स्वरूपको देखो और ज्ञानानन्द स्वरूप अपनेको अनुभव करो तो उस ज्ञानानन्दस्वरूपके अनुभवन की परिणतिमें यह देह धन, परिवार सबको भूल जायगा और ये सब विशेष चीजें विस्मृत हो जाती है, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म ही अपनी दृष्टिमें रहता है वहां इसे प्रभु मिलता है और प्रभुमें मग्न होता है। हम अपनेसे बाहर कहीं प्रभुको समझकर दृष्टि गड़ाएँ तो प्रभु नहीं मिलता है। जैसे प्रभुकी मूर्ति ही, जिनेन्द्रदेवका बिम्ब ही सामने है और हम ऐसा ज्ञान करें कि इस प्रतिमामें भगवान हैं और आखें फाड़कर प्रतिमामें भगवानको देखें तो कभी न मिलेगा। प्रतिमामें भगवान अथवा समवशरणमें विराजमान परम औदारिक शरीर से भगवानको देखें तो भगवान नहीं मिलता है, किन्तु अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपको देखने में बल लगायें तो भगवान देखनेमें आ जाता है।

ज्ञानज्योतिर्मय भगवान—भगवान जड़ पदार्थोमें नहीं है। जड़ पदार्थोका स्वरूप ज्ञानानन्द नहीं है। तो जड़में भगवान कहाँ दिखेगा ? मंदिरमें, मूर्तिमें, पाषाणमें अथवा समवशरणमें भी बैठा हुआ जो उनका शरीर है उस शरीरमें भी भगवान नहीं है। भगवान तो भगवानमें है। ज्ञानानन्दस्वरूप जो निर्मल आत्मा है उसमें भगवान है। सो जड़ पदार्थोमें तो भगवान मिलता नहीं है, और जो निर्मल आत्मा है साक्षात् वह उन जड़ पदार्थोके प्रदेश से अत्यन्त दूर है। उसका परिणमन उसके प्रदेशोंसे अत्यन्त दूर है। तो उस दूर रहने वाले निर्दोष आत्माको कैसे देख सकोगे ? मैं जो कुछ कर पाता हूँ सो अपने आपके जीवमें ही कर पाता हूं। कुछ जानू तो अपने आपके स्वरूपको जानता हूं, कुछ अनुभव करू तो अपने आपका ही अनुभव करता हूं। मेरा काम मेरे प्रदेशोसे बाहर नहीं होता। तो मैं अपने प्रदेशों से बाहर अन्यत्र कहीं भी अपना प्रयोग नहीं कर सकता हूँ। मैं न जान सकूँ, न अनुभव कर सकूँ, न देख सकूँ। जो कुछ करता हूँ सो अपने आपमें ही करता हूँ। तो जब हम उस निर्मल निर्दोष परमात्माको ज्ञेयमात्र बनाकर अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपमें बल देंगे तो उस परमात्माके दर्शन हम कर सकते हैं।

निरापद स्वरूप—परमात्मा है ज्ञानानन्दस्वरूप और आत्मा भी है ज्ञानानन्दस्वरूप। परमात्माका ज्ञान और आनन्द अनन्त हो सकता है। हमारा ज्ञान और आनन्द सीमित है, लेकिन अपने इस ज्ञानानन्दका विषय ज्ञानानन्दको बनाएँ तो इस ज्ञानके द्वारा ही उस परमानन्द ज्ञानमय प्रभुको तक सकता हूं। एक ही उपाय है और सभी संतोंने आत्मसिद्धिके

लिए इस एक ही उपायको किया है। इसीको कहते हैं ज्ञानका स्वाद लेना। इतना ज्ञान तो हो रहा है, उस ही ज्ञानका ज्ञान करने लगें तो हम सहजसिद्ध भगवानमें स्थित होकर ज्ञान का स्वाद लेने लगेंगे। यह ज्ञानका स्वाद इतना निर्मल पवित्र आनन्दमय है कि इसके आगे और सब बातें अपद मालूम होती हैं।

ज्ञानरसके स्वादीको अन्य रसकी असह्यता--भैया! जिसको इस ज्ञानके स्वरूपका किसी भी क्षण अनुभव होता है वह इस ज्ञानभावके रससे भरा हुआ महान् स्वाद लेता हुआ ऐसा अपने लक्ष्यमें दृढ़ हो जाता है कि वह द्वन्द्वमय स्वाद लेनेके लिए असह्य है। अर्थात् अब दूसरी चीजका स्वाद लेना उन्हें सह्य नहीं है। सब ज्ञेयतत्त्वोंको एक ज्ञानके स्वादमें उतारते हैं। वह द्वन्द्वताको लेनेके लिए असह्य होता हुआ निज वस्तु वृत्तिका अनुभव करते हैं। उन्हें अपने आप मिल गया है। और अपने आपके मिल जानेसे उनकी सर्व आकुलता समाप्त हो गई है। निर्मोही जीव बाहरमें अपने ज्ञान और आनन्दको ही ढूँढ़ा करते हैं अर्थात् अपने आपको ढूँढ़ा करते हैं। और उसे ज्ञान और आनन्द खुदमें मिल जाय तो इसी के मायने हैं कि अपने आपको पा लिया। इस अपने आपको पा लेनेसे जो एक समरस ज्ञान का स्वाद आता है तब वह जीव अन्य स्वाद लेना चाहता नहीं है, क्योंकि वह आत्माके स्वाद के प्रभाव से युक्त है। अर्थात् आत्मीय ज्ञान होनेपर ज्ञानानुभूति से चिगता नहीं है।

निर्बाधपदसे सबाधपदमें विवेकियोंके गमनका अभाव--ऐसे अपूर्व आनन्दका स्वाद पानेपर अब ज्ञानी संत बाहर कहां आयेंगे? जैसे सावनकी तेज बरषातमें अच्छी कोठरीमें पहुंच जानेपर जहां कि पानी चूता नहीं है, न आंधी पानी आती है उस समय बिजली कड़क रही है, तेज बरषात हो रही है ऐसी आफतमें कौन घरसे बाहर जायगा, अपना आनन्दसे घरमें बैठे हैं। इसी प्रकार अपने आत्माके अन्दर जहां कोई विपत्ति नहीं है, ऐसे आरामकी स्थितिमें ज्ञानी स्थित होगा। बाहरमें बड़े संकट मच रहे हैं, तो अपनी ज्ञानकोठरीसे बाहर होनेपर, बाहर दृष्टि बननेपर सैकड़ों कल्पनाओंके संकट अनुभव किए जाते हैं। और कुछ औपाधिक द्वन्द्व भी बाहरमें मच रहे हैं। सो ऐसे संकटकी बरषातके समय कोई ज्ञानी संत अपने दृढ़ घरमें आ गया, जहां न विकल्प है, न संतोष है, एक परम आल्हादका ही अनुभव है, ऐसी निर्बाध स्थितिमें रहकर फिर कुछ अंतरंगमें अपनेसे चिगकर कहां बाहर जाये? फिर यह ज्ञानी जीव बाहर नहीं जाता।

निर्विशेष उपयोगमें आत्माका निरर्गल विकास--यह ज्ञानी संत विशेषका उदय नष्ट करता है, अपनेको किसी विशेषरूप नहीं मानता। और सामान्यका ही कलन करके, सामान्य का ही अनुभव करके यह समग्र ज्ञानी एकता को प्राप्त करता है अर्थात् स्वयंको यह एक

ज्ञानरूप अनुभव करता है। यही आत्माका निज पद है और इस ही निज पदमें कल्याण है। इसीसे ही मोक्षमार्ग मिलता है। यही अरहंत भगवंतोंने किया था जो आज उत्कृष्ट पद में अवस्थित है जिनकी बड़ी भक्तिसे हम उनकी पूजा करते है। उन्होंने इस ही एक ब्रह्म-स्वरूपके अनुभवका मार्ग अपनाया था। इस ही आत्मस्वभावकी उपासनाकी परिस्थितिसे ये कर्म ध्वस्त होते है, संसार मिटता है और शिवपदकी प्राप्ति होती है। इस लिए सर्व प्रयत्न करके इस क्षणिक भावको छोड़कर ध्रुव जो आत्मीय चैतन्यस्वभाव है, ध्रुव स्वभाव का हमें अनुभव करना चाहिए और हम उस अनुभवके पात्र रह सकें, इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्तिके पात्र रह सकें, इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्तिके पात्र रह सकें, इसके लिए न्यायरूप अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए।

आभिणिसुदोहिमणं केवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो ऐसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादिं ॥२०४॥

परमार्थकी व्यक्तियाँ व मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका स्वरूप—आत्माका परमात्म शरणतत्त्व क्या है? इसका इस गाथामें वर्णन है। जीवका असाधारण गुण ज्ञान है और ज्ञानके ही अस्तित्वके लिए मानों अन्य सब गुण हैं। उस ज्ञान गुणकी ५ तरहकी जातियाँ होती हैं—मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो साक्षात् ज्ञान होता है उसे कहते हैं। जो कुछ देखा जाय, सुना जाया, घ्राण द्वारा जानें, रसनासे भी जानें, स्पर्शन इन्द्रियसे जानें वह सब मतिज्ञान है और मतिज्ञानसे जानकर उसही सम्बन्धमें विशेष जानना सो श्रुतज्ञान है। आँखों से देखना और यह समझना कि यह (हरा है, तो), हरा है ऐसा श्रुतज्ञान है। और हरा ही दिखा किन्तु हरेकी कल्पना नहीं हुई वह है मतिज्ञान। और फिर उस संबन्धमें और और भी विशेष जानना यह अमुक जगहका बना हुआ रंग है, इसे अमुकने रंगा है, यह गहरा है, टिकाऊ है, यह सब श्रुतज्ञान कहलाता है। हम आप सबमें दो ज्ञान पाये जाते हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।

अवधिज्ञान—अवधिज्ञान होनेका निषेध तो नहीं हो सकता है पर प्रायः है नहीं। २ ज्ञान हैं। अवधिज्ञान किसे कहते हैं, इन्द्रिय और मन की सहायताके बिना केवल आत्मीय शक्तिसे रूपी पदार्थोंको जान लेना सो अवधिज्ञान है। अमुक जगह क्या है, इतने साल पहिले क्या था—इस तरह पुद्गल सम्बन्धी बातोंको जान जाना सो यह अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अवधि लेकर जानता है। समस्त द्रव्योंको नहीं जान जायगा। कुछ जानेगा। समस्त क्षेत्रोंकी बात नहीं जानेगा। कुछ क्षेत्रोंको जानेगा इससे अधिक न जानेगा, कुछ कालकी बात जानेगा। समस्त कालकी न जान जायगा।

अवधिज्ञान जानता तो तीनों कालकी है। भूतकी भी, वर्तमानकी भी और भविष्यकी भी पर वह भी सीमित ही जान पाता है और भावोंकी अथवा पर्यायमें भी कितनी प्रकारकी पर्यायों को जानेगा यह भवोंकी बात है। इस तरह अवधिज्ञानमें एक म्याद पड़ी हुई है। यहाँ चर्चा चल रही है कि हम और आपके जो ज्ञानगुण हैं उन ज्ञानगुणोंके कितने काम होते हैं ? तो जाति अपेक्षासे ५ प्रकारके होते हैं, इस रूपसे समझाया जा रहा है।

मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान——चौथा ज्ञान है मन:पर्ययज्ञान। यह ढाई द्वीपके अन्दर या ढाई द्वीपके बराबर क्षेत्रकी संज्ञी जीवोंकी मनकी बात जान सकता है। इसमें भी म्याद पड़ी हुई है। और पाँचवां ज्ञान केवलज्ञान समस्त लोकालोककी समस्त भूतकाल और भविष्यकालकी सर्व पर्यायोंको जानता है। इस तरह ज्ञानगुणकी ५ प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं।

एकपदके पांच भेद——ये पांचों अवस्थाएं अध्रुव हैं। मतिज्ञान मिट जाता है, श्रुतज्ञान मिट जाता है, अवधिज्ञान मिटता है, मन:पर्ययज्ञान मिटता है। केवल ज्ञान ऐसा है कि सूक्ष्म दृष्टिसे तो प्रत्येक समयमें केवलज्ञान होता रहता है अर्थात् प्रत्येक समयमें उत्तर केवलज्ञान पर्यायका प्रादुर्भाव और पूर्व ज्ञानपर्यायका तिरोभाव होता रहता है। पर केवलज्ञानके बाद केवलज्ञान ही होता है। दूसरा ज्ञान नहीं होता है। इसलिए केवलज्ञानकी धारा अनविच्छिन्न चलती रहती है। इसलिए स्थूल साधारण रूपसे यह कहा जाता है कि केवलज्ञान नहीं मिटता है। केवलज्ञान हुआ तो अनन्तकाल तकके लिए होता ही रहेगा। ऐसे ये ५ परिणमन हैं ज्ञान गुणके, पर इनमें मूल एक ही पद है जहां हमें अपना उपयोग टिकाना है।

अध्रुवको छोड़कर ध्रुवकी दृष्टिमें ही आत्मलाभ——भैया ! मिट जाने वाली चीजों पर हम उपयोग दें तो आश्रय मिट जानेसे उपयोग भी बदल जायगा और अन्य-अन्य होता रहेगा। जब हमारा उपयोग अस्थिर रहा करेगा तो वहां कुछ हित नहीं पा सकते हैं। तो एक ध्रुव पदके अवलम्बनमें ही हित होगा। इन ५ प्रकारके ज्ञानके परिणमनमें ध्रुव सत्य यथार्थपद एक ही है, वह क्या ? ज्ञानस्वभाव। जैसे अंगुली टेढ़ी सीधी, गोलमटोल कैसी ही करी जाय तो इनमें जो दशा है टेढ़ी सीधी होना, गोल होना ये सब दशाएँ मिटने वाली हैं, पर इन सब दशावोंमें जो अंगुलीका मेटर है वह तो वही है, टेढ़ी हो तो वहां अंगुलीका स्कंध है ही, सीधी हो तो वहां उस अंगुलीका स्कंध है, स्थायी है, दृष्टान्तके रूपमें और उसकी दशाएँ विनाशीक हैं। इस प्रकार ज्ञानगुण स्थायी है, ज्ञानस्वभाव शाश्वत है पर ज्ञानस्वभाव की जो परिणति है मति श्रुति आदिक यह अस्थायी है। ज्ञानी जीव अस्थायी पदार्थोंके प्रति हित बुद्धि नहीं रखता, आत्मबुद्धि नहीं रखता, क्योंकि मिटने वाला यदि मैं हूं, परिणतियां

यदि मैं हूं तो परिणतियां मिटीं तो हम मिट गए। फिर तो अपना ही विनाश चाहा।

परिणतियोंका स्रोत पारिणामिक भाव——भैया! परिणतियां तो मिटती है, पर परिणतियोंका जो स्रोत है, जिसकी ये दशाएँ हो रही हैं वह मैं हूं। वह नहीं मिटता। तो इन समस्त ज्ञानोंमें जो मूल ज्ञानस्वभाव है यह ज्ञानस्वभाव नहीं मिटता है। यही परमार्थ है और इस परमार्थको ही प्राप्त करके जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। किसका हम चिंतन करें तो मोक्ष मिले, इसका वर्णन इस गाथामें है। सारतत्त्व शरण क्या है? परमार्थ यह ज्ञानपद शरण है। हितके लिए इसके आगे और कुछ देखनेकी जरूरत नहीं है। आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानमात्र है। आत्मा एक ही पदार्थ है। मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूं। जैसे कि पशु पक्षी नारकी मनुष्य आदि बने रहनेसे आत्मा अन्य-अन्य नहीं हो जाता। मैं वहीका वही हूँ। सो यह मैं आत्मा एक ही हूं। जब मैं आत्मा एक ही पदार्थ हूं तो आत्मा है ज्ञानस्वरूप। वह ज्ञान भी एक ही पद है। इस ही एक ज्ञानको परम पदार्थका शरण कहो।

परम पदार्थ—पदका अर्थ सो पदार्थ। पद कहते हैं असाधारण स्वभावको, असाधारण लक्षणको। अब असाधारण लक्षणसे सहित जो अर्थ है उसका नाम पदार्थ है। आत्माके असाधारण गुणसे तन्मय जो अर्थ है वह है आत्मपदार्थ। आत्मा एक पदार्थ है, तो ज्ञान भी एक ही पद है और जो ज्ञान नामक एक पद है, शाश्वत, अनादि अनन्त अहेतुक जो ज्ञानस्वभाव नामक एक आत्माका अचलित पद है वही परमार्थ साक्षात् मोक्षका उपाय है।

अशान्तिका कारण अध्रुवकी दृष्टि व शान्तिका कारण सिद्धोपासना—भैया! हम धन वैभवको देखते रहें तो इससे हमें शान्ति न होगी, पूरा न पड़ेगा। प्रथम तो जीवनमें ये ही विघट जायेंगे और जीवनमें भी जब तक इनका संग रहता है तब तक आकुलताएँ चलती रहती हैं। फिर अंतमें तो ये बिछुड़ ही जायेंगे। जड़ वैभवके उपयोगसे आत्माका हित नहीं है। और इस देहके उपयोगसे भी आत्माका हित नहीं है। अपने देहको देखते जावो--अच्छा है, भला है, ठीक हो रहा है, उस देहकी स्थितिसे और उसके उपयोगसे आत्माका हित नहीं है। यह उद्देश्यके विरुद्ध बात है। धर्म करना है तो देहसे रहित होना है। जब तक देहसे सम्बंध है तब तक संसार अवस्था है। हम सिद्ध प्रभुको क्यों पूजते हैं कि वे देहसे रहित अमूर्तिक ज्ञानानन्दमय परमेश्वर है। और अरहंत भी ऐसे ही हैं। केवल कुछ समय तक देहका सम्बंध है। सो देह केवल एक क्षेत्रावगाही है पर अरहंत प्रभुकी दृष्टि देहपर रंच नहीं है. जैसा केवलज्ञान सिद्ध प्रभुका है वैसा ही केवलज्ञान अरहंत देवका है। यह जो ज्ञानस्वभाव नामक एक पद है वही साक्षात् मोक्षका उपाय है।

व्यक्तियोंमें शक्तिकी अभिनन्दकता— यद्यपि इस आत्मामें मति श्रुत आदिक अनेक

दशाएँ होती हैं पर ये अनेक प्रकारके ज्ञानपरिणमन रूप भेदज्ञान परिणमन इस एक अखण्ड ज्ञानस्वभावका ही अभिनन्दन करते हैं, समर्थन करते हैं अर्थात् आत्मामें जो भिन्न-भिन्न जानकारियां हो रही हैं ये नाना प्रकारकी जानकारियां आत्माके अखण्डस्वभावका विनाश नहीं करती हैं बल्कि अखण्ड स्वभावका समर्थन करती हैं। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे सूर्य मेघोंसे आच्छादित है और जब कभी थोड़ासा भी मेघ हटते हैं तो सूर्यका थोड़ासा प्रकाश होता है, लो ५ मील तक अब प्रकाश है, जरा और मेघ हटे तो लो २० मील तक प्रकाश हो गया। और मेघ हटे तो १०० मील तक प्रकाश हो गया और बिल्कुल मेघ हट गए तो हजारों मीलमें प्रकाश हो गया। सो उन मेघोंके हटनेके अनुसार वहाँ प्रकाशका भेद पड़ जाता है। यह दो मीलका प्रकाश है, यह १० मीलका प्रकाश है, यह ५० मीलका प्रकाश है। तो ऐसा प्रकाशभेद क्या सूर्यके स्वभावसे पड़ गया? क्या सूर्यके स्वभावसे वे खण्ड हो गए? यह जरूर खण्ड है। कहीं दो मीलका प्रकाश, कहीं १० मीलका प्रकाश, कहीं ५० मीलका प्रकाश, तो यहांपर प्रकाशके खण्ड हो जानेसे क्या सूर्यके प्रकाश स्वभावमें भी खण्ड हो जाते हैं? नहीं होते हैं। बल्कि ये खण्ड खण्ड प्रकाश भी सूर्यके अखण्ड प्रकाश स्वभावका समर्थन करते हैं। अपन सब जानते हैं ना कि सूर्य तो पूर्ण अखण्ड प्रकाश स्वभावी है, पर बादलोंके विघटनेसे उनके विघटनके अनुसार प्रकाशमें भेद पड़ गया है। पड़ जावो भेद, पर यहाँ प्रकाश भेदके कारण सूर्यके अखण्ड स्वभावमें भेद नहीं पड़ सकता।

खण्डज्ञानोंमें अखण्ड ज्ञानकी अभिनन्दकता—इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वभावी है, सो कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण इसके ज्ञानस्वभावका पूर्ण विकास नहीं हो पा रहा है। किन्तु जैसे-जैसे आवरणका विघटन होगा वैसे वैसे ही मति श्रुत आदि रूप ज्ञानके परिणमन चलते रहते हैं। यहां कोई थोड़ा जानता है, कोई अधिक जानता है, कोई उससे अधिक जानता है तो ऐसी खण्ड-खण्ड जानकारियोंके कारण आत्माके ज्ञानस्वभावका खण्ड नहीं हो जाता। आत्मा तो परिपूर्ण अखण्ड ज्ञानस्वभावी है। ये खण्ड-खण्डकी जानकारियां बल्कि उस अखण्ड ज्ञानस्वभावका समर्थन करती हैं। विवेकी लोग समझते हैं कि इतने राग विकार की कमीपेसीके कारण ये ज्ञान नाना प्रकारसे खण्डरूपसे हो रहे हैं पर जिस स्वभावसे यह प्रकाश चलता है वह स्वभाव परिपूर्ण अखण्ड है।

आवरकके विघटनके अनुसार विकास होनेपर भी स्वभावकी अखण्डता—जैसे सूर्यके नीचे मेघ पटल हैं और उस मेघ पटलके निमित्तसे सूर्यमें प्रकाश यहाँ नहीं फैल पाता अथवा उसके हट जानेके अनुसार फैलता है, इसी प्रकार आत्माके चहुं ओर कर्मपटल है, यह कर्मपटल २ प्रकारका है। एक पौद्गलिक कर्मोंका पटल और एक रागादिक विकार

कर्मोका पटल। इन पटलोंके यहांसे देखनेमें ज्ञानस्वभाव अवगुण्ठित हो गया है, अपने आ के भीतर ही स्वभावरूपमें समाया हुआ है, बाहर नहीं निकल पाता। सो जैसे-जैसे इ कर्मपटलोंका विघटन होता है उस प्रकारसे प्रकट होने वाले ज्ञान स्वभावोंमें भेद नहीं करता है बल्कि ये फुटकर ज्ञानभेद आत्माके ज्ञानस्वभावका समर्थन करते हैं।

स्वभावके अवलंबनमें श्रेय—अब विचारिये हमें खण्ड ज्ञानपर दृष्टि देना चाहिए या अखण्ड ज्ञानस्वभावपर दृष्टि देना चाहिए। खण्ड ज्ञान परिणमनोंपर दृष्टि देनेसे कुछ हित नहीं होगा। जहाँ किसी प्रकारका भेद नहीं है ऐसा जो आत्माका स्वभावभूत परिपूर्ण जो ज्ञानस्वभाव है वही ज्ञानस्वभाव अनुभवन करनेके योग्य है। आत्माके इस ज्ञानस्वभावके आलम्बनसे ही आत्माके निज पदकी प्राप्ति होती है। बाहरी चीजोंको जान-जानकर बाहरी चीजोंमें ही रमण करें तो उससे कौनसा हित पा सकेंगे, उससे हितकी बात न मिलेगी और एक आत्मामें स्वतःसिद्ध असाधारण ज्ञानस्वभावमें उपयोग पहुंच गया तो तत्काल ही आकुलता समाप्त हो जायगी, निज पदकी प्राप्ति होगी और उससे भ्रान्ति समाप्त होगी।

निजस्वरूपकी भूलके परिणामपर एक दृष्टान्त—भैया! अपना पद अपना स्वभाव न मिलनेके कारण इस जीवके भ्रान्ति लगी हुई है और भ्रमके कारण यह यत्रतत्र दौड़ता है। जैसे गर्मीके दिनोंमें प्यासा हिरण रेगिस्तानकी रेतीके बीचमें खड़ा हुआ सोचता है कि कहीं पानी मिल जाय तो प्यास बुझा लें। दृष्टि पसारकर देखता है तो दूरकी चमकीली रेत पानी जैसी मालूम पड़ती है, वह दौड़ता है उस रेतमें पानीका भ्रम करके, पर जब स पहुंचा तो देखा कि रेत है। लो फिर गर्दन उठाया और देखा कि रेत है। लो फिर ग उठाया और देखा तो आगेकी रेत पानी जैसी मालूम देती है, फिर दौड़ता है। वहाँ प कर देखता है कि पानी नहीं है, यह रेत है। पानीके भ्रममें दौड़ लगाकर अपनी प्यास ब कर अपने प्राण गंवा देता है।

निजस्वरूपकी भूलका परिणाम—इसी प्रकार ये जगतके प्राणी सुखकी तला बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि दिए हुए हैं, ऐसा खाना मिले तो सुख होगा, ऐसा देखनेको मिले सुख होगा। ऐसा राग सुननेको मिले तो सुख होगा। इन बाह्य पदार्थोंके सुखका भ्रम क बाह्य अर्थोकी प्राप्तिके लिए दौड़ लगाते है। दौड़ लगाते हैं और विषयोंके निकट पहुंचते तो वहाँ सुख मिलता नहीं है। फिर इन्ही विषयोंको सुखकी अभिलाषासे प्राप्त करना चा हैं और इसीसे पंचेन्द्रिय और मनके विषयोंको प्राप्त करनेका यत्न कर रहे हैं। इस यत्न उनकी तृष्णा और तीव्र होती है, दुःख और बढ़ता है और अंतमें बड़े संक्लेशसे प्राण गँवा हैं। फिर इससे भी बुरी जातिको पा लेते हैं, ऐसे ये मोही जीव इस संसाररूपी मरुस्थल दौड़ लगाये फिर रहे हैं पर चैन कहीं भी नहीं मिल रही है।

बाहरमें निजपदकी खोजपर एक दृष्टान्त—एक अपना ही पद न ज्ञात हो तो भ्रमसे जगह-जगह डोलता है। एक विशिष्ट जातिका हिरण होता है जिसकी नाभिमें कस्तूरी होती है। उस कस्तूरीकी सुगंध आ रही है। वह हिरण चाहता है कि इतनी उत्तम सुगंध वाली चीजें ढेरों हमें मिलें और उनका ऐसा सुगंध लें। उसे पता नहीं है कि यह सुगंध वाली चीज मेरी नाभिमें बसी हुई है तो बाहरमें जंगलोंनें दौड़ लगाकर ढूंढ़ता फिरता है। खूब ढूँढ़ता फिरता है, खूब ढूँढ़ता है, पर किसी भी जगह उसे सुगंध वाली चीज नहीं मिलती हैं। दौड़ लगाकर अपना व्यर्थ ही श्रम करता है। अपने आरामसे भ्रष्ट होता है।

बाहरमें निजपदकी खोजका परिणाम—इसी प्रकार निज स्वरूपमें ही तो ज्ञान और आनन्द समाया हुआ है, पर यह बोध नहीं है कि मेरा ही स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। ज्ञानी जन जानते है कि आत्मा और चीज है क्या? वह पकड़ने जैसी पिण्डरूप वस्तु तो है नहीं जिसे धर उठा सकें, आपके हाथमें दे सकें। ऐसा तो कुछ है नहीं। यह तो ज्ञानस्वभाव और आनन्दस्वभाव रूप विलक्षण पदार्थ है, स्वतःसिद्ध है। किन्तु है क्यों ऐसा, यह तर्क के अगोचर है। स्वभावोऽतर्कगोचरः। जो पदार्थ हैं वे अपने असाधारण स्वभावरूप हैं। पदार्थ भी अनादिसे हैं और पदार्थोंका निश्चयनयका विषयभूत असाधारण स्वभाव भी अनादिसे है ऐसा ज्ञानानन्दस्वभाव निज आत्माका लक्षण ही है। है ही इसी प्रकार, पर इस स्वभावका बोध न होनेसे यह जीव बाह्य पदार्थोंमें अपना ज्ञान और आनन्द ढूँढ़ता है, व्यर्थका श्रम करता है। सो इस यत्नसे यह जीव आकुलित हो रहा है।

निर्मोहताकी अभिनन्दनीयता एवं वस्तुविज्ञानकी मोक्षहेतुता—वे जीव धन्य हैं जिन्हें मोह नहीं सताता है। और जिनके आत्मकल्याणकी भावना जग रही है। वे भेद-विज्ञानके बलसे बाह्य पदार्थोंका त्याग कर अपने उपयोगसे सर्व संकल्प विकल्पोंको हटाकर ज्ञानस्वभावमात्र अपने को अनुभव करते हैं उन्हें अपना पद मिल जाता है और स्वकीय पद मिल जानेसे उनका यह समस्त भ्रम समाप्त हो जाता है। भ्रम समाप्त होनेसे ही आत्मा को लाभ होगा। आत्मानुभव कहीं बाहरसे लाना नहीं है। यह स्वयं ही तो है पर इसका जो बोध न होने देने वाले विकार हैं उन विकारोंसे हटना है। आत्मा तो वही है। हमारा आत्मासे लाभ होता है। जहाँ आत्मा की उपलब्धिकी वहाँ अनात्माका परिहार होता है। है प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपमें तन्मय हैं और परस्वरूपसे अत्यन्त जुदे हैं। इस प्रकार सब पदार्थोंको निरखो। घरमें रहने वाले उन चार छः जीवोंको भी इस प्रकार देखो कि इनका जीव इनमें ही है, इनका ज्ञान, आनन्द सुख इनमें ही है। इनसे बाहर नहीं है। इनके शरीरसे भी इन्हें सुख दुःख नहीं है। ये अपने शरीर तकसे भी जुदे हैं। फिर मेरे

साथ तो इनका रंच भी रागबन्ध नहीं है, ये सब अनात्मा है अर्थात् मैं नहीं हूँ। ऐसे चेतन और अचेतन जो अनात्मतत्त्व है उन सबका परिहार हो जाता है। और जहाँ अनात्मतत्त्व का फंसाव मिट गया वहाँ फिर कर्म आत्माको मूर्छित नहीं कर सकते। जब इसमें दृढ़ ज्ञान प्रकट होता है तब आत्मा मूर्छित नहीं होता है। राग द्वेष मोह इसमें फिर अंकुरित नहीं होते हैं, उठते नहीं हैं। और रागद्वेष न उठे तो आस्रव भी मिटे, आस्रव मिटे तो कर्मबंध भी मिटा। फिर तो क्या है ? पहिलेके बंधे हुए कर्म उपयोगमें आकर झड़ जाते है। और इस तरह समस्त कर्म दूर हो जानेसे इस जीवको साक्षात् मोक्ष हो जाता है।

ज्ञानकी स्वच्छ जगमगाहट—आत्मामें जो निर्मल ज्ञानगुण है उसकी जो परिणतियां होती हैं याने अपने अनुभवमें आये हुए जो ज्ञानके भेद हैं वे ज्ञानकी ओरसे ज्ञानके परिणमन अत्यन्त निर्मल निकलते हैं। और वे ज्ञानके परिणमन ज्ञानमें से अपने आप उछलते है याने इन ज्ञानी पुरुषोंको प्रकट अनुभवमें आते हैं। उन ज्ञानकी परिणतियोंमें ऐसा विकास भरा है कि उस ज्ञानबलसे उन ज्ञानी पुरुषोंने समस्त पदार्थोंका रस पी लिया है अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायके सब मर्म वे जान चुके है। इस कारण वे ज्ञानकी ओरसे होने वाले ज्ञानकी शुद्ध परिणतियां ज्ञेयके बहुत बोझसे मतवाली हो गई है। इस तरह मत्त स्वच्छन्दकी तरह अपने आप ही उनमें अपने ज्ञानविकास उछलते हैं, किन्तु यह भगवान आत्मा चैतन्यरूपी समुद्रकी उठती हुई लहरोंसे एक अभिन्न रस है, एक है। मायने ज्ञान-स्वभाव तो एक है और उसकी जो परिणतियां है वे अनेक रूप होती हैं।

एकरस चैतन्य रत्नाकर—भैया ! हिन्डोलेकी तरह झिलमिलाहटके साथ जगमग रूपसे ज्ञानकी जो परिणतियां हैं वे परिवर्तित होती रहती हैं। ऐसा यह अद्भुत चेतन रत्नाकर है, समुद्र है। याने बहुतसे रत्नोंसे भरा हुआ समुद्र जलसे भरा हुआ है, और उस समुद्रमें निर्मल छोटी-छोटी लहरें उठती हैं तो वे सब लहरें जलसे न्यारी नहीं हैं, वे जलरूप ही हैं। इसी तरह यह आत्मज्ञानका समुद्र है सो वह एक रस है। उस ज्ञानका जो जाननभाव है वह एकस्वभाव है। किन्तु कर्मोंके विविध क्षयोपशमके निमित्तसे एक इस स्वभावभूत ज्ञानरसोंमें से अनेक भेद, अनेक व्यक्तियां प्रकट होती रहती हैं।

वीतरागविज्ञानका निरर्गल प्रसार—अथवा जहां कर्मोंका अत्यन्त क्षय हो गया है ऐसे प्रभु केवलज्ञानके भी ज्ञानकी व्यक्तियां विलास उत्कृष्ट प्रभावके साथ ज्ञेयोंको पी जानेसे मतवाली होकर एकदम निरन्तर चलती रहती हैं ऐसा यह ज्ञानविलास है। उन सब ज्ञान-विलासोंका स्रोत एक अखण्ड ज्ञानस्वभाव है। ऐसा यह चैतन्यरूपी समुद्र विशिष्ट माहात्म्य वाला है। यह चैतन्य स्वभाव खुदमें है और प्रभुमें देखते हैं तो उनका समस्त ज्ञानभाव एकदम स्वच्छन्द होकर उठता रहता है। ऐसा शुद्ध स्वच्छ प्रभुका परिणमन है कि इन

मतवाले होनेकी तरह वह ज्ञानविकास एकदम ? सर्व लोकालोकमें फैल जाता है। जैसे कहते हैं कि "सैंया भये कोतवाल अब डर काहेका" अथवा यह सोचो कि पूर्ण स्वच्छन्दता मिल गई है तो अब रुकावट किस बात की है ? मेरा प्रभु तो स्वच्छन्द वीतराग है। अब मुझको किसकी रुकावट है ? सो वह ज्ञान समस्त लोकालोकमें व्याप कर फैल गया है।

ज्ञानभावके आश्रयका प्रताप—भैया ! यह सब ज्ञानस्वभावकी ओरसे होनें वाले विलासकी कथनी है। ऐसा विलास हो जाना हम सबके स्वभावमें है। पर रहो छोटी-छोटी चीजोंमें राग लगा लेनेसे, अटक कर लेनेसे वह समस्त चैतन्यनिधि एकदम दबी हुई है। जिसने इस चैतन्यस्वभावका परिचय किया उसके लिए यह विलास होना अत्यन्त सुगम है। अब इस ही चीजको प्रतिपक्ष रूपसे कहते हैं, इस आत्मस्वभावका जिन्हें परिचय नहीं है ऐसे पुरुष धर्मके नामपर बड़े-बड़े दुष्कर तप भी कर लें और मोक्षकी इच्छा भी उन्हें हो, दुर्धर महाव्रत और तपस्याके भारसे जिनका शरीर क्षीण हो गया, हड्डियां निकल आई हैं, बड़ी तपस्याएँ भी करें, पर साक्षात् मोक्षभूत तो यह ज्ञानस्वभावका आश्रय है यह ज्ञानस्वभाव निरामय पद है। सब जगह डर है, सब जगह रोता है, शल्य है, चिंताएँ हैं, एक ज्ञानस्वभावका आश्रय हो तो न राग है, न भय है।

ज्ञानोपलब्धिमें ज्ञानकी साधकता—देखो तो भैया ! मोही जीव चार जीवोंको अपना मानकर उसी केन्द्रकी ममतामें पड़े हुए हैं और अपने तीनों लोककी प्रभुताको बरबाद कर रहे हैं। सो कोई दुर्धर तपस्या करके क्लेश करता है तो करे, मगर साक्षात् मोक्षभूत तो यह स्वयं सम्वेदनमें आने वाला यह ज्ञानमय निरामय पद है इस ज्ञानको तपस्यावोंसे नहीं पाया जा सकता है, जलसा और समारोहोंसे नहीं पाया जा सकता है, यह ज्ञानगुणके द्वारा ही पाया जाता है। हम अपने ज्ञानके द्वारा ही ज्ञानके स्वरूपका चिंतन करने लगें तो वह ज्ञान तुरन्त पा सकते हैं। ज्ञानगुणके बिना ज्ञानको किसी भी प्रकार कोई भी पानेके समर्थ नहीं है। यह ज्ञानस्वभाव जो सहज ही आनन्दरस कर भरा हुआ है वह इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। पर हाँ इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनकी मेरी ओर निकट गति है। उस ज्ञानस्वभावके निकट तक तो मनकी जाति है।

ज्ञानसे ज्ञानका अनुभव—इस ज्ञानस्वभावमें मनकी गति नहीं है। इसने मानसिक ज्ञानमें ज्ञानस्वभावकी चर्चा तक पहुंचा दिया है और ज्ञानस्वभावकी जो विशेषताएँ हैं उनके विकल्पों तक पहुंचा दिया है। अब आगे काम कितना है कि उन विकल्पजालोंसे भी परे होकर आगे चलकर केवल ज्ञानस्वभावका अनुभव कर लें, यह अनुभव ज्ञानद्वारा साध्य है। इन्द्रियोंकी गति तो ज्ञातस्वभावकी चर्चा तकके निकट भी नहीं है पर मनकी गति तो ज्ञानस्वभावकी चर्चा तक है, अब ज्ञानस्वभावको मानसिक विकल्पों द्वारा जान लिया, अब इस

यह जाननेके बाद थोड़ा कदम और बढ़ाना है कि केवल विकल्पोंको तोड़कर आगे चलक ज्ञानस्वभावका अनुभव कर लिया जाय, वह अनुभव हो सकता है तो एक ज्ञानगुण द्वा हो सकता है। इस ज्ञानगुणके बिना इस ज्ञानको निरामय पदको साक्षात् मोक्षके र किसी भी प्रकार कोई पानेमें समर्थ नहीं है। उस ही ज्ञानको पानेके उपायमें कुन्दकुन्द यह गाथा कह रहे हैं:—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं वि बहूवि ण लहंति।
तं गिण्हणियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

ज्ञानसे ही परमपदकी उपलब्धि—ज्ञानगुणसे रहित होकर इस निरामय पदको श्रम करके भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस कारण हे भव्य जीव ! यदि कर्मोंसे छुट पानेकी चाह करते हो तो तो इस नियत ज्ञानपदका ज्ञान द्वारा ग्रहण करो अर्थात् ज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभावके स्वरूपको जानते रहो। इस ही परमार्थ ज्ञानमें ऐसी कला है उस ही ज्ञानसे यह ज्ञान अनुभवमें आता है।

मोक्षका अर्थ है ज्ञानको शुद्ध बनाना। मोक्ष न किसी स्थानका नाम है औ मोक्ष किसी दूसरेका दिया हुआ कोई पदार्थ है। ज्ञानका शुद्ध रहना इसका ही नाम है। संसार अवस्थामें यह ज्ञान शुद्ध नहीं रह पा रहा है, कल्पनाएँ करता है। जब विकल्प हैं तब तक संसार है। विकल्प दूर हों और ज्ञानसे पदार्थोंको मात्र जानो बस ही का नाम मोक्ष है। तो उस मोक्षकी प्राप्ति कैसे होती है, उसका उपाय बतला रहे ज्ञान, ज्ञानसे मिलता है, क्रियासे ज्ञान नहीं मिलता है। तन, मन, धन, वचनकी जो चे हैं वह तो जड़का परिणमन है। यह यथार्थस्वरूपकी बात कह रहे हैं। इस जड़के परिण से इतना ही लाभ है कि जड़का अस्तित्व कायम रहा, पर ज्ञानकी प्राप्ति तो ज्ञानगुणसे हो सकती है।

ज्ञानीका लक्ष्य—ज्ञानी जीवपर जब रागका उदय आता है तो क्रियाएँ उसे करनी पड़ती हैं और उसकी क्रियाएँ शुभ होती है। भगवानकी भक्ति करना, व्रत, तप कर आदि प्रवृतियां है पर ये समस्त शारीरिक जो प्रवृत्तियाँ हैं ये स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं। कर सब चाहिए पापोंसे बचनेके लिए, विषयकषायोंको हटानेके लिए यह सब करना चाहिए जो श्रावकोंके ६ कार्य बताये हैं, देवपूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दा करना, ये कर्तव्य करना चाहिए, पर इन कर्तव्योंके करते हुए भी अपने ज्ञानस्वरूपका प भी रहना चाहिए क्योंकि शांति जो मिलती है वह ज्ञानकी अविनाभावी है।

सुख दुःखकी ज्ञानकलापर निर्भरता—भैया ! किसी की मान लो दिल्लीमें दुकान हो और किसी तरहसे उसे यह पता लग जाय कि दुकानमें एक लाखकी हानि हुई तो अ

दुःखी हो रहा है। देखो यहाँ यह है दुकान या वहां है, चाहे किसीने झूठी ही खबर करदी हो, पर यह यहाँ दुःखी हो रहा है और अगर ऐसी खबर आ जाय कि दुकानमें कलके माल बिकनेमें २ लाखका नफा हो गया, तो चाहे किसीने झूठ ही खबर करदी हो पर यह सुखी हो गया। तो धनकी न वहाँ हानि हुई, न लाभ हुआ, ज्योंका त्यों काम है पर जैसी कल्पना हो गई वैसा ही सुखी और दुःखी हो गया। इस संसारमें सुख और दुःख कल्पना पर ही निर्भर है। तो मोक्ष जैसा आनन्द भी मिलना हमारे ज्ञानपर निर्भर है। जब ज्ञान बिगड़ा हुआ होता है तब वह जीव दुःखी होता है और जब ज्ञान स्वच्छ होता है तब यह जीव सुखी हो जाता है। इसलिए हमारा सुख दुःख ज्ञानपर निर्भर है। हमें अपना ज्ञान सही बनानेका यत्न करना चाहिए। यदि यह ज्ञान किया कि हमारे पास खूब धन आए तो यह सोचना तो दुःखका ही कारण है।

प्रभुभक्तिमें सही उद्देश्य—भैया ! प्रभुकी भक्ति हम इसलिए करते हैं कि हमारा ज्ञान सही बना रहे। हम प्रभुकी पूजा क्यों करते हैं, इसीलिए कि २३ घंटोंमें यदि हमारा मन विचलित हो गया है तो उस प्रभुके पास जाकर हम अपना उद्देश्य दृढ़ करलें। हम प्रभुके निकट जाकर पूजा; दर्शन, स्वाध्यायसे उनके गुणोंका गान करते हुए अपने उद्देश्यको सही बनाया करते हैं। और कोई पुरुष अपना उद्देश्य कुछ रखे ही नहीं यथार्थ मोक्षमार्ग का और पूजन करे तो उसके मोक्षमार्गकी कोई दिशा न मिलेगी और कहो कि परिवारके सुखी रहनेके उद्देश्यसे पूजा कर रहे हों तो और पापबंध कर रहे हैं। सांसारिक सुखको कमानेकी पूजा कर रहे हैं तो पापबंध कर रहे हैं, इसलिए उद्देश्यका सही होना यह उन्नति की जड़ है।

वृत्ति आशयकी अनुयायिका—जैसा उद्देश्य होगा वैसी ही मेरी चेष्टा होगी। तन, मन, धनकी चेष्टासे हम दूसरोंका परिणाम परख लिया करते हैं। परिणाम आंखों तो दिखता नहीं है कि अमुक मनुष्यका क्या परिणाम है, क्या भाव है ? उसकी जो चेष्टा होती है उससे अनुमान होता है कि यह विशुद्ध परिणाम वाला है या संक्लेश परिणाम वाला है, या खुदगर्ज है या परके बिगाड़ वाली भावना वाला है। ये सुख दुःख ज्ञानकी दशापर निर्भर हैं। जब ज्ञान शुद्ध हो जाता है रागद्वेषसे रहित ज्ञाता द्रष्टामात्र हो जाता है उसे कहते हैं मोक्षपद। मोक्षपद ज्ञानसे ही प्राप्त होता है, क्रियाकाण्डोंसे नहीं प्राप्त होता है। पर कियाकाण्ड क्यों किए जाते हैं कि उन क्रियाकाण्डोंमें जो शुभ परिणाम रखता है उस प्रयोग द्वारा कोई शुभ उपयोग किया जाय तो अशुभ उपयोगको काटनेके लिए शुभ क्रियाएँ की जाती हैं। और उन शुभ क्रियावोंके करने वाले इस योग्य पात्र रहते हैं कि वे मोक्ष मार्गको निभा सकें। पापोंमय रहकर कोई पुरुष मोक्षमार्गके योग्य हो सकता है क्या ? पापों

से पहिले दूर हो, फिर शुभसे भी दूर होना पड़ता है, इसलिए शुभ कामोंका निषेध नहीं है। शुभ काम तो मोक्षमार्गका रास्ता ही है। पर शुभकामसे मुझे मुक्ति मिलेगी, शुभ परिणाम ही मुझे मोक्ष पहुंचायेगा ऐसी जो श्रद्धा है वह श्रद्धा एक अटक है। मोक्ष पहुंचाने वाला तो कोई ज्ञानका यथार्थ विलास है। ज्ञानका सही परिणमन हो तो मोक्ष हो सकता है। ज्ञान की उपलब्धि ज्ञानसे ही होती है। कितने भी बाह्य काम कर डाले जायें पर कर्मोके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। ज्ञानके ही द्वारा ज्ञानमें ही ज्ञानका विकास है। इस कारण ज्ञानसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ज्ञानशून्य तपसे आत्मसिद्धिका अभाव—बहुतसे लोग दुर्द्धर तप करते हैं पर यदि वे ज्ञानशून्य हों तो उन क्रियाओं और तपस्यावोंसे यह आनन्दका निधान ज्ञानानुभवका पद उन्हें नहीं मिल सकता है। यह ज्ञानानुभव ज्ञानद्वारा ही होगा। व्रत तपस्या क्रियाकाण्डोंका तो यह प्रताप है कि अशुभ विषयकषाय पहिलें हट जायें। जिस-जिस क्षण ज्ञानमात्र आत्माकी दृष्टि होती है, सिद्ध प्रभुके गुणगानके प्रसंगमें उन ही सरीखा मेरा स्वरूप है ऐसी दृष्टि करके जब-जब ज्ञानमात्र आत्माकी दृष्टि होती है तब तब मेरा मोक्षमार्ग खुलता है, शांतिका उपाय मिलता है। तो ज्ञानशून्य पुरुष बहुत प्रकारके कार्य भी कर लें तो वे इस ज्ञानस्वरूप को, मोक्ष पदको नहीं प्राप्त होते है। और इस ज्ञानस्वभावको न प्राप्त करते हुए वे प्राणी कर्मोसे छूट भी नहीं सकते।

संसारमार्ग व मोक्षमार्गका परस्पर विरोध—रागद्वेष करना, विषयोंका परिणाम करना, ये कर्म हों और शुद्ध ज्ञान और आनन्दका अनुभव हो—ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नही जा सकती हैं इसी प्रकार एक उपयोगमें संसारमार्ग और मोक्षमार्ग ये दो बातें एक साथ नहीं आ सकती हैं। इस कारण कर्मोसे मुक्ति चाहने वाले पुरुषको रागादिक विकारोंसे छूटकर केवल ज्ञानस्वरूपका आश्रय लेना चाहिए और उस ज्ञानस्वभावके आश्रयके द्वारा नियत इस एक पदको ग्रहण करना चाहिए, वह पद है ज्ञानमात्र ज्ञानस्वरूप। यह पद क्रियावोंसे, तपस्यावोंसे प्राप्त नहीं हो सकता।

सहजज्ञानकी कलासे ज्ञानकी उपलब्धि—भैया! ज्ञानपद तो सहज ज्ञानकी कलासे ही सुलभ है। ज्ञानका अनुभव करना है, अपने ज्ञानस्वरूपको जानना है। जाननमात्र, ज्योतिस्वरूप केवल उस ज्ञानका स्वरूप जानें तो उस जाननमें ज्ञानका आनन्द मिलेगा। वह आनन्द सहज ज्ञानकी कलासे ही सुलभ है। इस कारण हे जगतके प्राणियों! अपने ज्ञानकी कलाके बलसे निरन्तर इस ज्ञानका ही अर्जन कर सकनेके लिए प्रयत्नशील बने रहो। इस प्रकारसे ज्ञानस्वरूपका दर्शन हो तो अनुपम आनन्द प्रकट होता है।

लौकिक सम्पदा शान्तिका अकारण—आज भी बड़े-बड़े धनिक है, वे भी क्या धनके

कारण संतोषका अनुभव कर रहे हैं ? इनको भी चैन नहीं है। सरकार जुदे जाल डाले हुए है। इनको लोगोंके देखनेमें सुख है और उनके पास दौड़कर लोग प्रेमके वचन बोलनेको जाते हैं, इस आशासे कि कुछ इनसे मिलेगा। वे धन देना यदि छोड़ दें तो लोग उनके पास जाना छोड़ दें, बल्कि उनको गालियां दें। बड़े कंजूस हैं ये, लोगोंका धन चूसकर ये धनी बने आदि अनेक गालियां देंगे। लोग उनके पास पहुंचते है और उनकी वाहवाही करते हैं। और किसीको २ लाख दे भी दिया तो वह प्रत्यक्षमें तो वाहवाही करता है पर परोक्षमें आलोचना करेगा। अरे दे दिया लाख दो लाख तो क्या हुआ ? कितना ही लोगोसे धन चूसा है। तो काहेका सुख है ? और मान लो कुछ लोग अच्छा भी कहें तो उनके अच्छा कहनेसे यहां लाभ क्या होता है भैया ! अपने निज सहज ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे के उपयोगसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। अतः शुद्ध ज्ञानस्वरूपके अनुभवका यत्न करो, उससे आनन्द प्रकट होता है, यही शान्तिका उपाय है।

ज्ञानानुभवके स्वादकी एकरसता—एक मनुष्य गरीब है और बड़े प्रसिद्ध किसी चौबे औबे की दुकानमें जाय और एक छटांक पेड़ा लेकर खाय और एक पुरुष धनी है वह उसी दुकानमें आए और ४ रुपयेके एक सेर पेड़ा खाय तो उस धनीका पेट भर गया और उस गरीबका नहीं भरा, पर स्वाद तो उस गरीबको वही मिल गया। ये वीतराग अरहंत सिद्ध बड़े आत्मा हैं, सो ये छककर आनन्द लूटते हैं, वे सर्वज्ञ हैं, वीतराग है, उनका पेट (निज-क्षेत्र) आनन्दसे भर जाता है। और हम गरीब हैं, सो हम आनन्द छककर नहीं भोग पाते। पर ज्ञानस्वरूपका जब अनुभव करते हैं तो वहाँ यह झलक हो ही जाती है कि उस सत्य स्वरूपका कैसा आनन्द है जिसके बलपर हम अनन्त काल तक स्वच्छ और निर्मल रहते हैं। ज्ञानके अनुभवसे बढ़कर जगतमें कुछ वैभव नहीं है।

ज्ञानके लिये मोहियोंका अयत्न—लोग अपने परिवारके लिए तन, मन, धन लगाते, पर अपने ज्ञानके विकासके लिये जो कि अपने वास्तविक आनन्दका मार्ग बताया गया, जो संसारसे छूटनेका उपाय बताया गया उस ज्ञानके लिए न तन लगाते, न मन लगाते, न धन लगाते। कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि हमारा प्रधान उद्देश्य हो ज्ञानका, सारा तन, मन धन लग जाय ज्ञानप्राप्तिमें और ज्ञान मिले तो कुछ नहीं लगाया और दुर्लभ लाभ लिया। मोही प्राणियोंमें तो तन, मन, धन खूब लगाते हैं, परिवारको खुश रखनेमें मिलता क्या है सो बतलावो। मोही जीव तो लुटकर जाता है, कुछ लाभ लेकर नहीं जाता है। किसी ज्ञानी पुरुषके विचारमें, उसके स्मरणमें, प्रभुके शुद्ध स्वरूपके स्मरणमें तन, मन, धन नहीं लगता है और हमारा भैया मजेमें रहे, लड़के बच्चे मजेमें रहें, ऐसा विचार करनेमें कितना तन मन धन लगता है ? रात दिन ऐसा ही सोचते रहते हैं।

ज्ञानोपलब्धिका लक्ष्य आवश्यक—भैया ! अगर ५०० रु० मासिककी आय
सारे घरके लोगोंके ऊपर ही मोहमें खर्च कर देना चाहते हैं। स्त्री सजधजकर निकले,
से बढ़िया भोजन बने, बच्चोंका स्टैण्डर लोगोंको ऊंचा लगे, उनके ही पीछे अपना
सर्वस्व लगा देते हैं और खुदके ज्ञानविकासके लिए ५०० का दसवाँ हिस्सा ५० रुप
नहीं लगाना चाहते। जब कि यह चाहिए कि मेरा सब कुछ ज्ञानविकासके लिए है। ख
खर्च तो जितनेमें चलाना चाहे उतनेमें हो सकता है। गरीब आदमी, १०० रुपये मा
आमदनी वाला जिसके खर्च १० प्राणियोंका लगा है उसका भी तो पालन-पोषण होता

सद्बुद्धिकी प्राप्तिमें बुद्धिमानी—बुद्धिमान आदमी वह है जो खायाखोयामें कम
करे और ज्ञानविकासकी चीजोंमें ज्यादा खर्च करे। चाहिए तो यह और जो विवेकी है
ऐसा कर रहे हैं। वे चाहे किसी नगरमें रहते हों या गाँवमें रहते हों, अपने ज्ञानकी
करते रहते हैं। भैया ! यह ज्ञान ही परमशरण है। इस ज्ञानविकासके बिना हमारा
पूरा नहीं पड़ सकता। सो खुद प्रयत्न इस बातका करें कि खुद ज्ञानी बनें। हमारा स
ज्ञान ही है ज्ञानकी ही निरन्तर चर्चा रहा करे। ऐसी कोशिशसे आत्माका लाभ है
उसका ही प्रयत्न होना योग्य है।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

ज्ञानके शिवसाधकताकी सिद्धि—इससे पहिले ज्ञानगुणकी यथार्थ प्रसंसा की गई
जीवको मोक्षपदकी प्राप्ति अथवा निरामय पदकी प्राप्ति अर्थात् ज्ञानभाव की प्राप्ति
गुणके बिना नहीं हो सकती। ज्ञानी पुरुष यद्यपि तन, मन, वचनके योग्य चेष्टा भी करत
पर यह भी जानते हैं कि यह जो चेष्टा है वह एक जड़ पदार्थका परिणमन है। इनमें
कर विषय कषाय और अशुभोपयोग इनका बचाव है, सो यह बचाव भी तन, म
वचनकी चेष्टासे नहीं है, किन्तु तन, मन, वचनके योग्य चेष्टाका निमित्त पाकर जो अन्त
ज्ञानमें शुभ विकल्प उत्पन्न होते हैं उसके कारण बचाव होता रहता है पर मोक्षकी प्रा
तो इस शुभ अशुभ योग और उपयोगसे रहित ज्ञानस्वभावके अनुभवसे ही होती है, इ
बातको बताकर इस गाथामें एक अंतिम कर्तव्यकी बात कह रहे हैं।

ज्ञानभावमें रति—हे भव्य जनों। तुम इस ज्ञानस्वभावमें ही नित्य रत होओ अ
इस ज्ञानस्वभावमें ही सन्तुष्ट होओ और इस ज्ञानस्वभावके द्वारा ही तृप्त होओ। य
ऐसा कर सके तो नियमसे तुमको उत्तम सुख प्राप्त होगा। देखो इतना ही शुद्ध आत्मा
जितना कि यह ज्ञान है। एक ज्ञानभावका लक्ष्य छोड़कर और कुछ कुछ भी आत्मा
खोजा तो आत्माका पता न पड़ेगा। इसलिए सत्य इतना ही है जितना कि यह ज्ञान है

इस कारण ऐसा निश्चय करके तुम ज्ञानमात्र भावोंमें ही सदा रतिको प्राप्त होवो।

आत्माकी ज्ञानघनता—ज्ञान ही आत्मा है, यह तो एक बतानेका शब्द है कि ज्ञान का जो पिण्ड है वह आत्मा है, पर ज्ञान तो ऐसा है नहीं जो दरीकी तरह लिपट जाय और पेण्डोला बन जाय और फिर कहो कि यह ज्ञानका पिण्ड है ऐसा तो है नहीं। इसे कहते हैं ज्ञानघन। घन उसे कहते हैं कि जिसमें दूसरी जातिका प्रवेश नहीं होता। जैसे कहते हैं ना ठोस। तो ठोसका क्या मतलब है? यह लकड़ी ठोस है अर्थात् जहाँ दूसरी चीज न हो उसे कहते हैं ठोस। दूसरी चीज न हो इसका अर्थ है कि वही-वही हो। हम लकड़ीमें और चीज संग न लगायें, केवल लकड़ी ही लकड़ी रहे तो वह घनरूप है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानघन है अर्थात् आत्मामें ज्ञान ही ज्ञान है। दूसरी चीज उसमें है ही नहीं।

बाह्यसम्बन्ध—तो यहाँ ज्ञानघन आत्मा एक पदार्थ हुआ, और पुद्गल पिण्डरूप शरीर एक पदार्थ हुआ। वह अनेक पदार्थोंका समूह है इस जीवका और शरीरपर भावों का सम्बंध किम्वा कर्मोंका सम्बंध यह अनादिसे चला आ रहा है। इसमें परस्पर एक दूसरे का निमित्त तो है पर उनमें यह नहीं कहा जा सकता कि सबसे पहिले क्या था? जैसे बीज और वृक्ष। बीजसे वृक्ष होता है और वृक्षसे बीज होता है। इनमें कौनसी चीज पहिले थी सो नाम लो। आप कहेंगे बीज तो क्या वह वृक्ष बिना हो गया। आप कहेंगे वृक्ष तो क्या वह बीज बिना हो गया। जैसे पुत्र पिताकी संतान है, प्रत्येक पुत्र पितासे उत्पन्न है। जो पिता है वह भी पिता से उत्पन्न है। कोई पिता बिना पिताका नहीं मिलेगा। तो जैसे यह सम्बन्ध अनादिसिद्ध है, बीज व वृक्षका सम्बंध अनादिसिद्ध है इसी प्रकार जीव और कर्मों का परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध हो जानेका भी सम्बंध अनादिसे है।

आत्मसत्य—आत्मा उतना ही सत्य समझो जितना कि यह ज्ञानरूप है। सति भवं सत्यम्। जो सत्में हो वह सत्य है, जो ध्रुव सत्य हो वह परमार्थ सत्य है। जब यह जीव अपनेको सत्यस्वरूप ज्ञानमात्र नहीं पहिचानता, और-और रूप पहिचानता है, जैसे कि मैं मनुष्य हूँ, मैं अमुक जातिका हूं, अमुक पोजीशनका हूं, अमुक कारोबारी हूं, इतने बेटों वाला हूं, नाना प्रकार जब अनुभव करता है तो वह अपनेको शुद्ध अनुभव न करेगा। वे सब जो अध्रुव है, परिणतियाँ हैं उन रूप यह अनुभव करेगा, मायारूप अनुभव करेगा। जब यह ज्ञानमात्र ही अपनेको अनुभवेगा तो यह शुद्ध अनुभवेगा। तो उतना ही शुद्ध आत्मा है जितना कि यह ज्ञान है। अर्थात् तुम मात्र ज्ञानरूप अपनेको अनुभव करो। जो जानन है, ज्ञानस्वरूप है बस यही मैं हूं। ज्ञानमात्रमेवाहम्। तुम ज्ञानमात्रमें ही नित्य रत होवो।

ज्ञानभावमें सन्तोष—इतना ही आशीष है, सत् है, कल्याण है जितना कि यह ज्ञान है। ऐसा समझ करके तुम ज्ञानमात्र भावोंके द्वारा ही नित्य संतुष्ट होनेका प्रयत्न करो।

आशीष कहते हैं कल्याणको। कहते हैं ना कि उसने आशीर्वाद दिया अर्थात् उसने 'कल्याण हो' ऐसा वचन बोला। तो कल्याण भी उतना ही है जितना कि यह ज्ञानमात्र भाव है। केवल ज्ञानमात्रकी अनुभूति होनेपर कोई संकट नहीं ठहरता है। यद्यपि यहाँ सब काम करने पड़ते हैं क्योंकि पूर्वभवमें अपराध बहुत किए थे। उसके फलमें ये नाना विकल्प पैदा होते हैं। उन पिण्डोंसे हटनेके लिए अनेक भाव अपने उपयोगमें आते हैं, पर ज्ञानी संतपुरुष उन सबको करते हुए भी उनसे विलग अनुभव करते हैं। जब कुछ अशुभ रागकी वेदना होती है तो कुछ विषयोंकी चेष्टा करते हैं। जब शुभ रागकी वेदना होती है तो दान, पूजा आदिक शुभ भावोंकी चेष्टा करते हैं। पर उन सब चेष्टावोंमें उनकी श्रद्धा यही है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान ही इसका सर्वस्व है, अन्य सब आपत्ति है।

आत्माकी ज्ञानमयता--आत्माज्ञान स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्। आत्मा ज्ञान है और ज्ञानमात्र स्वयं है, ज्ञान आत्मासे अलग नहीं है। इस ज्ञानकी ही तन्मयतासे यह आत्मा ज्ञानमय है। आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, पदार्थ स्वयं ऐसा है, स्वभावमें युक्ति नहीं चलती। यह आत्मा ज्ञानकी परिणतिके अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है? हो रहा है यहाँ सब।

आत्माका परमें अकर्तृत्व--जैसे हाथ हिल रहा है। यह हाथ हिल कैसे गया, आत्मा तो आकाशवत् अमूर्त है। विशेषता इतनी है कि आकाश ज्ञानरहित है और यह ज्ञानमय है। यह ज्ञानमय अमूर्त आत्मा हाथको कैसे हिला लेता है? यह एक शंका सामने आती है। तो यह उत्तर यहाँ है कि सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका फल है। आत्मामें अपनी योग्यताके अनुसार, न जब ज्यादा ज्ञान हो, न कम ज्ञान हो, ऐसी स्थितिमें इसके कुछ इच्छा भाव होता है। सो ज्ञान तो है ज्ञानगुणका परिणमन और इच्छा है चारित्रगुणका विकृत परिणमन। पर हुआ आत्मामें। इस आत्मामें इच्छा हुई कि मैं यों बताऊँ, यों बोलूं, यों हाथ हिलाकर समझाऊँ, ऐसी भावमय इच्छा हुई जो स्पष्ट है, शब्दोंमें तो नहीं उतरी, पर हाँ हुई इच्छा। उस इच्छाका निमित्त पाकर आत्मामें जो योग शक्ति है प्रदेशके हिलने और कपने की, सो उस इच्छाका निमित्त पाकर योग हुआ और उस योगका निमित्त पाकर एक क्षेत्रावगाहमें रहने वाले शरीरमें वायुमें संचरण हुआ। जैसी इच्छा की उस माफिक योग हुआ, उस माफिक वात चला और जिस प्रकार वायु चली उस प्रकारसे अंग हिला। तो इस तरह निमित्तनैमित्तिक परम्परागत ये सब बातें होती हैं।

ज्ञानकी ही अनुभवनीयता--इन होती हुई बातोंमें तो एक-एक परिणतियोंपर शुद्ध दृष्टि दें तो यह दिखेगा कि आत्मपदार्थ अपने आपमें अपनी परिणतिसे परिणमता चला जा रहा है। इन ज्ञानमात्र भावोंसे परिणमते हुए इस आत्माको देखने वाले ज्ञानी पुरुष ज्ञान

मात्र अनुभवसे अपनेमें शांतिको प्राप्त करते हैं। देखिए इतना ही सत्य अनुभवन करनेके योग्य है जितना कि यह ज्ञान है। ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र भावके ही द्वारा नित्यमेव तृप्त होवो। पहिले आत्मामें रति करो, फिर संतोष करो, फिर तृप्त होवो।

रति, संतोष और तृप्ति—सबसे पहिले किसी काममें झुकाव होता है और उसमें परिणाम अच्छा समझमें आये तो संतोष होता है, और पूरा पूरा काम बन जानेपर फिर तृप्ति होती है। तृप्तिका दर्जा ऊँचा है संतोषसे। संतोषके पूर्ण पा लेनेका फल है तृप्ति होना। सो इस प्रकार जब हम नित्य ही आत्मामें रत होंगे, आत्मामें संतुष्ट होंगे, आत्मामें तृप्त होंगे तो इससे अद्भुत सुख प्राप्त होगा, जो वचनों द्वारा भी नहीं कहा जा सकता। हम बड़े बड़े साधुवोंको और परमात्माको क्यों पूजते हैं कि उन्होंने ये सब बातें प्राप्त कर ली हैं। संतुष्ट हुए, तृप्त हुए और इसके फलमें उन्होंने वचनके गोचर उत्तम सुखको प्राप्त किया। यदि वैसा ही हम करें तो अद्भुत अलौकिक स्वाधीन आनन्द हमें प्राप्त होगा।

आनन्दकी उद्भूतिके साथ ही ज्ञानकी जागृति—ज्ञानानुभवके समय जो आनन्द प्राप्त होगा उसको तत्क्षण ही हम स्वयमेव देख लेंगे। दूसरोंसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। वेदान्तकी जागरीशी टीकामें एक दृष्टान्त दिया है कि एक नई बहू जिसके गर्भ रह गया सो जब नौ महीनेके करीब हो गए तो साससे कहती है कि सासूजी जब मेरे बच्चा हो तो मुझे जगा लेना। ऐसा न हो कि सोतेमें ही बच्चा हो जाय, हमें पता ही न पड़े। तो सास कहती है बेटी घबड़ावो नहीं, बच्चा जब पैदा होगा तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा। तो योंही जब आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव होता है तो वह आनन्दको प्रकट करता हुआ ही होता है। ज्ञानका अनुभवन कर लेनेके बाद फिर यहाँ वहाँ पूछने की जरूरत नहीं रहती कि हमें आनन्द मिला या नहीं। हम स्वयं ही यह देख लेंगे कि मैं आनन्दमय हूँ और ज्ञानस्वरूप हूं।

चिन्मात्र चिन्तामणि—देखो भैया! यह आत्मदेव स्वयं ही अचिन्त्य शक्ति वाला है। यह चिन्मात्र चिंतामणि है। जैसे लोकमें प्रसिद्ध है कि चिन्तामणि रत्न मिल जाय तो जो चाहो सो मिल जायगा। अच्छा आप यह बतलावो कि किसीने पाया है चिन्तामणि रत्न? यह चिन्तामणि रत्न कैसा होता है? काला होता है कि लाल होता है कि नीला होता है? और मान लो कि कोई पथरा ऐसा मिल भी जाय कि लो चिंतामणि है, तो क्या ऐसा हो जायगा कि जो सोचो सो हाजिर हो जाय? कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है जो हमारे हाथमें आए और जो चाहें सो मिल जाय, ऐसा कोई पुद्गल है क्या? नहीं है। पर यह चिन्मात्र चिन्तामणि ऐसा है। चैतन्यमात्र जो आत्माका स्वरूप है यह ही चिन्तामणि है। यदि यह आत्मस्वरूप हस्तगत हो जाय तो हम जो चाहेंगे सो मिल जायगा। यह

चिन्तामणि मिल जाय तो बतलावो क्या कुछ वह चाहेगा ? किसीने कहा धन । अरे वह धन न चाहेगा । चैतन्यमात्रस्वरूपका चिन्तामणिरत्न मिल जाय तो उसे अलौकिक आनन्द मिल गया । उसे तो श्रद्धा ही नहीं है कि धनसे आनन्दकी किरण निकलती है, वह तो ज्ञान से शांत होना चाहता है ।

इच्छाके अभावमें ही इच्छाकी पूर्ति—भैया ! इच्छा की पूर्ति उसको ही कहते हैं कि इच्छाका नाश हो जाय । जैसे बोरीमें गेहूं भरते हैं और बोरी भर गई, बोरीकी पूर्ति हो गई, इस तरहसे इच्छाकी पूर्ति नही होती कि एक इच्छा दो इच्छा १०० इच्छा भर दें । बोरामें गेहूंकी तरह खूब इच्छा हो गई और फिर कहो कि इच्छाकी पूर्ति हो गई तो उसे इच्छाकी पूर्ति नहीं कहते है । इच्छाके मिटनेका नाम इच्छाकी पूर्ति है । यह विलक्षण पूर्ति है । जैसे आशाका गड्ढा एक विलक्षण गड्ढा है जितनी आशा करते जावो, उस आशामें जितनी सम्पत्ति भरो उतना ही आशाका गड्ढा लम्बा चौड़ा होता जायगा । दुनियामें कोई गड्ढा ऐसा नहीं देखा होगा कि उसमें कुछ भरो तो वह गड्ढा और बढ़ता जाय । आशाका गड्ढा ऐसा है कि इसे जितना ही भरोगे उतना ही बड़ा होता जायगा । इसी प्रकार पूर्ति भी ऐसी विलक्षण न देखी होगी कि मिटनेका नाम पूर्ति है ।

इच्छावोंके संचयमें इच्छावोंकी पूर्ति असंभव—अच्छा और सोचो इच्छाके मिटनेका नाम पूर्ति है या जोड़-जोड़कर उसको भरा जानेका नाम पूर्ति है । इस गड्ढेकी पूर्ति करो मायने इस गड्ढेको खूब भर दो । चाहे यह कह लो कि गड्ढेको मिटा दो, चाहे यह कह लो कि गड्ढेकी पूर्ति कर दो । जैसे भोजन किया और भोजनमें अच्छी चीज खाई, बढ़िया रस-गुल्ले वगैरह और अच्छी बढ़िया डकार आये तो कहते हैं कि बस आज तो हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गई । उसके मायने यह हैं कि जो खानेकी इच्छा थी वह मिट गई । इच्छा मिटने का नाम ही इच्छाकी पूर्ति है । इच्छा हो और इसको भर दें तो पूर्ति नहीं कहलाई बल्कि और दीन हो गए । और खानेके बाद तत्काल इच्छा नहीं होती, थोड़ी देर बाद होगी । किसी-किसीके तत्काल भी हो जाती है । अभी खाया पिया और बढ़िया सिके चना आ जाय तो एक आनेके लेकर खानेकी जगह पेटमें निकल ही आयगी तो इच्छा तत्कालमें भी हो सकती है, थोड़ी देरमें भी हो सकती है, पर जो इच्छा मिटी है उस इच्छाकी पूर्ति हो गई है ।

चिन्मात्र चिन्तामणिसे सर्वसिद्धि—इच्छाकी पूर्ति इस चिन्मात्र चिन्तामणि रत्नके उपयोगमें आनेपर होती है क्योंकि चिन्मात्र, चैतन्यमात्र आत्मस्वरूप अनुभवमें आ गया तो सर्व अर्थकी सिद्धि रूप आत्माको बना लिया । सबसे बड़ी विभूति आनेपर फिर छोटी विभूति को कौन चाहता है ? चैतन्य रसका निराकुल रूप स्वाद आनेपर फिर यह ज्ञानी जीव अपने को सर्वार्थसिद्धि बना लेते है अर्थात् सर्व अर्थोंकी सिद्धि उनके हो चुकती है ।

रूढ़ और यथार्थ सर्वार्थसिद्धि—सर्वार्थसिद्धि है सबसे अपार और उससे पहिले है अनुदिशविमान और उससे पहिले है नवग्रैवयकविमान। नक्शा देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रैवेयकको वैष्णव जन वैकुण्ठ बोलते हैं कि बैकुण्ठ पहुंच गए। सो एक बार बैकुण्ठ में पहुंचे कि बहुत काल तक वहाँ बने रहते हैं और जब ईश्वरकी मर्जी होती है, संसारको खाली देखता है तो वह बैकुण्ठसे पटक देता है। ऐसा अन्य लोग कहते हैं। होता क्या है कि जो ग्रैवेयक बना है लोकके नक्शामें कंठकी जगहपर बना है वह है वही कंठ, सो बैकुण्ठ बोलो, चाहे ग्रैवेयक बोलो। और वैकुण्ठ तक पहुँचनेके बाद फिर जीव गिरता है। तो बैकुण्ठ में द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्पन्न हो जाते है। तो वे ३१ सागर तक वहाँ रह सकते है। ३१ सागर बहुत बड़ा समय होता है। कितने ही कोड़ाकोड़ी साल उसमें आ जाते हैं। तो इतने वर्षों तक वे आनन्द लूटते रहते हैं, और जब बहुत कालके बाद उनकी आयुका क्षय होता है तो फिर वे यहीं संसारमें नीचे गिर जाते हैं। क्योंकि देव लोग जो हैं वे मरकर नीचे ही आते हैं और उससे ऊपर नहीं जाते हैं। और उससे ऊपर है अनुदिश और उससे ऊपर है सर्वार्थसिद्धि। तो वहाँ सर्वार्थसिद्धि नाम रूढ़िसे है। सर्वार्थसिद्धि यहाँ होती है कि जहां ज्ञानमात्रका अनुभव होता है।

चिन्मात्रके उपयोगमें सर्वसिद्धिकी पद्धति—यह अचिन्त्य शक्ति वाला आत्मदेव चिन्मात्र चिंतामणि है और वह जिसके उपयोगमें आ जाता है वह सर्वार्थसिद्धि रूप बन जाता है। सर्वार्थसिद्धिका अर्थ है कि किसी भी प्रकारकी इच्छा न रहना। जब चिन्मात्र आनन्दसमृद्ध अनुभूत हो गया, फिर अन्य पदार्थोंके परिग्रहसे क्या प्रयोजन रहा? बाह्यपदार्थोंमें किसी प्रयोजनसे दौड़ लगानेसे न ज्ञान मिलेगा और न आनन्द मिलेगा। यदि ज्ञान मिल गया, स्वानुभव भी मिल गया, आनन्द भी मिल गया तब और परिग्रह क्या चाहिए? किसकी जरूरत है? जिसको इस विशाल आत्मस्वरूपका परिचय नहीं हो पाता, उसको ही बाहरी पदार्थोंमें लगनेकी आकांक्षा रहती है। जिसको चिन्मात्र चिन्तामणि अनुभूत हो गई उसे सर्वसिद्धि प्राप्त हो चुकी। अब अन्य परिग्रहोंसे उसे क्या प्रयोजन रहा? चिंतामणि अर्थात् चित्स्वभाव चैतन्यके विभिन्न अनेक परिणतियोंका श्रोतभूत जो सहज आत्मस्वभाव है उसे कहते हैं चित्स्वभाव।

आत्माकी ज्ञानपरिणतिका अन्यत्र अभाव—भैया! व्यर्थ कहते हो, हमने सब कुछ देखा, बाहरमें सब कुछ देखा, क्या-क्या देखा, भींत, ईंट, पत्थर ये ना? इन्हें भी नहीं देखा। हम सदा काल अपने ज्ञेयाकार परिणमनको ही परमार्थतः जानते रहते हैं। चाहे किसी गति में हों, चाहे किसी स्थितिमें हों, पर उस ज्ञेयाकार परिणमनका जो विषय बना सो विषयों के लोभके कारण मोही परको जानने व अपना माननेकी कल्पना कर लेते हैं। अपने परि-

गमनको ही मैं जान पाता हूं, ऐसे आत्मपरिचयसे तो मोही जन चूक गये और जिसका लोभ लगा है उस पदार्थमें यह झुक गया, यह बड़े खेदकी बात है। हम सदा अपनेको ही जाना करते हैं।

सर्वत्र निजके जाननकी सिद्धिमें दर्पणका दृष्टान्त—जैसे दर्पणको देखकर हम पीठ पीछेके लोगोंकी हरकतोंको बताते रहते हैं, अब यह आदमी उठा, अब उसने टांग उठाई, अब उसने हाथ उठाया। हम उस आदमीको नहीं देख रहे हैं, हम सिर्फ ऐनाको देख रहे हैं पर यह ऐना उन आदमियोंका सन्निधान पाकर उस-उस रूपसे छायारूप परिणम रहा है, प्रतिबिम्बरूप परिणम रहा है। हम उस प्रतिबिम्बको ही देख रहे हैं और बखान कर रहे हैं उस पुरुषका। इसी प्रकार जगतके ज्ञेयपदार्थोंको विषय करके हम जान रहे हैं, केवल इस आत्मपरिणमनको, ज्ञेयाकार अवस्थाको। हम उस निजको, ज्ञेयाकार परिणमनको जानकर सर्व विश्वका बखान किया करते हैं, सो हमने और-और तो सब जाना पर जिस ज्ञानस्वभाव की व्यक्तिरूप यह ज्ञेयाकार बनता है और ये पदार्थ सब विषयभूत होते हैं, उस ज्ञानस्वभाव को हमने नहीं जाना। उस ज्ञानस्वभावकी अनुभूति होनेपर फिर यह जीव सर्व अर्थोंकी सिद्धि कर लेता है।

कृतकृत्यताका अर्थ—भगवान सिद्धको कृतकृत्य कहते है। कृतकृत्यका अर्थ है कि कर लिया है करने योग्य काम जिसने अर्थात् जिसने सब काम कर लिया है उसको कहते हैं कृतकृत्य। तो उन्होंने आपकी दूकान भी चला लिया है क्या? नहीं चलाया। फिर वे कृत-कृत्य कैसे? अरे कृतकृत्य तो उसे कहते हैं कि जिसने सब कुछ कर लिया। तो सब कर लेनेका अर्थ यह नहीं है कि आपकी दूकान सम्हाल लिया, आपका आफिस सम्हाल लिया और सबका काम सम्हाल दिया, उसे कहते हैं कृतकृत्य, यह नहीं है। कृतकृत्यका अर्थ है कि जिसे अब करनेको कुछ रहा ही नहीं।

करनेका विकल्प न होनेका संतोष—भैया! कर चुकनेका यहाँ भी अर्थ यह है कि अब करनेको कुछ रहा नहीं। आप मकान बना चुके और बना चुकनेपर आप दो काम करते हैं—एक तो आप यह धारणा बनाते हैं कि मैं कर चुका। मैं काम पूर्ण कर चुका और दूसरे एक बड़े संतोषका अनुभव करते हैं। इन दोनोंका रहस्य तो देखो कर चुकनेका तो अर्थ यह है कि अब कुछ करनेको नहीं रहा। आप मकान बना चुके—इसका अर्थ यह है कि आपको मकान बनानेका काम अब नहीं रहा और काम अब नहीं रहा, इससे ही शांति का अनुभव रहता है। कुछ ईंटोंसे संतोष नहीं आ रहा है।

चिन्मात्र चिन्तामणिसे सर्व अर्थकी सिद्धि—कोई ज्ञानी संत शुद्ध ज्ञान द्वारा कुछ बाह्य कार्य किए बगैर अपने आपमें शांति पैदा करले तो यह नहीं हो सकता है क्या? हो

सकता है। अपने में यथार्थ ज्ञान प्रकट करो और उस यथार्थ ज्ञानसे अपनेको संतुष्ट बनावो। उस ज्ञानसे ही अपनी तृप्ति करो। यदि ऐसा कर सके तो इससे अलौकिक सुख प्रकट होगा। स्वयं ही अनुभव करोगे दूसरों से पूछनेकी जरूरत नहीं है। यह आत्मदेव अचिन्त्य शक्तिवान् है, चैतन्यमात्र है। यही वास्तविक चिन्तामणि है। यह प्राप्त हो गई तो सर्व कामोंकी सिद्धि हो चुकी। अब अन्य तुच्छ परिग्रहके संचयसे कुछ लाभ नहीं होता है। ऐसे सर्व वैभवसम्पन्न ज्ञानमात्रका अनुभवी ज्ञाता द्रष्टा ज्ञानी जिनेश्वरका लघुनन्दन है और वही सर्वकी शांतिका पात्र है।

ज्ञानी पुरुष परपदार्थोंका ग्रहण नहीं करते अर्थात् किसी भी परपदार्थको अपना नहीं मानते और न उन्हें रतिपूर्वक उपयोगमें ग्रहण करते है। इस सम्बन्धमें यहाँ यह प्रश्न हो रहा है कि ज्ञानी पुरुष परपदार्थोंका ग्रहण क्यों नहीं करते? तो उसका समाधान श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु करते हैं।

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियमं वियाणंतो ॥२०७॥

ज्ञानीके परद्रव्यमें आत्मीयताके भ्रमका अभाव—ऐसा कौन ज्ञानी पंडित होगा जो ये परपदार्थ मेरे है—ऐसा कहे? ज्ञानी पंडित तो अपने आत्माको ही अपना परिग्रह जानता हुआ रहता है। अथवा इस गाथाका दूसरा अर्थ यह है कि ऐसा कौन विद्वान होगा जो अपने आपको जानता हुआ भी परपदार्थोंको 'यह मेरा है' इस प्रकार कहे। जब सही ज्ञान हो जाता है कि पदार्थसमूह अपने चतुष्टयसे है तो किसी भी प्रकार यह भ्रम नहीं आ सकता है कि कोई परद्रव्य मेरा है। सब दुःखोंकी खान अज्ञान है। गृहस्थ धर्ममें गृहस्थी रखें, व्यापार करें, घरमें रहें, सबकी संभाल करें, पर सच्चे ज्ञानसे पीठ फेरे रहें यह तो किसी ने नहीं बताया। सब करते जावो, घरमें करना पड़ता है, धन कमावो, आरामके साधन भी रहो, अपनी ढंग शान पोजीशनसे रहो, कुछ हानि नहीं है गृहस्थधर्ममें, किन्तु सही बात क्या है, ये दृश्यमान पदार्थ क्या हैं, मैं क्या हूँ, इसका सही ज्ञान बनाए रहें तो मोक्षमार्ग मिलेगा, शांतिका उपाय मिलेगा। इसलिए किसी भी परिस्थितिमें हो, पर यथार्थ ज्ञानकी भावना होनी चाहिए। यथार्थ ज्ञान होनेपर फिर कभी यह मोह नहीं हो सकता कि अमुक चीज मेरी है। जैसा स्वयं यह आत्मा है तैसा अनुभवमें आ जाय फिर स्वप्नमें भी यह भ्रम नहीं हो सकता कि यह तृणमात्र भी मेरा है और जिसके परपदार्थोंमें यह भ्रम न रहे कि यह मेरा है तो उसके समान वैभवमान और उत्कृष्ट पुरुष कौन हो सकता है?

यथार्थ ज्ञान होनेपर भ्रमके होने की अशक्यता पर दृष्टान्त—भैया! यथार्थ ज्ञान होनेपर किसीके समझाये जानेपर भी भ्रम नहीं आ सकता है। जैसे कुछ अंधेरे उजेलेमें

किसी पड़ी हुई ररसीको किसीने देखा और यह भ्रम हो गया कि यह साँप है तो कल्पनामें यह बात आते ही घबड़ाहट होने लगी। अब वह दौड़ता है, चिल्लाता है, लोगोंको बुलाने लगा। उसके मारने तकका इरादा कर लिया, लाठी वगैरह तलाश किया, इतनी सब गड़-बड़ियाँ कर डालीं, पर थोड़ी हिम्मत करके कुछ आगे बढ़ता है और कुछ देखता है तो ऐसा लगा कि यह तो जरासा हिलता डुलता नहीं है। यह सांप कैसा है ? और पासमें पहुंचा तो देख लिया कि यह रस्सी है। अब उसके कुछ डर नहीं है। पास पहुंचकर उसने रस्सीको छू लिया।

इतना जाननेके बाद रस्सीको वहीं ही पड़ी रहने दिया। अब जिस जगह था उस जगह आकर बैठ गया। लो अब घबड़ाहट नहीं है, न कोई उद्यम है, न लोगोंको बुलाता है, उसका भ्रम मिट गया, सही ज्ञान हो गया। अब कोई पुरुष उससे यह कहे कि जैसे तू २ घंटा पहिले घबड़ा रहा था, लोगोंको बुला रहा था वैसा १० मिनट और करके दिखावो तो कुछ नहीं वह कर सकता है क्योंकि वे सारी चेष्टाएँ भ्रमके कारण हो रही थीं। अब भ्रम रहा नहीं तो कौन वैसी चेष्टाएँ करे। कर ही नहीं सकता है। सही ज्ञान होनेपर भ्रम की चेष्टा भी करे तो भी नहीं भ्रम कर सकता है।

वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय होनेपर भ्रम होनेकी अशक्यता—इसी प्रकार जब पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निर्णय हो गया कि प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्वमें है, अपने प्रदेशों से बाहर कोई पदार्थ अपनी गुण या पर्याय कुछ भी नहीं चला सकता है—ऐसा दृढ़ निर्णय होनेपर वह गृहस्थ वही तो दुकान करता है जो पहिले करता था, जैसे घरमें रहता था वैसे ही घरमें रहता है, फिर भी इस ज्ञानी गृहस्थके चित्तमें आकुलता नहीं है। वह जानता है कि जो होता है वह ठीक है, होने दो, परका परिणमन मेरे आधीन नहीं है और पर किसी भी प्रकार परिणमे उससे मेरा सुधार बिगाड़ नहीं है। यदि परके परिणमनको अपनी शानका साधक मान लूं तो उसमें मुझे खेद हो। पर मेरी आत्माको तो कोई जानता ही नहीं है, पहिचानता भी नहीं है। मुझे किसे शान बताना है ?

निर्मोहता ही आत्माकी वास्तविक शान—मेरी शान तो असली यह है कि किसी भी परपदार्थमें भ्रम न हो, आसक्ति न हो किन्तु स्वयं जैसा हूँ वैसा ही अपने आपमें उपयोग लिए रहूँ तो उसमें ही मेरी शान है जिसके कारण सर्वसंकट दूर होते हैं। यह ज्ञानी पुरुष इसी ज्ञानके कारण परद्रव्योंको यह मेरा है ऐसा नहीं कह सकता है क्योंकि जो ज्ञानी है वह ज्ञानी ही है जो जिसका भाव है वह उसका स्व है और वही मेरा स्वामी है। स्वके स्वामीका नाम स्वामी है। आत्माका स्व धन जाननेका स्वभाव है। आत्मा स्वतंत्र है। सो यह आत्मा आत्मा का ही स्वामी है, अन्य किसी पदार्थका स्वामी नहीं है।

जीवनमें भी सदा अकेला—इस जीवनमें भी आपने खूब देख लिया होगा कि किसी दूसरेपर आपका अधिकार पूर्ण बर्ताव नहीं चल पाता है। जगतमें जितने जीव हैं सब अपनी अपनी कषाय लिए हुए हैं। आप जिन्हें मानते हैं कि ये मेरे है वे आपके रंच भी नहीं है। वे अपने कषायमें मग्न हैं। उनको जिस प्रकार अपने स्वार्थकी पूर्ति हो, जिस प्रकार उनका विषय साधन ठीक बन सके उस प्रकार ही वे बर्ताव करेंगे। आपके वे कुछ नहीं लगते और इसी कारण एक भी जीवपर आपका अधिकार नहीं जम सकता, क्योंकि वे हैं नहीं तुम्हारे। वे पर हैं। इन जड़ पदार्थोंपर आपका अधिकार नहीं जम सकता। रक्षा करते-करते भी वे वैभव आपके पास रहा नहीं करते हैं। कितनी ही स्थितियां बन जाती हैं।

परमें आत्मीयताकी मान्यतारूप उन्मत्तचेष्टा—हम आपका आत्माके अतिरिक्त किसी भी पदार्थसे रंच भी सम्बंध नहीं है किन्तु यह मोही जीव विकल्प बनाकर, बहमी बनकर किसी भी पदार्थको अपना मान लेता है और दुखी होता है। जैसे कोई पागल पुरुष सड़क के किनारे कुंएके निकट बैठा हो, वहाँसे मोटर निकलती है, तांगा, साईकिल निकलती है तो वे मुसाफिर अपनी मोटर, साईकिल आदि छोड़कर पानी पीने आते है। यह पागल चूंकि मान लेता है कि यह मोटरी मेरी हैं, यह साइकिल मेरी है सो कुछ खुश होता है और वे लोग पानी पीकर अपनी सवारियोंपर बैठकर चले जाते हैं तब वह दुःखी होता है, हाय मेरी मोटर चली गई, हाय मेरी साइकिल चली गई, इस प्रकारकी कल्पनाएँ बनाकर वह दुःखी होता रहता है। इसी प्रकार यह मोही जीव जिस चाहे पदार्थको यह मेरा है ऐसी कल्पना करके मौज मान लेता है और उसके वियोगमें दुखी होता है जिसका कि अत्यंताभाव है।

कल्पनाके अर्थकारित्वका अभाव—भैया! परद्रव्यसे रंच सम्बंध नहीं है, माननेभर की बात है, उनमें यह मेरा है ऐसी कल्पनाकी मान्यता कर लेता है उन सबका उसमें अत्यन्ताभाव है। जिसे आप पिता समझते हो, पुत्र समझते हो, स्त्री समझते हो रंच भी वे तुम्हारेसे चिपटे नहीं हैं, बिल्कुल न्यारे हैं, जैसे कि जगतके सभी जीव न्यारे हैं। कोई सम्बंध हो तो बतलावो। यह वस्तुकी ओरसे बात कही जा रही है। पर कल्पनामें ऐसा बसा रखा है कि यह मेरा है, यही मेरा सर्व कुछ है। मेरा जो सर्व कुछ है वह तो ज्ञान और आनन्द है, उसकी तो दृष्टि नहीं करते और जिनका मुझमें अत्यन्ताभाव है उनको अपना मानते है। बस यह अज्ञान ही दुःख देने वाला है, अन्यथा कुछ भी नहीं है।

भैया! हम आप संसारमें इस मनुष्यभवमें जन्मे हैं तो अब भी सभीके सभी पूरे फक्कड़ हैं। फक्कड़ मायने अकिञ्चन। मेरा कुछ नहीं है, इस प्रकारके सब हैं। चाहे करोड़-पति हो, चाहे हजारपति हो, चाहे गरीब हो सबके सब अकिञ्चन हैं। यह आत्मा शरीर तकको भी नहीं अपना पाता तो औरकी चर्चा ही क्या करना है? जरा समाजव्यवस्थामें

मान लिया गया है कि मेरा महल है, मेरा वैभव है, मेरा धन है, समाजव्यवस्थामें ऐसा मान लिया है पर वस्तुतः देखो तो मेरे आत्माका मेरे आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सब फक्कड़ हैं और इसी कारण मरनेके बाद यह फक्कड़ अकेले ही जाता है। ऐसे सबसे न्यारे ज्ञानानन्दमय प्रभुके उत्कृष्ट स्वरूपकी तरह अपना स्वरूप है। उसकी दृष्टि नहीं करते सो दुःखी हो रहे हैं।

कुछ चाहनेमें पाप कोयला हाथ—भैया ! जो अपने को कुछ वाला मानता है उसके हाथ कुछ नहीं लगता और जो अपनेको सबसे निराला मानता है उसको विलक्षण अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। एक सेठ जी थे वे वहमी थे, डरपोक थे। एक दिन नाई हजामत बनाने लगा। जब गलेके पासके बाल बनाने लगा तो सेठ जी कहते हैं कि देखो अच्छी तरह बनाना हम तुम्हें कुछ देंगे। जब हजामत बन गई तो सेठ जी अठन्नी देने लगे। नाई ने कहा हम अठन्नी नहीं लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। आपने कुछ देनेका वायदा किया है। ५ रुपये का नोट देने लगे, न लिया, एक मोहर देने लगे, न लिया, बोला हमें तो कुछ चाहिए। बड़ा परेशान हो गया कि कुछ किसका नाम है, मैं कहाँसे दूं, थक गया बेचारा। सो यों ही सहज बोल गया कि भैया ! उस आलेमें दूधका गिलास रखा है जरा ला दो, कुछ पी लें। सो वह दूधका गिलास उठाने गया तो एकाएक बोला—सेठ जी इसमें कुछ पड़ा है। सेठ जी बोले कि अगर कुछ पड़ा है तो तू ले ले क्योंकि तू कुछको ही तो झगड़ रहा था। सो नाई ने उसे उठाया तो क्या निकला ? कोयला। देखो अभी अशर्फी मिल रही थी जो ८० — ९० रुपयेकी थी।

ज्ञातृत्वकी उदारता—सो जो कुछ है यह मेरा कुछ नहीं है। अन्य पदार्थोंमें अपनी आत्मीयताकी वासना लगी है। उनसे क्या पूरा पड़ेगा ? उनके फलमें पाप, कोयला, कलंक ही मिलेगा। अपना परिणाम मलिन किया, मिथ्यात्व किया। सो ज्ञानीसंत जहाँ भी रहते है वे कुछ परवाह नहीं करते हैं। गृहस्थीमें कहीं कुछ बिगड़ जाय तो उसके भी वे ज्ञाता द्रष्टा रहते हैं, बिगड़ गया, ठीक है, पर पदार्थ है, उसका यों परिणमन हो गया। इतना बल होता है ज्ञानीके, फिर उसके अज्ञानभाव कहाँसे आ सकता है ?

जिनमार्गानुसारितामें प्रभुभक्ति—प्रभुका परमार्थसे भक्त वह है जो प्रभुके बताए हुए मार्ग पर चले। ज्ञानी पुरुषके कोई टीका नहीं लगा रहता है या उसे बाहरमें कुछ अपना आडम्बर नहीं बनाना पड़ता है, वह तो भीतरमें प्रकाशसाध्य बात है। बैठे हैं, वही शकल है, वही स्थिति है भीतरमें एक ज्ञान बना लिया, अपने सत्यस्वरूपका भान कर लिया, लो, आनन्द मिल गया। आनन्दमय यह आत्मा स्वयं है। कहींसे आनन्द लाना नहीं है किन्तु आनन्दमें बाधा डालने वाला जो अज्ञानजन्य विकल्प है, व्यर्थकी कल्पनाएँ हैं, जो वस्तुस्वरूप

की विरोधी हैं उनको दूर करना है।

किसी एकका दूसरेमें अत्यन्ताभाव—भैया ! कौन किसका स्वामी है ? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपका स्वामी है। वस्तुस्वरूपकी दृष्टिका फल है कि वह ज्ञानी पुरुष अपना परिग्रह अपनेको ही जानता है। मेरे साथ मैं ही लगा हुआ हूँ, कोई मेरे साथ नहीं लगा है। इस कारण ये समस्त बाह्य परपदार्थ धन हो, घर हो, परिवार कुटुम्ब हो, अन्य जीव हों, ये सब मेरे कुछ नहीं हैं। मैं इनका स्वामी नहीं हूँ। इस प्रकारका अन्तरमें जाननेका नाम ही परद्रव्यका ग्रहण न करना कहलाता है। परद्रव्योंको तो अज्ञानी भी ग्रहण नहीं कर सकता। क्या ज्ञानीके अमूर्त आत्मामें एक नया पैसा भी चिपक सकता है। क्या दमड़ी छदाम भी अज्ञानी अपनेमें चिपका सकता है ? नहीं। अज्ञानी भी परको ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु अज्ञानी अपनी कल्पना में ऐसा मानता है कि यह मेरा है।

परकी ममता ही परका ग्रहण—यह मेरा है ऐसे विश्वास और उपयोगको ही परका ग्रहण करना कहते हैं। सब काम वही है, बात वही है पर प्रभुकी एक बात मान लो जो उन्होंने वस्तुका स्वरूप कहा है किसी वस्तुका किसी अन्यके स्वरूपमें प्रवेश नहीं है। अपने-अपने स्वरूपास्तित्वमें रहते हुए प्रवर्तते रहते है। इतनी बात मान भर लो कि सारा आनन्द ही आनन्द है। तीनों लोकमें श्रेष्ठ पदार्थ यह ज्ञानस्वरूपका अवलम्बन है। जो ज्ञानस्वरूप रागद्वेष परिणामसे रहित है, जिस ज्ञानस्वरूपमें रंच भी अन्य तरंग नहीं है, जहाँ केवल जानन-जाननका ही स्वच्छ प्रकाश है, ऐसा यह ज्ञानमय मैं आत्मा स्वयं आनन्द निधान हूं। इस प्रकारकी स्वीकृति तो कीजिए। सब संकट दूर हो जायेंगे।

संकट मात्र कल्पना—भैया ! संकट क्या दूर करना है ? संकट तो इस जीवके साथ ही नहीं है, किन्तु संकट जो मान रखा है वह खराबी करता है। यह जगत अनजानोंका मेला है। कोई किसीसे यहाँ परिचित नहीं है। जैसे स्वप्नमें स्वप्न देखने वाला कितनी ही चीजोंका परिचय कर लेता है, जो देखता है घर देखा, मित्र देखा जो भी वह स्वप्नमें देखता है वह उन सबको परिचित मानता है। पर क्या वास्तवमें वे परिचित हैं ? नहीं। क्या उनपर उसका अधिकार है ? नहीं। जैसे स्वप्नकी बातोंका परिचय केवल भ्रम माना जाता है, परिचय नहीं माना जाता है इसी प्रकार मोहकी नींदमें जो स्वप्न आ रहा है सोच रहे हैं, जान रहे हैं, ये फलाने भैया हैं, ये अमुक मेरे हैं, इनमें हमारी शान है, इस तरहका जो भी परिचयमें मान रहे हैं वह केवल मोहकी नींदका परिचय है।

मोहनिद्राविनाशसे कल्पना संकटका विनाश—जैसे आँखें खुलनेके बाद स्वप्नका परिचय समाप्त हो जाता है इसी प्रकार आत्मज्ञान जगनेके बाद यह सब परिचय समाप्त हो जाता है। जो चीज सरस लगती थी वह नीरस लगती है। जो चीज वास्तविक मालूम

होती थी वह मायारूप लगती है और उसे केवल शुद्ध चित्स्वरूप ही परमार्थ लगता है। ज्ञानसे बढ़कर लोकमें कोई वैभव नहीं है। जीवनके क्षरा दमादम गुजरे चले जा रहे हैं। हम सब मृत्युके निकट पहुंचते चले जा रहे हैं। समय बीतनेका और परिणाम क्या होगा? मृत्युके निकट पहुंच रहे हैं। अब करने योग्य काम क्या है सो सोचिए। धनसे, और-और संचय बढ़ानेसे क्या भला होनेको है? बुढ़ापा आयगा, मृत्युके निकट होंगे, फिर यह धन किस काम आयगा?

भैया! यह वैभव है जब तक, तब तक भी इसके द्वारा शांति नहीं मिलती है। ज्ञान जितना जिसके साथ है वह उतने ज्ञान द्वारा शांति प्राप्त कर लेता है। सो बाह्य परिग्रहोंका चित्तमें ममत्व न रखकर गृहस्थका कर्तव्य इतना ही है कि व्यापार कीजिए, रक्षा कीजिए पर अंतरंगमें ममता परिणाम न रखिये। जो ममता रखेगा सो वह दुःखी होगा।

रोनेका मूल कारण ममता—एक जंगलमें साधु महाराज थे। सो राजाने दर्शन किया, गर्मीके दिन थे। राजाने कहा महाराज आप गर्मीमें बड़े व्याकुल हो रहे हैं कहो तो मैं आपको एक छतरी दे जाऊँ। कहा बहुत ठीक है, ले आना, पर नीचे तो पैर जलेंगे। राजाने कहा महाराज रेशमके जूते मँगवा देंगे। कहा ठीक है। पर शरीर खुला है, इसमें तो धूप की लपटें लगेंगी। तो महाराज हम अच्छे-अच्छे कपड़े बनवा देंगे। जब कपड़े हो जायेंगे, जूते हो जायेंगे, छाता हो जायगा तो पैदल चलनेमें आलस्य आयगा। तो महाराज मोटर दे देंगे और उसके खर्चके लिए ५ गांव लगा देंगे। जब यह सब कुछ हो जायगा तो मुझे पड़गाहेगा कौन, खिलायेगा कौन? तो महाराज आपकी शादी करवा देंगे। सो स्त्री खिलायेगी और खर्चके लिए १० गाँव लगा देंगे। कहा यह भी ठीक है, पर बच्चे होंगे तो उनकी परवरिश कैसे होगी? तो ५ गाँव और लगा देंगे। और उनमेंसे कोई लड़का लड़की मर गई सो रोना भी तो पड़ेगा। तो राजा बोला—महाराज लड़का लड़की मरनेपर तो रोना तुम्हें ही पड़ेगा, हम नहीं रो सकते। हम आपको गांव लगा देंगे, सब काम कर देंगे, पर रोवेगा वही जिसके ममता होगी।

ममता धनसंचयका अकारण—सो भैया! इन बाह्य परिग्रहोंसे हमारा आपका कोई सम्बंध नहीं है। किन्तु जिसके ममता परिणाम है उसे क्लेश होता है और ममता परिणाम नहीं है तो क्लेश नहीं होता है। कोई यह सोचे कि ममता करेंगे तो धन बढ़ जायगा और ममता न करेंगे तो धन कैसे आयगा? सो देख लो—ज्ञानी चक्रवर्ती हुए हैं उनके परमाणुमात्र भी ममता नहीं है, मगर ६ खण्डका वैभव टूट पड़ता है। ममता करनेसे क्या धनका संचय होता है? पूर्व समयमें पुण्य किया, शुभ बंध हुआ उसका फल है।

ममता आनन्दबाधिनी—भैया! ममतासे तो अशांति बढ़ती है। सो वस्तुका यथार्थ

ज्ञान करके हम आपका कर्तव्य है कि ज्ञाता द्रष्टा रहें और करना भी पड़े कर्तव्य तो करते हुए भी यह जानें कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा हूं। मैं मात्र ज्ञानका ही परिणमन कर रहा हूँ। किसी बाह्य पदार्थोंका मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। ऐसा ज्ञानमय अपनेको निहारें। ज्ञानको ही कर्ता, ज्ञान को ही भोक्ता, ज्ञानको ही स्वामी, ज्ञानमय ही अपने आपको देखें तो मोक्ष मार्ग बराबर चल रहा है। जो इस मार्ग पर चलेगा वह उत्कृष्ट अलौकिक आनन्दको प्राप्त करेगा।

ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि मेरा परिग्रह तो मेरा आत्मा है, अन्य कोई दूसरा पदार्थ मेरा परिग्रह नहीं है। शरीर तक भी मेरा नहीं है, फिर और मेरे कैसे होंगे? इस कारण मेरेसे अतिरिक्त जब मेरा कुछ नहीं है, मैं परद्रव्यका स्वामी नहीं हूं, तो अब परद्रव्योंको मैंने ग्रहण नहीं किया, उसी परद्रव्यके त्यागके संकल्पको दृढ़ करने वाली गाथाको अब आचार्यदेव कहते हैं।

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

स्वसे स्वामीकी तन्मयता—यदि कोई अजीव पदार्थ मेरा परिग्रह बन जाय तो उसका अर्थ यह है कि मैं अजीव हो गया। जैसे पूछें कि चौकीका मालिक कौन है? तो चौकी का मालिक वह बतावो जिससे चौकी कभी अलग न होती हो। वह मालिक कैसा कि जिससे चीज अलग हो जाय। तो चौकी का ऐसा मालिक चौकी ही है। चौकीसे चौकी जुदा नहीं हो सकती है। इसी तरह पूछा जाय कि बतलावो आत्माका स्वामी आत्मा ही है, क्योंकि यह अलग नहीं हो सकता है। जो अलग हो जाय वह मालिक नहीं है। वह झूठ-मूठकी कल्पनासे मालिक है। तो अजीवका स्वामी कौन होगा? अजीवका स्वामी जीव नहीं। क्योंकि जो जिसका स्वामी होता है वह उसमें तन्मय होता है। जैसे पुस्तकका स्वामी कौन? ऐसा स्वामी बतावो जिसके पास पुस्तक सदा रहती हो। कभी न छूटे। यदि पुस्तक का स्वामी मनुष्यको बतावो तो वह तो मनुष्यसे छूट जायगी। तो उसका स्वामी क्या अन्य कोई हो सकता है जो उससे कभी अलग न हो तो उस पुस्तकका मालिक पुस्तक ही है। परमाणुका मालिक परमाणु ही है, पुद्गलका मालिक पुद्गल ही है।

स्वयं ही स्वयंका अधिकारी—यदि मैं इस परमाणुका, अजीवका स्वामी बन जाऊं तो मैं अजीव हो गया, क्योंकि जो जिसका स्वामी होता है वह उसमें तन्मय होता है। अच्छा मैं किसको ग्रहण करता हूँ? इस बातपर विचार करिये। मैं आत्मा हूं अमूर्त, ज्ञानमय। तो ज्ञानमय यह अमूर्त आत्मा बाहरकी किसी चीजको क्या ग्रहण कर सकता हूं? नहीं। किसी चीजको पकड़ भी नहीं सकता हूं। ग्रहण करने के मायने हैं अपने स्वरूपको ले लेना। तो

क्या आत्मा अपने स्वरूपमें किसी बाहरी पदार्थको ले सकता है, नहीं ले सकता है। हाथको हाथ ग्रहण किए है, घड़ीको घड़ी ग्रहण किए है, जीवको जीव ग्रहण किए है। निश्चयसे कोई पदार्थ कोई दूसरे पदार्थको ग्रहण नहीं करता। पदार्थ उसको ही ग्रहण किए हुए है जो कभी उससे छूट नहीं सकता। तो यह आत्मा अपने आपको ग्रहण किए हुए है। किसी परपदार्थको ग्रहण किए हुए नहीं है।

परके परिहारसे आत्मसत्त्वकी रक्षा—यदि मैं परपदार्थोंको ग्रहण करनेमें लग जाऊँ, अजीवको ग्रहण करनेमें लग जाऊँ तो अवश्य ही वह अजीव पदार्थ मेरा स्व बने और मैं उस जीव पदार्थका स्वामी बनूं, पर अजीवका जो स्वामी है वह अजीव ही है। सो अजीव का यदि मैं स्वामी बन गया तो मैं अजीव हो जाऊँगा। चूंकि अजीव नहीं हुआ मैं सो मैं ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा मैं ही स्वामी हूं, स्व हूं, अजीवपना न आनेमें तो ज्ञान ही रहेगा। इस ज्ञानमय भावके कारण यह ज्ञानी जीव किसी भी परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता है, सो मैं भी किसी परपदार्थका ग्रहण करता हूं। पूर्ण निश्चयसे यह आत्माके बहुत भीतरी मर्मकी बात कही जा रही है। मैं किसी दूसरे पदार्थको छू नहीं सकता हूं, किसी दूसरे पदार्थको कहीं ले नहीं जा सकता हूं, मैं किसी अन्य पदार्थका स्वामी ही नहीं हूं। मैं तो उस पदार्थका स्वामी हूं जो कभी मेरेसे छूटे नहीं। मेरे स्वरूपसे मेरा चैतन्यस्वरूप छूटता नहीं। इस कारण मेरा चैतन्य स्व है और मेरा मैं स्वामी हूं।

भैया ! संसारके संकटोंसे मुक्ति पा लेना कोई प्रमादमें नहीं हो सकता। उसके लिए हमारी बड़ी तैयारी होनी चाहिए कि जगतके किसी भी द्रव्यसे मुझमें कोई सम्बंध न दीखे, इसी बातको अब दुबारा कहते हैं कि—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९।

देहादिक परद्रव्यके विनाशसे आत्माके विनाशका अभाव—चाहे परपदार्थ छिद जावो, चाहे भिद जावो, कहीं जावो, वियोगको प्राप्त हो फिर भी कोई पदार्थ मेरा परिग्रह नहीं है। शरीर जीर्ण होता है तो शरीरमें जीर्ण होता है, मैं जीर्ण नहीं होता हूँ। जैसे वस्त्र यदि फटता है तो वस्त्र ही फटा, मैं फटा नहीं हो गया। वस्त्र पुराना होता है तो वस्त्र ही पुराना हुआ, मैं पुराना नहीं हुआ। वस्त्र नष्ट होता है तो मैं नष्ट नहीं हुआ, इसी प्रकार अन्य-अन्य पदार्थ कुछ भी जीर्ण हो जायें, नष्ट हो जायें तो उससे मैं जीर्ण और नष्ट नहीं होता। ज्ञानी पुरुषको बुढ़ापा आ जाय और उस वृद्धावस्थामें शरीर शिथिल हो जाय तो शरीरके शिथिल हो जानेपर भी इस ज्ञानी पुरुषके ज्ञान जागृत रहता है। उसमें अन्तर नहीं आता है। और ऐसी शिथिल अवस्थामें भी उसके हाथ पैर नहीं चल रहे, अब बैठा

भी नहीं जाता, वहाँपर भी ज्ञानी पुरुष अपनेको अशक्त, बूढ़ा, बेकाम अनुभव नहीं करता। वह जानता है कि नहीं हाथ पैर हिलते, न हिलें, पर वह अपने आत्मस्वरूपको ज्ञानमात्र जानकर प्रसन्न रहता है।

यथार्थज्ञानकी संकटमोचकता—भैया ! संकट जगतमें कुछ नहीं है। केवल विकल्प ही संकट है, कोई गुजर जाय, किसी इष्ट पुरुषका वियोग हो जाय, और होगा वियोग नियम से। ऐसा कोई अनोखा नहीं है कि जिसके माँ बाप स्त्री पुरुष सदा रहेंगे। वियोग अवश्य सदा होगा। और वियोगके समयमें दुःख होगा। जिसका संयोग हुआ उसका वियोग नियम से होगा, चाहे खुद पहिले गुजर जाय, चाहे माँ बाप आदि पहिले गुजर जायें, वियोग अवश्य होता है। वियोग होता है तो हो, वे सब परपदार्थ हैं, यदि मूढ़ बुद्धि बस रही है, जगतके अन्य जीवोंमें से दो चार जीवोंको छांट लिया कि ये मेरे हैं तो उसके फलमें उसे दुःख अवश्य होता है। मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं है, सो छिदो, भिदो, कोई कहीं ले जावो, अथवा नाशको प्राप्त हो, वहीं जावो तो भी मैं परपदार्थोंको ग्रहण नहीं करता। मैं सदा अपने आपके रूपमें रहता हूँ, अपनी शक्तिमें रहा करता हूं जिस कारण परद्रव्य मेरे स्व नहीं हैं। तो मैं परद्रव्योंका स्वामी नहीं हूँ।

शान्तिका उपाय स्वानुभव—भैया ! जिसने स्वानुभव नहीं किया उस मनुष्यने जीवनमें कुछ नहीं किया। उस मनुष्यमें पशु पक्षीसे कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि जन्म मरण बराबर ही चल रहे है। मनुष्यकी विशेषता तो स्वानुभवके जगनेमें है। जिस भवमें स्वानुभव हो वह भव सफल है। स्वानुभव तब ही सकता है जब सबसे निराला अपनेको निरखें। अपनेको अन्य वस्तुवोंमें तन्मय देखें और स्वानुभवकी आशा करें तो यह नहीं हो सकता है। मुक्ति चाहिए, अनन्त आनन्द चाहिए तो उस अनन्त आनन्दका उपाय यह है कि अपनेको सबसे न्यारा अपने स्वरूप मात्र देखें। परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है और स्वामी है। मेरा मैं ही स्व हूं और मेरा मैं ही स्वामी हूं। मैं इस प्रकार जानूँ।

शुद्धात्मभावना—देखिए धर्मके सम्बंधमें पदके अनुसार अनेक तरहके वर्णन होते हैं। गृहस्थ धर्ममें गृहस्थको कैसे चलना चाहिए ? उनके व्यवहारका वर्णन होता है। कैसा परिवारसे व्यवहार रखें, कैसे अर्थ व्यवस्था करें, कैसे जनतासे सम्बंध रखें, यही गृहस्थका धर्म है। और जब मंदिरमें आते हैं और प्रभुके समक्ष दर्शन, गुणगान करते हैं उस समय केवल आत्माके धर्मकी बातें होनी चाहिएँ। वहाँ व्यवहार धर्म, गृहस्थ धर्म, जनताकी बातें, परोपकारके अभिप्राय ये सब वहाँ नहीं होना है। वहाँ तो जैसा चैतन्यस्वरूप प्रभुका है वैसा अपने आपको निरखो। और आत्माके देखनेमें जैसी अपनी वृत्ति जगे वैसा अभिप्राय बनावो। हे प्रभो ! जैसे आप स्वयं हैं, एकाकी हैं, अपने स्वरूपमात्र हैं ऐसा ही मैं स्वयं हूं, एकाकी हूं,

अपने स्वरूपमात्र हूँ। मुझ में और आपमें परिणमनका जरूर अन्तर है पर स्वभावदृष्टिसे देखता हूं तो जो द्रव्य आप हैं वही द्रव्य मैं हूँ। इस तरह अपने आत्माको प्रभुके स्वरूपके समान निरखते जायें।

मेरा सर्वस्व मुझसे बाहर नहीं—भैया ! अपनेको केवल पवित्र निरखना है कि जहां केवल ही मैं दीखूं। मेरे उपयोगमें कोई दूसरी चीज न आए। ऐसी दृष्टि बनानेका प्रयत्न करना होता है और यह ही उत्कृष्ट धर्मका धारण करना कहलाता है। यहां ज्ञानी जीव सोच रहा है कि मेरा कौन मालिक हैं ? मेरा मैं ही स्वामी हूं, मैं किसी अन्य पदार्थका कुछ नहीं कर सकता हूँ। मेरे प्रदेशोंसे बाहर मेरी गति ही नहीं है। मैं किसी अन्य द्रव्यको छू भी नहीं सकता हूँ। मेरे एक क्षेत्रावगाहमें जो जो भी पदार्थ पड़े हुए हैं उन पदार्थोंको छू भी नहीं रहा हूं। मैं केवल अपने स्वरूपमात्र हूं। मैं किसी अन्यका कुछ न करता हूँ और न भोक्ता हूं। जैसे मोटे रूपसे समझ लो कि पंचेन्द्रियके भोग भोगे तो यह बतलावो कि भोगों का तुमने क्या बिगाड़ किया ? वे जीव पुद्गल हैं, वे किसी भी अवस्थामें आ गए, आ गए, वहाँ कुछ बिगाड़ नहीं हुआ। बिगाड़ तो इस जीवका हो गया। तो इस जीवने भोग क्या भोगा, यह जीव खुद भुग गया। बरबाद जीव ही होता है भोग नहीं बरबाद होता है।

ज्ञानीकी विविक्तता—भैया ! भोगोंका विकल्प करके अपने आपको यह जीव भोगता रहता है। मैं किसी भी परपदार्थका भोक्ता नहीं हूं। तब मैं सबसे अत्यन्त निराला ही हुआ ना। ऐसा सबसे विविक्त केवल चैतन्यमात्र जाननस्वरूप अपने आपकी दृष्टिमें यह जीव रहे तब इसको स्वानुभव प्रकट होता है। यही तो बड़ा संकट है जीवपर कि अपने आपके वैभव को तो यह निरख नहीं सकता है और बाह्य अनेक वैभवोंको यह निरखा करता है। किन्तु ज्ञानी जीव स्पष्ट यह देख रहा है, समझ रहा है कि मैं न किसीका स्वामी हूं, न कर्ता हूं, न भोक्ता हूं, न अधिकारी हूं, न कराने वाला हूं। जो कुछ हूं अपने आपमें हूं, और जो कुछ कर पाता हूं अपने आपमें ही कर पाता हूं। इस प्रकारसे यह ज्ञानी जीव समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है।

अंतरङ्ग त्याग—जैसे मरते समय कोई मनुष्य शिथिल होनेके कारण कपड़ोंको अलग नहीं हटा सकता, खाटको अलग नहीं हटा सकता और अपने आपमें ही अपने को सबसे न्यारा जानकर यह संकल्प कर लेता है कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा मात्र मैं ही हूँ, उसने अंतरंगमें सबको त्याग दिया। आपने चरित्रमें पढ़ा होगा कि जब राजा मधु संग्राममें युद्ध कर रहे थे, उसे युद्ध करते हुएमें वैराग्य आ गया। इतना अवसर न मिला कि वह हाथीसे उतरे और कपड़ोंको त्यागे और साधु व्रत अंगीकार करे। तो वहीं हाथी पर चढ़े ही सकल संन्यासका संकल्प कर लेता है और परमसमता भावमें आ जाता है और

वहीं समाधि ग्रहण कर लेता है।

विभावके नोकर्मका परिहार— सो भैया ! त्याग तो असली ज्ञानसे हुआ करता है, बाहरी त्यागको परमार्थतः त्याग नहीं कहते हैं पर बाहरी त्याग हमारे अंतरंग त्यागका साधक है क्योंकि हमारे विकल्पोंका आश्रय है बाहरी पदार्थ। पदार्थ छोड़ा तो राग करनेका सहारा नहीं रहा, इसलिए राग मिट जायगा। ऐसा सहकारी कारण है बाहरी त्याग। पर त्याग नाम तो अंतरंगमें सर्व परभावोंसे अपेक्षा करनेका नाम है। एक ज्ञानमय आत्मस्वभावको ग्रहण करो, समस्त परपदार्थोंको त्याग करना रूप यही है वास्तविक त्याग। गृहस्थ जनोंको २४ घंटेमें ५, ७, १० मिनट कभी समस्त परपदार्थोंके त्यागकी भावना अवश्य बनना चाहिए। और बाकी जो तेइस, पौने चौबीस घंटेका समय व्यतीत होगा उसमें निराकुलता रहेगी। संकट और कुछ नहीं हैं, केवल माननेके संकट हैं। जहाँ मानना छोड़ा वहाँ संकट छूट गया। तो लो संकटोंसे मुक्त ज्ञानमात्र अपने स्वभावको ग्रहण करनेका नाम ही परवस्तुवोंका त्याग करना है। सो यह सारा परिग्रह स्व और परके अविवेकका कारण है। इसको यह जीव त्यागता है और शेष बचा हुआ जो कुछ रागादिक अज्ञानभाव है उसे छोड़नेका साहस करके, बारबार फिर अंतरंग विकल्प परिग्रहको दूर करनेके लिए यह तैयार होता है। बाहरी परिग्रह तो छोड़ दिया और अंतरमें भी परिग्रहके त्यागका अभाव हो गया। अब बचा हुआ जो कुछ रागभाव है उसे भी दूर करनेका यह ज्ञानी जीव यत्न करता है। हम आप सब लोगोंके करनेके लिए काम यह है कि अज्ञानका त्याग करें और ज्ञानका आदर करें।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणओ तेण सो होई ॥२१०॥

ज्ञानीके इच्छाका अभाव—जो इच्छारहित है उसे अपरिग्रही कहा गया है। वास्तवमें इच्छाका नाम ही परिग्रह है। आत्मासे क्या चिपटा हुआ है धन वैभव ? वह तो अत्यन्त दूर है। शरीर भी आत्माके स्वरूपसे अलग है, प्रदेशोंके क्षेत्रसे अलग है। तो आत्माको परिग्रही नहीं कहा जा सकता। इच्छाको ही परिग्रह कहते हैं। ज्ञानी जीव किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं रखता है। इच्छामें चार चीजें आती हैं—पुण्य, पाप, खाना, पीना। पुण्य पापमें तो सब भाव आ गए और खाना पीना लोकव्यवहारमें मुख्य है। सो खाना पीनाकी बात आ गई। इन सबमें ज्ञानीके इच्छाका अभाव है।

पुण्यका विवरण—ज्ञानी जीव पुण्यके सम्बंधमें यह जानता है कि पुण्य २ प्रकारके होते हैं। एक जीव पुण्य और एक अजीव पुण्य। जीव पुण्य तो जीवका शुभभाव है और अजीव पुण्य पुद्गल कार्माणवर्गणावोंमें जो पुण्य कर्म है वह है। ये दोनों प्रकारके भाव मेरे स्वरूपसे पृथक् हैं। कार्माणवर्गणावोंमें जो पुण्यकर्म है वह तो प्रकट अजीव है, पौद्गलिक

है और विकारमें जो पुण्य भाव है वह भी क्षणिक है, पर्याय है, औपाधिक है, आत्माके स्वरूपसे विपरीत है। जैसे पूजा, भक्ति, दान, पुण्य, परोपकार, सेवा ये सभी पुण्यभाव कहलाते हैं। पर परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो ये जीवके स्वरूप नहीं है। यदि ये जीवके स्वरूप होते तो सिद्धमें भी पाये जाते। पर सिद्ध महाराजमें तो यहाँ कोई प्रवृत्ति नहीं है। जो सिद्ध महाराजमें पाया जाय वह तो है जीवका स्वरूप और जो वहाँ न पाया जावे वह जीव का स्वरूप नहीं है। इस कारण जीव पुण्यकर्मको भी नहीं चाहता।

ज्ञानी पुण्यका अपरिग्रही—ज्ञानी जीवके जब तक राग शेष है तब तक पुण्य बनता है। पुण्य बनेगा, पर पुण्यको वह चाहता नहीं है। चाहता है वह ज्ञानभावको। जिस पर दृष्टि रहे, जिसका आलम्बन करे, आश्रम रहे उसका चाहना कहलाता है। तो जब पुण्यका भी परिग्रह नहीं रहा तो यह पुण्यका अपरिग्रही कहलाया। यह जीव पुण्यका ज्ञायक होता है पर पुण्यका यह परिग्रही नहीं होता, रागी नहीं होता। इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसको परिग्रह नहीं कहा जा सकता। एक चक्रवर्ती ६ खण्डकी विभूति वाला, जो हो सम्यग्दृष्टि, तो वह विभूतिमें इच्छा नहीं रखता। विभूति है पर इच्छा नहीं है। जो इच्छा रखे वह दीन है और जो इच्छा न रखे वह अमीर है। आत्मा इच्छासे ही कुण्ठित बनता है। इच्छा जिसके नहीं है उसे परिग्रही नहीं कहा जा सकता।

इच्छाकी अज्ञानमयता—इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानी जीवके नहीं होता। ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। जब ज्ञानीके अज्ञानमय भाव नहीं रहा और अज्ञानमय भावकी इच्छा न रही तो वह पुण्यको भी नही चाहता। तारीफ तो तब है जब पुण्य बने और पाप चढ़े ना। पुण्यके चाहने से पुण्य बननेको नहीं है, कोई भगवानकी भक्ति इस दृष्टिको लेकर करे कि हे प्रभो! मेरे खूब पुण्य बने, ऐसी आशासे पूजा किया तो एक रत्ती भी पुण्य न बनेगा। और यदि कोई एक चित्स्वरूपके अनुरागवश भगवानके गुण रुचते हैं इसलिए भगवान्के गुणोंपर मुग्ध है और गान करता है, पुण्यका विकल्प नहीं करता है उसके पुण्य बनता है। अनुराग इच्छा है।

ज्ञानीकी निर्मल दृष्टि—कदाचित् अनुराग ज्ञानीके होता है, पर वह अनुरागसे अनुराग नहीं करता। ऐसा अनुराग 'मेरे सदाकाल रहे ऐसा भाव' ज्ञानीके नहीं होता। वह तो पूजा कर चुकनेके बाद अपना भाव स्पष्ट करता है कि हे प्रभो! आपके चरणोंमें मेरा मस्तक तब तक रहे जब तक कि मुझे मोक्ष न प्राप्त हो जाय। ऐसी बात कहकर जाता है। अभी और कोई धनी ऐसा सुन किसी गरीबके मुखसे। गरीब यह कहे कि तुम्हारे पास तब तक आते हैं जब तक हमारा स्वार्थ पूरा न हो जाय, तो धनी पर क्या असर पड़ेगा? पर भगवान तो वीतराग है, उसे जो चाहे कहो, पर भगवानकी जगहपर कोई दूसरा धनी

हो, रपट मारे । कहता है कि हमारा मस्तक तब तक तुम्हारे चरणोंमें रहे जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो जाय । यह ज्ञानी बहुत निर्मल परिणाम प्रकट कर रहा है ।

अनुरागमें अनुरागका अभाव—जैन सिद्धान्तमें तो सर्वत्र ज्ञानका महत्त्व है । भक्ति करें तो, सामायिक करें तो, कुछ करें तो सर्वत्र ज्ञानकी महिमा है । वह यथार्थ बात कह रहा है । उसकी दृष्टि अंधकारमें नहीं है । वह जानता है कि मोक्ष प्राप्त होनेपर भगवानका अनुराग रह ही नहीं सकता है । ज्ञानीके अनुराग तो होता है पर अनुरागका अनुराग नहीं होता है । जैसे फोड़ा हो जाय तो कैसा प्रेमसे उसपर हाथ फेरते हैं, पक्का है कि नहीं, जोड़ से न लग जाय, उस फोड़ेको कितना प्रेमसे स्पर्श करते हैं, पर उस फोड़ासे अनुराग है या अनुरागमें अनुराग है ? कैसे अनुरागसे उस फोड़ेका स्पर्श हो रहा है ? कैसी विलक्षण बात है ? इसी तरहसे ये सब फोड़ा हैं आत्माके शुभभाव और अशुभभाव, तो इसमें संतजन अपनी वेदनाका प्रतिकार करते हैं । ढंगने औषधि करना, सब करना, किन्तु उन बातोंमें अनुराग नहीं है ।

ध्रुव निजका आश्रय—बीमार हो जानेपर कितना वह अनुराग करता है—बढ़िया पलंग हो, साफ बड़ा कमरा हो, कमरेमें सुगंध आये, यह सब है पर उसका किसी चीजमें अनुराग नहीं है । वह तो चाहता है कि जल्दी ही ठीक होऊँ और २–४ मीलका चक्कर लगाऊँ । यह ज्ञानी जीव पुण्यको भी नहीं चाहता, क्योंकि ज्ञानी जीवकी दृष्टि शुद्ध ज्ञानस्व-भावपर है । आश्रय करो तो अपने आपका करो । परायेका आश्रय करनेसे तो कुछ लाभ न मिलेगा । और जो मिट जाय उसका आश्रय करनेसे कुछ लाभ न मिलेगा । जो अविनाशी हो और निज हो उसका अनुराग करो, बस इसी बातको देख लो । ध्रुव हो और निज हो उसको पकड़कर रह जावो तो संसारसे पार हो जावोगे ।

परके आश्रयमें अशरणता—यद्यपि परपदार्थ भी सब ध्रुव हैं उनकी परिणति अध्रुव हैं । तो अध्रुव परिणतिका आलम्बन लेनेसे कुछ लाभ नहीं है क्योंकि वह मिट जायगा और परपदार्थोंमें जो उनका स्वभाव है वह ध्रुव है, किन्तु पर है । तो परका आलम्बन लेनेसे उपयोग स्थिर नहीं रह सकता । उपयोग बहिर्मुख रहेगा । तो यद्यपि पर ध्रुव है किन्तु पर ध्रुवमें हम दृष्टि दें तो हमारी दृष्टि बहिर्मुख होगी । अपने आत्मप्रदेशोंसे हटकर किसी बाह्य की ओर लग गए तो बहिर्मुख दशामें जीवको अनाकुलता मिलती नहीं, सो बाह्य पदार्थ ध्रुव हों उसका भी आश्रय इस जीवका शरण नहीं बन सकता । जो ध्रुव और निज हो उसकी श्रद्धा करो । वह है अपनी चैतन्यशक्ति, ज्ञानशक्ति उसकी ही श्रद्धा करनेमें इस जीव को शांति प्राप्त होगी ।

सुख दुःख पुण्य पाप शुभाशुभ भावकी अनाश्रेयता—जैसे कि सुख दुःखकी अवस्था

जीवकी ध्रुव नहीं है, इसी प्रकार सुख दुःखका कारणभूत जो पुण्य और पापकर्म है, पौद्-
गलिक हैं, ध्रुव नहीं है और पुण्य पापके कारणभूत जो शुभोपयोग और अशुभोपयोग है वह
भी ध्रुव नहीं है सुख दुःख असलमें कहते उसे हैं जो इन्द्रियोंको सुहावना लगे। ख मायने
इन्द्रिय और सु मायने सुहावना। अर्थात् जो इन्द्रियोंको अच्छा लगे उसे सुख कहते हैं। और
जो इन्द्रियोंको असुहावना लगे उसे दुःख कहते हैं। देखो सिद्ध भगवानके सुखको कहीं कहीं
सुख शब्दसे कह दिया है—जैसे अनन्त सुख। पर इन्द्रियजन्य सुखका परिचय रखने वाले
मनुष्योंको समझानेका उपाय उन्हींके शब्दोंमें कहना आचार्योंने ठीक समझा और कहा।
किन्तु परमार्थ जो उनमें सुख है उसको आनन्द शब्दसे ही कहना चाहिए। आनन्द शुद्ध होता
है, सुख विकृत होता है। भगवानके अनन्त आनन्द है, अनन्त सुख नहीं है। सुख होता है
इन्द्रियोंसे और आनन्द होता है स्वाधीन।

त्रैकालिक आनन्द गुण—जैसे आत्माका ज्ञानगुण है, शुद्ध है, सत्य है, चारित्र है,
इसी प्रकार एक आनन्द नामका गुण है और जिस ज्ञानगुणके पर्यायें हैं—मति, श्रुति, अवधि
आदिक श्रद्धा गुणके सम्यक्त्व मार्गणावोंकी पर्यायें हैं, चारित्रगुणकी कषाय मार्गणापर्याय है,
इसी प्रकार आनन्दगुणके तीन पर्यायें होती हैं—आनन्द, सुख और दुःख।

आनन्द परिणमन—आनन्दगुणकी जो आनन्द नामक पर्याय है वह तो है स्वभाव-
पर्याय और अविनाशी है, पर परमार्थसे आनन्दपर्याय अविनाशी नहीं है। वह क्षण-क्षणमें
नष्ट होती है। भगवानका जो आनन्द है वह क्षण-क्षणमें नष्ट होता है, पर तारीफ वहां
यह है कि आनन्द नष्ट होकर दूसरे क्षणमें वही आनन्द प्रकट होता है, तीसरी क्षणमें वैसा
ही आनन्द फिर प्रकट होता है। जैसे केवलज्ञान क्षणिक है, ज्ञानकी पर्याय है, पर केवल
ज्ञान क्षणभरमें होकर नष्ट होकर दूसरी क्षणमें वैसा ही केवलज्ञान होता है तो प्रत्येक क्षण
में वैसा ही वैसा केवलज्ञान होता रहता है। जैसे बिजली जलती है, २ घंटा बिजली जली
तो देखनेमें ऐसा लगता है कि इस बिजलीने क्या काम कुछ नहीं किया? जो काम २ घंटा
पहिले किया वही काम अब कर रही है। पर वस्तुतः देखो तो वह बिजली प्रति सेकेण्ड
नया-नया काम कर रही है। जो प्रकाश उसने दो घंटे किया उसमें प्रति मिनटमें जो प्रकाश
किया वह अपने अपने मिनटका पावर लेकर किया। वहां दिखता ऐसा है कि वह बिजली
वही काम कर रही है, किन्तु एक घंटा पहिले जो किया वही बादमें नहीं कर रही है। ऐसा
न हो तो यह पावरकी यूनिट कैसे अधिक खर्च हो जाती है? नया परिणमन चल रहा है।

आनन्दपरिणमनका अपूर्व अपूर्व होते रहनेका दृष्टान्तपूर्वक प्रकाशन—जैसे कोई
पल्लेदार है वह दस सेर कोई सामान लिए खड़ा रहे तो मोटे रूपमें यह कह देंगे कि घंटेभर
पहिले जो काम किया वही काम कर रहा है पर वह तो प्रति पल अपना नया नया काम

कर रहा है, नई शक्ति लग रही है। तो जैसे प्रति पल नया काम कर रहा है, नई शक्ति लग रही है तथा जिस प्रकार केवलज्ञानी ज्ञानावरणादिकका क्षय होनेपर जैसा तीन लोक को जाना वैसा ही वह प्रतिक्षण जानता रहता है और प्रतिक्षण नई शक्ति वह लगाता है। इसी प्रकार आनन्दपर्यायकी भी वात है कि भगवानके प्रति समय नवीन-नवीन शुद्ध आनन्द प्रकट होता है। आनन्द नामकी शक्तिकी तीन पर्यायें हैं—आनन्द, सुख और दुःख। आनन्द तो शुद्ध पर्याय है, उसका निरन्तर सदृशपरिणमन होता रहता है। सुख और दुःख अशुद्ध पर्याय है।

सुखके लगावका फल—पुण्यके उदयमें आनन्द नहीं मिलता, सुख मिलता है। उस सुखके लोभमें ऐसा पाप बनता है कि जितना सुख भोगा उससे दूना दुःख मिलेगा। जैसे किसी पुरुषसे प्रेम हुआ तो संयोगके समयमें जितना सुख माना, वियोगके समयमें सारी सुख की कसर निकल आती है। जो आगामी कालमें वियोगका दुःख भोगना न चाहे, वह अभी से संयोगमें सुख न माने। वह भविष्यमें वियोगके समय दुःख नहीं मान सकता है।

गृहस्थके दो तप—भैया ! दो तप हैं गृहस्थके। प्रत्येक गृहस्थको ये दो तप तो करना ही चाहिए। गृहस्थका एक तप तो यह है कि जितनी आय हो उतनेमें ही अपनी सब व्यवस्था बना लें। खान, पान, दान, सब कुछ उसीमें कर लें और दूसरा तप उसका यह है कि यह ध्यान रखें कि जो कुछ समागम आज मिला हुआ है वह चाहे जीवका समागम हो, और चाहे वैभवका समागम हो, यह समागम सदा यहीं रहनेका है ऐसा ख्याल बनाए रहें। ये दो तप गृहस्थ करते रहें तो फिर वे दुःखी नहीं हो सकते। यद्यपि ये दोनों तप कठिन मालूम होते हैं किन्तु निगाह बन जाय तो सरल मालूम होता है। निगाह ही तो बनाना है। सत्संग हमारा बहुत काल तक रहे, सद्गोष्ठी रहे, ऐसी बातें सुननेको मिलें, बोलनेको मिलें और उत्तम पुरुषोंका ज्ञानका समागम अधिक हो तो निगाह बनती है। हम मोही जीवोंमें ही बस-बसकर अज्ञानी, बेढब, देहाती जैसा चाहे जीवोंके संगमें समय गुजारें तो वहाँ आत्मा को सम्हालना कठिन होता है।

गृहमें ज्ञानके वातावरणकी उपयोगिता—भैया ! तात्त्विक वातावरण कौनसी बड़ी बात है, घरमें ४ आदमी समझदार हों तो चारों आदमी मिलकर यह चर्चा घरमें कर लें कि देखो शास्त्रमें यह सुन आए हैं कि गृहस्थ इन दो तपोंको यदि करें तो सुखी हो सकते हैं। तुम्हें पसंद है कि नहीं ? और तुम्हारे हृदयमें यथार्थ बात बैठी है कि नहीं ? न बैठी हो तो फिर चर्चा करो जब घरके चार जीवोंमें यह ज्ञान बैठ जाय तो फिर बादमें यह तप करना बहुत सुगम हो जायगा। करो चर्चा। जो शान्ति और आनन्दका मार्ग है उस मार्ग की चर्चा करियेगा। जिनसे आपका विशेष राग है उनको धर्मात्मा बनावो। शास्त्र बताते

हैं कि स्त्रीको भी और पुत्रोंको गृहस्थीमें ज्ञानी रहना चाहिये । तब बूढ़ोंका, बुजुर्गोंका निर्वाह धर्मपूर्वक हो सकता है ।

ज्ञानी गृहस्थकी अन्तर्बाह्यवृत्ति—जिस गृहस्थके ज्ञानीके उपयोगमें यह सिद्ध हो गया कि जितने भी समागम हैं ये सब बिछुड़ने वाले हैं । और आज अमुक समागम मिला और यह न मिलता और कोई जीव घरमें आता जिसको तुम आज पराया मान रहे हो वह ही मरकर यदि घरमें आकर बच्चा बन जाय तो जिसे आज आप पराया मानते थे उसमें मोह करने लगते हैं । और पदार्थ तो वही है जो पहिले था, जीव तो दूसरा नहीं है तो फिर अपना पराया कौन है । अधिक इस ओर गृहस्थको नहीं लगना चाहिए कि यह गैर है, यह पर है । जितना खर्च अपने कुटुम्बपर होता है औरों पर उससे आधा खर्च तो कमसे कम करो । यदि नहीं बचत है तो घरकी बजट कम कर दो, पर कुछ न कुछ दूसरोंके उपयोगमें, सेवामें धन लगाना ही चाहिए । अन्यथा वह धन प्रबल हो जायगा और धर्म गौण हो जायगा ।

कल्याणमार्गकी शीघ्रकरणीयता—भैया ! पहिलेसे ही यदि समागममें मोह न रखो तो अंतिम क्षण अच्छे रहते हैं । परीक्षाफल समाधिमरण है । ज़िन्दगीका परीक्षाफल है समाधिमरण । जीवनभर यदि विचार अच्छे रखो तो समाधिमरण हो सकता है । कोई सोचे कि अभी बहुत दिन हैं, मरण काल बहुत दिन बादमें आयगा, अभी चैनसे रहें, फिर सुधार लेंगे तो कठिन काम है । धर्मकार्यके लिए तो सोचने लगते हैं कि "आज करें सो काल कर, काल करो सो परसों । जल्दी-जल्दी क्या पड़ी है, अभी तो जीना बरसों ।।" पर कहना व करना क्या चाहिए कि "काल करे सो आज कर, आज करे सो अब । पलमें परलय होयगी बहुरि करोगे कब ।।" ज्ञानी जीव इन सब समागमोंको अहित और विनाशीक जानते हैं । ये सब पुण्यके फल हैं । यदि पुण्यकर्मसे ये समागम भी जुड़ जायें तो यह ज्ञानी जीव उन समागमोंको नहीं चाहता है ।

ज्ञानीकी विशुद्ध वृत्ति—ज्ञानीकी प्रवृत्ति कितनी विशुद्ध है ? ये पुण्यकर्म बंध जाया करते हैं, बंध जावो पर चाह करोगे तो फंस जावोगे । सो ज्ञानी जीवके पुण्यका परिग्रह नहीं होता । इससे शुद्ध तो है धर्म । धर्मका अर्थ है पुण्य । परिग्रह उसके नहीं है किन्तु ज्ञानमय जो एक भाव है उसका ही सद्भाव होनेसे यह जीव पुण्यका केवल ज्ञायक ही रहता है, पुण्य का अभिलाषी नहीं रहता है, यह तो बताया है गृहस्थ पुरुषोंकी तपस्या । अपने आपमें ही व्यवस्था बनें और समागमको विनाशीक मानें ।

ज्ञानीका सर्वोत्कृष्ट तप—भैया ! एक तीसरा यह तप और भी यदि प्रकट हो जाय तो और उत्कृष्टता है । जिस जीवको देखो उस जीवकी शकल सूरत पर्यायमें दृष्टि न अटक

कर उन जीवोंमें रहने वाले शुद्ध चैतन्यस्वरूपका ध्यान करो। और उस चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिमें करके सबको मान लें। यह उन दो से भी श्रेष्ठ तप है। उन दो को तो जबरदस्ती किया भी जा सकता है। आपकी व्यवस्था हर एक कर सकता है और समागमको विनाशीक यह एक बहुत बड़ी तपस्या है। इसमें तो ज्ञानबल पूरा लगाना पड़ा। सब जीवोंको समान स्वरूप वाला निरख सके, यह सबसे ऊँची तपस्या है। ये तीन बातें यदि श्रावक पुरुषोंमें आ जायें तो यह भी बड़ा उत्कृष्ट है। इस प्रकार जीव पुण्यका केवल ज्ञायक ही रहता है, पुण्यका अभिलाषी नहीं रहता है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

ज्ञानीके अधर्मका अपरिग्रह—जो इच्छारहित है वह अपरिग्रही कहा गया है। ज्ञानी पुरुष अधर्मको नहीं चाहते हैं। इसलिए वे अधर्मके अपरिग्रही हैं। वे तो केवल अधर्मके ज्ञायक होते हैं। इससे पहिले पुण्यकी बात कही गई थी कि ज्ञानी जीव पुण्यको भी नहीं चाहता। उसके पुण्यका काम होता है, पर पुण्यको नहीं चाहता है, क्योंकि जानता है कि पुण्य भिन्न चीज है। और पुण्य बँध भी गया तो उसके उदयमें कुछ बाह्य समागम ही तो मिले। उन बाह्य समागमोंमें आत्माका भाव ही तो पराधीन हुआ। विषयकषायके परिणाम ही तो बढ़ेंगे, संसार बढ़ेंगे। पुण्यसे मोक्ष नहीं होता। मोक्ष होता है शुद्ध ज्ञानस्वभावके अवलम्बनसे। सो वह पुण्यको करता हुआ भी पुण्यका ज्ञायक रहता है।

ज्ञानीकी वृत्तिमें ज्ञानकी झलक—भैया! ज्ञानी होनेपर भी जब तक अप्रत्याख्यानावरण सम्बंधी राग है तब तक इस गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कषायके परिणाम भी उठते हैं। तो उन विषयकषाय परिणामोंरूप पापको करता हुआ भी ज्ञानी पापकी चाह नहीं करता, उससे आसक्ति नहीं करता, बल्कि वियोगबुद्धिसे उसमें प्रवृत्ति करता है। जैसे कैदीको जबरदस्ती चक्की पीसनी पड़ती है सिपाहीके डंडेके डरसे, पर उसके मनमें वियोगबुद्धि है कि कब यह छूट जाय? इसी प्रकार विषय कषाय पापकी प्रवृत्तिमें ज्ञानी जीवको लगना भी पड़े, लेकिन वह उनमें वियोगबुद्धिसे लगता है। तो उस समय भी वह पापोंका ज्ञायक रहता है।

ज्ञानीके अज्ञानमयभावका अभाव—भैया! इच्छाको ही परिग्रह कहा गया है। जिनके इच्छा नहीं है उनके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता है। ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। इस कारण ज्ञानी अज्ञानमय भावके अभावसे अर्थात् इच्छाके अभावसे वह अधर्मको नहीं चाहता, पापको नहीं चाहता तो ज्ञानीके पापका परिग्रह भी नहीं है।

ज्ञानी व अज्ञानीकी वृत्तिमें शैली—कितने ही पुरुष यह शंका करने लगते हैं कि ज्ञानी पुरुष एक पापका काम करता है और एक अज्ञानी पुरुष कोई पापका काम करता है तो उस पापका दोष ज्ञानीको ज्यादा लगता है। ऐसा तर्क करते हैं कि यह तो ज्ञानी है और यह कुछ जानता नहीं है इसलिए उसे दोष कम लगेगा। और यह जानता है, ज्ञानी है और फिर पाप करता है तो उसे ज्यादा दोष लगना चाहिए, पर यथार्थ बात इसके विपरीत है। यदि कोई वास्तवमें ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि पुरुष है, आत्मानुभव जिसे हो चुका है ऐसे पुरुषको यदि कदाचित् पापकार्योंमें लगना पड़ता है तो इसका दोष अधिक नहीं होता है, कम होता है और अज्ञानी जीव यदि वह पापकार्योंमें लगता है तो उसके कई गुणा पाप होता है। इसका कारण यह है कि ज्ञानी होनेके कारण पापकार्योंमें लगकर भी उसके वियोगबुद्धि भीतर बसी है। यदि वियोगबुद्धि भीतर नहीं हुई, हटनेकी शैली उसके नहीं हुई तो उसे ज्ञानी ही नहीं कहते हैं, वह तो अज्ञानी ही हो गया।

ज्ञानीकी प्रवृत्तिमें वियोगबुद्धि—भैया! जो ज्ञानी होता, सम्यग्दृष्टि होता, उसकी भी प्रवृत्ति कर्मविपाकवश कदाचित् पापकार्योंमें होती है। जैसे युद्ध करना पड़ता है, गृहस्थी सम्हालनी पड़ती है, समाज एवं देशकी सेवा भी करनी पड़ती है, पर ज्ञानी इन्हें वियोगबुद्धि से करता है। यह मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा इरादा उस ज्ञानी पुरुषके होता है। यदि ऐसा ढंग नहीं है और स्वच्छन्द होकर पापोंमें प्रवृत्ति करता है तो उसे ज्ञानी क्यों कहते है? वह ज्ञानी नहीं है।

अज्ञानका महान् अपराध--अज्ञानी पापकार्य करता है तो प्रथम तो सबसे बड़ा दोष उसके अज्ञानका है। पापकार्य करनेसे भी कई गुणा अपराध अज्ञानका माना गया है। यह कोई लोकव्यवहारकी बात नही है कि भाई इसे जानकारी न थी और अपराध बन गया है तो इसे छोड़ दो, माफ कर दो, सहूलियत दे दो। यहां तो क्यों नहीं जानकारी हुई, क्यों अज्ञान रहा, यही महान् दोष है इस जीवके लिए। अज्ञानका जितना बंध होता है उसके मुकाबलेमें प्रवृत्तिज पाप करनेसे जो बंध होता है वह पाप अल्प है। पापरूप प्रवृत्ति करनेसे बंध जितना होता है उससे कई गुणा बंध अज्ञानका होता है, जानकारी न होनेसे होता है।

भावोंसे प्राकृतिक व्यवस्था--ज्ञानी व अज्ञानीका लोकव्यवहारकी बातोंसे मिलान नहीं किया जा सकता कि भाई लोकव्यवहारमें तो यह सुविधा मिल जायगी कि भाई इसको जानकारी नहीं थी, पाप हो गया है, इसे छोड़ दो। जैसे किसी मैदानमें शौच और पेशाव करना मना है, और एक अज्ञानी पेशाब कर ले तो सिपाही उसे कह सकते है कि भाई इसे छोड़ दो, [illegible] पता नहीं था। पर यहां तो इतनी भी छूट नहीं है। यह तो अज्ञानका महा-पाप है।

ज्ञानके साथ वृत्तिकी शैली—एक दृष्टान्त ले लीजिए—एक पुरुषको मालूम है कि यहां अग्निका छोटा कण रखा है और किसी कारणसे अग्नि पर उसे पटके जानेको विवश किया जा रहा है तो वह अग्निपर धीरेसे पांव धरकर निकल जायगा। और जिसे नहीं मालूम है उसे यदि घसीटकर अग्निकी कणपर पटका जाता है तो वह पैर धीरेसे रखता है और उस अग्निके कणपर पैरको दाबकर रखता है। और वह अधिक जल जायगा। तो हमें यदि अधिक जानकारी नहीं है तो यह सबसे बड़ा दोष है। तो हर प्रकारकी जानकारी का हमें यत्न रखना चाहिए। कोई पुरुष सुनी बातचीतका बहाना करके सोचे कि मैं सब जानता हूं। यदि उसके कोई वियोगबुद्धि नहीं है, उसे हटानेका आशय नहीं है तो उसे ज्ञानी ही नहीं कहा है।

ज्ञानीकी निष्परिग्रहता—इस ज्ञानी पुरुषको कर्म विपाकवश पापकार्योंमें भी कदाचित् प्रवृत्ति करना पड़ती है लेकिन वह तो ज्ञानमय ज्ञानभावका अनुभवी हो चुका है, सो वह केवल पापका ज्ञायक ही रहता है। जैसे पापके सम्बन्धमें बात कही गई है यों ही रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, इन सबके बारेमें यह ही बात लगाते जाइए। वह इन्द्रियोंका परिग्रही नहीं है किन्तु इन्द्रियोंका ज्ञायक है। वह रागद्वेषका परिग्रही नहीं है किन्तु रागद्वेषका ज्ञायक है। इस प्रकार इसके अलावा अन्य-अन्य भी बातें सोच लेनी चाहिएँ। प्रयोजन यह है कि ज्ञानी पुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष समस्त पर और परभावोंका ज्ञायक ही होता है, परिग्रही नहीं होता है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु अण्णस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

ज्ञानीकी अपरिग्रहता—इच्छारहित पुरुष अपरिग्रही कहा गया है। ज्ञानी पुरुष भोजनको नहीं चाहता। अतः वह भोजनका अपरिग्रही है। वह तो भोजनका ज्ञायक होता है। यह बात बड़ी कठिन कही जा रही है। भोजन करते हुए भी भोजनसे वियोगबुद्धि रखे, इसके लिए कितना ज्ञानबल चाहिए? खाते समय क्या किसी को यह ख्याल रहता है कि भोजन करना मेरा स्वरूप नहीं है, यह विपत्ति है, इससे मैं कब दूर होऊँ? क्या ऐसा कोई ख्याल करता है? क्यों बाबा.जी? एक भाई ब्रह्मचारी जी का कहना है कि पेट भर जायगा फिर स्वयं ख्याल आ जायगा कि यह दाल चावल खाना मेरा स्वरूप नहीं है। अरे पेट भर जानेपर तो खाया ही नहीं जा सकता। ज्ञानीके तो खाते हुएमें भी ज्ञानकी जागृति रहती है। अज्ञानी तो यों सोचेगा कि यह पेट भर क्यों अभी गया जो यह छोड़ना पड़ा।

भोजनमें भी स्वरूपस्मरण—खाते हुएमें और बहुतसी बातोंका सदा ध्यान रहे।

आहार करना मेरा स्वभाव नहीं है। अच्छा यह दृष्टि होना भूखेमें कठिन लगे, न हो पाय, पर पेट भरनेपर तो ऐसी चर्चा आप कर सकते हैं कि नहीं कि आत्माका आहार करना स्वभाव नहीं है। कोई अधपेटमें ही कह सकता है, कोई बिल्कुल भूखेमें ही कह सकता है, जिसके जैसा ज्ञानबल होता है वैसा ही उसको याद रह सकता है।

बन्धनके स्वरूपका दिग्दर्शन——अब स्वरूपकी दृष्टि कीजिए। आत्मा अमूर्तिक है। इससे तो शरीरका भी सम्बंध नहीं है। यह शरीर तो आत्माको छू भी नहीं सकता। यों ही कर्मका भी स्पर्श नहीं है। फिर भी है बन्धन अभी, हो, वह सम्बंधकृत बंधन नहीं है किन्तु निमित्तनैमित्तिककृत बंधन है। जैसे एक रस्सी और दूसरी रस्सीमें गाँठ लगा दी जाय तो उन दो रस्सियोंका जो परस्परमें सम्बंध है वह सम्पर्ककृत है और निमित्तनैमित्तिककृत है किन्तु यह शरीर और आत्माका सम्बंध सम्पर्ककृत नहीं है, निमित्तनैमित्तिककृत है। जैसे गायके गलेकी रस्सी। गलेका और रस्सीका बंधन सम्पर्ककृत नहीं है कि एक हाथमें गला पकड़ा और एक हाथमें रस्सी पकड़ा और दोनोंमें गांठ लगा दिया, ऐसा सम्पर्ककृत नहीं है। वहां तो रस्सीका रस्सीसे सम्पर्ककृत बंधन है और वहां गाय बंधनमें आ गई, विवश हो गई कहीं जा नहीं सकती। ऐसा जो बंधन गायका हुआ है वह निमित्तनैमित्तिक बंधन है। रस्से फंसी रस्सीके मध्यमें गायका गला है, इस निमित्तसे वह कहीं जा नहीं सकती।

निमित्तनैमित्तिकीय बन्धन——एक और जरासा मोटा दृष्टान्त देखो। कभी बगीचेमें जंगलमें अपन निकलते हैं तो कोई प्रदेश ऐसा होता है कि वहांसे मक्खियां अपने सिरपर मंडराने लगती हैं और जैसे जैसे अपन चलते हैं वे भिन-भिन करती हुई छोटी-छोटी मक्खियां आपके सिरके ऊपर वैसी ही चलती जाती हैं। देखा है कभी ऐसा ? तो उन मक्खियोंका हम आपके साथ-साथ चलते जाना ऐसा जो उनका बंधन लगा है वह सम्पर्ककृत नहीं है। हमारे सिरसे वे मक्खियां बहुत ऊँचे है मंडरा रही हैं, वह निमित्तनैमित्तिक सम्बंधकृत बंधन है। यों ही शरीरका और आत्माका निमित्तनैमित्तिक बंधन है।

भोजनकी अपरिग्रहता—तो जब आत्माका शरीरसे भी सम्पर्क नहीं है तो भोजनका सम्पर्क क्या हो सकता है ? फिर भोजनका यह परिग्रही कैसे कहा जाय ? भोजनका सम्बंध नहीं है यहां। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय निजको जानता है। ज्ञान करता है इतना ही आत्माका कर्तृत्व है और इतना ही भोक्तृत्व है। भोजन करनेके कालमें भी भोजनको विषय मात्र करके जो रसादिकका ज्ञान किया गया है उस ज्ञानका यह कर्ता है, पर भोजनका यह कर्ता नहीं है। यह तो भोजनका ज्ञायक है।

ज्ञानीका ज्ञानमय भाव——इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानी जीवके नहीं होता है।

ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। सो ज्ञानी चूंकि अज्ञानमय भावसे रहित है, इच्छासे रहित है इसलिए वह आहारको नहीं चाहता। तब ज्ञानीके आहारका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव ही होनेसे ज्ञानी आहारका सिर्फ ज्ञाता ही रहता है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

ज्ञानीके पानमें भी निष्परिग्रहता—इच्छारहित पुरुष अपरिग्रही है। ज्ञानी पान भी नहीं चाहता है। पीनेकी चीजें, दूध पीना, रस पीना, शरबत पीना, इस पानको भी वह ज्ञानी जीव नहीं चाहता। इसलिए ज्ञानी पानका अपरिग्रही है। वह तो पानका केवल ज्ञायक ही है। यह भी बड़ी कठिन बात है। खाना खाते हुए खानासे वियोगबुद्धि रखना, ज्ञायक रह जाना यह अज्ञानीको कठिन है, इसी प्रकार पानी आदि पीते हुए उससे वियोगबुद्धि रखे, मात्र ज्ञायक रहे, यह भी कठिन है।

ज्ञानीके अज्ञानमय भावका अभाव—इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता है। ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है। ज्ञानी अपने ज्ञानमय भावसे पानको भी नहीं चाहता। चाहना स्वयं अज्ञानमय भाव है। ज्ञानमय भाव तो ज्ञानका परिणमन है। ज्ञानके स्वरूपको जानना यह ज्ञानमय भाव है और राग हो, द्वेष हो, चाह हो, जो भाव स्वयं जाननहार नहीं है किन्तु जाननहारके द्वारा भोगे जाने वाले हैं उन सब भावोंको अज्ञानमय भाव कहते हैं। तो अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं है। वह पानको नहीं चाहता। अतः ज्ञानीके पानका भी परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञानभाव होनेसे वह पानका ज्ञायक ही रहता है।

ज्ञानमयरूपसे ही अनुभव करता है। अतः उनके इन सब बातोंका परिग्रह नहीं होता, किन्तु आत्मीय आनन्दमें तृप्त होकर असन पान आदिके सम्बन्धमें निष्परिग्रही रहता है। जैसे दर्पणमें बिम्ब झलकता है इसी प्रकार ज्ञानीमें वे आहार अनसनादिक आहारके वस्तु वस्तुरूपमें झलकते हैं। यह उनका ज्ञायक है पर रागरूपसे ग्रहण करने वाला नहीं है। खावो, पियो, इससे ही भला है, इससे ही मेरा पोषण है, यही मेरा सब कुछ है, इससे ही मेरा अस्तित्व है ऐसे रागरूपसे आहार आदिका ग्रहण नहीं करता।

ज्ञानीका आशय—ज्ञानी पुरुषके किसी भी प्रकारकी बाह्य द्रव्योंमें आकांक्षा, तृष्णा, मोह, इच्छा नहीं होती है। तब वह स्वाभाविक परमानन्दमें तृप्त होता है, इन सबका मात्र ज्ञायक रहता है। यह भी है इस रूपसे, उनका जाननहार ही रहता है, रागरूपसे लगाव नहीं करता है। जैसे कि चरणानुयोगके ग्रन्थोंमें भी बताया है कि साधु पुरुष साधनाके लिए आहार नहीं करते, शरीर साधनेके लिए, आयु रखनेके लिए नहीं किन्तु ज्ञानके लिए, संयम के लिए, ध्यानके लिए आहार करते हैं। आहार ज्ञानी भी करते हैं मगर विवेकसे करते हैं। वह ज्ञानी पुरुष तो अपनी आत्मसाधनाके लिए जिन्दा रहना चाहता है, जिन्दा रहनेके लिए जिन्दा नहीं रहना चाहता है, ऐसा अन्तरमें अन्तर आनेके कारण ज्ञानी जीव निष्परिग्रही रहता है और उनका ज्ञायक ही रहता है।

एमादिये दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालम्बो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

ज्ञानीके परद्रव्यका अपरिग्रहित्व—पहिले कुछ भाव बताए गए कि इन परद्रव्योंके भावोंको या परके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको ज्ञानी जीव नहीं चाहता। अब कहते हैं कि इस ही प्रकारके नाना तरहके जो भी परद्रव्योंके भाव हैं उन परभावोंको भी ज्ञानी जीव नहीं चाहता। क्योंकि ज्ञानी जीव तो सर्वत्र ज्ञायक भाव स्वरूप नियत और निरालम्ब रहता है। जब किसी भी परभावोंको नहीं चाहता तो यह ज्ञानी जीव परिग्रही नहीं होता है।

परिग्रहित्वका कारण इच्छा—परिग्रही होना अन्तरमें इच्छापर निर्भर है। किसी भी बाह्य वस्तुमें झुकाव है, चाह है तो वह परिग्रही हो चुका। उसपर परिग्रहका भार लद गया। जिस वस्तुका राग है उस वस्तुका विनाश होनेपर बड़ी विह्वलता होती है। वह सब इस इच्छाका ही प्रसाद है। बाह्यवस्तुके विनाशसे विह्वलता नहीं है किन्तु अपनेमें इच्छा की और उस इच्छाका विघात हो रहा है इस कारण विह्वलता है। यों समस्त परभावोंको ज्ञानी जीव नहीं चाहता है, वह तो सर्वत्र निरालम्ब है, प्रत्येक स्थितिमें वह अपनेको अकेला निरख सकता है।

ज्ञानी गृहस्थकी अन्तर्निर्मलता—गृहस्थ भी चाहे दूकानमें बैठा हो, चाहे घरमें हो,

चाहे किसी प्रसंगमें हो, यदि किसी क्षण अपनेको सबसे निराला ज्ञान स्वभावमात्र तक सकता है तो वह गृहस्थ धन्य है, वह ज्ञानी है, वह संत है। धर्मका पालन परमार्थसे यही है। धर्मके लिए हाथ पैर फैलानेकी आवश्यकता नहीं है। वह तो मजबूरन ही फैलाये जाते हैं। राग का उदय आये तो इस रागको किस जगह पटके ? उस जगह रागको छोड़ना चाहिए जिस स्थानमें रागको छोड़नेसे आत्मा विपरीत पथमें न लगे, विषयकषायोंमें न लगे। ऐसे विवेकके कारण ज्ञानी जीव पूजा, भक्ति, दान, उपकारमें अपने हाथ पैर फैलाता है और गृहस्थावस्थामें यह सब करना चाहिये। परमार्थतः यदि आत्मबल जागृत है तो इतनी प्रवृत्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है। वह तो किसी भी जगह किसी भी स्थितिमें सबसे निराला ज्ञानस्वभावमात्र अपने आपको देखकर सुखी हो सकता है। ज्ञानी जीव समस्त परभावोंके भारको नहीं चाहता इसलिए उनका परिग्रही वह नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि ज्ञानी जीव अत्यन्त निष्परिग्रही होता है।

ज्ञानीके स्वच्छ स्वरूपका अनुभव—यह ज्ञानी पुरुष भावांतरोंके परिग्रहसे शून्य होनेके कारण वमन कर दिया है समस्त अज्ञानभावोंको जिसने ऐसा निर्भार होता हुआ सर्व पदार्थोंसे अत्यन्त निरालम्ब होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमात्र अनुभवमें रहता हुआ साक्षात् ज्ञानघन आत्माका अनुभव करता है। भीतरकी स्वच्छताका ही सारा प्रताप है। कर्मक्षय, कर्मसंवर, शांतिलाभ ये सब अंतरंगकी स्वच्छतापर निर्भर हैं। बाहरी दिखावट सजावटसे शान्ति प्राप्त न हो जायगी और अंतरंग स्वच्छता सबसे निराले निज स्वरूपमात्र अपने आपको निरखनेसे होती है। यह ज्ञानी पुरुष इस ही उपायसे अपनेको स्वच्छ ज्ञानघन अनुभव करता है। भैया ! पूर्वमें बँधे हुए कर्मोंमें उदयवश ज्ञानी जीवके उपभोग भी होता है, किन्तु उसके उपभोगमें रागका अभाव है। इस कारण वह उपभोग भी परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता। ज्ञानीकी कितनी उत्कृष्ट महिमा है ? जिस जालके अन्दर मिथ्यादृष्टि बना हुआ आत्मा संसारबंधनको बढ़ाता है, देखनेमें वैसा ही जाल है। उन जालोंमें रहता हुआ सम्यग्दृष्टि परिग्रह भाव तकको भी नहीं प्राप्त होता। यह सब गुणोंकी अलौकिक महिमा है। अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानी पुरुषके उपभोगका परिग्रह नहीं बनता। इस ही के उत्तरमें अगली गाथा आ रही है।

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वये णाणी ॥२१५॥

ज्ञानीके त्रिविध उपभोगकी अपरिग्रहता—क्या कहा जा रहा है कि ज्ञानी पुरुषके उपभोगका परिग्रह नहीं बनता। क्यों नहीं बनता, उसके विश्लेषणमें उपभोगके तीन भेद किए जा रहे हैं। भोग तीन प्रकारके हैं—(१) अतीत उपभोग, (२) भविष्यत् उपभोग और

(३) वर्तमान उपभोग । जो भोग भोग चुके हैं उन भोगोंका नाम है अतीत उपभोग । जो भोगे जायेंगे उनका नाम है भविष्यत् उपभोग, और जो भोग वर्तमान समयमें भोगे जा रहे हैं उनका नाम है वर्तमान उपभोग । इन तीनों उपभोगोंका ज्ञानी जीव परिग्रही नहीं है ।

अतीत उपभोगकी निष्परिग्रहता—यों भैया ! कर्मोदयजन्य उपभोग ३ प्रकारके हैं । उनमेंसे जो अतीत उपभोग है, जो गुजर गए भोगोपभोग हैं वे तो गुजरे ही हुए हैं । गुजरेका स्मरण करना, सम्बंध जोड़ना यह तो निपट अज्ञानीजनोंका काम है । जैसे कोई पुरुष बहुत धनी था और अब उदयवश गरीब हो गया, तो गरीब होनेपर भी दो आदमियोंके बीच वह अपनी शानकी बात कहता है कि मेरे द्वारपर तो सैकड़ों पुरुषोंके जूते उतरते थे, इतना तांता लगा रहता था, इतने घोड़े थे, इतना वैभव था । ऐसा जो अतीतसे सम्बन्ध जोड़ रहे हैं वह क्या है ? वह अतीतका परिग्रह बना रहा है । चीज नहीं है पर परिग्रह बना रहा है । बात गुजर गई, पर गुजरी हुई बातको भी लोगोंके सम्मुख रखे, ममता रखे तो वह परिग्रह बन रहा है । ज्ञानी जीव अतीतका विचार नहीं करता । उसमें ममता, मोह, राग नहीं करता । सो अतीत तो अतीत ही हो गया इस कारण परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता ।

अतीत परिग्रहमें ज्ञानी व अज्ञानीकी धारणा—अतीत परिग्रह तो गुजर गया, नष्ट हुआ, फिर कहनेकी जरूरत क्या है ? क्यों कहा जा रहा है ? क्यों अपने अतीतका हाल दूसरोंको सुनाता है ? मोक्षमार्गमें इसकी अटका है क्या कुछ कि सुनाए बिना मोक्षमार्ग न मिलेगा । किन्तु वह दूसरोंको सुनाता है तो इसका कारण राग है । वह अतीतके बारेमें लोगोंको सुना-सुनाकर अपना परिग्रह बना रहा है । ज्ञानी पुरुष उसका स्मरण भी नहीं करता है कि मैं ऐसा भोगता था, ऐसी शानमें रहता था, ऐसा वैभव था, ऐसी प्रतिष्ठा थी । क्यों ख्याल किया जा रहा है अतीतका ? अरे कोई मोक्षमार्ग तो नहीं है, रत्नत्रय तो नहीं है । यह ख्याल किया जाना ही इस बातको सिद्ध करता है कि उसके अन्दर राग है । ज्ञानी जीव सोचता है कि यह तो अतीत ही हो गया सो वह उसका स्मरण भी नहीं करता है ।

ज्ञानीके भविष्यत् परिग्रहका अभाव—भविष्यके जो उपभोग हैं, उनका परिग्रह अपना तब कहलाये जब चाह उनकी की जा रही हो । अतीतकी चाह यह ज्ञानी नहीं कर रहा है, पर अतीतमें अहंकार कर रहा है । तो अहंकार तो परिग्रहका रूप है । और भविष्यत्काल का उपभोग जब उनकी चाह की जा रही हो तब परिग्रह बन सकता है, सो जैसे मुझे यह मिल जाये, हमारी ऐसी दूकान हो जाय, ऐसी अमुक चीज बन जाय, इतनी स्थिति हो जाय, ऐसा जरिया बन जाय आदि प्रकारसे भविष्य सम्बंधी कुछ भी चाह करे तो भविष्य जब होगा तब होगा, मगर परिग्रह अबसे ही लग गया । अतीतकालके उपभोगसे अहंकारका परिग्रह होता है और भविष्यकालके उपभोगकी इच्छासे परिग्रह होता है । तो जो अनागत परि-

ग्रह है वह तव ही परिग्रह कहला सकता है जब उसकी चाह की जा रही हो। सो भविष्य की भी चाह ज्ञानी नहीं करता।

चाहके प्रकार—चाह भी एक आसक्तिपूर्वक होती है और एक साधारणतया होती है। ज्ञानी गृहस्थ दूकानपर जाता है तो क्या उसे यह चाह नहीं होगी कि आय हो और दुकान चले। होती है पर वह तात्कालिक चाह है, कर्तव्य वाली चाह नहीं है। पर अज्ञानी जीव तो अपनी पर्यायमें आसक्ति रखकर यहाँ मैं धनी कहलाऊँ, मैं लोकमें प्रतिष्ठित बनूँ ऐसी चाह करनेका भी यत्न करता है। परिग्रह तो लेशमात्र भी होने वाली इच्छामें है। पर ज्ञानी संत रागके प्रकरणमें इस रागका परिग्रही नहीं कहलाता। भविष्यका भी परिग्रही ज्ञानी पुरुष नहीं कहलाता। भविष्यका भी परिग्रह ज्ञानीपर नहीं लगता है।

वर्तमान उपभोगमें भी ज्ञानीके निष्परिग्रहता—अब रह गया वर्तमान परिग्रह उपभोग। वर्तमान उपभोग भी ज्ञानी जीवका परिग्रह नही है। वह किसी प्रकार वर्तमानमें भोग भोगे जा रहा है, किन्तु ऐसे भोग मुझे सदा काल मिलें ऐसी बुद्धिसे भोगा जाय तो वह वर्तमान उपभोग परिग्रह बन गया। और ऐसा क्या उपभोग परिग्रह हो सकता है कि भोगा तो जा रहा है पर वियोगबुद्धि चली जा रही हो। फंस गए हैं, इस आपत्तिसे कब दूर हों, ऐसी बुद्धिसे उपभोग भोगा जाता हो तो वह कैसे परिग्रह हो सकता है? वर्तमान उपभोग रागबुद्धिसे ही प्रवर्तमान हो तो परिग्रह होता है, किन्तु वर्तमान उपभोग ज्ञानी जीवके राग-भावसे प्रवर्तमान नहीं देखा गया है क्योंकि ज्ञानी पुरुषके अज्ञानमय रागबुद्धिका अभाव है। मात्र वियोगबुद्धिसे कर्मविपाकवश वेदनाकी शांतिके अर्थ उपभोगोंमें प्रवृत्ति हो तो वह उपभोग परिग्रह नहीं होता है। इस कारण वर्तमान उपभोग भी ज्ञानी जीवके परिग्रह नहीं होता है।

ज्ञानीके तीनों कालोंके उपभोगोंके परिग्रहपनेका अभाव—अब बतलावो अतीत उपभोग तो अतीत ही हो गया, उसमें तो ज्ञानी अपना उपयोग भी नहीं देता है तो परिग्रह कैसे बने? भविष्यत् उपभोग चाहा न जा रहा हो तो उसका परिग्रह कैसे बने? ज्ञानीके अज्ञानमय भाव जो आकांक्षा है उसका अभाव है, सो ज्ञानी जीवके परिग्रह भावकी प्राप्ति नहीं होती। अब यह प्रश्न हो रहा है कि भविष्य कालका जो उदय है, उपभोग है उसको ज्ञानी जीव क्यों नहीं चाहते? उसके उत्तरमें कहा जा रहा है।

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखइ कयावि ॥२१६॥

वेद्यवेदकभावकी क्षणिकता—वस्तुस्वरूपके बहुत मर्मकी बात ज्ञानी सोच रहा है उपभोगके सम्बन्धमें कि दो प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं, एक इच्छा के समयका भाव और

दूसरा भोगने के समयका भाव । इच्छाके समयके भावका नाम है वेद्यभाव और भोगनेके समयके भावका नाम है वेदकभाव । क्या वेद्यभाव सदा रहता है ? इच्छाका परिणमनरूप किया भाव क्या सदा रहता है ? वह तो होता चला जाता है। समय-समयमें नष्ट होता जाता है। इसी प्रकार उपभोगके भोगनेका भाव क्या सदा रहता है ? भोगका भी भाव समय-समयमें नष्ट होता है।

वेद्यवेदकभावकी क्रमवर्तिता—भैया ! एक समयमें जीवमें क्या दो परिणाम हो सकते हैं कि इच्छाका भी परिणाम रहे और उसही के भोगनेका भी परिणाम बने ? जिस कालमें इच्छाका परिणाम है उस कालमें भोगनेका परिणाम नहीं है और जिस कालमें भोगनेका परिणाम है उस कालमें इच्छाका परिणाम नहीं है। सीधी बात देखो कि जब आपको यह इच्छा है कि इस समय २५ रु० की आय होना चाहिए। इस इच्छाके समयमें २५ रु० आपके सामने हैं क्या ? अगर हैं तो इच्छा ही नहीं हो सकती कि २५ रु० की आय हो, चाहे नई इच्छा कर लो कि और २५ रु० आने चाहिएँ। तो जो हस्तगत हैं उनकी चाह नहीं होती याने जो **भोग** भोगा जाता है उसकी चाह नहीं होती। जब इच्छा हो रही है तो इसका अर्थ है कि वह चीज आपके पास नहीं है और जो चीज पास नहीं है उसका अर्थ कि उसका **भोग** नहीं हो रहा है। तो जब इच्छा हो रही है तब **भोग** नहीं होता और भोग हो रहा है तब इच्छा नहीं होती।

मोहियोंके वेद्यके समयमें वेदकभावकी उत्सुकता—बड़े लोग, समर्थ लोग, पुण्योदय वाले लोग यह चाहते हैं कि जो हम चाहें सो तुरन्त पूर्ति हो। कोई धैर्य नहीं करता, गम नहीं खाता। जैसे आपकी घरमें इच्छा हुई कि आज तो पापड़ बनने चाहिएँ। तो आप कितनी विह्वलता करते है कि अभी बनने चाहिएँ। तो आपके घरमें कहती हैं कि आज वैसे बन सकते हैं। तो कहते हो कि नहीं-नहीं जल्दी तैयार करो। तुरन्त तैयार करो। क्या चीज नहीं है जो आज नहीं बन सकते हैं। बतलावो जो चीज न हो ला दें। जब इच्छा हुई तो उसी समय लोग उसे भोगनेमें अपना बड़प्पन महसूस करते हैं। हमारा उदय अच्छा है, हम बड़े हैं, हम जो सोचें वह तुरन्त होना चाहिए। अच्छी बात है। उसमें इतनी देर न लगना चाहिए। एक घंटा लगना चाहिए। तो क्या ५ मिनट लगना चाहिए ? पाँच मिनट भी न लगना चाहिए। एक मिनट लगे, एक सेकेण्ड लगे ! नहीं इच्छा तो ऐसी रहती है कि जिस समय इच्छा करूं उस समय पूर्ति हो। तो यह बात तो हो ही नहीं सकती। वस्तुस्वरूप नहीं कहता कि जिस कालमें इच्छा हो उसी कालमें उपभोग भी हो।

वेद्यभाव व वेदकभावका परस्परमें विरोध—भैया ! वेद्यभाव व वेदकभाव इन दोनोंका परस्परमें विरोध है। जैसे राग और वैराग्यका विरोध है कि राग है तो वैराग्यका परिणाम

नहीं है, वैराग्य है तो रागका परिणाम नहीं है, संसार और मोक्षमें विरोध है कि जिस समय संसार है उस समयमें मोक्ष नहीं है, जिस समयमें मोक्ष है उस समयमे संसार नहीं है। मोक्ष होनेके बाद फिर संसार नहीं होता, यह यहाँ विशेष है। इसी प्रकार इच्छा और भोग इन दोनों परिणामोंमें विरोध है। जिस कालमें इच्छा है उस कालमें उस ही पदार्थ सम्बंधी भोग नहीं है, जिस कालमें भोग है उस कालमें उस पदार्थसम्बंधी इच्छा नहीं है।

वेद्यभाव व वेदकभावके युगपत् न होनेपर दृष्टान्त—एक मनुष्य धूपसे सताया गया गर्मीमें चला जा रहा है, जब बड़ी तेज धूप लगी तो उसके इच्छा होती है कि मुझे छायादार वृक्ष मिल जाय। छायादार वृक्ष पा लिया, उन वृक्षोंके नीचे विश्राम कर लिया। जिस समय इच्छा कर रहा है उस समय क्या उसके ऊपर छाया है ? नहीं है। वह सताया हुआ है, और मिल जाय छाया वाला वृक्ष और उस छायाके नीचे पहुंच जाय तो पहुंचनेपर वह छाया का सुख भोगता है या वहाँ यह इच्छा करता है कि हे प्रभो मुझे छाया मिल जाय ? उस समय वह इच्छा नहीं करता। वह उस समय विश्रामका आनन्द लेता है, इच्छा नहीं करता है। तो भोगके समयमें इच्छा नहीं है और इच्छाके समयमें भोग नहीं है।

ज्ञानीका ज्ञातृत्व—भैया ! बड़प्पन माना जाय तब जब कि इच्छाके ही कालमें भोग हो जाय। इच्छा पहिले हुई, भोग बहुत बादमें होगा। ऐसा अन्तर तो कोई नहीं सहना चाहता। पर क्या हो सकता है ऐसा कि इच्छाके ही कालमें उपभोग हो जाय ? कभी नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञानी जानता है कि जिस कालमें इच्छा करें उस कालमें मिलता तो कुछ है नहीं और जिस कालमें मिलता है उस कालमें इच्छा पिशाचिनी रहती नहीं, तब फिर इच्छा क्यों की जाय ? ऐसा ज्ञानी पुरुषका परिणाम रहता है। यह ज्ञानी आत्मा तो ध्रुव होनेके कारण अथवा इसका जो स्वभाव है, ज्ञायकस्वरूप है वह ध्रुव है सो ज्ञानी आत्मा तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध एक ज्ञायकस्वरूप रहता है, शाश्वत नित्य रहता है और जो वेद्यवेदक भाव है इच्छाका परिणाम और भोगनेका परिणाम यह उत्पन्न और ध्वस्त होता रहता है। ये विभाव भाव हैं इसलिए क्षणिक हैं।

वेद्यभावकी पूर्तिका अभाव—भैया ! अपने आपमें तीन बातें देखो—स्वयं, इच्छा और भोग। स्वयं तो नित्य है और इच्छा और भोग ये दोनों अनित्य हैं, उत्पन्न होते हैं, नष्ट हो जाते है। अब चाहने वाला यह स्वयं है। यह तो अवश्य नित्य है किन्तु चाहनेकी पर्यायरूपसे तो अनित्य है। इस अपनेको पर्यायरूपसे न निरखकर नित्य निरखो। इसमें एक परिणाम होता है जो इच्छाको बनाता है तो चाहा हुआ जो वेद्य भाव है उस वेद्य भावको जो वेदेगा वह वेदने वाला भाव जब उत्पन्न होता है तो चाहा जाने वाला भाव नष्ट हो जाता है, अर्थात् जब भोगनेके परिणाम होते हैं तो इच्छा सम्बन्धी भाव नष्ट हो

जाता है। जब वह कांक्षमाण भाव, इच्छा वाला भाव नष्ट हो गया तो भोगने वाला भाव अब किसे वेदे ? भोग उस इच्छामें नहीं भोग सकते। जब उस इच्छामें नहीं भोग सके तो इच्छा चाह करके ही मर गई। इच्छाका काम इच्छाके ही समयमें नहीं हो सकता।

चाहकी तरस तरस कर ही मरनेके लिये उत्पत्ति—जैसे किसी मनुष्य या स्त्रीके बारे में कोई कहता है कि देखो वह बेचारा तो अमुक बातके लिए तरसता तरसता ही मर गया, उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। तरस-तरस कर प्राण गंवा दिए। इस प्रकार यह इच्छा भी तरस-तरस कर अपना विनाश कर लेती है। इच्छाका काम किसी भी पुरुषके नहीं बनता है, चाहे तीर्थंकर हो, चाहे चक्रवर्ती हो, साधारण मनुष्य हो, किसीके भी इच्छाकी पूर्ति नही होती इच्छाके समयमें, पर इच्छा तरस-तरस कर ही विनष्ट हो जाया करती है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जानता है। इस कारण ज्ञानी पुरुष कुछ भी चाह नही करता। क्यों की जाय चाह, यह चाह तो चाह-चाहकर रह रह कर नष्ट हो जायगी। इससे कल्याण नहीं है। ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष भविष्यत् उपभोगोंको नहीं चाहता है।

वेद्यवेदकभावकी अनवस्था—ज्ञानी जीव यह जानता है कि इच्छाके समयमें उपभोग नहीं है और उपभोगके समयमें इच्छा नहीं है तो इच्छा उपभोगरहित ही रही। जिस समय इच्छा की जा रही है किसी उपभोगकी तो जब उपभोगका काल आता है तो इच्छाका भाव नष्ट हुआ, फिर वह उपभोगका परिणाम किस इच्छाको वेदे ? यदि यह कहा जाय कि कांक्ष्यमाण वेद्यभावकी अनन्तर होने वाली अन्य इच्छाको भोगेगा तो जब दूसरी इच्छा होगी, उससे पहिले वह वेदक भाव नष्ट हो जायगा, उपभोगका परिणाम समाप्त हो जायगा फिर उस इच्छाको कौन वेदेगा ? यदि वेदक भावके पश्चात् होने वाले भावको वेदेगा ऐसा सोचा जाय तो वह वेदकभाव होनेसे पहिले ही वह वेद्य भाव नष्ट हो जायगा, फिर वह वेदक किस वेद्यको वेदेगा ? इस तरह कांक्ष्यमाणभाव और वेदकभाव इनकी अनवस्था हो जायगी। इससे सीधा यह जानना कि इच्छाका भाव और भोगका भाव एक समयमें नहीं होते हैं। जब भोग है तब इच्छा नहीं है और जब इच्छा है तब भोग नहीं है।

ज्ञानीके भोगकी वाञ्छाके अभावका कारण—भैया ! भोगने किसी इच्छाका समागम नहीं कर पाया। कहो भोगके बाद जो इच्छा होगी उसे भोगेगा। पहिली इच्छाके बाद जो नई इच्छा होगी उसे भोग लेगा। तो नई इच्छाके पहिले तो भोग भी नष्ट हो गया। तात्पर्य यह है कि इच्छाकी पूर्ति किसीके भी नहीं हो सकती। यह मोटी ही बात नही कही जा रही है किन्तु सिद्धान्तकी बात कही जा रही है कि वस्तुस्वरूप ऐसा है कि इच्छा कभी पूर्ण हो ही नहीं सकती। इस सिद्धांतको जानने वाला ज्ञानी पुरुष किसी भी प्रकारकी वाञ्छाको नहीं करता। जब वेद्यभाव और वेदकभाव चलते है, नष्ट होते रहते है तो कुछ भी चाहा

हुआ अनुभवमें नहीं आ सकता। जब चाहा हुआ हो रहा है तब वह अनुभवविहीन है। जब अनुभवमें आ रहा है तो चाहा हुआ नहीं है। इस कारण विद्वान ज्ञानी संत पुरुष कुछ भी चाह नहीं करते। परपदार्थोंकी चाहसे वैभवसे अत्यन्त विरक्तिको प्राप्त होते हैं। इसको स्पष्ट करनेके लिए अब यह अगली गाथा आ रही है।

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स।
संसारदेहविसयेसु णेव-उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

बंध और उपभोगके निमित्तभूत जो अध्यवसानका उदय है वह संसारके विषयोंमें, परज्ञेयके विषयमें प्रवृत्त होता है, उन सबमें ज्ञानी जीवके राग उत्पन्न नहीं होता।

विभावोंकी द्विविधता—जितने भी विभाव विकार होते हैं सो कोई तो संसारविषयक होता है और कोई शरीरविषयक होता है। इन भावोंको २ किस्मोंमें बाँट दो। एक तो रागद्वेष आदिकके ढंगके भाव और एक सुख दुःख भोगनेके ढंगके भाव। रागादिक भाव तो संसार बढ़ाने वाले होते हैं और सुख दुःखके भाव शरीरविषयक होते हैं। तो जो संसार-विषयक भाव है वह तो होता है बंधके कारण और जो शरीरविषयक अध्यवसान है वह होता है उपभोगके कारण याने रागद्वेष मोहादिक भाव बंध करने वाले हैं और सुख दुःख आदिक भाव उपभोगके निमित्त हैं।

संसारविषयक व शरीरविषयक भावोंकी विशेषता—ये सभी विकार विकारके नाते एक समान हैं किन्तु बंधन बढ़ाने वाले और शरीरविषयक उपभोग करने वाले ऐसे २ भाव कहे गए है। रागभाव तो बंध ही कराता है और सुख दुःखका भाव बंध नहीं कराता है। जहाँ तक राग है तहाँ तक सुख दुःख चलते हैं। तिसपर भी सुख दुःखके ही प्रति दृष्टि हो तो सुख दुःख राग नहीं करता। जैसे कभी यह कहा जाय कि हम जानते हैं तभी तो बंधन में पड़ते हैं। राग होता है तो जानकर ही होता है। जो चीज नहीं जानते हैं ऐसे पुद्गल हैं वे तो बंधको नहीं प्राप्त होते। तो किसीके पराधीन बनते है। हम जानते हैं इसलिए पारधीन बनते हैं। सो हमारे पराधीन बननेके कारण ज्ञान हो जाय सो नहीं है। इसमें ज्ञान भी होता है, राग भी होता है। ज्ञान जिसमें नहीं है वहां राग नहीं होता है। फिर भी बंधका कारण ज्ञान नहीं है, राग है। इसी कारण जिस जीवके राग होता है उसके ही सुख दुःख होते हैं, फिर भी सुख दुःखसे बंध नहीं होता है, रागकी ओरसे बंध होता है। इस कारण सुख दुःख भाव उपभोगविषयक हैं और रागादिक भाव संसारविषयक हैं।

बन्धकी रागहेतुता—यहां बैंकर साहब (श्री महावीरप्रसाद जी बैङ्कर मेरठ) का प्रश्न बहुत मर्मका है कि राग बिना सुख दुःख होते ही नहीं हैं, इसलिए सुख दुःख बंधका कारण होना चाहिए, किन्तु स्वरूपपर दृष्टि दें तो सुख दुःखके कारण बंध नहीं होता। बंध

होता है रागके कारण । सुख दुःख तो उपभोगके कामके हैं । पर ज्ञानी जीवको इन सबमें
यह दृष्टि है कि चाहे वे सुख दुःखके ढंगके भाव हों और चाहे वे रागद्वेषके ढंगके भाव हों,
सब विकार भाव हैं । इस कारण उन सब भावोंमें उस ज्ञानी जीवके राग नहीं होता है
क्योंकि वे समस्त विकार नाना द्रव्योंके स्वभावरूपसे देखे गए हैं अर्थात् नाना प्रकारके पुद्-
गलकर्मके उदयके निमित्तसे ये भाव पैदा होते हैं । सो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक भाव
स्वभावरूप आत्माके रागादिकका प्रतिषेध किया गया है ।

ज्ञानीकी रागरसरिक्तता—ज्ञानी जीवके ये समस्त कर्म चूँकि ज्ञानी रागरससे रिक्त
है, इस कारण परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता है । स्त्री पुत्रादिकके पालनके परिग्रह भाव
को नहीं प्राप्त होता है । क्योंकि उसके पालनेकी प्रवृत्तिमें रागरस नहीं है, पालना पड़ता
है । जैसे कभी परिवारमें, या सद्गोष्ठीमें, मित्रोंमें रागरस न रहे तो कायदे कानूनके अनुसार
बोलना पड़ रहा है पर परिग्रह नहीं रहता है । परिग्रहभाव रहे तो शल्य रहती है, खिन्नता
रहती है, बंधन रहता है । पर रागरससे रिक्त रहनेके कारण उसमें परिग्रह भाव नहीं रहता ।
जैसे जो वस्त्र अकषायित हो तो उसमें रंगका सम्बंध होनेपर भी रंग बाहर-बाहर लोटता
है । वस्त्र रंगनेके लिए पहिले मजीठा वगैरहमें भिगोया जाता है । जैसे आजकल केवल
फिटकरीमें भिगो दिये जाते हैं और फिर उनपर रंग चढ़ाया जाता है । यदि किसी वस्त्रको
हर्रा और फिटकरीके पानीमें न भिगोया जाय, खाली पानीमें भिगोया जाय सो वस्त्रपर रंग
न चढ़ेगा । अगर उसे फींचकर धो दो तो रंग छूट जाता है । इसीलिए यह कहावत है कि
हर्रा लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय । सो ऐसा नहीं हो सकता है । जिस वस्त्रमें
कषायित्व नहीं किया गया है उस वस्त्रमें रंग चढ़ता नहीं है । इसी प्रकार जिस पुरुषमें राग
रस नहीं है उस पुरुषमें कर्म और बाह्य उपाधिपरिग्रह नहीं बन सकते हैं । यह परिग्रह केवल
बाहर लोटता है, दिखता है । सम्बंध किया जाता है, फिर भी अंतरमें मिली नहीं है । इसका
कारण क्या है कि ज्ञानी पुरुष स्वभावसे ही स्वरसतः ही सर्वरागसे हटे हुए स्वभाव वाला
है । इस कारण ज्ञानी पुरुष कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ भी तन, मन, वचनकी क्रियावोंके बीच
मे पड़ा हुआ भी उन सर्वकर्मोंसे लिप्त नहीं होता है । इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए
यह गाथा आ रही है ।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिपदि रजयेण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ।।२१८।।

ज्ञानीकी रागत्यागशीलता—ज्ञानी पुरुष कर्मोंके बीच पड़ा हुआ भी तन, मन, वचन
की चेष्टामें प्रवृत्त होता हुआ एक सर्व द्रव्योंमें रागको छोड़े रहनेके स्वभाव वाला है । जैसे
कि स्वर्ण कीचड़के बीच पड़ा हुआ भी रजसे लिप्त नहीं होता है । सोने और लोहेमें यही

एक अन्तर है कि लोहा कीचड़में पड़ा हुआ हो तो वह जंगको खींच लेता है, किन्तु स्वर्ण जंगको स्वभावसे छोड़े रहने वाला है। १०० वर्ष तक स्वर्णको कीचड़में पड़ा रहने दिया जाय तो उसपर जंग नहीं चढ़ती। ऊपरसे कीचड़ चिपटा है, धो दिया, बस स्वच्छ स्वर्ण निकल आया। स्वर्णमें रज खींचनेका, जंग लेनेका स्वभाव ही नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको रागरस लेनेका स्वभाव नहीं है। स्वर्णमें जंग लेनेका स्वभाव नहीं है, सबको स्पष्ट मालूम है। ऐसा ही स्वभाव उस ज्ञानीमें इस पद्धतिका हो गया है कि वह रागरस ले हो नहीं सकता है।

रागरसरिक्तताकी उदाहरणपूर्वक सिद्धि—जैसे किसी पुरुषका इष्ट गुजर जाय तो उस कालमें वह भोजन रस ले ही नहीं सकता है। उसे जबरदस्ती खिलावो, मगर दिल तरसा हुआ है अत्यन्त व्याकुल है। सो भोजन भी करता जा रहा है पर स्वादका पता नहीं है। उस भोजनमें रागरस नहीं ले सकता है। तो कोई ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो उपभोग करते हुए भी रागरस नहीं ले सकते हैं। किसी बालकसे जबरदस्ती कोई काम करावो, उसके मनमें नहीं है तो आपकी जबरदस्तीसे उसे करना पड़ रहा है, मगर उस बालकमें रागरस नहीं है। उस काममें, उस चीजमें उस बालकका परिग्रह नहीं बन रहा है। जैसे स्वर्ण करदमके बीचमें पड़ा हुआ उससे लिप्त नहीं होता है क्योंकि करदमसे लिप्त हो जाने का स्वर्णमें स्वभाव ही नहीं है अथवा करदमसे न लिपट सकनेका स्वर्णमें स्वभाव पड़ा हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है। वह समस्त परद्रव्यकृत रागका त्याग किए रहनेका स्वभाव रखता है।

रागरसका शोषक सम्यग्ज्ञान—ज्ञानी जीव कर्मोंसे अलिप्त रहनेका स्वभाव वाला होनेसे ज्ञानी ही है। पर ज्ञानी हो तब की यह बात है। कोई मुखसे कह दे या सुना सुनाया बोल दे, या विषयका ज्ञान है सो बोल दे, उससे रागरस न सूखेगा। रागरसको सोखने वाला सम्यग्ज्ञान ही है। यथार्थ ज्ञान बिना रस सूख नहीं सकता है। और जब तक रागरस न सूखे तब तक जीव संकटमें है। सभी जीव संकट-संकटमें ही तो बसे जा रहे हैं। वे रागरस नहीं छोड़ना चाहते हैं। मर जायेंगे, सब कुछ छूट जायगा, मगर अपने मनसे रागरस नहीं छोड़ना चाहते। फल इसका क्या होगा कि संसारकी संतति ही बढ़ेगी। जहां ज्ञान हो वहां रागरस रह ही नहीं सकता।

रागरसशोषणविधिपर एक दृष्टान्त—राजवार्तिकमें एक दृष्टान्त बताया है कि कोई पुरुष व्यभिचारी था और उस ही पुरुषकी मां भी व्यभिचारिणी थी। तो पुरुष तो किसी दूसरी स्त्रीसे राग रखता था और उसकी मां किसी दूसरे पुरुषसे ही राग रखती थी। अंधेरी रात्रिके समयमें उसकी मां चली अपने इष्ट जगहके लिए और यह पुरुष चला अपने

इष्ट जगहके लिए। रात्रिमें एक स्थानपर ये दोनों मिल गए। मांको यह ध्यान था कि यह वही पुरुष है जो हमारा इष्ट है और पुरुषको यह ध्यान था कि यह वही स्त्री है। देखो राग-रस पनप गया ना। इतनेमें एक बिजली चमकी। और बिजलीकी क्षणिक चमकसे उस पुरुषने पहिचान लिया कि यह तो मेरी मां है, मांने पहिचान लिया कि यह मेरा बेटा है। तो उस बिजलीके चमकनेसे, यथार्थ ज्ञान होनेसे दोनोंके रागरस नहीं रहा। पहिले रागरस था, दोनोंमें रागरस था। अब ज्ञान होनेपर रागरस सूख गया। अब वे दोनों सोचें कि यह आखिर अंधेरा ही तो है, एकांत ही तो है, पहिले जैसा राग कर लें अपने हृदयमें, तो भैया ऐसा नहीं किया जा सकता है। असम्भव है। क्योंकि यथार्थ ज्ञान हो गया।

रागरसका मूल भ्रम—भैया ! जब तक इन बाह्य पदार्थोंमें ऐसा भ्रम चल रहा है कि यह मेरा है इससे मेरा हित है, यह ही मेरा बड़प्पन रखता है, इससे ही मुझे सुख मिलेगा तब तक इन बाह्य पदार्थोंमें रागरस रहता है। और जब वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाय कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपनी-अपनी स्वरूप सीमामें हैं, अपने स्वरूपसे बाहर न अपने गुण दे सकें, न पर्याय दे सकें, एक दूसरेका कुछ करनेके लिए सर्वथा असमर्थ हैं। ऐसे स्वतंत्र स्वरूपास्तित्त्वका परिचय इन जीवोंको हो जाय तो ऐसे यथार्थ ज्ञानके होते ही इस ज्ञानी संतमें रागरस नहीं रह सकता। जब अज्ञानी था तब अपने कुटुम्बके लिए तो सारा दिल था, गैरोंके लिए कुछ भी दिल न था। ऐसी कठोरता उस ज्ञानी संतमें नहीं रह सकती है, क्योंकि अज्ञान हटनेसे रागरस सूख गया। भले ही प्रयोजनवश और गुजारेवश कुटुम्बसे रागमय वचनोंसे बोलता हो, पर अंतरमें उस ज्ञानीके रागरस नहीं रहा।

ज्ञानीके रागरसवर्जन—जैसे कोई छोटा बच्चा माँ से रहित हो जाय और कोई दूसरी स्त्री मौसी समझो, बुआ समझो या अन्य पड़ौसकी स्त्री समझो उसे पालने लगे, उसका पालन-पोषण कर दे। अब वह १७-२० वर्षका हो गया। उसे यह मालूम हो जाय कि यह मेरी माँ नहीं है जिसने मेरी रक्षा की है, तो माँ जैसा रागरस उसके नहीं रहता। भले ही मोहवश राग बना रहे, कृतकृत्यतावश, पर मातृत्व जैसा राग नहीं रहता। वह कहेगा कि यह तो मेरी माँ से बड़ी है, यों भी कह देगा कि मां बराबर है या माँ है, इतना तक कह देगा, फिर भी अन्तर यह कह रहा है कि मेरे उत्पन्न करने वाली यह मां नहीं है। उसके अब रागरस नहीं रहता है। तो ज्ञानी जीवके चूंकि सर्व द्रव्योंमें रागरस नहीं रहता, इस कारण राग वर्जनशील होनेसे वह कर्मोंके बीच रहकर भी कर्मोंसे बँधता नहीं है।

ज्ञानीके वेद्यबन्धनका अभाव—भैया ! करणानुयोगकी दृष्टिसे तो जितना राग शेष है उतना उसके बंधन है, पर संसारबंधनको बंधन मानकर यहां वेद्यका निषेध किया जा रहा है। अनन्तानुबंधी कषायके बंधका नाम यह बंधन है। अन्य बंधनोंका नाम यह बंधन

नहीं है। पर करणानुयोगकी दृष्टिसे तो चाहे संज्वलनका ही बंधन हो, बंधन ही है, पर बाह्य संसारमें रस लेना ऐसा बंधन, ऐसा अध्यवसान, ऐसा उपयोग ज्ञानी आत्मामें नहीं होता है और जब इन संसार बढ़ाने वाले कर्मोका बंध नहीं होता तो इसीके मायने है कि कर्मोका उपार्जन नहीं करता। शरीरविषयक जो बंध है उस बंधको यहां गिनतीमें लिया ही नहीं है, दृष्टिमें लिया ही नहीं है।

रागरसरिक्तताके कारण ज्ञानीकी अबन्धकता--जैसे पानीमें चिकना कमलिनीका पत्र डाल दिया जाय तो कमलिनीका पत्ता पानीसे अलिप्त रहता है। उसका पानीसे अलिप्त रहनेका स्वभाव ही है। परीक्षा करना हो तो उसे निकालकर देख लो। कागजको पानीमें डाल दो तो उसका स्वभाव तो पानीमें लिप्त होनेका है। यों कमलिनीका पत्ता पानीसे लिप्त होनेका स्वभाव नहीं रखता है। इसी प्रकार ज्ञानी संत भी शरीरकी प्रवृत्ति कर रहा है। मनसे कुछ सोच भी रहा, वचनसे कुछ बोल भी रहा, पर सर्व पदार्थोमें यथार्थस्वरूप स्वतंत्र स्वरूप समझ चुकनेके कारण किन्हीं भी पदार्थोमें उसे रागरस नहीं आता। और बंधन जितने है वे रागरसके बन्धन है, बाहरी पदार्थोका बन्धन नहीं है। जो स्त्री आपको बंधनरूप हो रही है, किसी कारणसे रागरस न रहे अथवा बिगाड़ हो जाय तो बंधन मिट जाता है। तो जितना भी बंधन है, परिग्रह है वह सब रागरसका है। ज्ञानीके रागरस है नहीं, इसलिए उसके परिग्रह नहीं है।

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरयेण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२१९॥

अज्ञानीकी रागरसनिर्भरता—जैसे लोहा कर्दमके मध्यमें पड़ा हुआ कर्दमसे लिप्त हो जाता है, जंग चढ़ जाती है, इसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मोके मध्यमें पड़ा हुआ अर्थात् मन वचन, कायकी प्रवृत्तियोंमें लगा हुआ सर्व द्रव्योंमें अनुरक्त होनेके कारण कर्मरंगसे लिप्त हो जाता है। जैसे कि स्वर्णका स्वभाव कीचड़से अलिप्त रहनेका है, कीचड़में जंग न अपना लेनेका है, यहाँ कर्दमको अपना लेने के स्वभाव वाला लोहा है। सो लोहा कर्दमके बीचमें पड़ा हुआ कर्दमसे लिप्त हो जाता है इसी प्रकार समस्त परद्रव्योंमें किए जाने वाले रागके ग्रहण करनेका स्वभाव होनेसे अज्ञानी जीव कर्मोके मध्यमें पड़ा हुआ कर्मोसे बंध जाता है, क्योंकि अज्ञानीका कर्मोसे बँध जानेका स्वभाव ही है। ज्ञानप्रकाशकी ही ऐसी महत्ता है कि यथार्थ ज्ञानज्योति प्रकट हो जाय फिर संसारके संकट, बंधन नहीं रहते।

बरबादीका कारण पर्यायबुद्धि--इस पर्यायके अहंकारने जगतके जीवोंका विनाश किया है। क्या है यह शरीर? अंतमें मिट्टीमें ही तो मिलेगा, राख ही तो बनेगा। इसको जो यह मोह किया जा रहा है, यह मैं हूँ। और इसको ही निरखकर मान अपमान महसूस

किया जा रहा है, इसने मेरा यों सन्मान या अपमान किया। दुनिया जाने कि मैं सन्मानके लायक हूं। किसमें सोचा जा रहा है ? इस नाक कान हड्डीमें सोचा जा रहा है। उसमें ही अहंबुद्धि की जा रही है, इस प्रकार पर्यायमें अहंबुद्धि करने वाले जीव अज्ञानी हैं। उस अज्ञानीको कर्मोंसे लिपट जानेका स्वभाव है। यह अज्ञानी समस्त पदार्थोंमें राग ग्रहण करने का स्वभाव रखता है। सो कर्म रजसे बंधता चला जाता है। इस लोकमें जो जिस स्वभाव वाला है वह वैसा ही बनता चला जाता है। प्रकृति होनेसे उस वस्तुमें वैसे ही परिणमन की बात होती है। कोई किसीके स्वभावको बदल नहीं सकता। अज्ञानीके अज्ञान स्वभावको न आचार्य बदल सकते, न भगवान बदल सकता, न उपदेश बदल सकते। और बदल जायें तो वह अज्ञानी ही बदल गया। ज्ञानी हो गया जब वह ज्ञानस्वभाव प्रकट हुआ। किसी रिश्तेदारपर कोई भ्रमका संकट हो जाय या इष्टवियोगका क्लेश हो जाय तो समझाने वाले रिश्तेदार परेशान हो जाते हैं। किसी इष्टका दिमाग फेल हो जाय, अट्टसट्ट बकने लगे तो उसके हितू रिश्नेदार समझानेमें प्यार करते-करते परेशान हो जाते हैं और सोचते हैं कि यह मेरा भतीजा है और मैं ही इसे ठीक नहीं कर सका। मेरा ही यह साला बहनोई है और मैं चाहता हूं कि सारा धन खर्च हो जाय, सब कुछ इसके लिए है लेकिन इसे हम कुछ कर नहीं पा रहे हैं। कोई पुरुष किसी दूसरेका कुछ कर नहीं सकता। कोई किसीका स्वभाव बदल नहीं सकता।

अपनी सावधानीमें ही अपनी रक्षा—भैया ! जो खुद न्याय और सदाचारसे रहेगा वह सो सुखी रहेगा। जो अपने न्याय, ज्ञान, सदाचारको छोड़ दे, पुण्यके उदयकी ठसकमें आकर अपनेको स्वच्छन्द बना ले तो उसका सहाय कोई नहीं है। जो जितना ऊपरसे गिरता है उसके उतनी अधिक चोट लगती है, जो ऊँची स्थिति पाकर फिर निन्द्य आचरणको करता है उसको उतना ही अधिक क्लेश होता है। कोई किसीके स्वभावको बदल नहीं सकता। किसीके स्वभावको किसी अन्यके स्वभावकी तरह करना चाहे तो कर सहीं सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि ज्ञान तो निरन्तर ज्ञानरूप रहता है और अज्ञान निरन्तर अज्ञानरूप रहता है। जब तक अज्ञानी है तब तक इस अज्ञानी जीवके अज्ञानका ही बन्धन है। हे ज्ञानी जीव ! तू ज्ञानमात्र रह, कर्मोदयजनित उपभोगको भोग, पर अपने ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिको न छोड़।

बन्धन और क्लेशका मूल स्वयंका अपराध—देख भैया ! तेरा बन्धन तेरे अपराध से ही होता है। परद्रव्य मिल गए, परका उपभोग हो गया इससे बन्धन नहीं होता। परके अपराधसे किसीको बन्धन नहीं होता। जिसको बंधन होता है उसको अपने ही अपराधसे होता है। अपराध करनेका अज्ञानीके स्वभाव पड़ा हुआ है। वह अपराधपर अपराध किए जा रहा है और दोष देत ा है अन्य पदार्थोंको कि अमुक पदार्थने ऐसा कर दिया। अमुक न

होता तो मेरा बिगाड़ न होता । दूसरे पदार्थके होने न होनेसे इसका बिगाड़ नहीं है । इसका बिगाड़ तो इसके स्वयंके अपराधसे है । उपभोगसे बंधन नहीं होता । बन्धन रागसे होता है । इस ही बातको अब आगेकी ५ गाथावोंमें समझाते हैं ।

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काउं ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
भुजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥
जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

ज्ञानीको अज्ञानमय करनेमें उपभोगसें । अर्थ—जैसे अनेक प्रकारके सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्योंको भक्षण करने वाले शंखके श्वेत स्वभावको काला कर देनेकी सामर्थ्य उन खाये जाने वाले पदार्थोंमें नहीं है इसी प्रकार अनेक प्रकारके सचित्त, अचित्त और मिश्रित द्रव्योंको भोगने वाले ज्ञानीके ज्ञानको भी अज्ञानमय करनेकी सामर्थ्य उन भोगे जाने वाले पदार्थोंमें नहीं है ।

शंखका स्वरूप—शंख एक कीड़ा होता है जो शंखके भीतर रहता है । जीवके शरीरकी हड्डी चमड़े भीतर होती है पर शंखकी हड्डियां भी शंखके कीड़ेके शरीरके भीतर रहती हैं और ऊपरसे खोल भी एक हड्डीके मानिन्द है, किन्तु वह घर जैसा है । उस शंखमें कीड़ा रहता है । जिस शंखको लोग बजाया करते हैं वह शंख भी एक घरके मानिन्द है । उसमें कीड़ा रहता है और वह कीड़ा जिन्दा अवस्थामें भी शंखसे बाहर हो जाता है किन्तु बाल बराबर पीछे जुड़ा रहता है, पूरा कीड़ा बाहर निकल आता है फिर वही कीड़ा उस शंखमें घुस जाता है । तो यह शंख कुछ ऐसी विचित्र हड्डी जैसी बात है कि जिसे हड्डी जैसा अपवित्र नहीं माना और पवित्र भी नहीं माना । लोकव्यवहारमें शंख, सीप, कौड़ी ये कीड़ेके घर हैं, सो हड्डी होते हुए भी चूँकि यह चमड़ीके भीतर नहीं होता है इस कारण लोकव्यवहारमें इसकी परहेज अधिक नहीं है । कोई विशेष तर्क वाला या शुद्धिका पक्ष रखने वाला इससे बचता है पर अमूमन लोग इसका प्रयोग करते हैं । उस शंखकी बात यहाँ कही जा रही है ।

परद्रव्यके उपभोगसे रंगका अपरिवर्तन—शंखके अन्दर रहने वाला कीड़ा यदि काली
मिट्टी खाये तो क्या शंख काला हो जाता है ? नहीं । वह तो सफेद ही रहता है । तो काली
मिट्टीका भोग कर लेनेसे उस शंखके रंगपर कोई फर्क नहीं आया । और शंखका ही क्या,
आप हरी भाजी खाते है तो क्या आप लोग हरे हो जाते हैं । तो द्रव्यके उपभोगसे यहाँ रंग
में बदल नही होती है । हाँ कभी शरीर ही कमजोर हो रहा हो और पीला हो रहा हो
कमजोरीसे, या काला बन रहा हो तो कैसी हो लाल चीज खाये तो क्या लाल बन जायगा ?
परद्रव्योंके उपभोगसे रंग नहीं बदलता है । शंखमें परद्रव्योंके उपभोगसे रंग नहीं पलट
जाता ।

परके द्वारा परके भावके परिवर्तनका अभाव—इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष परिवारका
अनुराग करे, धनका संचय करे और भी मिश्र चीजोंका अनुराग करे, उपभोग करे तो भी
ज्ञानी जीवके ज्ञानको ये पदार्थ अज्ञानमय नहीं कर सकते, वह ज्ञानी अपने ही अपराधवश
ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञानमय बन गया तो बन गया किन्तु किसी परद्रव्यमें ज्ञानीको
अज्ञानमय बनानेकी सामर्थ्य नहीं है । किसी आचार्य, गुरु और भगवानमें भी अज्ञानीको
ज्ञानमय बनानेकी सामर्थ्य नहीं है । ज्ञानी ज्ञानमय भावको छोड़कर मिथ्यादृष्टि हो जाय तो
अज्ञान स्वभावमें चलेगा और अज्ञानी अज्ञानमय भावको छोड़कर सम्यक्त्वरूप परिणाम जाय
तो ज्ञानस्वभावमें चलेगा ।

स्वापराधकृत बन्धन—हे ज्ञानी ! तू अपने अन्तरकी दृष्टिको सम्हाले रह । तेरी
दृष्टि सम्हली हुई रहेगी तो सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्योंको उपभोगता हुआ भी तू अज्ञानमय
न बनेगा याने तेरे अज्ञानकृत बंध नहीं होगा । परद्रव्योंके अपराधसे तुझे बंधन नहीं हुआ
करता । तेरे ही अपराधसे तेरा बंधन हुआ करता है । और जैसे वही शंख जिस समय अपने
उस स्वभावको (श्वेत स्वभावको) छोडकर कृष्णस्वभावको प्राप्त होता है तो शुक्लपनेको
छोड़ देता है, इसी प्रकार ज्ञानी भी निश्चयसे जब अपने उस ज्ञानस्वभावको छोड़कर अज्ञान
रूप परिणमन करता है उस समय अज्ञानपनेको प्राप्त होता है । तेरी सम्हाल तेरे पास है
तो इस लोकमें किसी अन्यका तुझे भय नहीं है । तेरी सम्हाल तेरे पास नहीं है तो तेरे भय,
शंका संकटके लिए कोई भी पदार्थ निमित्त हो सकते हैं ।

अज्ञान स्वयं आपत्ति—किसी पति पत्नीका नाम बेवकूफ और फजीहत था । फजी-
हत लड़ाई करके घरसे भाग गई । बेवकूफ लोगोंसे पूछता है कि भाई तुमने हमारी फजीहत
देखी है । लोगोंने कहा नहीं देखी । एक अपरिचितसे पूछा कि तुमने हमारी फजीहत देखी
है ? वह मतलब ही न समझ सका । पूछा तुम्हारा नाम क्या है ? बेवकूफ । अरे बेवकूफ
होकर भी तुम फजीहतको ढूँढ़ते हो । बेवकूफी ही तो फजीहत है । ज्ञानी जीव ज्ञानस्वभाव

को छोड़कर अज्ञानी बन जाय तो यह अज्ञानपन ही स्वयं बन्धन है। परका बन्धन मत समझो।

बन्धनके परापराधनिबन्धनताका अभाव—जैसे परद्रव्योंका उपयोग करते हुए शंख के श्वेत भावको काला करनेकी सामर्थ्य किसी भी परमें नहीं है क्योंकि परपदार्थ किसी अन्य परपदार्थके परिणमन करनेका निमित्त नहीं बन सकते। इसी प्रकार ज्ञानी जीव जो परद्रव्योंका उपभोग करता है उसके ज्ञानको अज्ञान कर देनेकी सामर्थ्य किसी परपदार्थमें नहीं है। कोई भी परपदार्थ परभावको निष्पन्न नहीं कर सकते। इस कारण ज्ञानी जीवके परपदार्थोंके अपराधके निमित्तसे बंध नहीं है। यह ज्ञानी जीव स्वयं ही किसीका विकल्प बनाकर ज्ञानभावको छोड़ दे और अज्ञानभावको अपना ले तो बंधनमें पड़ता है।

अपना अपनेमें असर—एक देहाती पुरुष अदालतमें जजके पास जाता है तो वह काँपता हुआ जाता है और एक शहरका प्रमुख जजके पास जाता है तो एक शानके साथ जाता है और जज पर दबाव डालता हुआ जाता है। वह देहाती जो घबड़ा गया तो क्या जजके शरीरके कारण घबड़ा गया? जजकी किसी चेष्टाके कारण घबड़ा गया? वह देहाती स्वयं मूर्ख था, कमजोर था, कम दिल वाला था, नासमझ था। उसने अपनेमें विकल्प बनाया, मैं जा रहा हूं, कैसे बोलूंगा, क्या होगा, क्या मैं ठीक भी रह पाऊंगा—सो अपनी कमजोरीसे वह घबड़ा गया। कोई जजका असर नहीं पड़ गया उस देहाती पर। जजके होनेके अपराधसे कहीं देहातीकी धोती नहीं ढीली हुई है। उसके ही अपराधसे उसे दुःख पहुंचा है। घरमें १०—५ आदमी रहते हैं, वहाँ परस्परमें कोई बातपर विवाद हो जाय, झगड़ा हो जाय तो एककी दृष्टि दूसरेपर रहती है। इसने मुझे यों तंग किया। इसने मुझे यों दुःखी किया। अरे दूसरेने तंग किया ही नहीं। दूसरा हैरान कर ही नहीं सकता। ज़रा वस्तुस्वरूपको संभालो। इस समयमें जितना दुःख हो रहा है वह सब हमारे ही अपराधसे हो रहा है। अज्ञानी रागभाव करता है और दुःखी होता है।

स्वापराधसे ही बन्ध होनेका नियम—जैसे वह शंख जिस समय काली, पीली मिट्टी को खा रहा हो या न खा रहा हो वह शंख अपनी श्वेत पर्यायको छोड़कर कृष्णपर्यायरूप में परिणम जाय तो यह श्वेत परिणमन स्वयं कृष्णरूप हो जाता है। इसी प्रकार वह ज्ञानी पुरुष परद्रव्योंको भोगे अथवा न भोगे, जब ज्ञानको छोड़कर स्वयं अज्ञानकी परिणति से रूप परिणमता है तो इसका ज्ञान स्वयं अज्ञानरूप होता है। इस कारण यह निर्णय रखिये कि ज्ञानी जीवके जब कभी बंध होगा तो अपने ही अपराधसे होगा। ज्ञानीकी ही क्या सभीकी यह बात है। ज्ञानी जीवके जो बंधन होता है वह उसके ही अपराधसे होता है। जब अपने ज्ञानभावको छोड़कर अज्ञानभावमें परिणमता है तो उसके बंधन हो जाता

है, यहाँ यह भाव लेना। इसी प्रकार जब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है तो कर्मोंके क्षयोपशम से होता है। उसकी भी अवधि होती है। क्षयोपशम मिटकर यदि उदय आ जाय तो सम्यक्त्व बिगड़ जाता है। यह निमित्तकी ओरसे उत्तर है। पर यहाँ उपादानकी ओरसे प्रश्नोत्तर किया जा रहा है।

उपादान और निमित्तकी ओरसे विपरिणमनके उत्तरका दृष्टान्त—यह अंगुली सीधी है, देखो जब सीधी अंगुली होती है तो घी नहीं निकलता है, और जब टेढ़ी हो गई तो घी निकलनेका काम होने लगा। कोई कहे कि सीधीसे ठेढ़ी अंगुली क्यों हो गई तो सामने बता दो कि यों हो गई। अब उसमें क्या बात बताई जाय, इसीमें ही इसके परिणमनसे यों परिणमन हो गया। उपादानकी ओरसे तो यह उत्तर है और निमित्तकी ओरसे यह उत्तर है कि इस जीवने इच्छा उत्पन्न की कि टेढ़ी अंगुली करूँ और घी निकाल लूँ। अब इच्छाका निमित्त पाकर आत्मामें योगका परिस्पंद हुआ, और जिस प्रकार योगका परिस्पंद हुआ उसके ही अनुकूल शरीरमें हवा चली और उसके ही अनुकूल फिर उसके नशाजालोंमें क्रिया हुई और यह अंगुली टेढ़ी हो गई।

यहाँ यह बताया जा रहा है कि जैसे लोग यह मानते हैं कि परद्रव्योंके भोग और उपभोगसे बंधन हुआ करता है वहाँ यह दृष्टि दिलाई जा रही है कि परद्रव्योंके भोग उपभोग में बंधन नहीं होता, किन्तु उस कालमें जो अज्ञान भाव चल रहा है उस अज्ञानपरिणामसे बंधन होता है। यदि यह बात समझमें न आई तो धर्मके नामपर केवल परद्रव्योंका त्याग बिगाड़ करता रहेगा, अपने आपके परिणमनेकी दृष्टि ही न जायगी। जैसे कि बहुधा किसी पुरुषको या स्त्रीको धर्म करनेका भाव सवार होता है तो गहने छोड़ दिया, अमुक कपड़े छोड़ दिया, यह छोड़ दिया, वह छोड़ दिया, खाना पीना ऐसी शुद्धिसे करेंगे। सो किसी बातमें यदि भंग होता है तो क्रोध आने लगता है। इसने हमारा धर्म बिगाड़ दिया।

अज्ञानसे बन्धनरूप अधर्म—बहुत समय पहिलेकी बात है—ऐसे ही एक बार हमारे मनमें खेलकी बात उपजी। और एक थे क्षुल्लक जी। साथ ही साथ रहते थे बहुत दिन तक। वे जरा ऊपरी बातें ज्यादा रखते थे। तो हमने हाथमें चवन्नी ली। तब तो हम पैसा छूते ही थे। तो हमने कहा देखो महाराज आज हम तुम्हें बहुत बढ़िया चीज देंगे। उन्होंने हाथ खोल दिया। हमने उनके हाथमें चवन्नी धर दिया। इतनेमें वे बिगड़ गए, बोले तुमने हमारा धर्म बिगाड़ दिया। हमने कहा कि अगर हमने धर्म बिगाड़ा है तो अपना ही बिगाड़ा है तुम्हारा नहीं बिगाड़ा है। हमने यह भाव किया, इच्छा किया कि खेल करूँ और कुछ मन बहलाऊँ तो अपराध हमारा है, हमारा ही धर्म बिगड़ा, आपने तो अपने परिणाम बिगाड़ा नहीं। तो प्रतिसमय जो बन्धन होता है वह अज्ञानसे होता है और जो धर्म होता है

वह ज्ञानसे होता है।

बन्धनकी स्वापराधनिमित्तता--भैया! यहाँ यह बात जानो कि परद्रव्योंके भोग उपभोगकृत बन्धन नहीं है और परद्रव्योंके भोग उपभोगके त्यागसे कहीं बन्धन नहीं मिट गया। इसमें यद्यपि वे परद्रव्योंके भोग उपभोग निमित्त हैं, पर निमित्त होनेपर भी बन्धन जो होता है वह अन्यके विषयके रागकृत बन्धन होता है, भोगकृत बन्धन नहीं है। तीन कालमें भी भोगोंसे बंधन नहीं हो सकता है। भोगोंके समयमें जो राग है उससे बन्धन होता है। इस प्रसंगसे स्वच्छन्द होकर यह बात नहीं लेना है कि भोग करना बन्धन नहीं है इसकी स्वयं आगे बात कहेंगे और डाटडपट दिखायेंगे उस जीवको जो बड़ोंकी बात सुनकर अपनेमें लागू करता है। जो चाहे कि मैं स्वच्छन्द बन जाऊँ ऐसे जीवको कलके प्रकरणमें डाट डपट दिखाई जायगी। आजके प्रकरणमें वस्तुका स्वरूप बताया जा रहा है। बन्धन होता है तो अपने अज्ञान परिणामसे होता है, रागद्वेष मोह होना यह सब अज्ञान परिणाम ही तो है। इसमें ही बन्धन है। इसलिए अपनी बात सम्हालो, अपने ही अपराधसे अपनेको बन्धन होता है।

बाह्यमें कुछ करणीयका अभाव--आचार्यदेव यहाँ ज्ञानी पुरुषको सम्बोधते हैं कि हे ज्ञानी! तुझको कुछ भी कर्म कभी करने योग्य नहीं हैं तो भी तू कहता है कि परद्रव्य मेरे तो कदाचित नहीं है और मैं भोगता हूं। यदि ऐसा तेरा आशय है तो यह बड़ा खेद है। जैसे कि लोग चर्चावोंमें कहने लगते हैं कि क्या करें भैया चरित्रमोहनीयका उदय है। उनका भाव यह है कि मेरे मात्र चारित्रमोहका उदय है कि मिथ्यात्वका उदय है। जैसे लोग जब पूछने लगते है कि आप तो पहिले बड़े वैराग्यकी बातें किया करते थे, धर्ममें आपका बड़ा चित्त लगता था। अब कैसी हालत बना ली है कि इन बातोंमें कुछ समय नहीं देते। तो सीधा कानूनन बोल देते हैं कि चारित्रमोहनीयका उदय है याने मिथ्या तो हम नहीं हैं, लक्ष्य तो हमारा ठीक है पर चरित्र मोहनीयका उदय है, सो व्रत, नियम, संयम, त्याग नहीं हो पाता है। ये वचन तुम्हारे स्वच्छन्दतासे भरे हुए है या तुम अन्तरमें खेदके साथ बोल रहे हो? जरा इसकी परीक्षा तो करो।

कामनाके सद्भाव व असद्भावकी निरख--भैया! यहाँ प्रायः स्वच्छन्दतासे भरे हुए वचन निकलते हैं। भीतरके खेदके साथ, पश्चातापके साथ ये वचन निकलें तो शोभा है। यह जीव करना तो कुछ चाहता नहीं है धर्मकी बात और बातें बनाता है इसे कहते हैं स्वच्छन्दता। तू यह कह रहा है कि परद्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं और मैं भोगता हूं। अरे जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है तो तू खोटा खाने वाला है, खट्टा खाने वाला है, धोखेमें पड़ा हुआ है। हे भाई तू यह कहता कि परद्रव्योंके उपभोगसे बंध नहीं होता, इसलिए

भोगता हूं। बात कलकी आ रही है। कलकी बात पकड़कर स्वच्छन्द होकर यह भोगनेकी वात कर रहा है कि तुम्हींने तो वताया था आचार्यदेव ! कि उपभोगको भोगनेसे वंध नहीं होता इसलिए भोगता हूं। उस स्थितिपर तू यह सोच कि तुम्हें भोगनेकी इच्छा है या विना इच्छा विना भोग रहे हो। यदि भोगनेकी इच्छा विना ज्ञानरूप होता सन्ता अपने स्वरूपमें निवासकी दृष्टि रखता हुआ भोगता है तो बन्ध नहीं है और जो भोगनेकी इच्छा करेगा तो वही इच्छा तो अपराध है। सो अपने अपराधसे नियमसे बन्धको प्राप्त होता है।

स्वयं गुण वताना गुणहीनताका लक्षण—दूसरे ज्ञानी पुरुष करें कुछ भी, पर उसके अन्तरमें इच्छा नहीं है यदि ऐसा कहें तो बात कुछ ढंगमें आती है और अदि अपने बारेमें ऐसा कहें कि हम कुछ अपराध नहीं करते तो वहां कुछ इच्छासे ही बोल रहे हैं जो अपने वारेमें यह बात घटित कर रहे हैं। जैसे दूसरेको कोई चीजके लिए संकेत कर दे कि इन भाई साहबको लड्डू परोस दो तो बात खप जायगी पर भाई साहब हमें लड्डू परोसना यह बात तो न खपेगी। हम ज्ञानी पुरुषके वारेमें तो सोच सकते हैं कि धन्य है ज्ञानका माहात्म्य कि जिस ज्ञानकणिकाके कारण इनके बन्ध नहीं हो रहा है, देखो करनेमें सब खटपटें आ रही हैं पर भीतरमें ऐसा है कि वंध नहीं होता है। अपने वारेमें सदा अपने अपराध ही देखे, और दूसरोंके सदा गुण देखे।

अपनी महिमा जतानेसे अवनति—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके गुण भी हैं और दोष भी हैं, जो रागादिक हैं वे दोष हैं, और जो दृष्टि निर्मल है वे उसके गुण हैं। दूसरे हम ज्ञानी पुरुषके गुण ही देखा करें और अपनेको देखनेका यदि अवसर बनाएँ तो अपनेमें दोष देखा करें। मेरेमें ये दोष हैं, गुण हैं, सो वे रहने दो। गुणोंके वतानेसे गुणोंपर अपना गौरव करनेसे गुण हल्के हो जाते हैं। गुणोंमें भी खूबी नहीं रहती इसलिए अपनेमें दोष देखो और दूसरे ज्ञानीके गुण निरखो। दूसरे ज्ञानीके गुण निरखना भी अपने ही गुणों का समर्थन है पर अपने ही गुणोंको निरखकर गुणोंका समर्थन न करो। दूसरोंके गुण निरखकर अपने गुणोंका समर्थन कर लो।

ज्ञानरूप वसनेकी ऋषियोंकी सम्मति—हे ज्ञानी ! पुरुष तू अपने अन्तरमें यह निरख कि तेरे भोग भोगनेका कामचार है या नहीं ? इच्छा है या नहीं ? यदि इच्छा है तो बंधको ही प्राप्त होगा। इसलिए तू केवल एक यह कार्य कर कि ज्ञानस्वरूप रहते हुए ठहर जा। एक ही बातकी हठ इसे करना है, टन्ना कर रह जाना। कुछ यहाँ वहाँकी फिक्र नहीं, कोई बात नहीं, टन्नाकर रह गए याने एक ही दृष्टि करके रह गए। तू तो अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारता जा। होता क्या है इस ओर तू उपयोग न दे। यदि ज्ञानस्वरूप नहीं निहार सकता, ज्ञानरूप नहीं बस सकता तो अपने ही अपराधसे तुम्हें नियमसे बन्ध है। इसमें कोई

संदेह नहीं है।

ज्ञानीके कामचारके अभावपर एक दृष्टान्त— ज्ञानी जीवके यह बात सम्भव ही है कि कार्य कर रहा है, भोग भोग रहा है पर अन्तरसे उसके इच्छा नहीं है। जैसे किसीके इष्ट वियोग हो गया बहुत ही प्यारा, बहुत ही सरल, एक मात्र सहारा था वह गुजर गया। जिसे कहते हैं दीपक बुझ गया, उसके दुःखका क्या ठिकाना है, रात दिन पागलसा फिरता है, लेकिन एक दिन भूखा रह जाय, दो दिन भूखा रह जाय, खाना पड़ता है, रिश्तेदार जबरदस्ती खिलाते हैं, खाता जाता है आँसू ढलकाता जाता है, रोता जाता है, खानेकी इच्छा नहीं है, यह स्थिति उसकी आ जाती है।

ज्ञानीके कामचारका अभाव—इसी प्रकार जिसको यह सारा संसार मायारूप दिख गया, अन्तरमें परमार्थके अवलोकनकी तीव्र भावना हो गई उसे सर्वत्र कहीं सार नहीं दिखता और एक आत्माके ज्ञायकस्वभावके अवलोकनमें जो उसे आनन्द मिला है उसके स्मृति बनी रहती है, ऐसे उस आनन्दके रुचिया ज्ञानी पुरुष बाह्य परिस्थितिवश गृहस्थीमें रहते हैं तो भी न रहनेके बराबर कहे जाते हैं। ज्ञानीको कार्य करना तो उचित ही नहीं है और जो परद्रव्योंको जानकर भी उसने भोगा तो यह भी योग्य नहीं है। परद्रव्योंके भोगने वालेको तो लोकमें चोर और अन्यायी कहते हैं। दूसरेके घरकी चीज उठा लाये और मौज मार रहे हैं उसे तो लोग अन्यायी कहेंगे ना, यह परमार्थपर अन्यायकी बात चल रही है।

भोगकी स्थितिमें भोक्ताका ही अनर्थ संभव—भैया! हम बाह्यपदार्थोंको, परद्रव्योंको समझ लें कि इनका स्वरूप न्यारा है, अस्तित्व जुदा है, मेरा ये कुछ परिणमन करते नहीं है, मैं उनका परिणमन करता नहीं। यह तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी बात है कि अन्य द्रव्योंका निमित्तमात्र पाकर उपादान परिणति बन जाती है, पर कोई पदार्थ अपने प्रदेशोंसे बाहर अपने गुण अपनी पर्याय कुछ नहीं कर सकता है। परद्रव्योंको अज्ञानी भी नहीं भोगता किन्तु कल्पनामें मानता है कि मैं परद्रव्योंको भोग रहा हूं। 'भोगे तो भोग क्या हैं, भोगोंने भोगा हमको।' हम भोगोंको क्या भोगते हैं, उन भोगोंका हमने क्या बिगाड़ लिया, पर भोगोंके द्वारा हम भुग गए, संसारमें रुल गए और विचित्र परिस्थितियां प्राप्त कर लीं। परद्रव्योंको कोई नहीं भोगता, भोगनेकी सामर्थ्य ही नहीं है किन्तु अपनी ही कल्पनामें यह अज्ञानी परद्रव्योंको विषयमात्र करके अपने आपमें कल्पना बनाता रहता है। यही परद्रव्योंका भोगना कहलाता है।

स्वनिर्गत आनन्दमें परनिर्गतताका भ्रम—भैया! खा तो रहे खुदका और भ्रम हो जाय कि हम इनका खा रहे हैं तो खाने वाले यह समझते हैं कि मैं इन परद्रव्योंका भोग करता हूँ। ज्ञानी जीव भोग तो करता है अपने ही परिणमनका जो कल्पना उठी, जो

विचार हुआ, जो तर्क हुआ, भोगता तो अपने ही परिणमनको है, पर भ्रम हो गया कि मैं परद्रव्योंको भोगता हूं। उसकी ऐसी स्थिति है जैसी कि एक कथा रूपमें सुनिये।

परसे सुख माननेका एक दृष्टान्त—चार सगे भाई गरीब हो गए। कलके लिए खानेको भी नहीं। तो सोचा कि बुवाके पास चलें और १५-२० दिन अच्छी तरह खायेंगे, रहेंगे। सो बुवा उनकी बड़ी चतुर और कंजूस थी। सोचा कि अगर एक दो दिन भी इन्हें अच्छी तरह खिला पिला दिया तो फिर ये कई तिन तक जम जायेंगे। सो आते ही खुश होकर बोली आ गए भैया? हां आ गए बोली—क्या-क्या खावोगे? तो भैया बोले कि बुवा जी जो खिलावोगी सो खायेंगे। अच्छा तो तुम नहा आवो, मंदिर हो आवो, हम खाना तैयार करती हैं। वे सब कपड़े उतारकर एक एक धोती लेकर गांवसे बाहर तालावमें नहाने चले गए। वहांसे २ घंटे बादमें आए, मंदिर गए, मंदिरमें २ घंटे लग गए। चार घंटे वाद वे खाना खाने पहुंचे। उन चार घंटोंके बीचमें बुवाने क्या किया कि भैयोंके कपड़े और जेवर जो भी थे कोटोंमें सब उठाकर पड़ौसके एक वनियाके यहां ले जाकर ४०-५० रुपयेमें गिरवी रख दिया और उन रुपयोंमें शकर, घी, आटा सब खरीदकर ले आई। घरमें लाकर भोजन वनाया। पूड़ी कचौड़ी हलुवा सब वनाया। अब वे चारों आ गए, भोजन करने वैठ गए। हलुवा पूड़ी पकौड़ी खाते जाएँ और कहते जाएँ कि बुवाने बहुत बढ़िया भोजन वनाया तो बुवा बोली, खाते जावो, तुम्हारा ही तो माल है। लड़कोंने समझा कि खिलाने वाले ऐसा ही तो कहते हैं। उन्हें पता नहीं पड़ा कि बुवाने क्या किया है? सो कहते जायें कि बुवाने खूब बढ़िया खिलाया और कितनी विनयकी बातें बोल रही है। फिर एक दो बार प्रशंसा कर दिया। बुवाने कहा कि खूब खावो यह तुम्हारा ही तो माल है। जब खा चुके, कपड़े पहिनने गए तो कपड़े न मिले। पूछा कि बुवा कपड़े कहां हैं? तो बुवा कहती है कि हम कहती थी ना कि खूब खावो यह तुम्हारा ही तो माल है। उसका मतलब था कि कपड़े और सारा समान वनियाके यहां गिरवी रख दिया और उनसे ही आप लोगोंको खिलाया है, सो सब खा तो रहे थे अपना ही और भ्रम था कि बुवाका खा रहे हैं।

अज्ञानीके परसे सुख माननेका भ्रम—इसी तरह यह अज्ञानी जीव भोग रहा है अपना ही परिणमन। परवस्तुके परिणमनको यह भोग नहीं सकता है। वहां तो गति ही नहीं है। परवस्तुको कोई नहीं भोगता है। भोगते हैं खुदको ही और भ्रम हो गया कि इन विषयभूत पदार्थोंको मैं भोगता हूँ। तो बाह्य पदार्थ जो भोगे नहीं जा सकते उनको जबरदस्ती अपनी कल्पनामें भोग रहा है, तो परके भोगने वालेको चोर और अन्यायी कहते हैं। तो यहां तो परमार्थसे चोर और अन्यायी है, वह जिसको आशय लगा हुआ है कि मैं परद्रव्योंको भोगता हूँ। पूर्व प्रकरणमें यह बात कही गई थी कि उपयोगसे बंध नहीं होता

है । वह इस प्रकार समझना कि ज्ञानी बिना इच्छाके परकी परजोरीसे उदयमें आए हुए को भोगता है, उसके बंध नहीं होता और जो इच्छासे भोगेगा सो इच्छा ही अपराध है उस अपराधके होनेपर बंध क्यों न होगा ?

वाञ्छकको फलमें कर्मकी निमित्तता—भैया ! और भी सोचिए–कर्म अपने करने वाले कर्ता पुरुषको अपने फलके साथ जबरदस्तीसे तो नहीं लगाते कि तू मेरे फलको भोग, कोईसा भी कर्म हो, क्रिया हो, दुकान हो, तन, मनकी चेष्टा कर परोपकारका बर्ताव हो, कोई भी काम इस जीवको, कर्ताको अपने फलके साथ जबरदस्ती नहीं लगाता किन्तु कर्म-फलका इच्छुक होकर कर्मफलको करता हुआ यह जीव उस कर्मफलको पाता है । जो ज्ञान-रूप हो, जिसके रागकी रचना न रहे, कर्म करते हुए कर्ममें रागरस नहीं है ऐसा संत ज्ञानी कर्मको करता हुआ भी कर्मसे नहीं बंधता, किन्तु न बँधते हुए कर्मको करता हुआ भी कर्मके फलके त्यागका उसके स्वभाव पड़ा हुआ है ।

आशयभेदसे भवितव्यभेद—भैया ! आशयके भेदसे सब बातोंमें भेद हो जाता है । एक पुरुष परोपकार इसलिए करता है, दुःखी जीवकी सेवा इसलिए करता है कि मुझे पुण्योदयसे पाये हुए सुखमें आसक्ति न हो जाय और संसारके दुःखका मुझे ध्यान बना रहे । और इन शुभ सेवावोंमें समय लगनेसे विषयकषायोंका मुझे अवसर न रहो, ऐसी सेवा करने को शुभ आशय कहते हैं । और कोई ऐसा भी आशय रख सकता है कि मैं कुछ दीन दुःखियोंके कामकी बात बनाऊं तो लोकमें मेरा नाम होगा । इलेक्शनमें खड़े होंगे तो लोगों का मुझपर आकर्षण होगा । लोग समझेंगे कि ये बड़े सेवाभावी हैं । यह आशय भी परोप-कार करा सकता है । देखो भैया ! आशयके भेदसे भवितव्यका भेद हो जाता है ।

हितैषीका एक मात्र कर्तव्य—कर्मकर्ताको जबरदस्ती अपने फलके साथ नहीं जोड़ता किन्तु कर्म करते हुए जो फलका इच्छुक है वही उसके फलका भोक्ता है । इस कारण ज्ञानी ज्ञानरूप होता संता कर्मोंके करनेमें राग नहीं करता । उनके फलकी भविष्यमें इच्छा भी नहीं करता, ऐसे ही संत मुनि ज्ञानी कर्मोंसे नहीं बंधते । काम केवल एक ही करना है । एक ज्ञानस्वरूप अपने आपको देखो । यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानभावके अतिरिक्त अन्य कुछ करता नहीं हूं, अनुभवके अतिरिक्त और कुछ भोगता नहीं हूं, इस तरह अपनेको ज्ञानमात्र निरखो, यही एक काम करना है । इस एक कामके करनेमें वे सब बातें आ जाती हैं जो हमें नहीं करना है ।

ज्ञानमात्रके ग्रहणमें सर्वपरपरिहार—जैसे वनस्पति लाखों किस्मकी हैं । कोई वन-स्पतिका नाम लेकर त्याग करे तो वह त्याग नहीं कर सकता है । और उनमेंसे १०–५ का नाम लेकर यह कहे कि बाकीका त्याग किया, तो १०–५ नाम रखनेका ही अर्थ यह हुआ

कि लाखों वनस्पतियोंका त्याग किया। इसी प्रकार हमें किन-किन दुर्भावोंसे दूर होना है, हम दुर्भावोंको ढूँढ़ें और उन पर दुर्भावोंसे दूर होनेका यत्न करें तो हम दुर्भावोंका पार नहीं पा सकते हैं और न दुर्भावोंसे दूर हो सकते हैं। किन्तु एक अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारें, ज्ञानमात्र निरखनेके परिणाममें शुद्ध आनन्दका अनुभव करें, यही एक काम मात्र करने योग्य है, शेष सब हेय हैं। इस प्रकार अन्य भावोंका त्याग करें तो त्याग हो सकता है।

ज्ञानीके संसारबन्धनका अभाव—ज्ञानी पुरुषोंको कर्मोंके उदयवश, परिस्थितिवश कुछ करना पड़ता है, करना पड़े, किन्तु उन कर्मोंमें रागरस नहीं है, वे कर्मफल भोगनेकी चाह नहीं रखते, इस कारणसे ये ज्ञानी जीव बंधको प्राप्त नहीं होते। यहाँ जो बंधका निषेध है वह द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे है। करणानुयोगकी दृष्टिसे तो जितने अंशमें राग है इतने अंश में बन्ध है, जितने अंशमें राग नहीं है उतने अंशमें बन्ध नहीं है। पर इस प्रकरणमें संसार-बन्धनको ही बन्धन कहा गया है। वह संसारबंधन, अनन्तानुबन्धीका बन्ध सम्यग्दृष्टिके कभी नहीं होता। न जगतेमें, न सोतेमें, न भोगतेमें, न किसी परिस्थितिमें। इस कारण यह ज्ञानी जीव उन कर्मोंके फलका रागरस छोड़े रहनेका स्वभाव रखता है, सो कर्मोंको करता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बन्धता। अब इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए आगे चार गाथाएँ एक साथ कही जा रही हैं।

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवये रायं।
तो सोवि देदि राया विविहे भोये सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सोवि देदि कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाये ॥२२७॥

कामना फलकी ग्राहिका—जैसे कोई पुरुष अपनी आजीविकाके लिए राजाकी सेवा करता है तो राजा भी सुखके उत्पादक नाना प्रकारके भोगोंको देता है। इसी प्रकार यह जीव पुरुष आत्मसुखके निमित्त यदि कर्मरजकी सेवा करता है अर्थात् सुखकी आशा रख कर कर्म करता है तो वह कर्म भी इस जीवको सुखके उत्पादक नाना प्रकारके भोगोंको देता है। और जैसे वही पुरुष राजाकी सेवा कर रहा है पर कुछ चाह नहीं रहा तो वह राजा भी इसको नाना प्रकारके भोगोंको नहीं देता। वह जानता है कि यह लगा ही नहीं। लेता ही नहीं तो उसका परिणाम देनेका नहीं होता है। अथवा आजीविकाके लिए राजा

की सेवा न करे तो राजा क्या जबरदस्ती उसे कुछ दे देगा ? नहीं । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष विषयोंके अर्थ कर्मरजकी सेवा नहीं करते तो वे कर्म भी नाना प्रकारके सुखोत्पादक भोगोंको नहीं देते हैं । इस प्रकरणमें यह दिखाया गया है कि कर्मफलकी चाह रखकर कर्मों को सेवें तो कर्म फल देते हैं और कर्मफलकी चाह न रखकर कर्म भोगें तो वे कर्मफल नहीं देते ।

निष्काम कर्मयोग—भैया ! निष्काम कर्मयोग जैसा कि अन्यत्र कहा गया है वह यहां बताया जा रहा है कि निष्काम कर्मयोगमें और जैनसिद्धान्तके इस निष्काम कर्मयोगमें अन्तर इतना है कि निष्काम कर्म करते हुए भी मुक्ति ज्ञानसे ही मानी गई है । जब कि कोई लोग निष्काम कर्मसे ही मुक्ति मान लेते हैं । निष्काम कर्मकी स्थिति ज्ञानी जीवके बीचमें आती है ऐसा दिखानेके लिए इस निष्काम कर्मयोगका यहां वर्णन है । पर कोई जैसे ज्ञानसे मुक्ति होती है ऐसे ही प्रभुभक्तिसे भी हो जाती है, निष्काम कर्मयोगसे भी हो जाती है । ऐसा माने तो मोक्षमार्ग अब सुनिश्चित एक नहीं रहा । मुक्ति ज्ञानभावसे ही होती है । निष्काम कर्म और प्रभुभक्ति मोक्षमार्गी पुरुषके मार्गके बीचमें आता रहता है । इसी प्रकार हे ज्ञानी जीव ! तू अपनेको एक ज्ञानस्वरूप ही निरख ।

सकामकर्मसे कर्मफलका दृष्टान्त—इसमें यह कहा जा रहा है कि सराग परिणामसे ही बन्ध होता है और वीतराग परिणामसे मोक्ष होता है । जैसे कोई किसी आजीविका आदिके रागसे, लोभसे राजाकी सेवा करता है तो राजा भी उस सेवकके लिए आजीविकाका ढंग देता है । इसी प्रकार अज्ञानी जीव पुरुष शुद्ध आत्माके अनुभवसे उत्पन्न हुए भावसे च्युत होकर उदयगत कर्मधूलिकी सेवा करता है विषय सुखके लिए तो पूर्वमें उपार्जित पुण्यकर्म रूपी राजा इस जीवको नाना सुख देता है । अथवा विषयसुखके उपासक भोगोंकी इच्छारूप रागादिक परिणामोंको देता है । राजाकी सेवा कोई करे धनके लोभसे तो राजा धन दे देगा या धनका कोई ढंग दे देगा । जैसे आजकल लाइसेन्स दे दिया । कोई ऐसा उपाय दे दिया ।

सकामकर्मसे कर्मफल—इसी प्रकार यहां कोई सुखके वास्ते विषय सुखके लिए कर्मों की सेवा करता है, कोई कार्य करता है तो पूर्वमें बँधा हुआ जो पुण्यकर्मरूपी राजा है वह इसे क्या दे देगा ? रागादिक पुण्यकर्मका फल । पुण्यकर्मफल मुख्यतया राग है, सुख नहीं है । पुण्यकर्मके उदयमें रागका सुखसे मेल है, पर उदय पुण्यका हुआ और संक्लेश बन रहे हैं ऐसी भी तो स्थिति आती है । जैसे लाखों करोड़ोंका धन है जिसके पास तो उदय तो उसके पुण्यका चल रहा है पर उनकी अन्तरङ्ग स्थिति देख लो, बेचैन हैं, चिंतातुर हैं, रात्रिको नींद नहीं आती है, घबड़ाए हुए फिरते हैं, हवाई जहाजसे कहीं इधर भगे, कहीं उधर भगे, ऐसी स्थिति है आजके करोड़पतियोंकी । तो पुण्यसे सुख मिल जाय यह तो जरूरी नहीं है

पर पुण्यकर्मके सम्बन्धसे राग बढ़ जाय यह प्रायः सम्भव है। तो पुण्यकर्मसे राग परिणाम है जो शुद्ध आत्माका विनाश कर देता है।

फलकी समीक्षा—जैसे राजाने दिया क्या, उसने तो उसके तृष्णा बना दी। यदि वह गरीब ही रहता तो फंदमें न पड़ता, पर राजाने कुछ साम्राज्य दे दिया तो अब उसके तृष्णा हो गई, उसे दुःखी कर दिया। दूसरोंको धनी देखकर लोग ईर्ष्या करते हैं। अथवा किसी पुरुषको किसीसे बदला चुकाना हो तो वह उसे कुछ धनी बना देवे। इससे बढ़कर दुश्मनीका बदला और दूसरा नहीं हो सकता है। क्या बदला चुकाया उसने कि उसकी जिन्दगी दुःखमय कर दिया। चैनसे नहीं रहता। गरीब रहता तो सुखसे साधारण कमाता और सुखी रहता।

वैभव शान्तिका अकारण एवं अनर्थकारी—भैया ! क्या होगा बड़े बड़े वैभवसे ? आखिर मरना ही तो पड़ेगा, अन्य जन्म लेना ही तो पड़ेगा और यह जो झूठा वैभव है धन आदिक इसके पीछे पड़कर व्यर्थमें संक्लेश किया जा रहा है। शान्तिसे नहीं बैठ पाते हैं। इसका फल मिलेगा बुरा। वर्तमानमें भी शान्तिसे नहीं रह सकते। यदि धन हो व साथ ही धर्मबुद्धि हो तब तो गनीमत है और धन हो, धर्म बुद्धि न हो तो वह धन क्लेश ही बढ़ाता है। नीतिकारोंका वचन है कि ये चार चीजें हैं, इनमें से एक भी हो तो जीवको बरबाद करता है। कौनसी चार चीजें हैं ? जवानी, धनसम्पदा, प्रभुत्व और अज्ञान। खाली जवानी ही मनुष्यको बरबाद कर देती है। धन सम्पदा भी मनुष्यकी बुद्धि हर लेती है। लोगोंमें अपना प्रभुत्व चले ऐसा प्रभुत्व भी बरबादीकी ओर ले जाता है और अज्ञान तो इस बरबादीका कारण ही है। ये एक-एक भी अनर्थ करने वाले हैं, किन्तु किसी पुरुषमें चारों बातें ही इकट्ठी हो जायें, जवानी भी हो, सम्पदा भी मिले, प्रभुत्व भी मिले और अज्ञान भी हो, चारों बातें यदि हों तो उसका तो फिर बेड़ा ही गारद हो गया। और ये चारों चीजें पुण्यसे मिलती हैं। जवानी, सम्पदा, प्रभुत्व और अज्ञान—ये पुण्योदयसे ही मिले है। अज्ञान पुण्यके उदयसे भी मिलता है और पापके उदयसे भी मिलता है।

पुण्य और पापमें अज्ञानकी स्थिति व ज्ञानीकी पुण्यपापरहित निज स्वरूपमें आस्था—पुण्य होना भी अज्ञान कहलाता है और पाप होना भी अज्ञान कहलाता है। कहो पापका उदय आनेपर ज्ञान सही सलामत बना रहे, लेकिन पुण्योदय होनेपर ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणत हो जाय। प्रायः ऐसा होता भी है। तो मिला क्या पुण्यके उदयमें ? अनर्थ। और पापके उदयमें क्या मिला ? अनर्थ। और शांति मिलती है तो धर्मदृष्टिसे मिलती है। अपने आपमें ऐसा विश्वास बना रहे अनवरत कि मैं तो ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ। भैया ! अपने नामका विश्वास कैसा दृढ़ रहता है ? कोई कहींसे भी नाम लें तो दे, कान खड़े हो जाते हैं। हमें

कोई बुलाता है। अधनींद सो रहा है और कोई नाम लेकर बुलाए तो नींद खुल जाती है। अगर दूसरेका नाम लेकर चाहे जोरसे पुकारे तो नींद नहीं खुलती, पर खुदका नाम चाहे कोई धीमेस्वरसे पुकारे तो शीघ्र नींद खुल जाती है। ऐसा नाममें विश्वास है। किसी पाटिया पर ४०-५० नाम लिखे हों और उसपर एक आपका भी नाम हो तो आप सरसरी निगाहसे देखनेपर भी अपना नाम बहुत जल्दी देख लेंगे. औरोंके नाम देरसे देखेंगे। तो जैसे अपने आपके बारेमें नाममें संस्कार घुसा हुआ है कि मैं यह हूं इसी प्रकार उस ज्ञानस्वरूप का ऐसा संस्कार कर लीजिए—सोते, चलते, उठते, बैठते सर्वस्थितिमें मैं ज्ञानमात्र हूं, चैतन्यस्वरूप हूं। जो अन्तरमें अन्नाटा अनुभव किया कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ—ऐसा अनुभव यदि किया तो इसीसे पूरा पड़ेगा। न पुण्यके उदयसे पूरा पड़ेगा, न पापके उदयसे पूरा पड़ेगा।

अज्ञानीके शुभभावों द्वारा पापबद्ध पापानुबन्धी पुण्य—अथवा कोई जीव नये पुण्य-कर्म बांधने के लिए भोगोंकी इच्छा और निदान रूपसे शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता है, जैसे सुख मिले, विपतियाँ दूर हों, घर सुख चैनसे रहे इसलिए कोई पुण्यकर्म करे, एक विधान करलें, एक जल बिहार करलें, कोई एक यज्ञ रचा लें, सो पुण्य बाँधनेके लिए शुभ क्रियावों का कार्य करता है। उद्देश्य उसका है कि सुख चैन हो, खूब भोग सम्पदा मिले तो उसे क्या मिलेगा? पापानुबंधी पुण्य मिलेगा। पहिले तो यही कठिन है कि पुण्य उसका बंध जाय। क्योंकि जिसकी नींव ही खराब है, आशय ही उल्टा है, संसारके भोगोंकी चाह लेकर किया जाने वाला धर्म कार्य है तो उस कार्यके करते हुए पुण्य बंध हो जाय तो पहिले तो यही कठिन है कि पुण्य बंध जाय।

धोखा कहाँ?—भैया! कर्म पौद्गलिक हैं। उन कर्मोंके चेतना नहीं है जो वह धोखे में आ जाय। धोखा देता है जीव और धोखा खाता है जीव। पुद्गल न धोखा खाते हैं, न धोखा देते हैं। पुद्गलमें जीव नहीं है, चेतन नहीं है जो वह पुद्गलकर्म धोखा खा जाय कि यह बेचारा देखो भगवानके आगे खूब नाच रहा है, खूब गान तान कर रहा है तो इसके हम न बँधें या पापकर्म न बँधे। ऐसा धोखा पुद्गल नहीं खाते हैं। पुद्गलका तो जीव परि-णामके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्तरमें जैसा आश्रय है उसके अनुरूप विस्रसोप-चय कार्माणवर्गणा कर्मरूप बन जाती है। कोई भोगकी इच्छा की लिहाजसे, आशयसे पुण्य-कर्म बाँधनेके लिए शुभ कार्यको करता है तो पापानुबंधी कर्मका बन्ध होता है और पापा-नुबंधी कर्मरूपी राजा कालान्तरमें भविष्यकालमें भोगोंको देता तो है, मिलते तो हैं इन्द्रिय-विषयोंके साधन, पर निदान बंधसे प्राप्त जो बंध हैं वे नरकादिक दुःख परम्पराको बढ़ाते हैं। खोटे आशयसे कोई शुभ काम किया जाय तो उस प्रसंगमें थोड़ा मंदकषाय कभी आता है तो

पुण्यबन्ध होता तो है किन्तु निदान बन्धसे वे कर्म बँधे थे, निदान बंधसे ही वे भोग मिले हैं सो वे भोग दु:खपरम्पराको बढ़ाते हैं।

निष्कामकर्मयोगीके संसारफलकी आपत्तिका अभाव—जैसे वही पूर्वोक्त पुरुष आजीविकाके निमित्त राजाकी सेवा नहीं करता है तो वह राजा भी उसे कुछ भोगनेको नहीं देता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वमें उपार्जन किए गए उदयागत पुण्यकर्मके उदयसे कभी आत्मीय आनन्दसे च्युत होकर विषय सुखके लिए उस कर्मको उपादेय बुद्धिसे नहीं सेवता तो कर्म भी रागादिक परिणामोंको नहीं देते।

आशाके अभावसे कर्मफलकी अगति—एक जगह आत्मानुशासनसें लिखा है कि संसारी जीवके २ इच्छाएँ होती हैं—एक तो धन वैभव मिले और एक मेरी जिन्दगी बनी रहे। दो ही तो मुख्य इच्छाएँ हैं। बच्चे, बूढ़े और जवान सभीको ये ही दो इच्छाएँ सताती हैं। बच्चे भी जानते हैं कि यह दुवन्नी है, यह चवन्नी है, यह अठन्नी है। उन्हें अगर छोटा दाम दे दो तो वे फेंक देते हैं। तो धन वैभवकी इच्छा ये दो ही संसारी जीवके लगी हैं। सो जिनके ये दोनों इच्छाएँ लगी हैं उनको कर्म दु:ख देते हैं। और इन दो इच्छावोंको छोड़ दें तो कर्म उनका अब क्या कर लेंगे बतलावो? कर्मका यह तो विपाक था कि दरिद्र कर दें। निमित्तदृष्टिसे कहा जा रहा है अथवा मरण कर दें। जो अकिञ्चन्यका ही स्वागत करता हो और मरणका स्वागत करता हो तो कर्म उसका क्या कर लेंगे? कर्म उसके लिए सब व्यर्थ हैं।

निर्वाञ्छकके कर्मकी व्यर्थता—इसी प्रकार जो विषयसुखकी चाह ही नहीं रखता है उसके लिए कर्म व्यर्थ हैं। जो विषयसुखकी चाह करेगा उसके लिए कर्मोका उदय रागपरिणामको देगा। सुखको देते फिरें, यह उनके बसका नहीं है। पुण्योदयसे वैभव मिल गया तो रागपरिणाम वह कर देगा। अब सुखी होना दु:खी होना यह ज्ञानपर निर्भर है, हम आपदावोंसे बच सकते हैं या नहीं, यह उस पुरुषके ज्ञान और अज्ञानपर निर्भर है। पुण्य कर्म जिन रागादिक परिणामोंको देता है वह शुद्ध आत्माकी भावनाका नाश करने वाला है। जीवका जो अलौकिक वैभव है उस शुद्धकी भावना करो। शुद्ध आत्माकी भावनाका विनाश होता है तो तीन लोककी सम्पदा भी व्यर्थ है। और शुद्ध आत्माकी भावना रहती है, शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि रहती है, अपने आपको ज्ञानमय मान लेनेका पुरुषार्थ जगता है तो यही सर्वोत्कृष्ट वैभव है दुनियामें।

भावसे भवितव्य—कोई मुझे जानो या न जानो, इससे विभाव और अभावका हिसाब नहीं बैठता है। परमार्थ उपयोगमें है, शुद्ध आनन्द मिलता है तो समझो कि वैभव हमारे पास है और शुद्ध आनन्दका विनाश होता है, याने सुख या दु:ख होता है तो समझो

कि मेरे पास वैभव नहीं है। वो ई सम्यग्दृष्टि जीव जब कि उसके संकल्प-विकल्प परिणाम नहीं है तो उस समय उसके निर्विकल्प समतापरिणामका अनुभवन करनेका भाव रखता है। और जब समतापरिणाम नहीं है तब सम्यग्दृष्टि कहीं न कहीं गिरेगा अपने गृहसे उठकर। किसी रागमें गिरेगा। सम्यग्दृष्टि है तो क्या? उदय तो चारित्रमोहनीयका है। यदि गिर रहा हो वह सम्यग्दृष्टि तो वह अपनेको ऐसा सावधान बनाता है कि मैं अधिक बुरा न गिरूँ। विषयकषायमें प्रवृत्ति न होऊँ।

पुण्यानुबंधी पुण्य—सो भैया! विषयकषायसे बचनेके लिए वह व्रत, शील, दान, पूजा आदि शुभ कर्मोंको करता है तो भी भोगोंकी आकांक्षासे याने निदान बंधसे पुण्यकर्मको नहीं करता। तब उस स्थितिमें जो पुण्यकर्म बनता है वह पुण्यानुबंधी पुण्यकर्म है। अज्ञानी जीवके पुण्यकर्म बनता है सो पापानुबंधी पुण्यकर्म बनता है और ज्ञानी जीवके पुण्यकर्म बनता है तो पुण्यानुबंधी पुण्यकर्म बनता है। यह पुण्यानुबंधीका बंध करने वाला अगले भवमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि बनेगा। सो वहां भी सम्प्रदायरूपसे आया हुआ जो पुण्यकर्म है ना, सो भेदविज्ञानकी वासनासे वासित अब भी है, इस कारण और भोगोंकी चाह करने जैसे रागादिकरूप परिणामोंको नहीं देता है।

ज्ञानीकी दृष्टिमें भोगसुख एक विपत्ति—सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्यानुबंधी पुण्यका उदय होता है और उस उदयमें नाना भोग साधन प्राप्त होते हैं और उन भोगसाधनोंमें कदाचित् लगता भी है, रागपरिणाम भी करता है, मगर भोगोंकी आकांक्षारूप रागपरिणाम नहीं करता है। उस समयमें उसके ऐसा भाव नहीं होता कि ऐसा सुख मुझे बहुत काल तक मिले। ऐसा रागपरिणाम सम्यग्दृष्टिके नहीं होता है, किन्तु अज्ञानी जीवके होता है। अज्ञानी जीवके सुख भोगते समय ऐसा आशय रहता है कि ऐसा ही खूब सुख मिले। किन्तु ज्ञानी जीव सुखके प्रसंगमें वियोग बुद्धिकी भावना करता है। शुद्ध आत्माकी भावनासे च्युत होकर यह सुख भोगा जा रहा है, यह तो एक विपदा है। इससे अपना पूरा न पड़ेगा। वह ज्ञानी जीव ऐसे सुखको नहीं चाहता है।

ज्ञानीके भोगसुखमें अनासक्ति—जैसे जिसे फांसीका हुक्म दिया गया है उसे खूब बढ़िया भोजन भी दिया जाता है, बढ़िया मिठाई दी जाती है कि खावो खूब मनचाहा। परन्तु जिसे विदित है कि यह फांसी दिलानेसे पहिले मन खुश किया जाता है, ऐसा कायदा है। खूब खा पी लो खानेकी तरस न रहे। तो उसे क्या खानेमें मन लगता है? क्या वह आनन्दसे खाता है? शायद ही कोई ऐसा विरला होगा जो फांसीका हुक्म दिया जानेपर भी थालीमें परोसी गई बढ़िया मिठाई खुश होकर खाले, हंस खेलकर वह मिठाई खा ले ऐसा कोई न होगा। उसके तो अभी प्राण संकटमें हैं। उसे खाना पीना कहां सुहायेगा?

इसी तरह जो जानता है कि ये सुख दिए जा रहे हैं, मिल रहे हैं बढ़िया पदार्थ। इन बाह्य पदार्थोंकी ओर हम खिच रहे हैं तो ये हमारे विनाशके लिए हैं। ऐसा जिसे ज्ञान है और मनमें यह बात लग गई है ऐसा पुरुष उन भोगोंके भोगते समय भोगोंकी आकांक्षारूप विपाक नहीं बँधता है। जो निदान बंध कर दे ऐसा रागपरिणाम सम्यग्दृष्टिके कभी न होगा।

भरत जी घरमें भी वैरागी—ज्ञानीका उदयागत पुण्यकर्म रागादिक परिणामोंको नहीं देता है। जैसे भरतेश्वर हुए। भरत चक्रवर्तीके निष्काम भोग था। उस सम्बन्धमें एक पुरुष को शंका हुई कि भरत इतने ठाठबाट भोग रहे हैं, हजारों राजा जिनकी सेवा कर रहे हैं फिर भी बड़े बड़े विद्वान पंडित इनको वैरागी कह रहे हैं। भरत राजा घरमें भी वैरागी कैसे हैं? ऐसी शंका हुई तो मंत्रीसे प्रश्न किया कि महाराज यह कैसे हो सकता है कि आप कहा करते हो कि भरतेश्वर घरमें भी वैरागी हैं। उन्होंने कहा बतलायेंगे। यदि तुम एक काम कर लो और जिन्दा रह सके तो हम तुम्हें बतलायेंगे।

भरतजीके वैराग्यके समझनेकी एक युक्ति—हाथमें यह तेलका कटोरा लो, हथेलीपर रख लो, चार पहरेदार तुम्हारे संगमें जाते हैं। ये तुम्हें सब कुछ दिखायेंगे, भरतका वैभव घुड़साल, रानियोंके महल, और और भी आरामकी चीजें, शृंगारकी चीजें, सब कुछ तुम देख आना और देखो यह जो तेलसे भरा कटोरा है इसका एक बूंद भी बाहर न गिरने पाये। यदि एक बूंद भी बाहर गिर गया तो पहरेदारोंको यह हुक्म है कि तुम्हें मार डालेंगे। अगर तुम जिन्दा बचकर आ गए तो हम तुम्हें जवाब देंगे। हम तुम्हें बहुत बड़ी बात बतायेंगे। यों ही मुफ्तमें न बता देंगे।

जिज्ञासुका देखा भी अनदेखा—वह जिज्ञासु तेलका कटोरा लेकर सब कुछ देखकर वापिस आया तो मंत्रीने पूछा कि तुम सब चीजें देख आये? हां देख आए। अच्छा बतलावो घुड़सालमें कितने घोड़े थे अथवा किस किस रंग वाले थे? बोला कि हमें यह पता नहीं है। हम तो सरसरी निगाहसे देखते गए। अच्छा अमुक रानीके महलमें क्या-क्या था? वह बोला कि हम तो रानियोंके महलसे निकल गए, सरसरी निगाहसे देख लिया, पर ध्यान तो हमारा इस तेलके कटोरेमें था। और भी शृंगारकी वस्तुवोंके सम्बन्धमें पूछा। सबका उत्तर वही रहा। फिर पूछा कि तुम सब जगह हो भी आए और कहते हो कि महाराज मेरा ध्यान कटोरेपर था कि कहीं एक बूँद भी तेल न गिर जाय। इसी कारण मैं कुछ ज्यादा न समझ सका, सामान्यतया ही देखा।

भरतजी का वैराग्य—मंत्री बोला कि इसी तरहका ध्यान भरतेश्वरके रहता है, वे शुद्ध आत्माकी दृष्टि नहीं भूलते। यह शुद्ध आत्मा मेरे ध्यानसे बाहर न हो जाय ऐसा निरन्तर उनके ध्यान रहता है क्योंकि उन्हें मालूम है कि यदि यह शुद्ध आत्म-प्रभु मेरी

भाव भासनासे जुदा हुआ जाता है तो नरक निगोद जन्ममरण संसारके संकट ये महान क्लेश भोगने पड़ेंगे। सो भरतेश्वरकी दृष्टि शुद्ध आत्मतत्त्वपर रहती है, इस कारण वे भोग विषय, लोगोंके मिलन जुलन, ठाटबाट इनके बीच रहते हुए भी वे सबसे विरक्त रहते हैं। 'परद्रव्यनतैं भिन्न आप तें रुचि सम्यक्त्व भला है।' सर्व परद्रव्योंसे भिन्न एक शुद्ध ज्ञानमात्र भाव, जाननमात्र भावमें ही रुचि किए हुए है इस कारण यह ऐसे रागपरिणामको नहीं करता कि निदान बंध करदे, भोगोंकी आकांक्षा बना दो।

पुण्यानुबन्धी पुण्यकी तत्त्वभावनापर अनाक्रामकता--पुण्यानुबंधी कर्मके उदयसे भवांतरमें तीर्थंकर चक्रवर्ती, बल्देव आदि बड़े अभ्युदय प्राप्त होते हैं। पूर्वभवमें भाये गए भेदविज्ञानकी वासना कुछ भी रहती है तो उसके कारण वह रागपरिणामको नहीं करता, जो रागपरिणाम भोगोंकी इच्छारूप है, विषय सुखको उत्पन्न करता है, शुद्ध आत्माकी भावनाका विनाश करता है ऐसे रागादिक परिणामको यह ज्ञानी जीव नहीं करता, किन्तु समस्त ज्ञानकी व्यक्तियोंमें अभेदरूपसे अवस्थित परमार्थ साक्षात् मोक्षका कारणभूत शुद्ध आत्माका सम्वेदन अथवा शुद्ध आत्मसम्वेदनका संस्कार उनके बसा रहता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव अपने शुद्ध जाननस्वरूपकी दृष्टिके बलसे सदा संकटोंसे मुक्त रहता है।

निष्काम कर्मयोग--तन, मन, वचनसे चेष्टा करते हुए यदि कोई उसके एवजमें सांसारिक सुख चाहे तो इस प्रकारके कर्म बनते हैं कि अगले समयमें भी उनके उदयमें राग उत्पन्न होता है। और राग संसारका बाधक है, इस कारण प्रमत्त अवस्थामें निष्काम कर्म योग बहुत आवश्यक चीज होती है। अन्य सिद्धान्तोंमें निष्काम कर्मयोगमें और जैनसिद्धान्त निष्काम कर्मयोगमें मात्र इतना ही अन्तर है कि जैनसिद्धान्तमें निष्काम कर्मयोग शान्तिके उपायका अंतिम उपाय नहीं है जबकि अन्यत्र निष्काम कर्मयोगको शांतिका अंतिम उपाय कहा जाता है। जैनसिद्धान्तमें शांतिका अंतिम उपाय ज्ञान है और प्रारम्भिक उपाय भी ज्ञान है। निष्काम कर्मयोगके अवसरकी भी जो ज्ञानानुभूति है वह तो शांतिका उपाय है और जो वेदनाका प्रतिकार है वह कर्मोका भोग है। कर्म करने पड़ते हैं पर कामना मत करो यह जैनसिद्धान्तके निष्काम कर्मयोगकी व्याख्या है। तथा कामनारहित होकर कर्म करना चाहिये, यह निष्काम कर्मयोग की लोकसाधारण व्याख्या है।

फलार्थ चेष्टाका फल विषाद--सम्यग्दृष्टि जीव फलके लिए कर्मकी सेवा नहीं करता अर्थात् चेष्टाएँ नहीं करता, इसलिए कर्म भी उसको फल नहीं देते याने आगामी कालमें राग को उत्पन्न नहीं करते। जैसे अपने घरके पुत्रोंका पोषण फल लेकर किया जाता है। सो आगामी कालमें कुछ गुजरनेपर पुत्रका वियोग होनेपर या पुत्रके प्रति कल्पना होनेपर रंज होता है, राग होता है और गरीबोंका पोषण फलकी इच्छा न रखकर किया जाता है तो

उनमें कोई गुजर भी जाय, कोई बात हो जाय तो मनमें खेद नहीं होता याने उनके प्रति राग नहीं बढ़ता । इसी प्रकार सर्व कार्योंको समझना चाहिए । फल चाहकर अपनी चेष्टाएँ की जायें तो उनका फल भविष्यमें राग है और आकुलता है, और फलकी चाहरहित चेष्टाएँ की जाती हैं, करनी पड़ती हैं तो उनमें यह बन्धन नहीं होता कि आगामी कालमें राग हो । जैसे पुत्रका पोषण बन्धके लिए है पर गरीब जनताका पोषण बन्धनके लिए नहीं है ।

निष्काम कर्मयोग व समागतविरक्ति विलक्षण तप—अब भैया ! परमार्थसे घटावो कि कुछ भी चेष्टा करके मेरेको पुण्य बन्ध हो, मेरेको सुख उत्पन्न हो, ऐसा भाव किया जाय तो वह आगामी कालमें रागको ही पैदा करता है । वह दृष्टान्त था, अब दार्ष्टान्तमें लीजिए तो उसमें सब आ गया । चाहे पुत्र हो, चाहे अन्य जनता हो, फलकी चाह करके कर्म किया जायगा तो आगे राग होगा, आकुलता होगी । सम्यग्दृष्टि जीवका उदार ज्ञान देखिए कि वह कितना अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर झुका है कि उसके लिए सारे जीव, सारा वैभव बंधनके लिए नहीं है । कर्मविपाकसे करना पड़ता है पर उसमें रंच आसक्ति नही । यह बात बिरले ज्ञानी संत पुरुषके होती है, असम्भव नहीं है । ऐसा ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं है । और जिसने फलका त्याग कर दिया वह चेष्टा करता है । हम तो इसका भी विश्वास नहीं करते, ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं ।

अकृतवत् अकामकृत कर्म—जिसने फलकी चाह छोड़ दिया उसे जो करना पड़ता है उसको किया गया नहीं कहा जा सकता । वह अकृतकी तरह है । जैसे किसी नौकरको आपका काम करनेका भाव नहीं है । आप सामने होते है तो थोड़ा-थोड़ा करता है, आप मुख मोड़ लेते है तो वह काम बद कर देता है । आपके खड़े होनेपर उसे विवश होकर करना पड़ रहा है । जब इच्छा ही नहीं है करनेकी तो आप यह कह बैठते है कि यह तो काम ही नहीं करा है । अरे कुछ तो कर रहा है पर कुछ किया गया काम न किए गए में शामिल है क्योंकि उसकी भावना आपपर असर डालती है । जब उसकी भावना काम करनेकी ही नहीं है तो यह न करना कहलाता है । सम्यग्दृष्टि जीवके जब भोग अथवा अन्य कोई चेष्टाएँ भोगनेका भाव ही नहीं है और भोगनेमें आ रहा है, करना पड़ रहा है तो मैं तो उसके अस्निग्ध भावोंकी ओरसे कह रहा हूं कि वह करता ही नही है ।

फलपरिहारीके कर्तृत्वकी असंभावना—जिसने फलका त्याग किया वह कर्म करता है हम इसका विश्वास नहीं करते किन्तु किसी भी कारणसे अवश होकर कुछ कर्म करनेमें आ पड़ते है तो आ पड़ें, उस कार्यके आ पड़नेपर भी उत्कृष्ट ज्ञानस्वभावमें ठहरा हुआ ज्ञानी पुरुष कुछ किया करता है । वह क्या करता है, क्या नहीं करता है ? इसको अन्य लोग क्या जानें । ज्ञानी पुरुष ही ज्ञानीकी महिमाको समझ सकता है । जिसका लक्ष्य निष्काम स्वतः

सिद्ध अहेतुक सनातन ज्ञानस्वभावमें ही लगा हुआ है, एतावन्मात्र मैं हूं, और इस मुझका वास्तविक कार्य केवल निरन्तर अर्थपर्यायरूप परिणमते रहना है, सूक्ष्मपरिणमन होता है।

विशिष्ट और अविशिष्ट परिणमनका दृष्टान्तपूर्वक प्रकाशन––जैसे जब हवा बिल्कुल न चल रही हो और आपके सरसोंके तेलका दिया जल रहा हो तो आपको वह लौ बिल्कुल ही चलायमान नहीं मालूम पड़ती। बिल्कुल निश्चल जैसी उठी हुई लौ जल रही है वैसी स्थिर मालूम पड़ती है, मगर कितनी ही हवा बंद हो, अग्निकी लौ का स्वभाव है कि अपनेमें कुछ न कुछ चलती रहे, वह आपको विदित नहीं है। हवा बिल्कुल न होनेपर अग्निकी लौ अपने आपमें जो कुछ चल रही है वह अग्निके ही कारण उसका चलना है और हवाके चलनेपर जो वह हिलती है, चलती है वह हवाके कारण चलती है। हमारे गुणोंमें जो विकारपरिणमनरूप चलना हो रहा है वह तो कर्मकी उपाधिका निमित्त पाकर हो रहा है। कर्म उपाधि बिल्कुल नहीं रहा, सिद्ध अवस्था हो रही है, फिर भी कोई गुण ऐसा वहां नहीं है कि वहां अपने गुणोंमें अगुरुलघुत्वकृत अर्थपरिणमन न हो रहा हो। जो वहां अगुरु-लघु गुणमें अर्थपरिणमन हो रहा है बस उसका काम इतना ही है, बाकी सब उपाधिका विकार है। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। इस ज्ञानस्वरूपका परिचय पा लिया है ज्ञानीने, और किन्हीं परिस्थितियों वश ज्ञानीको प्रमत्त अवस्थामें रहना पड़ रहा है, गृहस्थावस्थामें रहना पड़ रहा है, उसी नातेसे अनेक काम करने पड़ रहे है, फिर भी वह ज्ञानी क्या करता है अन्तर में, इसे ज्ञानीके घरके कूड़ा ढोने वाले नौकर आकर क्या जानें ? सम्यग्दृष्टि पुरुष क्या करता है अन्तरमें, इसको मिथ्यादृष्टि अज्ञानी क्या जाने ?

ज्ञानीकी बाह्यमें अरुचि––ज्ञानीकी महिमाको ज्ञानी ही जान सकते हैं। उसे यह जंच गया कि कुछ रखा नहीं है वैभवमें, कुछ नहीं रखा लोक सन्मानमें, यह सब मोहियोंका झमेला है। कितने ही अधिकांश लोग तो हमसे भी बुरे हैं, अर्थात् मोही हैं, अज्ञानी है, धर्म का उन्हें परिचय भी नहीं है। ज्ञानी पुरुषकी भावनापर पहुंचनेके लिए यह कहा जा रहा है। तो मलिन मोही पुरुषोंसे यदि हमने प्रतिष्ठा लूटी, सन्मान लूटा तो उस प्रतिष्ठा सन्मान से कुछ भला भी है क्या ? वे मेरे कुछ हितरूप भी है क्या ? उनमें कुछ दम भी है क्या ? कुछ न चाहिए इस लोकमें किसी अन्य पदार्थसे। चाह करनेसे मिलता भी तो कुछ नहीं है।

अचलित स्वरूपसीमादर्शी—यह जीव अपने शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे चिगकर किसी भी बाह्यपदार्थमें उपयोगी होता है तो यह रीताका रीता रहता है। उसमें कुछ भरकमपना नहीं रहता है। जैसे किसी पुरुषमें कोई गुण हो और अपने मुखसे गुण प्रकट कर दे तो गुणोंमें हीनता हो जाती है। फिर अपने आपमें उन गुणोंका भी प्रभाव नहीं रहता है। इस प्रकार यह उपयोग उसके स्वरूपसे बाह्य पदार्थोंमें ले जाया जाय तो उसका फिर

महत्त्व नहीं रहता है, वह रिक्त हो जाता है। मानों वहाँ कुछ भी नहीं है। वह गरीब, दीन, हीन, परसे अपने जीवनकी आशा चाहने वाला हो जाता है, सो अत्यन्त पराधीन हो जाता है, किन्तु यह ज्ञानी सर्वत्र सर्वदा अपनेमें भरपूर रहता है। सर्व वैभवको निहार चुका और समझ चुका, किसी भी परवस्तुसे मेरेमें कुछ आता जाता नहीं है। यह अपने आपकी वृत्तिमें रहकर अपने आपको सृजन करता है और समस्त परपदार्थ अपने आपके प्रदेशमें रहकर अपनी रचना किया करते हैं। ऐसे वस्तुके स्वरूपकी सीमावोंको अचलित देखने वाला ज्ञानी पुरुष पदार्थोंमें क्या रमेगा ?

यथार्थ ज्ञान बिना अकुलाहट—जैसे रस्सीको रस्सी जानने वाला घबड़ायेगा नहीं, किन्तु रस्सीको सांपका भ्रम करने वाला घबड़ायेगा। इसी प्रकार परको पर निजको निज जानने वाला घबड़ायेगा नहीं। दुनियामें कोई संकट ही नहीं है। जैसे ये अजीव पदार्थ पत्थर, लोहा, पीतल, तांबा, सोना पड़े हुए हैं, ये घबड़ाते नहीं है, इसी प्रकार कोई संकट ही नहीं है। लोहाको गला दिया, सोनेको गला दिया तब भी कोई उसे संकट नहीं है। अभी ऐसा था और अब ऐसा पानी-पानी बन गया। लोहा, चांदी, सोना ये घबड़ाते नहीं हैं। कुछ बन जाय बन रहा है क्योंकि उनके उपयोग नहीं है। एक अपने में उपयोग हो फिर तो बुरी बात नहीं है। उपयोग होकर फिर यह उपयोग अपनेमें न रहे और बाहरमें अपनी वृत्ति करे बस घबड़ानेकी बात वहाँ होती है। यह बात चेतनद्रव्यमें है। नहीं तो क्या नुक्सान ?

उपयोगकी अन्तर्वृत्तिसे आनन्दलाभ—भैया ! सोने चांदीकी जैसी परिस्थिति तो हम आपमें नहीं है। वे तो गलाए जाते हैं, उनकी जैसी बुरी हालत तो हमारी आपकी नहीं है। उस द्रव्यमें और मुझ द्रव्यमें इतना ही तो अन्तर है कि वे उपयोगरहित हैं, मैं उपयोग वाला हूं, तिसपर भी परिणमनका तो कुछ अन्तर नहीं है। वे अपनेमें परिणमते हैं मैं अपने में परिणमता हूं। सिर्फ इतना ही तो मैं कर बैठा कि अपने उपयोगकी वृत्तिको बाहर लगाता हूँ। यदि अपनी उपयोगवृत्तिको मैं बाहर न लगाता तो मैं उपयोगी होकर भी उपयोगरहित जड़ पदार्थोंकी तरह आकुलतावोंसे दूर रहता और इतनी विशेषतामें रहता जो कि परमें, जड़में नहीं है। मैं आकुलतावोंसे परे भी रहता और अनन्त आनन्दसे, आल्हादसे भरपूर भी होता। इतनी विशेषता हममें है। गलाने वाले लोहा, सोनासे मैं और विशेष होता क्योंकि मैं चेतन हूं।

इन्द्रियोंसे बाहर झांकना ही संकट—भैया ! संकट क्या है मुझपर ? संकट केवल इतना है कि मैंने इन खिड़कियोंसे झांकना शुरू कर दिया इन्द्रिय और मनसे। अपने घरमें और अपने घरके भीतरी हिस्सेकी ओर ही मुँह किए बैठा रहता तो घबड़ाहट न थी, पर

इसके कुछ पीड़ा उत्पन्न हुई और उस वेदनाको न सह सकनेके कारण खिड़कियोंसे यह झांकने लगा तो इसके विपत्तियां आ गई।

बाहर झांकनेमें संकटका एक उदाहरणपूर्वक प्रकाशन—भैया ! जब मार्सल्लाका कानून लग जाता है कि कोई दिखे तो गोली मार दो। यहां घरमें बैठे हुए अपने घरमें रोटी बनावो, खावो, पियो, कुछ करो, मौजसे रहो, अगर खिड़कीसे बाहर झाँका तो गोली लग जायगी क्योंकि मार्सल्ला चल रहा है। आपके घरमें ही ६ महीने खानेको गेहूं, घी, दाल सब कुछ रखे हैं, बनावो और खावो आनन्दसे भीतर ही, बाहरको मत झांको। बाहर न झांको तो तुम्हारा कुछ नुक्सान है क्या ? पर इतना आराममें रहकर भी एक ऐसी इच्छा पैदा हो जाना कि देखूं तो सड़कपर क्या हो रहा है ? बिना कामकी इच्छा पैदा कर लिया। इच्छा पैदा करते ही खिड़कीसे झांकने लगे, गोली आकर लगी, सारा काम खतम हो गया। तुम्हारे घरमें सारा मौज तो है, आनन्द भरा है, ज्ञान भरा है, शांति भरपूर है, कुछ कमी नहीं है, अनन्तकाल तक आनन्द भोग लो, सब कुछ साम्राज्य है, मगर ओछा दिल है, हीन योग्यता है ना इसके, सो इस मौजमें रहा नहीं जाता, अपने घरमें आनन्द नहीं किया जा रहा है, इच्छा पैदा हो जाती है। देखें तो क्या है, कैसे हैं लड़के, कैसा है धन, कैसी है मेरी इज्जत लोगोंमें, कैसी है पूछताछ। सो इस खिड़कीसे झाँकने लगा। तो भाई संसारमें तो मार्सल्ला चल रहा है, कोई म्याद नहीं है। तुम्हारे शहरमें तो तीन दिन तक मार्सल्ला कानून है। यदि कहीं दिखे तो गोलीसे मार दिए जावोगे। पर इस संसारमें तो अनन्तकालसे मार्सल्ला चल रहा है। खिड़कीसे यदि बाहर झांका तो प्राण खो बैठोगे। यदि इष्टबुद्धि की जा रही है तो अपने इस चैतन्यप्राणका घात किया जा रहा है, उसे शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दसे वंचित किया जा रहा है।

इच्छाका दुष्परिणाम—यह सब एक चाह करने भरका ही सारा परिणाम है। उसने चाह की कि देखें तो सड़कपर क्या हो रहा है ? इतनी चाह ही ऐसी गुनाह हो गई कि प्राण खो बैठना पड़ा। इसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयकी, मनके विषयकी एक चाह पैदा हुई, जिस चाहके कर लेनेपर तन, मन, वचनकी चेष्टाएँ हुईं। चाह हुई कि बस यह मारा गया। अनन्तानुबंधी कषायमें हिंसा हो रही है। इसी कारण यह ज्ञानी जीव कुछ नहीं चाहता, अपने घरमें बैठा रहता है। वैरागी पुरुष उस मार्सल्लामें बाहर झांकना नहीं चाहता। यह ज्ञानी पुरुष इस परिवर्तनशील असार संसारमें इच्छा नहीं करना चाहता।

जिसने फलकी चाह छोड़ दिया वह कर्म करता है हम इसका विश्वास नहीं करते हैं। किन्तु फिर भी इस पुरुषके किसी भी कारणसे विवश होकर कोई कर्म करनेको आ पड़ते हैं तो आ पड़ें। वह तो निष्काम परम ज्ञानस्वभावमें स्थित है। अपने ज्ञानस्वरूपका

अनुभव किया करता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष क्या करता है ? जहां मन है, जहां उपयोग है उसे करता है और जो क्रिया हो रही है, चेष्टा हो रही है वह कुछ भी नहीं करता है। जहां चाह है वहां कर्तृत्व माना जाता है और जहां चाह नहीं है वहां कर्तृत्व नहीं माना जाता है।

करने और होनेका परिणाम—चाह करनेका नाम ही कर्तृत्व है। और बिना चाहे परिणाम जानेका नाम होना कहलाता है। हो गया ऐसा, पर हमने किया नहीं। कभी बिना चाहे आपकी गल्ती हमसे बन जाय तो हम यही कहा करते हैं कि उस समय ऐसा हो गया, हमने किया नहीं क्योंकि करना ही न चाहता था। कुछ साधन ही ऐसे होते हैं कि हो जाते हैं बड़े गड़बड़ काम। पर किए नहीं जाते रंच भी आराधके काम। यह सब सम्यग्ज्ञानकी ही महिमा है। मोक्षका उपाय, आनन्दका उपाय ये सब दृष्टिमें भरे हुए हैं।

दृष्टिकी निर्मलताका उद्यम—भैया ! दृष्टि निर्मल हो तो आनन्द कहीं नहीं गया, दृष्टि मलिन हो तो वहां आनन्द ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता। इस कारण हमारी दृष्टि उदार हो। लोगोंके बीच रहकर भी उनमें ऐसा द्वैत न आए कि मेरे सर्वस्व ये ही हैं, गैर जीव मेरेसे अत्यन्त गैर है, ऐसे श्रद्धानमें अद्वैत भाव नहीं आ सकता। करना पड़ रहा है, किया जा रहा है और गृहस्थधर्ममें ऐसा करना चाहिए। पर गृहस्थधर्म ही तो मेरे लिए धर्म नहीं है, परमार्थ धर्म तो आत्मपदार्थ है। गृहस्थ धर्मके लिए २३ घंटा समय लगा दीजिए पर एक घंटा तो आत्मधर्मके लिए समय लगाइए। मैं आत्मा हूँ, गृहस्थ नहीं हूं, गृहस्थ एक दशा है, अवस्था है, अवस्था है, परिणति है, मैं गृहस्थ नहीं हूं, मैं तो आत्मा हूं। मैं जो हूं उसका धर्म मेरे लिए किया जाना चाहिए।

धर्म और धर्मपालन—मैं आत्मा हूं, ज्ञानमय हूं। हमारा ज्ञान धर्म है और जितनी ज्ञानकी वृत्ति है, उतना धर्मका पालन है। मेरा धर्म है ज्ञान और सही-सही जानना यही है धर्मका पालन। ऐसी ज्ञाता दृष्टाकी वृत्तिसे रहना मेरा कर्तव्य है। अन्य कुछ जो करनेमें आता है यह सब कर्मोंका खेल है, मेरा कार्य नहीं है। ऐसा निर्णय रखने वाले ज्ञानी पुरुष के किन्हीं भी बाह्य चेष्टावोंकी रुचि नहीं रहती है और न उन चेष्टावोंके एवजमें कुछ फल चाहता है। उसकी दृष्टि केवल ज्ञानस्वभावके मर्मके अनुभवनकी रहती है।

सम्यग्दृष्टिके भयका अनङ्गीकार—अन्तरात्मा अपने अमर ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिको बड़ा संकट आनेपर भी नहीं छोड़ता है। ऐसा साहस सम्यग्दृष्टि पुरुष ही कर सकता है। जिस को निज सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभवात्मक परिचय नहीं होता है वह छोटे-छोटे रागद्वेषके प्रसंगमें भी अपनी आत्मदृष्टिको छोड़ देता है और क्षोभमें आता रहता है। सम्यग्दृष्टिमें ही ऐसा साहस हो सकता है कि जिसके भयसे तीन लोकके प्राणी अपने चलते रास्तेको छोड़

कर अगल-बगल सुरक जायें तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष स्वभावसे निर्भय है। अतः सर्वप्रकारके संशयोंके अंतरसे दूर रहता है। भय दो प्रकारसे होते हैं। एक तो मूलमें भय, विपरीत श्रद्धा होने के कारण एक बिगड़ी श्रद्धाका भय और एक ऊपरी भय। ज्ञानी पुरुषके कदाचित् ऊपरी भय हो जाने पर वह अन्तरमें भयको अंगीकार नहीं करता है। अन्तरमें तो अपने निष्कम्प ज्ञानस्वभावको ही अंगीकार करता है।

ज्ञानीके अशनका अनङ्गीकार— जैसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष भी कदाचित् आहार लेता है पर आहार करते हुए आहारको अंतरसे अंगीकार नहीं करता। प्रतीति उसकी यही रहती है कि मैं अनशन स्वभावी हूं। आत्मा अमूर्त है, इसका अशन करनेका स्वभाव नहीं है। श्रद्धामें अनशन स्वभावकी प्रतीति है और आहार करता रहता है। तो उसका वह भोजन करना ऊपरी ढंगसे कहा जायगा। यदि उस भोजनको अपनाए, जैसे कि अज्ञानी जन अपने अनशन स्वभावको नहीं पहिचानते और भोजनसे ही जीवनका बड़प्पन, हित, सुख मानते हैं, भोजन करनेमें ही अपनी कला समझते हैं। बड़े शौकसे खाते हैं, खिचड़ी खाया तो चम्मच से, खीर खाई तो चम्मचसे, कुछ चीजें कांटेसे चुभोकर खाईं, और ऐसी कलाको करते हुए वे अपनेको कलावान अनुभव करते हैं। और मैं बहुत विवेकसे अपने पुण्यका काम कर रहा हूं, भोग रहा हूँ. इसीसे ही महान् हूं, और लोगोंसे मुझमें विशेषता ही क्या है? अच्छा खाता हूं, अच्छा पहिनता हूँ, और लोगोंसे लाख दर्जे अच्छा हूँ। बढ़िया बढ़िया सारे साधन जुटे है। ऐसी अन्तरमें इन बाह्य प्रसंगोंके स्वभाव रूप प्रतीति है अज्ञानी जीवके।

ज्ञानी और अज्ञानीकी वृत्तिमें अन्तर—ज्ञानी जीवके कदाचित् भोजन करते हुएमें कोई विशेष अन्तरका अनुभव यदि आ जाय कि स्वभाव तो मेरा अनशनका और अनन्त आनन्द भोगनेका है और यहाँ कैसे विकारमें पड़ गया, जिसे ऐसा अन्तरमें बोध हो, कहो, खाते हुएमें भी उसके खेदके एक दो बूंद झलक जायें। जब कि अज्ञानी जीव खाकर मौज मानकर हंसता है, खुश होता है और इससे ही मेरा बड़प्पन है ऐसी प्रतीति करता है। खाते हुएमें बोलता भी जाता है। पान चबाते हुएमें एक ओर पान रखे है और एक ओर से बातें करता जाता है और उसमें ही बड़प्पन मानता है। कितनी ही प्रवृत्तियोंको अज्ञानी अंगीकार करता रहता है।

ज्ञानीके अन्तर्निर्भयताका परिणाम—तो जैसे प्रवृत्तिमें तो आहार हो रहा है और प्रतीतिमें अनाहार संस्कार है, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके कदाचित् भय भी हो जाय भयानक आवाज होने से दहल भी जाय तो भी वह भय ऊपरका है, अन्तरमें निर्भयताका स्वभाव है। जैसे कोई पुरुष एकाएक यह माननेको तैयार न होगा कि अमुक भोजन भी कर रहा है और उस भोजनसे अलग हो रहा है। इन दोनों बातोंको कोई पुरुष एकाएक नहीं

मान सकता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ऊपरी भय भी करता है और भीतरमें निर्भय भी रहता है तो दोनों वातोंको कोई एकाएक नहीं मान सकता है। किन्तु विचार करनेपर अपने किसी-किसी प्रसंगका उदाहरण रखने पर यह वात जंच जायगी कि ऊपरी भय होता हुआ अन्तरमें निर्भय रहे और ज्ञानस्वभावको न छोड़ सके, ऐसा उसके साहस रहता है।

ज्ञानीका अद्भुत साहस——जैसे कोई पुरुष चार भाषावोंको जानता है—हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत तथा और-और भाषावोंको जानता है। उसके सामने अंग्रेजीका लिखा हुआ पत्र आए और उसे वह बाँचने लगे तो उसके उपयोगमें केवल अंग्रेजी-अंग्रेजी भरी है पर अन्तरमें उन तीन भाषावोंका ज्ञान और संस्कार भी बदस्तूर है पर प्रवृत्तिमें केवल एक भाषा है, संस्कारमें वही सारी प्रतिभा है। इस प्रकार प्रवृत्तिमें कोई एक ऐब भी आ जाय, दोष भी हो जाय तो वह दोष केवल वृत्तिमें है, ऊपरी है। अन्तरमें तो वह सहज ज्ञानमय स्वरूपकी श्रद्धा ही बसी हुई है। ऐसे ही अन्तरङ्ग अनुभवके कारण ज्ञानी पुरुषमें ऐसा अलौकिक साहस होता है कि व्रज भी ऐसा गिर जाय कि जिसके भयसे तीनों लोकके प्राणी कम्पायमान होकर अपना-अपना मार्ग छोड़ दें तो भी वह स्वभावतः निर्भय होनेके कारण सर्व प्रकार भी शंकावोंको छोड़कर अपने आपको अबध्य ज्ञानवाला जानकर ज्ञानस्वरूप की दृष्टिसे च्युत नहीं होता।

ज्ञानीका व्यवहारप्रसंगमें ज्ञान——भैया! क्या हो गया? अमुक गुजर गया। जान लिया कि गुजर गया। उसके गुजरनेसे यह विश्वास नहीं करता कि लो मैं अशरण हो गया या बिगड़ गया, या मर गया, या बेकार हो गया। वह गुजर गया, उसकी इतनी ही आयु थी, चला गया। वह तो अमर है। पर्याय बदलकर चली गई, आते जाते हुए लोग किसी [illegible] हो [illegible] हैं, अपने समय तक एकत्रित हैं, पश्चात् अपनी-अपनी करतूतके अनु-[illegible] ऐसी वासना रहती है कि [illegible]नका कुछ विगड़ा, न मेरा कुछ बिगड़ा। जब कि अज्ञानी जीवके उसके लिए इस जगतमें अंधेरासा [illegible]पका इष्ट [illegible]जरनेपर उसे जगतमें अंधेरा ही अंधेरा दिखता है। करता है, अब तो सब बरबाद हो गया है, [illegible] [illegible]ाता है, वह कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। अब क्या अपनेको दीन हीन अनुभव करता है।

अज्ञानीके क्षोभपरक अनुभव——देखो [illegible] भैया! यहाँ आत्मप्रभुको हित नहीं है। यह प्रभुस्वरूप है लेकिन अपनी प्रभुताको छोड़ दिया [illegible] है और बाह्यमें अहंकारी हो गया है। अभी रास्तेमें एक युवक जा रहा था, खूब बढ़िया ज[illegible]ड़ेके कपड़े पहिने और ऊपर मुँह किए हुए एक अभिमानकी मुद्रासे जा रहा था। जाने वा[illegible] और क्ष[illegible]ले लोगोंको तुच्छ गिने, ऐसी दृष्टि करता हुआ जा रहा था तो मेरे मनमें दो शब्द उठे कि दे[illegible] तीन [illegible]खो यह भगवान अपना स्वरूप नहीं जानता है,

पर्यायमें कैसा अहंकार करके दुःखी होता जा रहा है ? लोग मानते हैं कि ठाठका सुख है पर क्षोभ किए बिना यह जीव ठाठ भी नहीं कर पाता। कौन मनुष्य शांतिसे वैभवको भोगता है ? उथल-पुथल मचाकर भोगता है। जो शांतिका परिणाम पूजामें अथवा ध्यानमें या चर्चामें रखा जा सकता है, क्या भोजन करते हुएमें आप किसीके शांतिका परिणाम होता है ? नही। सुख तो मानते हैं पर शांति नहीं मिलती।

ज्ञानीके अन्तरमें निश्क्षुब्धता—यहाँ आत्मदृष्टिमें शांति भी है, सुख भी है। खाते हुए में कुछ भी कल्पना न करे, निर्विकल्प होता रहे और कौर दमादम मुहमें आते जायें, पेटमें घुसते जायें ऐसा किसीके होता है क्या ? नहीं। कल्पना उठती है, चाह बनती है, मौज मानता है और अगले ग्रासकी कल्पना करता है। अब क्या खाना चाहिए ? कितनी जल्दी ये कल्पनाएँ हो जाती हैं कि एक सेकेण्डमें बीसों कल्पनाएँ हो जाती हैं। कैसा है यह मन और कैसा है यह विकार ? शांति परिणामको रखकर कोई भोग भोगा जाता है क्या ? खेद, अशांति, संक्लेश, क्षोभके साथ ही भोग भोगे जाते हैं। पर सम्यग्दृष्टिके यह क्षोभ भी मच रहा है भोग भोग जानेको, फिर भी अन्तरमें वह निश्क्षुब्ध है।

अन्तसे अविदित पुरुषका क्षोभ—जैसे कोई नाटक देखा जा रहा हो और जिसे उस नाटकका परिणाम न मालूम हो, जैसे कोई ऐसा नाटक निरपराध, सुशील, मनोज्ञ कोई पुरुष या स्त्री जो कि बीचमें बड़े संकटमें आया हो और बादमें बड़ा साम्राज्य और प्रतिष्ठा पाई हो ऐसा कोई नाटक देखा जाय, जिसके बारेमें कथा न मालूम हो ऐसा नया आदमी उस नाटकको देखे तो जब उस पुरुषपर संकट आ रहे, उपद्रव आ रहे तो वह रोने लगेगा। और कोई ऐसा हो कि जिसे सब मालूम हो कि अंतमें बड़ा सम्मान होगा, प्रतिष्ठा होगी, जय जय-कार होगी ऐसा पुरुष भी उस उपद्रवकी घटनाको देख रहा है, पर उसके दुःखका रंग नहीं व्याप रहा है, क्योंकि उसे पता है कि इसके बाद तो यह बड़ा आनन्द पायगा, बड़ा सम्मान पायगा। तो उपद्रव वाली घटना देखे जानेपर उसे विह्वलता नहीं होती है।

अन्तसे परिचित ज्ञानीका धैर्य—यह सम्यग्दृष्टि इस नाटकका ऐसा ही दर्शक है जिसे आगे पीछेका सब हाल मालूम है। उसे विदित है कि यह मैं न कभी बिगड़ा, न बिगड़ूंगा। यह मैं पहिले भी उत्तम था, अब भी उत्तम हूं, आगे भी उत्तम ही रहूंगा। वह अपरिणामी स्वभावी है। मेरी ही सत्ताके कारण मेरा ही अपने आपमें जो कुछ भाव रहता है वह भाव ध्रुव है, निर्मल है, विविक्त है, एक स्वरूप है। ऐसा उसे पूर्ण मालूम है सो कदाचित् विकारकी, विपत्तिकी, संकटकी कोई घटना आ जाय तो इसे चूँकि अपने आगे-पीछेका सारा हाल मालूम है, इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरमें क्षोभ नहीं मचाता है। दुनिया इस शरीरको जानती है। मैं जो एक ध्रुव ज्ञानस्वरूप सर्व जीवोंके समान प्रभुवत् जो आत्मतत्त्व हूं उसे

दूसरा जीव नहीं जानता। और जो जानते हैं वे स्वयं अपने आपमें घुलमिल जाते हैं। उनकी ओरसे तो मुझपर कोई संकट ही नहीं आ सकते। जिनकी ओरसे मुझपर संकट आ रहे हों, जिनकी वजहसे मुझे आपत्तियाँ भोगनी पड़ रही हों वे सब व्यवहारी जीव हैं, मूढ़ बनकर उन चीजोंको अंगीकार करता हूं और दुःखी होता हूं।

उपासनीय परमार्थ एवं अचूक औषधि—परमार्थतः जो मैं हूं उसको कोई दुःखी कर सकने वाला नहीं है। मैं अमर हूं। वस्तुका स्वभाव कभी मिटता नहीं है। वस्तुका स्वभाव मिट जाय तो वस्तुस्वरूप मिट जाय। ऐसा अमर अमिट ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूं। ऐसा संस्कार इस सम्यग्दृष्टि जीवके अति दृढ़ रहता है। यह बात यदि हो सके तो करने योग्य मात्र एक यही काम है। यदि यह कर लिया तो समझो सब कर लिया। और यदि यह बात न हो सकी तो यही हाल है कि हम भोगोंको नहीं भोगा करते हैं, भोग हमें भोग डालते हैं। मकान वही रहता है, लोकपरम्परा वही रहती है। कोई चीज हम भोग नहीं पाते हैं। सर्व पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें अपना परिणमन करते रहते हैं। उनको मैं क्या भोगता हूं? उन भोगोंका निमित्त पाकर उनका आश्रय बनाकर मैं भुग जाया करता हूं, बरबाद हो जाया करता हूं। यदि ज्ञानदृष्टि और आत्माके सहजस्वरूपका परिचय न कर पाया तो यही हाल रहेगा। कुछ भी घटना ज्ञानीके सामने आये, उसे वहाँ भी अपने अपरिणामी ज्ञानस्वभावकी स्मृति बनी रहती है, उसके संस्कार रहता है। जिसके पास अचूक औषधि हो वह ऊपरी रोगकी अधिक परवाह नहीं करता। अगर बाहरी रोग हो गया तो झट औषधि निकाली और रोग समाप्त किया। इस सम्यग्दृष्टिके पास एक अचूक औषधि है वह है सुरक्षित अमर निज स्वभावकी दृष्टि।

जीवकी बरबादीके प्रकार—विनाश दो तीन प्रकारके होते हैं। एक तो यह विनाश कि कुछ अटक तो है नहीं, कुछ आत्मामें संकट तो गुजर नहीं रहा, या आवश्यकता तो है नहीं और कल्पनामें मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा, यश अपयशका विकल्प करते हैं और अपने चैतन्यस्वभावका घात कर रहे हैं। एक तो इस तरहसे जगतके जीवोंका विनाश हो रहा है, दूसरे कोई संकट विपत्ति आ जाय, गुजर बसर कम हो जाय, घरके लोग लड़ने झगड़ने अधिक लगें, उस समयमें जो अपने स्वरूपका विस्मरण होता है यह है दूसरे प्रकारका विनाश। पहिले प्रकारका जो विनाश है वह तो अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है। यह दूसरे प्रकारका जो विनाश है मूर्खता तो यहाँ भी है मगर यह मौजसे मूर्खता नहीं हो रही है। पहिला विनाश तो मौजसे, शौकसे अपना विनाश कर रहा है। दूसरे विनाशमें कुछ संकट आ पड़ रहे हैं, लाचारीसी हो रही है। और यश फैलनेका जो विनाश है वह स्वच्छन्द होकर, ऊधमी होकर कर रहा है। तीसरा विनाश यह है कि क्षुधा, प्यास, ठंड गर्मीकी

वेदना, शरीरमें रोग हो गया है उसकी वेदनाका है। इन वेदनावोंसे अपने स्वरूपको भूलकर और इन पीड़ावोंसे अपना अहित मानकर इस चित्स्वभावी प्रभुका घात कर रहे हैं। इस तीसरे विनाशसे यह अधिक लाचारीमें पड़ गया। पर विनाश यहाँ भी हो रहा है। शौकसे अपना घात करे, लाचारीसे अपना घात करे और अधिक लाचारीसे अपना घात करे, इन तीन प्रकारके विनाशोंमें ये जगतके जीव पड़े रहते हैं।

संसारी जीवोंकी बरबादीके प्रकार—एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीव एक प्रकारसे विनाश कर रहे हैं, अधिक लाचारीसे, शरीरकी लाचारीसे। शौकसे बरबादी का उनके प्रसंग नहीं है। कीड़े मकोड़े, पेड़ पौधे ये दुःखी होते हैं, अपने स्वरूपका घात कर रहे हैं। इन्हें पानी न मिले, खाना न मिले और कोई जूतोंसे दबोच दे, कुल्हाड़ीसे काट दे, दुःखी हो गए। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव आपसी विवादसे गाली गुप्तारसे इन प्रसंगोंसे भी अपना विनाश कर लेते हैं। और समझदार संज्ञी पंचेन्द्रिय अधिक चतुर पुरुष शौकसे बरबादी भी अपनी कर डालते हैं। जो लोकमें अधिक चतुर समझे जाते हैं वे प्रायः तीनों पद्धतियोंसे अपना नाश करते हैं। पर यह घात ऐसी बेहोशीकी घात है कि अपनेमें अनुभव नहीं कर पाता कि मैं अपना कितना विनाश किए जा रहा हूं ?

कष्टहरण कुञ्जी—जैसे सवाल हल करनेकी कुञ्जी याद हो तो कितने ही सवाल बोलते जावो झट वह हल करता जाता है, और जिसे कुञ्जी याद न हो वह अट्टसट्ट कुर्याई लेखेसे कठिन प्रश्न भी आ जायगा तो भी बना लेंगे, जोड़ लेंगे—हो जायगा जवाब, तो वह इस चितामें पड़ा रहता है कि जवाब हल हो सके या न हो सके। सम्यग्दृष्टि जीवको सर्व समस्यावोंके हल करनेकी कुञ्जी हस्तगत होती है तो कोई भी समस्या आ जाय, कोई भी संकट आ जाय वह अपने स्वरूपको सम्हालता है। वे संकट चाहे कितने ही प्रकारके हों, पर कुञ्जी एक है उसे ही वह सम्हालता है और विविध संकट समाप्त हो जाते हैं।

अपनेको क्या करना योग्य—एक राज्यमें राजा गुजर गया तो मंत्रियोंने ललाह की कि अब किसे राजा बनाया जाय ? तो यह निर्णय हुआ कि सुबह ५ बजे जब यह फाटक खोला जायगा और जो फाटकपर बैठा हुआ मिलेगा वह राजा बनाया जायगा। ठीक है तय हो गया। जब सवेरा हुआ और फाटक खोला गया तो एक फकीर भिखारी जो कि रातभर फाटकके किनारे सोया था, सो मिला। सब मंत्री पकड़कर उसे ले गए। बोला हम सबमें तय हो गया है तुम्हें राजा बनना पड़ेगा। साधुने कहा भैया हम राजा नहीं बनेंगे। कहा कि नहीं, तुम्हें राजा बनना ही पड़ेगा। लो ये कपड़े उतारो और पांजामा, कोट पहिनो, पगड़ी बाँधो और मुकुट बाँधो। साधुने कहा कि अच्छा सुनो भाई हम राजा तो बन जायेंगे पर एक शर्तपर बनेंगे। क्या कि हमसे कभी कोई राजकाजकी बात नहीं करना है। तुम सब

मंत्री मिलकर सलाह कर लेना। कहा मंजूर है। तो एक पेटीमें अपनी लंगोट और झोली रख दी और राजसी वस्त्र पहिन लिए। २ साल तो अच्छी तरह बीत गए। तीसरे वर्ष एक दुश्मनने उसपर चढ़ाई कर दी। मंत्री सब घबड़ा गए। सब मंत्री राजासे सलाह लेने आए कि राजन्! क्या करें? तो राजाने कहा कि अच्छा पेटी उठाओ। पेटी आ गई। पेटी से लंगोट निकाल, सब कपड़े उतार दिए। लंगोट पहिन लिया और हाथमें झोली लिया और कहा कि अपने रामको तो यह करना चाहिए और मंत्रियोंको क्या करना चाहिए सो तुम जानो।

स्वरूपमें अचलित रहनेका अपूर्व साहस--तो कैसा ही संकट आ जाय, ज्ञानी पुरुष अपने अन्तरमें जानता है कि अपनेको तो यह कर लेना चाहिए, सबसे न्यारा, चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव कर लेना चाहिए और उन पदार्थोंको वे जानें। वे पदार्थ तो अवि-नाशी हैं, केवल पर्यायोंरूपसे परिणमते हैं। इस कारण मैं कोई निर्दयताकी बात नहीं सोच रहा हूं। वे भी मेरी तरह ही सुरक्षित हैं। केवल भ्रमसे ही हम दुःखी हैं और भ्रमसे ही दूसरे जीव दुःखी हैं। बिगाड़ किसीका नहीं होता। सब अपनी-अपनी पर्यायसे परिणमते हैं। सो अपने रामको तो स्वभावाश्रय करना चाहिए और बाकी सब रामोंका जो होना होगा सो उनका होगा, पर वे भी अमर हैं। ऐसा वस्तुस्वरूपका निर्णय होनेसे सम्यग्दृष्टि पुरुष निरन्तर साहसी रहा करता है।

॥ इति समयसार प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ॥

समयसार-प्रवचन नवम पुस्तक

आत्माका स्वसमयपना और परसमयपना—समस्त जीव दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं—स्वसमय और परसमय। स्वसमयमें चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवसे लेकर सिद्ध पर्यन्त सब स्वसमय कहलाते हैं। और इसके अतिरिक्त नीचेके गुणस्थान वाले सब जीव परसमय कहलाते हैं। स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माका सहजस्वरूप पहिचान लेते हैं और उन्हें यह अनुभव हो जाता है कि यह स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है, परिपूर्ण है। बाहरमें कुछ करनेको नहीं पड़ा है। इस श्रद्धाके बलसे उन जीवोंमें इतना बल प्रकट होता है कि पदार्थोंमें कैसा ही परिणमन हो, उस परिणमनके कारण अपनेमें कोई शंका नहीं लाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव आठ गुणोंकर सहित होता है सम्यग्दर्शन अष्टअंग युत होता है। जैसे मनुष्य के शरीरमें आठ अंग हैं इसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी ८ अंग वाला है। मनुष्यका कोई अंग निकल जाय, हाथ टूट जाय तो मनुष्य वह कार्य नहीं कर सकता जो अष्टांग पुरुष कर सकता है। मर तो नहीं जायगा वह, पर उनमें कोई अंग ऐसा विकट कट जाय कि मर्म घाती हो तो मर भी जाय। इसी तरह इन ८ अंगोंमें कोई अंग सम्यग्दर्शनका कम हो जाय तो अष्टांग सम्यग्दर्शनका जो फल होता है वह फल इस अंगहीन सम्यक्त्वका नहीं होता है और कदाचित् वह अंग इस तरहसे कटे कि सम्यग्दर्शनके मर्मका ही घात करदे तो सम्यग्दर्शन नष्ट भी हो जाता है।

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्ग—सम्यग्दर्शनके ८ अङ्ग ये हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सत, अमूढदृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना। इनका संक्षिप्त स्वरूप यह है कि जिनेन्द्रदेवके वचनमें शंका न करना, अपने स्वरूपका संदेह न करना सो निशंकित अङ्ग है। भोगोंकी आकांक्षा न करना निकांक्षित अङ्ग है, धर्मी पुरुषोंसे ग्लानि न करना निर्विचिकित्सित अङ्ग है, मूढ़ता भरी बातमें न बह जाना सो अमूढदृष्टि अङ्ग है, दूसरों के दोषोंको अप्रसिद्ध करना उपगूहन अङ्ग है, धर्मी पुरुषोंसे निष्कपट प्रेम करना वात्सल्य अङ्ग है, धर्मसे च्युत हो रहे धर्मी जनोंको तन, मन, धनसे सहारा लगाना सो स्थितिकरण-अंग है और जगतमें धर्मकी प्रभावना करना सो प्रभावना अंग है।

दृष्टान्तमें देहाङ्गकी तुलनामें प्रथम अङ्ग—देखो भैया! शरीरके ८ अंगोंमें भी सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंकी तरह कला बस रही है। जब मनुष्य चलता है, मानो एक दाहिना पैर आगे धरता है तो चलते हुएमें निःशंक कदम रखता जाता है। कोई शंका भी वह आगे कदम

रखनेमें करता है क्या ? जब वह चलता है तो अपना कदम आगे बढ़ानेमें कोई शंका तो नहीं करता ? कहीं ऐसी शंका वह नहीं करता कि धरती न धंस जाय, मेरा पैर जमीनमें न घुस जाय। वह तो निःशंक होकर शूरताके साथ अपना कदम आगे बढ़ाता है। शरीरके ८ अंगोंमें से दो पैर दो अंग है, दो हाथ दो अंग हैं और वक्षस्थल एक अंग है, पीठ एक अंग है और जिसपर बैठते हैं वह नितंब भी एक अंग है और सिर भी एक अंग है, ऐसे ८ अंग हैं। शरीरके आठ अंगोंमें भी सम्यग्दर्शनके अंगों जैसी कला भरी हुई है। जब यह मनुष्य चलता है तो अगला पैर निःशंक होकर रखता है। सम्यग्दर्शनमें एक निःशंकित अंग कहा है, तो मान लो कि जब दाहिना पैर रखते हैं तो वह पैर निःशंकित अंगका प्रतिनिधि बन गया।

द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ अङ्गकी तुलना—निःकांक्षित अङ्गमें भोगोंकी आकांक्षा नहीं रहती है, उपेक्षा रहती है, हटाव रहता है तो जब दाहिना पैर रखा तो पिछले पैरकी क्या हालत होती है ? उपेक्षा कर देता हैं, हटा देता है, उस जमीनको देखता भी नहीं है, तो वह दूसरा पिछला पैर निःकांक्षित अंगका प्रतिनिधि बन गया। तीसरा अंग होता है निर्विचिकित्सित अंग। ग्लानि न करना। मनुष्य टट्टी जाता है और बांये हाथसे शुद्धि करता है तिस पर भी किसी भी प्रकारकी ग्लानि नहीं करता, यही हुआ निर्विकित्सित अंग। ऐसा यह बांया हाथ निर्विचिकित्सित अंगका प्रतिनिधित्व करता है। चौथा अंग है अमूढदृष्टि अंग। किसी गलत रास्तेमें न बह जाना यही है अमूढदृष्टि। इसके बड़ा बल होता है और दृढ़ताके साथ वह अपनी बात पेश करता है, तो यह दाहिना हाथ भी बड़ी दृढ़ताके साथ टेबुल ठोककर अपनी बात पुष्ट करता है। कभी जोरसे कहनेका मौका आये, किसी बातको यथार्थ जतानेका मौका आये तो बांया हाथ नहीं ठोका जाता है, दाहिना हाथ ही ठोका जाता है, यह दृढ़ता गलतफेमियोंमें नहीं है। यह दृढ़तासे अंगुली मटकाकर कहता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है तो यह दाहिना हाथ अमूढदृष्टि अंगका प्रतिनिधि बन गया।

पंचम, षष्ठ, सप्तम व अष्टम अङ्गकी तुलना—इसके बाद है उपगूहन अंग। दोषों को छिपाना। प्रत्येक पुरुष अपने नितंब छिपाते हैं। तौलिया पहिने हों, धोती पहिने हों तो भी छुपाते हैं तो इन नितंबोंको छिपानेमें वह छिपाना ही उपगूहनका प्रतिनिधि बन गया। इसके बादका अंग है स्थितिकरण। स्थितिकरण वह कहलाता है कि धर्मात्मावोंको स्थिर कर दे, मजबूत कर दे। इनका बोझ खुद उठा ले। तो ठीक है। पीठ ही ऐसी मजबूत है कि उसपर बोझा लाद लिया जाता है। लोग कहते हैं ना कि इस बोझको पीठपर लादकर ले जाइए। बड़ा बोझ पीठपर ही लादा जा सकता है। यह पीठ इस स्थितिकरण अंगका प्रतिनिधि बन गई। इसके बाद है वात्सल्य अंग। वात्सल्य अंगमें धर्मात्मा जनोंपर निष्कपट प्रीति दर्शायी जाती है। इस वात्सल्य अंगका प्रतिनिधि बनता है हृदय। वात्सल्य हृदय ही

करता है, प्रेम करनेका कार्य हृदय ही निभाता है। इसके बाद है प्रभावना अंग। प्रभावना का काम सिरसे होता है। सिर न हो, सारा शरीर हो तो वह बेकार है। सिर न हो तो प्रभावनाका प्रतिनिधि क्या बनेगा ? किसी मनुष्यपर प्रभाव पड़ता है तो मुख मुद्रासे और सिर की चेष्टावोंसे पड़ता है। अभी कोई मनुष्य मुंह ढके हुए बैठा हो तो उसका डर नहीं लग सकता। कैसा ही बड़ा पुरुष हो उसका संकोच और लिहाज नहीं किया जा सकता। और उघड़ा हुआ सिर हो तो उसका प्रभाव होता है। तो इस प्रभावना अंगका प्रतिनिधि सिर बन गया।

शरीरके अंगोंकी तरह सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते हैं। इन्हीं आठ अंगोंका इस निर्जराविकारमें वर्णन चलेगा। ये अन्तिम ८ गाथाएँ हैं। निर्जराधिकारमें इसमें एक गाथामें एक अङ्गका वर्णन है। उनमें सर्वप्रथम निःशंकित अंगका वर्णन किया जा रहा है।

सम्माइट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२२८॥

ज्ञानीकी निर्भयताका कारण--सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि तत्त्वज्ञानी है, अतः निःशंक होता है, इसी कारणसे वह निर्भय है, अथवा जिस कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष ७ भयोंसे विमुक्त होता है इस कारण उसे निःशंक कहा गया है। सम्यग्दृष्टि जीव सदा काल ही समस्त कर्मफलोंकी अभिलाषासे रहित है। इसी कारण अत्यन्त कर्मोंसे निरपेक्ष है और इसी कारण उनका आत्मा अत्ययंत निःशंक दृढ़तम निर्विकल्प रहता है। ऐसा होता हुआ यह सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निर्भय कहा जाता है। भय ७ प्रकारके होते हैं। इस लोकका भय, परलोकका भय, वेदनाका भय, अरक्षाका भय, अगुप्तिका भय, मरणका भय और आकस्मिक भय। इन ७ भयोंके बारेमें क्रमशः वर्णन चलेगा।

इहलोक भयके कुछ उदाहरण---प्रथम भयका नाम है लोकभय। ऐसा भय हो कि इस लोकमें हमारी जिन्दगी अच्छी तरह निभेगी या नहीं ? क्या हाल होगा, अनेक वृद्ध पुरुषोंको देखा जाता है कि उनकी कोई जान पूछ नहीं करता, लोग उनकी परवाह नहीं करते। जब जान लिया कि अब यह किसी कामका नहीं रहा तो उसकी परवाह करने वाला बिरला ही सपूत होता है। वृद्धावस्था सबके ही आया करती है। वृद्धावस्था आने पर मेरा क्या हाल होगा, इस प्रकारका भय करना, यह लोकभय है। अथवा बड़ा विकट कानून बन रहा है। अभी जमींदारी मिटनेका कानून लगा दिया था तो उससे कितने ही परवार दुःखी हो गए। स्वर्णका कंट्रोल कर दिया तो कितने ही दुकानदार उससे परेशान हो गए। मकान किरायेका मामला भी विचित्र है। कभी ऐसा कानून बन जाय कि जिस मकानमें जो रहता है वह किरायेका २० गुना दे दे या कुछ कर दे उसका ही है। ऐसा हो

गया तो यह भी गया अथवा चारों ओरसे आक्रमणकी बात सुनाई दी जा रही है, क्या हाल होगा, इस प्रकारका भय करना यह सब लोक भय है। वर्तमान जिन्दगीमें जीवन सम्बंधी, आजीविका सम्बन्धी भय करना लोकभय कहलाता है। यह भय सताता है पर्यायदृष्टिके जीवोंको।

लोकका व्युत्पत्तिपरक आध्यात्मिक भाव—सम्यग्दृष्टि पुरुष तो जानता है कि मेरा लोक मैं हूं। मेरेसे बाहर मेरा लोक नहीं है। जो देखा जाय उसका नाम लोक है। 'देखने' शब्दमें कितनी ही धातुएँ हैं—देखना, तकना, अवलोकना, लुकना, लोकना, निरखना, निहारना आदि अनेक धातुवें हैं। ये दिखनेमें एकसे शब्द हैं, पर इन सब शब्दोंके जुदे-जुदे अर्थ हैं। मोटे रूपसे एक बात कह देते हैं पर अर्थ जुदे-जुदे हैं। जैसे तकना। तकना वह कहलाता है जो जरासे पोलके अन्दरसे देखा जाय। बच्चे लोग खेला करते हैं तो वे तक्का तक्कासे देखते हैं, देख लिया खुश हो गये, इसे कहते हैं तकना। देखना क्या कहलाता है? चक्षुवोंसे देखना—देखना कहलाता है। निहारना क्या है? उसका मर्म सोचते हुए, उसके भीतरकी परख करते हुए की स्थितिको देखना इसे निहारना कहते हैं। कहते हैं न कि क्या निहारते हो? बड़ी देरसे देखना—इसका नाम निहारना है। लोकना क्या है? किसीका पता न हो, स्वयं है, गुप्त होकर कुछ देखा जाय इसका नाम है लोकना। जो लोका जाय उसे लोक कहते हैं। उसे कोई नहीं जान सकता, उसे मैं ही जानता हूं, ऐसा मेरे द्वारा मैं ही अवलोका जाता हूँ तो यह लोक मैं स्वयं ही हूं।

परमार्थ इहलोककी विशेषतायें—यह लोक शाश्वत है। मेरा लोक कभी नष्ट होने वाला नहीं है, सदा काल व्यक्त है अथवा सब जीवोंमें प्रकट है। इस विविक्त आत्माके शुद्ध स्वरूपको तत्त्वज्ञानी पुरुष स्वयं ही केवल देखता है, ऐसा चेतन लोकमें यह अकेला ही अवलोकन करता हूं। इस लोकमें कहाँसे हानि है? क्या किसी भी प्रदेशमें मेरा विनाश हो सकता है? मेरा क्या, जगतके किसी भी पदार्थका कभी नाश नहीं हो सकता। परिणतियाँ बदलें, यह बात अलग है, मगर विनाश नहीं हो सकता है। यह लोक शाश्वत है, सदा काल व्यक्त है। इस लोकमें यह आत्मा स्वयं ही एक अकेला अवलोकन करता है, अकेला अवलोका जाता है। इस लोकका कहींसे भी कुछ विनाश नहीं होता है। कैसा ही गड़बड़ कानून बन जावे, मेरा आत्मा शाश्वत है, यह सदा काल रहेगा।

आनन्दमय तत्त्वपर तृष्णाका आघात—भैया! विचारोंकी तृष्णाकी तो हद नहीं है। तृष्णावश किसी भी परिस्थितिमें अपनेको दुःखी माना करे तो यह उसकी कल्पनाकी बात है। परन्तु है आत्मा अविनाशी व क्लेशसे रहित। जिसकी जो परिस्थिति है तृष्णा लगी है तो उस परिस्थितिमें वह संतोष नहीं करता। उससे आगेकी बात सोचता है। अ

मेरे पास कम है, इतना और हो जाय तो ठीक है। सो इस तृष्णामें क्या होता है कि जो वर्तमानमें सुखका साधन मिला है उसे ही सुखसे नहीं भोग सकता। उस तृष्णासे भविष्यकी बात तो हाथ नहीं और हाथमें आई बातका सुख नहीं, इसलिए सब एकसे गरीब हैं। लखपति हो तो, करोड़पति हो तो, हजारपति हो तो और भिखारी हो तो जिसके तृष्णा है वही गरीब है। और जब तृष्णा न रहे, जो वर्तमानमें पाये हुए समागमको आरामसे भोगकर नेशांति और धर्मकी प्रीति रखे, अमीरी तो उसे कहा जायगा, पर जो जिस परिस्थितिमें है वह अपनी परिस्थितिसे आगे तृष्णावश कल्पनाएँ दौड़ता है और दु:खी होता है। तो तृष्णा रख वाले सभी गरीब हो गए।

तृष्णाकी गरीबियोंकी समानता—वैसे शरीरका रोग कोईसा भी हो, सहा नहीं जाता, उसमें जब छंटनी करने बैठते हैं तो कोई कहता है फोड़ा फुन्सी होनेपर कि इससे तो बुखार हो जानेमें अच्छा था। आरामसे पड़े रहते, मगर यह फोड़ा तो असह्य वेदना कर रहा है। जब जिसके बुखार आता है और शरीरमें बड़ी पीड़ा होती है तो वह सोचता है कि इससे तो अच्छा था कि कोई अंगुली टूट जाती या चाकूसे छिल जाती, फोड़ा ही हो जाता उससे आरामसे बैठा तो रहता। इस तरहसे शरीरमें जो रोग होता है वह तो असह्य लगते हैं और अन्य रोग सरल लगते हैं। तो अब बतलावो कि कौनसा रोग अच्छा है? रोग सब एकसे है और सभी दु:खके कारण हैं। इसी तरह हजारपति हो, लखपति हो, अरबपति हो, जिसके तृष्णा रहती है वे सब दु:खी हैं। अरबपति क्या सोचता है कि मेरा सारा मकान यदि कूलर होता तब गर्मीमें आनन्द मिलता। गर्मीके दिनोंमें इतनेमें कहाँ सुख रखा है? करोड़पति उन अरबपतियोंकी हालतको देखकर तरसते हैं, सो वे भी चैनसे नहीं रह पाते हैं। और कदाचित् धनाढ्य पुरुषोंके सत्कारमें, प्रशंसामें कुछ कमी हुई तो वहाँपर भी अंधेरा मच जाता है। यह मोहकी नींदका सारा खेल है। तत्त्व कहीं कुछ नहीं रखा है। तृष्णा जिसके लगी है, चाहे करोड़पति हो, चाहे लखपति हो, चाहे हजारपति हो, सभी दु:खी हैं। केवल मोहके स्वप्नमें सारा गौरव माना जा रहा है।

आत्माकी परिपूर्णता व निर्भयता—यह मैं लोक सर्वसंकटोंसे परे हूं। ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द आदि अनन्तगुणोंका पिण्ड हूं। स्वत: परिपूर्ण हूँ, यह मैं पूर्ण हूँ प्रभु परमात्मा है वह तो उभयथा पूर्ण है। प्रभुका स्वभाव और भाव दोनों पूर्ण हैं, हमारा स्वभाव पूर्ण है, मैं परिपूर्ण हूं, अखण्ड हूँ, अविनाशी हूँ, अनन्त गुणोंका पिण्ड हूं। इस मुझ पूर्णमें से जब जो पर्याय प्रकट होती है वह पर्याय परिपूर्ण ही प्रकट होती है। किसी भी समयकी पर्याय अधूरी नहीं। प्रत्येक पर्याय अपने समयमें परिपूर्ण ही प्रकट होती है। किसी भी समयकी पर्याय अधूरी नहीं रहा करती। प्रत्येक पर्याय अपनेमें पूर्ण ही हुआ करती है, चाहे विभाव

पर्याय हो, या स्वभाव पर्याय हो, कोई भी पर्याय यह प्रार्थना नहीं करती है कि जरा ठहर जावो, मैं अधूरी ही बन पायी हूं। प्रत्येक समयमें जो परिणमन होता है वह परिणमन पूर्ण ही होता है। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। मैं परिपूर्ण हूँ, प्रभु भी परिपूर्ण है। इस पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है। अधूरा कुछ नहीं प्रकट होता है और यह पूर्ण परिणमन प्रकट होकर दूसरे समयमें विलीन हो जाता है। तो यह पूराका पूरा विलीन हो गया, फिर भी यह मैं पूराका पूरा हूं, ऐसा परिपूर्ण अविनाशी अखण्ड मैं आत्मा हूं। इस आत्मामें कहांसे भय ?

लोकका परमार्थ आधार—मेरा लोक मुझसे बाहर नही है। यदि मेरा लोक मुझसे बाहर होता तो बाहरके संयोग वियोगके कारण मेरे लोकमें फर्क आ जाता। पर मेरा लोक तो मैं ही हूं। दुनियावी लोग भी ऐसा कहते हैं, जब किसीका कोई मात्र सहारा मालिक या पिता या स्त्री कोई गुजर जाय तो दुनियावी लोग कहते है कि मेरी तो दुनिया लुट गयी। अरे तेरी दुनिया कैसे लुट गई, तेरी दुनिया तेरा निज आत्मा है और अपनेको असह्य मान बैठा है यही दुनिया लुट गई। तो मेरी दुनिया मैं ही हूँ, मेरी दुनिया मुझसे बाहर नहीं है। वह तो एक अज्ञानीका कथन है। परमार्थसे तो जब तक अज्ञान है तब तक दुनिया लुटी हुई है और जब ज्ञान होता है तो उसकी दुनिया आबाद रहती है। पर्याय बुद्धिसे संयोग अथवा वियोगसे बरबादी और आबादी है। परपदार्थके संयोगवियोगसे मेरी दुनिया न आबाद होती है और न लुटती है।

संसार लुटेपिटोंका समूह—भैया ! यह सब लुटे हुए पुरुषोंका ही समूह है। इसीको ही संसार कहते है। लुटे हुए पुरुषोंके समूहका नाम संसार है। कौनसा ऐसा भाव है जो लुटा हुआ नहीं है ? एकेन्द्रिय जीव पेड़ पौधे, पशु पक्षी ये क्या लुटे हुए नहीं है ? ये अपना ज्ञान दर्शन सब कैसा गँवा चुके हैं। एक जड़वत् खड़े हुए हैं। ये कीड़े मकोड़े ये अरहंत सिद्धकी तरह प्रभुता वाले जीव होकर कैसी निम्न स्थितिमें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चारों संज्ञावोंके वश होकर लुटे हुए जीवन गुजार रहे हैं। इन पशु पक्षियोंकी बात देखो। इनका सब कुछ लुटा हुआ है, पराधीन हैं बेचारे। छोटे बालक भी उन्हें डंडेसे पीट सकते हैं। अगर तेजीसे वह पशु सांस ले ले तो अपना स्थान छोड़ कर बाहर भग जाते हैं, ऐसे बालक भी उन्हें पीट लेते हैं। ऐसे बलवान पशुवोंको भी यह बालक डंडेके वश किए हुए हैं। ये शेर हाथी आदि जिनके बलका बहुत बड़ा विस्तार है—एक दुर्बल मनुष्य भी अंकुश लेकर, बिजलीका कोड़ा हाथमें लेकर वशमें किए हुए है। जहाँ चाहे घुमाए। जहां चाहे उनसे काम कराये। कैसे लुटे हुए हैं ये पशु पक्षी ? और मनुष्य भी क्या लुटा हुआ नही है ? लुटा हुआ है। अपने स्वार्थकी वासनामें आसक्त होकर स्वार्थभरी आशाको लिए हुए यत्र

तत्र दौड़ रहा है। अपना जो अनन्त आनन्द है, अनन्त ज्ञान है उसकी परवाह नहीं है। क्या ये लुटे हुए नहीं है ? ये सब लुटे हुए हैं। लुटे हुए जीवोंके समूहका नाम संसार है। यह जीव अज्ञानसे ही लुट गया है। ज्ञान हुआ कि यह आबाद हो जाता है। मेरा लोक मैं हूं। स्वयं परिपूर्ण हूं, मेरा विनाश नहीं है, ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवके होता है, इस कारण वह सदा निःशंक रहता है।

सम्यग्दृष्टिके परलोकभयका अभाव—सम्यग्दृष्टि जीवको परलोकका भी भय नहीं रहता। परलोकका भय तो मिथ्यादृष्टिको भी नहीं रहता, उसे क्या परवाह पड़ी है ? कैसा होगा, क्या न होगा ? जो वर्तमान मौज है उसका मौज लेता रहता है, परलोकका भय तो मिथ्यादृष्टिके लट्ठमार पद्धतिसे नहीं रहता है। कदाचित् सम्यग्दृष्टिको परलोकका भय रहता है। हमारा परलोक न बिगड़ जाय, अच्छा समागम आगे मिले। कदाचित ऐसी कल्पनाएं भी हो जाती हैं। पर यहां प्रकृत विवरण अंतरंग श्रद्धाके भयकी ओरसे कहा जा रहा है। चूँकि सम्यग्दृष्टि जानता है कि जैसे यह लोक भी मेरे आत्मतत्त्वसे बाहरकी चीज नहीं है इसी प्रकार परलोक भी मेरे आत्मतत्त्वसे बाहरकी चीज नहीं है। कहीं भी होऊंगा यह मैं ही तो होऊँगा। और यह मैं अपनी जानकारी बनाए रहूं तो कुछ संकट ही नहीं है। संकट तो अपने आपकी जानकारी जब नहीं रहती है तब आते हैं। चाहे किसी भी गतिमें यह जीव हो, देव भी क्यों न हो, इन्द्र भी क्यों न हो, यदि उसे अपने आत्माका परिचय नहीं है तो वह संकटमें है। रागद्वेष भरी बाह्य वृत्तियोंमें वह रहेगा तो संकट अज्ञानमें होते हैं। ज्ञानमें तो संकट नहीं है। जब-जब भी किसी जीवका संकट किया जा रहा हो, समझना चाहिए कि हम ज्ञानवृत्तिमें नहीं हैं, अज्ञानकी वृत्तिमें लगे हैं।

परलोकभयके अभावका कारण–भैया ! परलोक अन्य कुछ नहीं है। यह ही शाश्वत एक सदा व्यक्त ज्ञायकस्वरूप यह मैं आत्मा ही इस लोककी भांति परलोक भी हूँ, ऐसा सम्यग्दृष्टिके बोध रहता है। परलोकका भी भय नहीं रहता। इस जीवपर संकट जन्म मरणका लगा है। यहांके पुण्योदयसे प्राप्त कुछ वैभवमें क्या आनन्द मानें ? यहांके ये सारे समागम मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, उनकी ओरसे मुझमें कुछ आता नहीं है। मैं ही उनको विषयभूत बनाकर अज्ञानसे कल्पनाएँ किया करता हूं और दुःखी रहा करता हूँ। मेरा यह लोक जो मेरे द्वारा लोका जा रहा है वह मेरे अवलोकनमें रहे तो वहाँ भयकी कुछ बात नहीं है।

भयास्पद संसार—भयोंके स्वरूपकी ओर देखो तो यहाँ भयोंका भयानक वन है। कैसे-कैसे भव इस संसारी जीवके साथ शुरूसे लगे ? सबसे निम्न भव निगोदका है। निगोद जीव दो प्रकारके होते हैं—एक सूक्ष्म निगोद और एक बादर निगोद। सूक्ष्म निगोद तो किसी भी वनस्पतिके आधार नहीं हैं। यह आकाशमें सर्वत्र लोकाकाशमें व्यापक हैं। उन्हें

अग्नि जला नहीं सकती, जल उन्हें गला नहीं सकता, हवा उन्हें उड़ा नहीं सकती, लाठीकी ठोकर उनके लग नहीं सकती। तब क्या वे बड़े सुखी होंगे ? आग जलाए नहीं, पानी गलाए नहीं, हवा उड़ाए नहीं, किसीका आघात हो नहीं सकता। ऐसे सूक्ष्म निगोद जीव है तो क्या वे सुखी हैं ? वे एक सेकेण्डमें २३ बार जन्ममरण कर रहे हैं निरन्तर, जब तक उनके निगोद भव है और जन्म मरणके दुःखका क्या स्वरूप बताया जाय ? जो मरता है सो जानता है, जो जन्मता है सो जानता है। जन्म अपना हो चुके बहुत वर्ष व्यतीत हो गए, सो खबर नहीं है कि जन्मके क्या कष्ट होते हैं और मरण अभी आया नहीं है, सो मरणके भी कष्टोंका पता नहीं है। इस जीवने अनन्त जन्ममरण किए हैं मगर इसका ऐसा कमजोर ज्ञान है कि पूर्व भवके जन्ममरणकी तो कथा ही क्या है, इस जन्मकी भी याद नहीं है कि कैसे पैदा हुए थे, कैसे कष्ट थे, और जन्मकी बात छोड़ो——साल दो सालकी उम्रकी भी बातें याद नहीं हैं। जब हमारा छोटा बचपन था उस समय कैसी स्थितिमें रहते थे, यह कुछ याद नहीं है। जन्म मरणका बड़ा कठिन दुःख होता है।

निगोद जीवोंका संक्षिप्त विवरण——सूक्ष्म निगोद सर्वत्र भरे हैं। जहां सिद्ध भगवान विराजे हैं उस जगह सूक्ष्म ही निगोद हैं, साधार निगोद नहीं हैं। बादर निगोद वनस्पतियों के आश्रय रहते हैं। जिन वनस्पतियोंके आश्रय रहते हैं उनका नाम है सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति। त्रस जीवोंके शरीरमें भी बादरनिगोद रहते हैं, पर बादरनिगोद जीव स्वयं वनस्पति कायिक हैं। बादरनिगोदकी जाति स्थावरमें शामिल है। आलू अरबी वगैरह ये स्वयं प्रत्येकवनस्पति हैं। ये देखनेमें आने वाले आलू ये निगोद नहीं हैं, ये प्रत्येकवनस्पति है। जैसे कि अमरूद, केला आदि खाने वाली चीजें प्रत्येकवनस्पति हैं। इसी तरह आलू आदि भी प्रत्येकवनस्पति हैं, पर अन्तर यह हो गया कि आलू आदिमें साधारणवनस्पति का और निवास है जब कि अमरूद आदिमें साधारणवनस्पतिका निवास नहीं है।

भक्ष्यफलकी अभक्ष्यता—ये फल जो भक्ष्य हैं जब कोमल अवस्थामें होते हैं, जिनकी रेखा नहीं निकलती उस समय साधारणवनस्पति रहती है और जैसे ही ये ककड़ी आदि फल बढ़ जाते हैं तो उनमें जवानी होनेके चिन्ह प्रकट होते हैं, तब साधारणवनस्पति अपना स्थान छोड़ देता है। फिर अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहलाता है। पहिले वह नहीं खाने योग्य है और बादमें वह खाने योग्य हो जाता है। बहुत कोमल भिण्डी, बहुत कोमल ककड़ी जो बड़ी छोटीसी रहती है वह सप्रति प्रत्येकवनस्पति है। छोटेमें कोई भी हो वह सप्रति प्रत्येकवनस्पति होती है, पर कितनी ही वनस्पतियाँ ऐसी हैं कि पहिले अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति रही थीं, पर पश्चात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक बन जाती है। ऐसी भी कुछ वनस्पतियाँ हैं। वे न खाने योग्य वनस्पतियाँ है। जो खाने योग्य हैं वे सब प्रारम्भमें सप्रतिष्ठित

प्रत्येकवनस्पति होती हैं और बढ़ जाने पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाती हैं।

प्रत्येक शरीरी स्थावरोंकी विचित्र दशा—निगोद भवसे निकला तो स्थावरके भवमें देख लो—निगोद जीव तो साधारणवनस्पति हैं और आलू आदिक साधारणवनस्पति सहित प्रत्येकवनस्पति हैं। स्थावरमें चलिए—कैसे-कैसे पेड़, लक्कड़से खड़े हैं, आकार प्रकार कैसा है? एक जगह खड़े हैं, कुछ बल नहीं दिखा सकते हैं। जिसने काटा सो काट लिया, छेदा सो छेद लिया। ऐसी उनकी शक्तिकी हालत है। हवाकी बात देखो। पहियोंमें टायरोंमें भर दिया, भरी है १ वर्ष तक। वह हवा जीव ही तो है। उसे फूंकते हैं आगके सामने, तो हवा आगके पास पहुंचती है, या नाना विचित्र दशाएँ होती हैं, और स्वयं कैसा हवाका स्वरूप है, यह अनन्त शक्तिका स्वामी होकर भी इसकी कैसी-कैसी परिस्थितियाँ होती हैं? जल बन गया, अब घड़े-घड़ेमें जलकाय भरा हुआ है। पृथ्वी पत्थरके रूपमें, जमीनके रूपमें, सोना चाँदीके रूपमें, कैसे-कैसे ढंगसे इसका जन्म होता है?

संसारी प्राणियोंकी दयनीय दशा—स्थावरोंसे निकला तो त्रसमें दो इन्द्रियके भाव देख लो—केचुआ, जोक, शंख, कौड़ी, सीप, लट, सुरसुरी कैसे-कैसे भव मिले है? अब इन जीवोंमें सूक्ष्मतासे सबमें हड्डियाँ होती हैं, पर केचुआ कुचल जाय तो हड्डीका पता ही नहीं चलता है। कैसा सूक्ष्म रूप उन हड्डियोंका बन गया, कैसा शरीर बन गया, ऐसा गंदा भव यह हुआ करता है। तीन इन्द्रिय जीव दो इन्द्रियसे कुछ अच्छा है सम्हला हुआ, शरीर है, कुछ कठोर है, कुछ पैर निकल आए हैं, चल फिर सकता है, कुछ विकास हुआ है जीवकी शरीर रचनामें, पर वे भी यत्र तत्र डोलते रहते हैं। खाने पीनेकी ही उनकी धुन रहती है। कुछ विवेक नहीं है; कुछ बुद्धिमानीकी बात नहीं कर सकते हैं। चार इन्द्रिय जीवोंमें देख लो भौंरा, मक्खी, मच्छर कैसी-कैसी परिस्थितियोंके ये भव हैं जिनकी मनुष्यकी दृष्टिमें कुछ कीमत ही नहीं है। जिनके पैर बाँधकर लोग खेलसे मन बहलाया करते हैं। भैया! पञ्चेन्द्रियमें देख लो कैसे-कैसे पशु पक्षी पड़े हैं? समुद्रमें कैसे-कैसे ढंगके जीव हैं, ये सब कारणपरमात्मा हैं और इनकी ऐसी परिस्थिति है। कैसा मगरका शरीर, कैसा मच्छका शरीर, गेंडा, हाथी आदि कैसे-कैसे विचित्र शरीर वाले हैं। अज्ञानी नारकी मनुष्य देवका भी भव मिला तो भी क्या। ये ऐसे भयानक भव हैं, पर उन भवोंकी बात सोचकर जिसे भवसे निकलनेका मार्ग नहीं मिला है, आत्मस्वरूप परिचयमें नहीं आया ऐसे जीवोंको उन भवोंका बड़ा भय लगता है।

सम्यग्दृष्टिकी निर्भयता—सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि आत्मस्वरूपका सम्यग्ज्ञान बनाए हुए है, वह जानता है कि यह स्वरूप तो इस स्वरूप मात्र है। उसे इसमें कोई भय नहीं मालूम होता है। भयरहित ही है, ऐसा ज्ञायकस्वरूप अनुभवमें आए इनकी यह चर्चा है।

और उनके लिए ही यह बात शोभास्पद होती है। जहाँ गए वहाँ यही तो आत्मा है, यही ज्ञानस्वरूप है। एक कोई बहुत बड़ा आफीसर हो और उसका कहीं तबादला होनेको हो तो बड़े आफीसरको तबादलेके समय तबादलेका जैसा अनुभव भी नहीं होता है कि मेरा तबादला हो रहा है। नौकर यहां भी मिलते हैं और जहां जायगा वहां भी नौकर तैयार हैं। उसके जानेमें रेलगाड़ीका एक डिब्बा रिजर्व रहता है। नौकर-चाकर ही सब सामान रखें, कोयला धरें तो नौकर-चाकर, गाय भैंसकी रक्षा करें तो नौकर-चाकर। उसको तबादलेका क्या दु:ख है? छोटा आदमी तबादलेकी बात सुने तो उसे बड़ा दु:ख हो जाता है। वहां मकान मिलेगा कि न मिलेगा। पहिले अकेले जावें, जब दो चार महीने जम लें तब सबको लिवा ले जायेंगे। समर्थ आफीसरके तबादलेमें कोई संकट नहीं है। वह जानता है कि जैसे यहां हैं तैसे ही वहां पहुंचेंगे। जैसा यहां लोगोंका सत्कार है तैसा वहां भी सत्कार है। तो ज्ञानी पुरुष जिसने अपने आपको केवल ज्ञानानन्दमय तका है उसका भी तबादला हो, मरण हो तो उसको भय नहीं रहता है। वह जानता है कि यह मैं पूराका पूरा तो अब यहांसे जा रहा हूं। ज्ञानमय स्वरूपपर दृष्टि हो और ऐसी दृष्टि रहते हुए कहीं अवस्थित हो, कहीं गति हो, उसे कोई क्लेश नहीं है, कोई भय नहीं है। भयका कारण परभव नहीं है। भयका कारण स्वरूपदृष्टिसे चिग जाना है।

भयका मूल स्वरूपच्युति—भैया! इस लोकमें मरण भी नहीं हो रहा, रोग भी नहीं आ रहे, खाने पीनेके संकट भी नहीं आ रहे और स्वरूपसे चिगा हुआ है तो उसको वहीं संकट है। मरणको ही संकट नहीं कहते हैं। स्वरूपसे चिगने की स्थितिको संकट कहते हैं। क्या मिलता-जुलता है परवस्तुवोंसे? पर कैसी खोटी बान पड़ी हुई है कि अपने स्वरूपके स्पर्शमें कुछ भी क्षण नहीं गुजार पाता और बाह्य पदार्थोंके उपयोगमें दौड़ा-दौड़ा फिरता है। ऐसे स्वरूपसे न चिगनेका दृढ़ संकल्प लिए हुए इस ज्ञानी जीवके सम्बन्धमें कहा जा रहा है कि इसको परलोकका भय नहीं होता, किन्तु नि:शंक होकर सतत स्वयं सहज ज्ञानका अनुभव करता है। यह सम्यग्दर्शनके नि:शंकित अंगका वर्णन चल रहा है। किसी प्रकारकी सम्यग्दृष्टिको शंका नहीं रहती।

ज्ञानीका निःशङ्क निर्णय—जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें शंका न करना, यह व्यवहार से नि:शंकित अंग है और अपने स्वरूपमें शंका न करना, भय न मानना सो यह निश्चयसे नि:शंकित अंग है। निशंकितता तभी रहती है जब किसी प्रकारका भय नहीं होता। आखिरी इसका निर्णय शुरूसे ही परवस्तुवोंमें यों रहता है कि कुछ बिगड़ता है बिगड़े, कोई वियुक्त होता है हो, परपरिणतिसे मुझमें कुछ विगाड़ नहीं होता। प्राथमिक अवस्थामें यह ज्ञानी भले ही थोड़ी शंका करे, पर ऊपरी भय करने पर भी अंतरमें इसके सुदृढ़ निर्भयता है।

ज्ञानी गृहस्थ है, सम्यग्दृष्टि है, वह सारी व्यवस्था बनाता है और अपने गुजारे के योग्य वस्तुओंका संरक्षण भी करता जाता है पर ऐसी भी हालतमें यदि वहीं निर्णयकी जैसी बात आए तो वह यही निर्णय देता है कि परमें जो कुछ हो सो हो, उसकी परिणतिसे मैं अपना विनाश नहीं मान सकूंगा।

ज्ञानकी प्रियतमताके प्रसंगमें धन परिजनमें प्रियताकी छटनी—सबसे अधिक प्रिय आत्माको ज्ञान होता है। अधिक प्रियपने का लक्षण यह है कि दो पदार्थोंको सामने रखो और इन दोनों पदार्थोंके बिगड़नेका, नाश किया जानेका कोई अवसर आ रहा हो तो उन दो में से किसको बचाएं? जिसको बचाएँ उसको समझो प्रिय है। जैसे धन और परिवार के लोग। यदि कोई डाकू आकर धन और परिवार दोनोंपर हमला करते हैं तो यह परिवार को बचानेका यत्न करता है और धनकी उपेक्षा करता है। मिट जावो तो मिट जावो धन, पर घरवालोंकी जान तो बचे। यदि ऐसा उद्यम करता है तो बतलावो कि उसको अधिक प्रिय धन हुआ कि कुटुम्बके लोग हुए। कुटुम्बी जन अधिक प्रिय हुए।

ज्ञानकी प्रियतमताके प्रसंगमें परिजन व स्वयंमें प्रियताकी छटनी—यदि कुटुम्बीजनों पर और इस खुदपर कोई डाकू गुन्डा हमला करें तो ऐसी स्थितिमें प्रकृत्या वह अपनी जान बचानेका यत्न करता है। तो क्या कहा जायगा कि कुटुम्बी जन और खुद इन दोनोंमें प्रियतम कौन रहा? खुदका शरीर, खुदकी जान।

ज्ञानकी प्रियतमता—जब ज्ञानकी उपादेयता साधुता जीवनमें आयगी तो अब वह जंगलमें अपनी समताकी सिद्धिमें लगा है। कोई शेर, स्यालनी या शत्रु साधुकी जान लेनेको आ रहा है तो उस समय दो प्रकारके प्राणोंपर हमला है—द्रव्यप्राण और भावप्राण। एक तो शरीरकी जान याने द्रव्यप्राणकी जानका हमला हो रहा है और साथ ही उसमें विकल्प रहे, राग रहे, मोह रहे तो ज्ञानस्वरूप भावप्राणके नाशका भी मौका है। जहां दोनों प्राण जा रहे हैं ऐसे अवसरपर वह ज्ञानी संत भावप्राणोंकी रक्षा करेगा और द्रव्यप्राणोंकी उपेक्षा कर देगा। जान जाती है तो जावो, पर अपनी ज्ञाननिधिका विनाश नहीं करता। क्योंकि ज्ञाननिधिका विनाश करके जान बचानेका यत्न किया और बचे या न बचे, पर उस यत्नके विकल्पमें जन्ममरणकी परम्परा बढ़ना निश्चित है। और एक ज्ञाननिधि बनी रहे और मरण होता हो होने दो, जान जाती है तो जाने दो। अब तक तो अनन्त बार जन्म किया है। ज्ञाननिधि बचा लिया तो जन्ममरणकी परम्परा ही खतम हो जायगी, ऐसा जानकर वहाँ भी द्रव्यप्राणोंकी उपेक्षा करता है और भावप्राणोंकी, चेतन प्राणोंकी, समतापरिणाम की रक्षा करता है। बतावो उन दोनोंमें कौन प्रिय रहा? चैतन्यप्राण, भावप्राण। वह भाव-प्राण है ज्ञान। अधिक प्रियतम ज्ञानस्वरूप ही रहा। जगतके कोई पदार्थ हमारे लिए हित-

कर और प्रियतम है नहीं ।

परलोकका अर्थमर्म—ज्ञानी जीवका निसर्गतः ज्ञानस्वरूपकी ओर झुकाव रहता है । यह मेरा परलोक है, अथवा परलोक मायने उत्कृष्ट लोक । पर मायने उत्कृष्टके भी है । मेरा उत्कृष्ट लोक यह चैतन्य है । पहिले चिट्ठियोंमें लिखा जाता था कि अमुक लालका परलोक हो गया । परलोकके मायने दूसरे लोकमें चला गया—यह मूलमें भाव न था, क्योंकि दूसरे लोकमें चला गया, इसमें क्या प्रशंसा हुई ? यों तो सभी जीव मरकर दूसरे लोकमें जाते हैं। परलोकका अर्थ है उत्कृष्ट लोक । अब वे उत्कृष्ट लोकमें चले गए । परलोक शब्दकी बड़ी ऊंची व्याख्या है । यह परलोक स्वर्गलोकसे भी बड़ा है, स्वर्ग उत्कृष्ट नहीं है, परलोक उससे भी उत्कृष्ट हो सकता है । तो परलोक लिखनेकी पहिले प्रथा थी । स्वर्गलोक लिखनेकी प्रथा पहिले नहीं थी । जिन्हें पता होगा पुरानी चिट्ठियोंका वे जानते होंगे । तो परलोक मेरा क्या है ? यह ज्ञानस्वरूप, यह मैं स्वयं ही परलोक हूं, उत्कृष्ट लोक हूं । इस मुझ परलोकमें किसी भी परपदार्थसे कुछ बाधा नहीं आती । हम ही स्वरूपसे चिग जाते और अपने आपमें बाधा उत्पन्न कर डालते है ।

ज्ञानामृतके अनुभवका भाजन—निज-निज स्वरूपास्तित्वके दृढ़ किलेमें अवस्थित पदार्थोंको निरखने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुष इहलोकका भी भय नहीं करते और परलोकका भी भय नहीं करते । वे तो निःशंक होते हुए सतत स्वयं सहज ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करते हैं । यह ज्ञान ही तो अमृत है । जो न मरे सो अमृत । न मृतं इति अमृतं । ऐसा कौन है जो न मरे ? वह आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप है । इसका कभी विनाश नहीं होता । सो ज्ञानी पुरुष इहलोक और परलोकके भयको नहीं करता और सतत इस ज्ञानका पान किया करता है । जिन्हें अपने आत्माका अनुभव करनेका यत्न करना हो सीधा यह यत्न करना चाहिए, अपने आपके बारेमें अपनेको यों निरखना चाहिए कि यह ज्ञानमात्र है ! अन्य-अन्य रूपमें इसे न निरखो किन्तु जाननस्वरूप, ज्ञानका जो स्वरूप है उसे अपनी दृष्टिमें लो और वही-वही स्वरूप ही नजरमें, अनुभवमें लानेका यत्न करो, और कुछ बात सोचो । तो केवल ज्ञप्ति स्वरूपके द्वारसे इसे ज्ञानानुभव होगा । और जो शुद्ध ज्ञानका अनुभव है शुद्ध अर्थात् केवल मात्र जाननका अनुभव है वही आत्माका अनुभव है । ज्ञानानुभवके द्वारसे ही आत्मा का अनुभव हो सकता है । यह ज्ञान निःशंक सतत इस सहज ज्ञानका अनुभव करता है और दोनों लोकोंके भयसे दूर रहता है ।

वेदनाभयके निषेधके प्रसंगमें वेदना शब्दकी निरुक्ति—आजके प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवको वेदनाका भय नहीं रहता । अज्ञानी जन इस शरीरको अपना सर्वस्व मानते हैं । इस शरीरमें थोड़ा बुखार आदि हरकत होनेपर शरीरके अहन्त्व

भावके कारण अपनेमें पीड़ाका अनुभव करते हैं। जैसे-जैसे शरीरमें अहंबुद्धि ममबुद्धि तथा सम्बन्ध बुद्धि छूट जाती है वैसे ही वैसे जीवकी शरीरकी अवस्थावोंके कारण पीड़ा उत्पन्न नहीं होती। सुकुमार, सुकौशल, गजकुमार इत्यादि अनेक ऋषियोंने अनेक उपद्रव सहे, पर उन उपद्रवोंके बीच उनके शरीरके प्रति अहंबुद्धि न थी इस कारण उन्होंने पीड़ा अनुभव न की। यह सामान्यतया सम्यग्दृष्टि जीवका विचार चल रहा है। वह जानता है कि वेदना तो यह ही एक मात्र है जो निश्चल ज्ञानस्वरूप स्वयं वेदा जाता है। वेदना कहते हैं जो वेदा जाय। तो जाननेमें परमार्थतः ज्ञानस्वरूप ही आता है।

वस्तुकी स्वतन्त्रता—भैया! जानना ज्ञानगुणका काम है, और ज्ञानकी क्रिया ज्ञान-गुणको छोड़कर अन्य वस्तुपर नहीं लगती है। ज्ञान जो कुछ करेगा वह ज्ञानका ही करेगा, परवस्तुका कुछ नहीं करता। ज्ञान परवस्तुका कुछ कर देता है यह सोचना अज्ञान है। करनेकी बुद्धिका ऐसा अंधकार अज्ञानमें छाया रहता कि यह नहीं देखा जा पाता कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, परिणमनशील है, वह अपने आपमें ही अपनेको कुछ परिणमा सकता है। किसी अन्य पदार्थका कुछ नहीं करता है। भले ही आगका निमित्त पाकर पानी गर्म हो गया, पर आगने पानीका कुछ नहीं किया। भले ही सूर्यका निमित्त पाकर यह उजेला हो गया पर सूर्यने कमरेमें घुसकर कुछ नहीं किया। इस प्रकाशमय वातावरणमें हम आपके शरीर का निमित्त पाकर यहाँ यह छाया परिणम गई, फिर भी इस शरीरने छाया परिणमी हुए जगहमें कुछ नहीं किया। यह विभाव, विकार निमित्त बिना होता नहीं है और निमित्त इसे करता कुछ नहीं है ऐसे यथार्थताकी बात बड़े विवेकके साथ समझी जा सकती है। यह हुआ एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके प्रति कथन।

एक वस्तुमें गुणोंका स्वतन्त्र स्वतंत्र स्वरूप—भैया! अब अभेद विवक्षाको एक आत्मद्रव्यमें ही देखो इसमें अनन्तगुण भरे हुए हैं। वे समस्त अनन्त गुण केवल अपनी अपनी क्रियाएँ करते हैं। दूसरे गुणोंपर उनकी क्रिया आ जाय तो फिर गुण भेद ही क्या रहा? जाननकी क्रिया यदि सुख गुण करने लगे तो फिर ज्ञान गुण माननेकी जरूरत क्या रही? और इस प्रकार सुख गुण औरोंको भी क्रिया करने लगे तो सभी गुणोंका अभाव हो गया। और और गुण सुखकी क्रियाएँ करने लगें तो सुखका अभाव हो गया। प्रत्येक गुण मात्र अपनी ही क्रियाएँ करता है दूसरे गुणकी क्रिया नहीं करता है। आत्मामें ज्ञान गुण है वह जाननेका ही काम करेगा और अपने गुणोंकी परिणतिसे ही जाननका काम करेगा, दूसरेमें नहीं। इस तरह जानना जो होता है वह ऐसे ज्ञानका ही जानन होता है।

परज्ञातृत्वके मन्तव्यका अवकाश—भैया! जाननने क्या किया, निश्चयसे बतावो। जाननमें जानन ही आया। पर जाननमें जो आकार झलका, जो बाह्य अर्थका ग्रहण हुआ

विषय बना उसपर दृष्टि पहुंचती है और इस दृष्टिमें यह मोही, यह अज्ञानी यह कहता है कि मैंने मकान, घर दूकान जान लिया आदि, पर जानता कोई किसी अन्यको अन्य नहीं है। सब अपने आपको ही जानते रहते हैं। दूसरेको कोई नहीं जानते हैं। दूसरेकी तो बात दूर रही, अपने आत्मामें जो अनन्तगुण हैं उन गुणोंमें से ज्ञानगुण केवल ज्ञानको ही जानता है, अन्य गुणोंको नहीं जानता, अन्यत्र क्रिया नहीं करता उपादान रूपसे एक बनकर, हाँ विषय सब होते हैं। ज्ञानके विषयमें जैसे ये बाह्यपदार्थ आ रहे हैं इसी प्रकार ज्ञानके विषयमें आत्माके ही दर्शन चारित्र सुख आदि गुण आते हैं। तो जैसे ज्ञानके ज्ञेय ये बाह्यपदार्थ बनते हैं इसी प्रकार ज्ञानके ज्ञेय आत्माके अन्य गुण भी बनते हैं।

ज्ञानकी ज्ञानमें गतिकी परमार्थता—इस आत्माके द्वारा क्या वेदा जाता है, क्या अनुभवा जाता है, इसकी चर्चा चल रही है। ज्ञानके द्वारा परद्रव्योंको नहीं अनुभवा जाता, किन्तु ज्ञानके द्वारा स्व ही अनुभवा जाता है। पर द्रव्य ज्ञानके विषय होते हैं तो विषयके लक्ष्य करने वाले लोग प्रायः ज्ञानकी क्रियाका उपचार करते हैं। मैंने किवाड़ जाना। अरे मैं यहाँ रहता, अपने प्रदेशमें बैठा, मेरा कार्य कहीं मेरेसे बाहर हो जायगा? किसी भी द्रव्यकी क्रिया उस द्रव्यके बाहर नहीं होती है। फिर मेरा ज्ञान किवाड़में कैसे चला गया? और सब लोग कहते हैं, निषेध किया जाय तो सब लोग झूठ मानेंगे। सारी दुनिया तो जानती है कि हमने घर जाना, किवाड़ जाना और मना किया जा रहा है कि आत्मा किसी परद्रव्यको जानता ही नहीं। अचरज होता है, किन्तु अब युक्ति और विवेकका आश्रय लेकर आगे बढ़िये, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है जब इस पुद्गलको देखते हैं तो पुद्गलकी क्रिया पुद्गलमें ही होती है, किसी अन्य द्रव्यपर नहीं होती है। यह बात बहुत स्पष्ट ज्ञानमें आती है। एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जिसका संदेह होने लगता कि ज्ञान परद्रव्योंमें क्यों न जाना चाहिए? यह भी ज्ञानकी ही महिमा है।

आनन्द गुणकी परिणतिका आधार—भैया! अन्य गुणोंके भी कामकी बात देखो—आनन्दगुण आनन्दपरिणमन करता है। क्या मेरा आनन्दगुण आपके आनन्दका परिणमन कर सकता है? कभी नहीं कर सकता है। इसमें भी मोही जनोंको संदेह हो सकता है। देखा तो जाता है कि पिता पुत्रको सुखी करता है। अमुक अमुकको आनन्द देता है, फिर कैसे मना किया जा रहा है? इसमें भी संदेह मोही जनोंको हो सकता है, पर ज्ञानकी अपेक्षा आनन्दकी स्वतंत्रता जरा जल्दी समझमें आ सकती है, हम अपने आनन्दका ही परिणमन किया करते हैं, दूसरे जीवोंके आनन्दका परिणमन नहीं कर सकते। मुझमें शक्ति नहीं है कि मैं किसी दूसरे द्रव्यमें कुछ कर दूं।

श्रद्धा गुणकी परिणतिका आधार—और [illegible] गुण ले लीजिए। श्रद्धा है, मायने

विश्वास करना है। हम अपने आपका श्रद्धान बना सकते हैं या दूसरे जीवोंका श्रद्धान बना सकते हैं? यह आनन्दगुणकी अपेक्षा और जल्दी समझमें आयगा। इसकी भिन्नतासे हम मात्र अपने आपमें अपने आपका श्रद्धान कर सकते हैं, दूसरे जीवोंके श्रद्धानका परिणमन हम नहीं बना सकते। तभी तो बहुत-बहुत समझाना पड़ता है अजी आप विश्वास रखो ऐसा ही होगा। आपको विश्वासमें कमी नहीं करना है। फिर भी दूसरा हिचकिचाता है। जब तक उसका श्रद्धान अपने आपमें विश्वासरूप नहीं परिणम जाता है तब तक हिचकिचाता रहता है। आत्मामें श्रद्धा गुण है और उस श्रद्धागुणका कार्य अपने आपके आत्मामें होता है, परपदार्थोंमें नहीं होता है। इसी तरह आनन्दगुणका कार्य अपने आपमें होता है किसी परमें नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञानगुणकी क्रिया अपने ही ज्ञानगुणमें होती है, न अपने अन्य गुणमें होती है और न अन्य द्रव्यमें होती है। ज्ञानकी क्रिया है जानन। जानन किसी परवस्तुके लिए नहीं होता। जानन अपने द्वारा होता है, अपने लिए होता है, अपनेमें होता है।

पदार्थके सत्त्वका प्रयोजन—भैया! एक बात विशेष यह जानना है कि ये द्रव्य सब क्यों हैं, इनकी क्या जरूरत है? ये द्रव्य होकर अपना कौनसा मतलब साध रहे हैं? न होते तो क्या था? तो यह प्रश्न तो उठता नहीं कि ये द्रव्य न होते तो क्या नुकसान था, क्योंकि ये हैं। अब हैं तो यह देखिए कि ये क्यों हैं, और ये द्रव्य अपना सत्त्व रखकर अपना कौन सा प्रयोजन साध रहे हैं? तो एक नियम है कि परद्रव्योंका काम परिणमन उत्पाद व्यय अपना सत्त्व रखने भरके लिए होता है, उनका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं। पदार्थ सब परिणमते हैं। वे सब अपना सत्त्व बनाए रहनेके लिए परिणमते हैं, इससे आगे उनका प्रयोजन नहीं है। सो पुद्गलकी यह बात जल्दी समझमें आ जाती है। ये पुद्गलद्रव्य हैं, इनका प्रयोजन अपने आपकी सत्ता बनाए रहना है और कुछ नहीं है। ये अपने आपसे बाहर अपनी कुछ हरकत नहीं करते। इनका और कोई प्रयोजन नहीं।

सत्त्वके प्रयोजनके कुछ उदाहरण—ईंधन पड़ा है, जल जाय तो जल जाय। उस ईंधन का यह प्रयोजन नहीं है कि जलूं नहीं, ऐसा ही बना रहूँ। पुद्गल है, जो होगा सो होगा। उसे क्लेश नहीं होता है। परिणाम गया, राख बन गया, पर सत्त्व नहीं छोड़ा। पुद्गलके परिणमनका प्रयोजन अपनी सत्ता कायम बनाए रहना है। और क्या प्रयोजन है? यह घड़ी क्रिया कर रही है, क्या इसका यह प्रयोजन है कि सबको समय बताकर परोपकारशील बनी रहे? यह प्रयोजन घड़ीका नहीं है। इसे तो अपनी क्रिया करने भरका प्रयोजन है। हम आप देख लें तो देख लें, न देखें तो न सही। प्रत्येक पदार्थ परिणमते हैं। उनका प्रयोजन किसीको दुःखी अथवा सुखी करनेका नहीं है। वे मिले हैं तो सुखी करनेके लिए

नहीं मिले हैं और बिछुड़ते हैं तो दुःखी करनेके लिए नहीं बिछुड़ते हैं। उन पदार्थोंका प्रयोजन अपनी सत्ता कायम रखना है और अन्य प्रयोजन नहीं है। और सत्ता कायम रखना भी कोई बुद्धिपूर्वक प्रयोजन नहीं है। वस्तुका सत् सदा प्रयोजक है। पदार्थका प्रयोजन मात्र अपनी सत्ता रखना है। ये अपने नानारूप परिणमते रहते हैं। उन सब परिणमनोंका प्रयोजन अपनी सत्ता बनाए रहना है, और कुछ नहीं है।

प्रत्येक गुणकी प्रतिक्षण भावक्रियाशीलता—सत्त्वके परमार्थप्रयोजनके अतिरिक्त सब मोहकी कल्पना है, इन्द्रजाल है। इन्द्रजाल किसे कहते हैं? इन्द्र मायने आत्मा और जाल मायने मायावी रूप। यह जो हम आप सबका झमेला है वह सब इन्द्रजाल है। यह सब मोहकी कल्पना भर है पर परमार्थ प्रयोजन नहीं है। और विशेषतासे चलो तो प्रत्येक गुण का प्रयोजन चूंकि विशेषता लेकर कहा जा रहा है, अपनी-अपनी क्रिया करना है, कोई सत् खाली नहीं रहा सकता। जो बड़ा काम करने वाला पुरुष है वह निरन्तर काम करता रहता है और जो महाआलसी पुरुष है वह भी निरन्तर काम करता रहता है। कर्मठ पुरुष अपने मन, वचन, कायकी तरह तरहकी चेष्टाएँ करके काम करता है तो प्रमादी पुरुष का मन क्या खाली रहता है? विकल्प नहीं करता है क्या? मनका काम बराबर चलता रहता है। शरीरका कार्य प्रतिसमय चल रहा है। रूप, रस, गंध, स्पर्शका प्रतिसमय परिणमन चल रहा है। और अपनेमें ही जगतके बीचमें दौड़ लगाए जा रहा है। खूनका खूब दौड़ हो रहा है मुर्दा है तो बन ही नहीं सकता। पर प्रत्येक जीव निरन्तर कुछ न कुछ काम करता है।

प्रत्येक गुणका अपना-अपना स्वतंत्र कार्य व प्रयोजन—इस जीवमें भेदरूपसे गुणोंको देखें तो प्रत्येक गुण निरन्तर अपना कार्य कर रहा है। ज्ञानकी क्रिया जानना है। सो ज्ञान जानता रहता है। श्रद्धाकी क्रिया कुछ न कुछ विश्वास बनाए रहती है, सो प्रत्येक जीवमें देखो कुछ न कुछ विश्वास बना हुआ है। आनन्दगुणका काम आनन्दकी किसी अवस्थारूप परिणमना है। सो देख लो—कोई जीव दुःखरूप परिणम रहा है, कोई सुख रूप परिणम रहा है, वह भी तो आनन्द गुणका परिणमन है। और कोई आनन्दरूप ही परिणम रहा है तो वह आनन्दगुणका परिणमन है, यह ज्ञान जाननरूप परिणमता है। और इसके जाननेका प्रयोजन क्या है? यह ज्ञान जानन क्यों करता है? जाननके लिए जानता रहता है। इस ज्ञानका जाननसे अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। विषय साधना, रागद्वेष करना ये प्रयोजन ज्ञानके नहीं हैं। ज्ञानकी क्रिया होती है वह जानकर समाप्त हो जाती है, जाननसे आगे नहीं बढ़ती है। शरीरमें कुछ बुखार फोड़ा आदि हरकत हो रहे हों, उस

समयमें यह जीव जानता है। किसे जानता है ? ज्ञानको जानता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी विचारधारा चल रही है। ज्ञानी संत पुरुष समझ रहा है कि यह वेदना क्या चीज होती है और किसलिये होती है ?

परमार्थतः वेदनाका दिग्दर्शन—यह वेदना भयका प्रकरण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके वेदनाका भय नहीं होता। वेदना यह ही है कि जो अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। ज्ञान अन्यको वेद ही नहीं सकता। अहंत्व बुद्धि रखकर राग भावके कारण कल्पना करता है कि मैं ठंढा हो गया, मुझे बुखार आ गया। मेरेमें धौंकन हो रही। रागवश यह अनुभवा जाता है। परमार्थतः यह जीव अपने ज्ञानको ही वेद रहा है। जैसे आम चूसते हुएमें यह जीव आमके रसका अनुभवन नहीं कर सकता है। कल्पना करता है कि मैंने आमके रसका स्वाद लिया, चूस लिया, पर वस्तुतः आमके रसविषयक ज्ञानको करता है, उसके साथ राग लगा है इस कारण उस प्रकारका सुख परिणमन करता है और साथमें अज्ञान लगा है इसलिए आमकी ओर आकृष्ट होता है। और समझता है कि मैंने आमसे सुख पाया। यह जीव आमके रसका अनुभव नहीं कर सकता। आमके रसविषयक ज्ञानका अनुभव करता है। यह जीव शरीरकी पीड़ाका अनुभव नहीं कर सकता, शरीरविषयक हरकतोंके ज्ञानका अनुभव कर सकता है। साथ ही राग लगा हो तो संक्लेशरूप परिणमन बन जायगा, पर शरीर की वेदनाको यह जीव नहीं जानता है।

अनाकुल वेदना—जीवको केवल एक यह वेदना होती है जो यह अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। किस प्रकार वेदा जाता है ? अनाकुलरूप होकर वेदा जाता है। आकुलरूप होकर तो परपदार्थ ही लक्ष्यमें आयेंगे, स्वपदार्थ न आयगा। अनाकुल होकर ही यह विश्वास जमेगा कि तो यह मैं तो केवलज्ञानको ही वेदा करता हूं, अन्य किसीको नहीं जानता। ऐसा ज्ञान कैसे हो जाता है ? जब यह वेद्य-वेदक भावको निर्भेद करता अर्थात् जानता हुआ भाव और जानने वाला भाव इनको निर्भेद रूपसे जानता हो। ज्ञान और ज्ञेयका भेद नहीं उठता ऐसी स्थितिमें अनाकुल होकर इस सम्यग्दृष्टि जीवका जीवन यह एक अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। ऐसा अनुभव होनेके बाद उसकी यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि बाह्य पदार्थोंसे तो वेदना ही नहीं आया करती है।

एकक्षेत्रावगाहितामें भी पृथक्त्व—जैसे घरमें रहते हुए घरके किसी कुटुम्बमें मन न मिले तो घरमें रहते हुए भी आप न्यारे माने जाते हैं। जब प्रीति नहीं है, मन ही नहीं मिलता है, मुख मोड़े रहते हो तो घरमें रहते हुए आप न्यारे हो रहे हैं। ऐसे ही यह शरीर और जीव एक क्षेत्रावगाहमें है। जिस आकाशवृत्तिमें जीव है उसी आकाशवृत्तिमें शरीर है और जिस निज क्षेत्रमें आत्मा है उसके साथ साथ यह शरीर है, फिर भी यह आत्मा इस

शरीरसे प्रेम नहीं कर रहा, इसका मन ही शरीरमें नहीं रहा, शरीरसे उपेक्षा करता है, अपने ज्ञानस्वरूप परिणमन रूप हितकी धुनमें रहता है, तो यह तो शरीरसे जुदा ही है, अथवा जैसे एक पुत्रसे मन नहीं मिल रहा है, पुत्रसे आप जुदा हैं और एक दिनको कहकर दालानमें ठहरा हुआ मुसाफिर है उससे मन नहीं मिल रहा है, जुदा है, इसी तरह ये जुदा-जुदा हैं। उस ही एक क्षेत्रावगाहमें अनेक पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल पड़े हुए हैं जिनका कि बंधन कुछ नहीं है। उनसे भी इस ज्ञानीका मन नहीं मिल रहा है और निमित्त-नैमित्तिक बंधन रूप पड़े हुए इन शरीर अणुवोंसे भी मन नही मिल रहा है, यह ज्ञानी उन समस्त परपदार्थोंसे जुदा है। तो इस मुझ आत्मासे अत्यन्त जुदा जो शरीर है या अन्य भी कोई द्रव्य हो उसके इसकी वेदना ही नहीं है, तो फिर ज्ञानी जीवके शरीरादिक अन्य पदार्थों का भय कैसे हो सकता है ?

शरीरवेदनाभयके अभावका एक उदाहरण—भैया ! देखो पुराण समय में कैसे-कैसे पुरुष हो गए—सनत्कुमार, चक्रवर्ती मुनि अवस्थाके बाद पूर्व कर्मोदयवश जब उनके कोढ़ निकल आया तो एक देवने आकर उनकी परीक्षा करना चाहा कि इनकी बड़ी प्रशंसा सुनी जा रही है कि अपनी श्रद्धामें, आचरणमें, लगनमें बड़े पक्के हैं सो देखें तो सही। वह देव वैद्यका रूप बनाकर सड़क पर चलता हुआ वह पुकारता जाये कि मेरे पास कोढ़की पेटेण्ट औषधि है—इस औषधिके लगाते ही सारा कोढ़ समाप्त हो जाता है। पुकारता हुआ वह साधु महाराजके पास पहुंच गया, बोला कि महाराज ! आप संतपुरुष हैं, क्या हम आपकी थोड़ी सेवा कर सकते हैं ? साधु महाराजने कहा कि हमें इस कोढ़की परवाह नहीं है—हमें तो जन्म मरण और भव रोग मिटाने की परवाह है, अगर तुम मेरे आंतरिक रोग मिटा सको तो हम तुम्हारी सेवा लेनेको तैयार हैं। वह देव चरणोंमें गिर गया, बोला—महाराज उस रोगके वैद्य तो आप ही है। हम जैसे किंकरोंसे यह कहाँ बन सकता है ? भयानक उपसर्गोंके भयानक रोगोंके प्रतिकारकी वाञ्छा न की जाय, यह किसी विशेष बल पर ही तो सम्भव है। वह विशेष बल है ज्ञानका।

ज्ञानबलका प्रताप—निज ज्ञानस्वरूपके अनुभवका बल, समस्त परवस्तुवोंसे पृथक् ज्ञानमात्र अपनेके अनुभव कर चुकने का बल, जिसके यह दृढ़ संकल्प रहता है कि परवस्तु किसी भी रूप परिणमे उसके किसी भी परिणमनसे यहाँ रंच भी प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि मैं ही अपने आपका परिणमन करूँ तो अपने आप प्रभावित होता हूँ, दूसरे पदार्थोंसे मैं प्रभावित नही होता, ऐसा वस्त्र स्वातन्त्र्यका भान सम्यग्दृष्टि पुरुषके होता है। जब अन्य पदार्थोंसे इस आत्मतत्त्वमें कोई वेदना ही नहीं आती तो पर-वेदनाका क्या भय ? ज्ञानी जीव ऐसा जानता हुआ निःशंक रहता है। कुछ थोड़ीसी तबियत खराब होनेपर बड़ी खराब

तबियतका नक्शा खींच लिया जाता है और मोही जीव दु:खी होता है, यह न जाने अन्य रूप रेखसे फिर क्या होगा ?

ज्ञानीके अनागत व आगतभयका अभाव—भैया ! जितना डर सामने आई हुई विपत्तियोंका नहीं होता उतना डर अपने विकल्पोंमें आने वाली विपत्तियोंका होता है। दरिद्रता कदाचित आ जाय उसमें अपना जीवन काट लेगा, मगर विकल्प ऐसा हो जाय कि यदि हमारा नुक्सान हो गया तो फिर कैसे गुजारा होगा ? उसमें पीड़ा अधिक होती है। गुजर जाय कोई इष्ट तो वह सह लेगा, पर विकल्प आ जाय तो उसकी बड़ी पीड़ा मालूम होती है। नरकगतिके दु:ख यह जीव सह लेता है, सहते ही हैं, सहनेके आदी हो जाते हैं, पर यहाँ नरकगतिके दु:खोंका जब वर्णन सुना जाता है तो दिल कांप जाता है। ओह कैसे कैसे दु:ख नरकमें भोगे जाते हैं ? तो यह विकल्पोंका दु:ख बड़ा कठिन दु:ख होता है। ज्ञानी जीवके विकल्प ही नहीं होता है। इसलिए उसके ऐसी बात भी उपस्थित नहीं होती है। वह जानता है कि अपने स्वरूपास्तित्वके दृढ़ किले से गढ़ा हुआ यह मैं किसी अन्यके द्वारा बाधित नहीं हो सकता। इस शरीरादिसे वेदना ही नहीं उत्पन्न होती। अतः निर्भय और नि:शंक होता हुआ यह ज्ञानी पुरुष स्वयं सदा सहज ज्ञानस्वभावका ही अनुभव किया करता है।

ज्ञानीके अत्राणभयका अभाव—ज्ञानी पुरुषको भय नहीं रहता है, इस प्रकरणमें आज अत्राणका भय ज्ञानी पुरुषको नहीं रहता है—इसका वर्णन होगा। जो पदार्थ सत् है वह नाशको प्राप्त नहीं होता है। यह वस्तुकी स्थिति है। जो सत् है वह सत्के कारण अविनाशी हुआ करता है। यहां उसका सर्वथा अभाव कैसे किया जा सकता है ? चाहे पानी का हवा हो जाय, हवाका पानी बन जाय फिर भी सद्भूत तत्त्व तो रहता ही है। सत्का कभी अभाव नहीं होता। ज्ञान स्वयं सत् है। यहाँ ज्ञानके कहनेसे ज्ञानमय द्रव्यको ग्रहण कनरा चाहिए। यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व स्वयमेव सत् है, फिर दूसरे पुरुषोंसे इसकी क्या रक्षा कराना है ? अज्ञानी जीवको यह भय रहा करता है कि मेरी रक्षा हुई या न हुई। मेरी रक्षा किससे होगी ? पराधीन भाव वह बनाए रहता है, परोन्मुख रहता है। ज्ञानी सोचता है कि इसका तो कभी नाश ही नहीं होता है क्योंकि यह सत् है, फिर दूसरेसे क्या रक्षाकी याचना करना ? अतः ज्ञानीके अत्राणका भय नहीं होता।

स्वरक्षाके प्रति ज्ञानीकी दृढ़ धारणा—इस ज्ञानका अरक्षा करने वाला कुछ भी नहीं है। है कोई ऐसा पदार्थ जो इस ज्ञानमय सत्का अभाव कर डाले ? जो सत् है वह सत् ही रहेगा। किसी भी सत्को कुचलकर, पीटकर, जलाकर क्या अभाव किया जा सकेगा ? नहीं। पुद्गल घाटे पीटे जा सकते हैं तिन तकका तो अभाव है नहीं, फिर जो अमूर्त है, ग्रहणमें

नहीं आता ऐसे इस चैतन्य सत्के अभावकी क्या कल्पना की जा सकती है ? इसकी किसी भी पदार्थसे अरक्षा नहीं है। कदाचित् मरण भी हो जाय तो भी यह अरक्षामें नहीं है। इसका नाता शरीरसे नही है। आत्माका नाता अपने स्वरूपसे है, जिससे इसका सम्बंध है उससे यह कभी अलग नहीं होता। इतना ही तो ज्ञानी और अज्ञानीका अन्तर है। अज्ञानी का आत्मा शरीरसे सम्बंध जोड़ता है और ज्ञानीका आत्मा शरीरसे पृथक् अपने स्वरूप सर्वस्व रूप अपनेको तका करता है। शरीर भी छूट जाय तब भी मैं स्वरक्षित हूं। यहांसे कहीं भी चला जाऊँ तब भी मैं स्वरक्षित हूं। इसकी अरक्षा नहीं हो सकती है। फिर ज्ञानी जीवको भय कहांसे हो ? वह निःशंक होता हुआ सतत् सहज ज्ञानका ही अनुभव करता है।

किसीके द्वारा किसी दूसरेकी रक्षाकी असंभवता—वैसे तो लौकिक अरक्षाकी दृष्टिसे भी देखो तो उदय लौकिक रक्षाके योग्य है, पुण्य है तो लौकिक अरक्षा भी कोई नहीं कर सकता। और कभी न रहा इतना पुण्य तो लौकिक अरक्षामें स्वयं पहुंच जायगा। परमार्थसे तो रक्षा है पवित्र भाव, स्वभावदृष्टिका स्वालम्बनका भाव और अरक्षा है परालम्बी भाव। सो स्वावलम्वी भावमें रहते हुएके अरक्षाका कोई प्रश्न ही नहीं होता। वह तो स्वयं अरक्षित है। परावलम्बी भावमें तो मूढ़ जीव स्वयंकी भी रक्षा नहीं कर सकता है, दूसरेकी तो बात ही क्या है ? दूसरे तो कदाचित् भी दूसरेकी रक्षा नहीं कर सकते है।

परसे परकी अरक्षाका एक उदाहरण— एक पौराणिक कथा है कि देवरति राजा अपनी रानी रक्तामें रत थे। सो राज्यकी प्रजा व मंत्रियोंने राजासे कहा कि महाराज या तो राज्यका प्रबंध कीजिए या राज्यको छोड़ रानीको लेकर चले जाइए। हम सोसाइटीके लोग राज्यका प्रबंध करेंगे। उसे राज्य मंजूर न हुआ और रक्ता रानीको ले जाकर राज्य छोड़कर चल दिया। दूसरेके राज्यमें एक शहरके किनारे वे दोनों एक दो दिनको ठहर गए। वहाँ राजा तो गया था शहरमें कुछ सामान लेने और वहाँ खेतपर एक चरस हांकने वाला कूबड़ा, लंगड़ा चरस हांक रहा था। और अच्छा सुरीला गाना गा रहा था। रानी गायनकी बड़ी शौकीन थी। तो उसे वह गायन सुहा गया। और उसके पास जाकर उससे रानी बहुत कुछ कहने लगी कि तुम घर छोड़कर हमारे संग चलो तो कूबड़ा बोला कि तुम तो राजाकी रानी हो, राजा सुनेगा तो हमारा भी सिर छेद करेगा और आपका भी सिर छेद करेगा। रानी बोली कि तुम कुछ परवाह न करो। अब वह उदास होकर बैठ गई। राजाने पूछा कि क्या बात है ? रानीने कहा कि आज आपकी वर्षगाँठका दिन है। तुम राजमहलमें होते तो बड़े सिहासनपर बैठाकर आपका समारोह मनाती। यहाँ जंगलमें क्या करें ? राजा बोला कि जो चाहो सो कर सकती हो। रानीने कहा कि अच्छा फूल मंगावो, डोरा मंगावो। राजाने फूल व डोरा मंगा लिया। अब रानीने मोटे धागेमें फूलोंके हार १०–१५ बनाये

और कहा कि यहाँ महल तो है नहीं, यह पर्वत है सो उस पर्वतकी चोटीपर चलो, मैं आपका समारोह करूँगी। चढ़ गए दोनों उस पहाड़की चोटीपर। वहाँपर राजाको बिठाकर चारों ओरसे बाँध दिया और जब देख लिया कि अब राजा पूरे बंधनमें आ गया तो वहांसे धक्का लगा दिया। अब वहांसे लुढ़कते-लुढ़कते राजा कहीं पहुंचा हो।

कुबुद्धिका नाच--रक्ताको क्या मालूम कि राजा कहां गिरा है? वह तो खुशीसे नीचे आई और कूबड़ेको लेकर चल दी। पेट तो भरना ही है, सो एक चौड़ी डलिया लिया जिसमें वच्चे झूलते हैं। उस डलियामें कूबड़ेको बिठाकर सिरपर रखकर जगह-जगह जाये। यह रक्ता नाचे, कूबड़ा गाये, जो कुछ मांगनेसे पैसे मिलें उनसे दोनों अपना पेट भरें। उधर देवरति राजा लुढ़कते हुए नदीमें जा गिरे और उसमें बहकर किसी देशके किनारेमें जा लगे। उसी समय उस देशका राजा मर गया था, सो मंत्रियोंने एक गजराज हाथीकी सूँडमें माला डालकर छोड़ दिया और यह तय किया कि यह हाथी जिस किसीके गलेमें यह माला डाल देगा उसे राजा बनाया जायगा। उस हाथीने घूम फिरकर उस देवरतिके गलेमें वह माला डाल दी। अब तो देवरति राजा हो गया। उधर रक्ता अपने सिरपर डलिया रखे और उस पर कूबड़ेको बिठाये घूम फिर रही थी और यह प्रसिद्ध कर रही थी कि मैं पतिभक्त हूँ। दोनों घूमते फिरते राजदरबारमें पहुंचे। रक्ताको क्या मालूम कि वह राजा यहांका राजा बन गया होगा? उसे तो यही मालूम था कि वह राजा मर गया होगा। वहां भी रक्ता नाचे और कूबड़ा गाए। ऐसा देखते ही देवरतिको वैराग्य हो गया कि ओह कर्मोका उदय ऐसा है।

लोकमें स्वकर्मानुसार रक्षाका एक दृष्टान्त एवं सर्व सत्‌की स्वयं सुरक्षा—भैया! जिसका उदय अच्छा है उसके स्वयमेव रक्षाका प्रयत्न बन जाता है। श्रीपालको धवल सेठने समुद्रमें गिरा दिया, श्रीपाल किसी लकड़ी या किसी अन्य चीजका सहारा पाकर किनारे पहुँच गए। उस राज्यके राजाका यह वचन था कि जो इस समुद्रको तैरता हुआ किनारे आए उसे आधा राज्य देंगे और अपनी लड़की की शादी कर देंगे। इस कथाको सभी जानते हैं। तो जिसका उदय अच्छा है उसकी रक्षा स्वयमेव हो जाती है। जिसका उदय खोटा है उसकी दूसरा कौन रक्षा करेगा? खोटे लोग अपनी कल्पनामें अरक्षित हैं फिर भी पदार्थोंके स्वरूपकी ओरसे उदय खोटा हो तो, अच्छा हो तो, इस चेतन वस्तुका नाश कभी नहीं होता। किसी भी परिस्थितिमें यह चेतन रहे रक्षित है। चेतनकी ही बात क्या, प्रत्येक पदार्थ रक्षित है। किसीका कोई क्या विगाड़ करेगा, वे नष्ट हो ही नहीं सकते। सत्‌का स्वयं सिद्ध अधिकार है कि डट कर बने रहना। कैसा भी आक्रमण हो, कैसा भी संयोग वियोग हो, फिर भी कोई सत् अधूरा नही रहता। पूर्ण सत् बराबर रहा करता है। जो सत् है वह कभी

भी नाशको प्राप्त नहीं होता। और यह ज्ञान स्वयं सत् है। इस ज्ञानको धर्मीकी दृष्टिसे
देखो तो सत् है, धर्मकी दृष्टिसे देखो तो सत् है, अभिन्न स्वरूप है। देखनेकी दो दृष्टियाँ है
और धर्मी कुछ अलगसे तो है नहीं, जो है सो है, वह न धर्मी है, न धर्म है। एक धर्मको
मुख्य किया तो वह धर्मी हो गया और अन्य धर्म जो गौण किया गया वह धर्म हो गया।
धर्म और धर्मीकी व्यवस्था मुख्यतया और गौण रूपसे है। इस आत्मामें कौनसे गुणकी
मुख्यता की जाय कि इस धर्मी आत्माका शीघ्र परिचय हो जाता है? समस्त गुणोंमें गुणराज
ज्ञान गुण है जिस ज्ञान की प्रधानतासे इस आत्माका सुगमतया परिचय होता है यह ज्ञान
स्वयमेव सत् है, इस कारण मुझे दूसरेसे रक्षाकी क्या आशा करना? दूसरेके द्वारा क्या
रक्षित होना? मैं तो स्वयं स्वरक्षित हूं। इसका कभी अत्राण ही नहीं है, अरक्षा ही नहीं
है, फिर ज्ञानी जीवको भय कहांसे हो? संसारमें ऐसा वह ही बड़ा पुरुष है जिसका इस
स्वतःसिद्ध आत्मतत्त्वपर अधिकार हो गया है! क्षण-क्षण बाद जब चाहे तब ही इस
आत्मदेवकी सिद्धि कर सकता है। ऐसा ज्ञानीमें बल प्रकट हो गया है। वह बल है सत्के
यथार्थ सत्त्वके ज्ञानका बल।

कुछ भी वक्तव्यसे वस्तुस्वरूपके परिवर्तनका अभाव—दुनिया कभी भी कुछ भी कहो,
किसी भी द्रव्यपर किसी अन्यद्रव्यका कुछ अधिकार नहीं होता। अधिकारकी बात कहना
उपचारसे है। जिसको निमित्त करके यह जीव कुछ विकल्प बनाता है और लोकव्यवस्थामें
जिसके पास अधिक समय तक वस्तु रहे उसे ही लोकव्यवस्थामें अधिकारी कहा गया है।
परमार्थसे इस जीवका किसी भी अन्य वस्तुपर रंच भी अधिकार नहीं है। ज्ञानी जानता है
अपने अन्तरकी श्रद्धामें सत्का यथार्थस्वरूप। यह श्रद्धाबल इस ज्ञानीके संवर और निर्जरा
का कारण होता है। गृहस्थ ज्ञानीमें ऐसी कौनसी खूबी है कि जिस खूबीके कारण सदा
प्रसन्न, निर्मल, अनाकुल अन्तरमें रहा करता है, जब कि परिस्थितियां इसके विपरीत हैं।
जिसके लिए लोग यह देखते हैं कि यह इतना घरमें फंसा है, इतनी व्यवस्थामें पड़ा है,
लोगोंको यह दिखता है पर ज्ञानी पुरुषके श्रद्धामें एक ऐसा अपूर्व बल है जिस बलके प्रसादसे
परवस्तुवोंमें वह आत्मीय मधुर आनन्दका अव्यक्तरूपमें स्वाद लिया करता है।

दृष्टिके अनुसार स्वाद—एक ऐसा कथानक है कि राजा और मंत्री राजसभामें बैठे
हुए थे। मंत्रीको नीचा दिखानेके लिए राजाने बोलना शुरू किया कि मित्र मंत्री! आज
रातको हमें एक स्वप्न आया है कि हम आप दोनों आदमी घूमने जा रहे थे, रास्तेमें दो
गड्ढे मिले, एक गड्ढेमें गोबर भरा था और एकमें शक्कर भरी थी। सो गोबरके गड्ढेमें
तो आप गिर पड़े और मैं शक्करके गड्ढेमें गिर पड़ा। तो मंत्री बोला कि महाराज ऐसा ही
हमें स्वप्न आया, बिल्कुल ठीक यही स्वप्न आया [illegible] गे थोडा और देखा कि आप

हमें चाट रहे थे और मैं आपको चाट रहा था। अब बतलावो कि राजाको क्या चटाया ? गोबर ? और स्वर्दने क्या चाटा ? शक्कर। तो ये चातुर्यकी बातें थीं। राजा शर्मिन्दा हो गया कि इसने हमें गोबर चटाया। तो देखो गोबरमें पड़ा हुआ भी व्यक्ति शक्करका स्वाद ले सकता है। ज्ञानी गृहस्थकी बाह्य परिस्थितियाँ बहुत-बहुत कार्योंके व्यग्ररूपा दीखा करती हैं पर धन्य है वह ज्ञानी जिसके अन्तरमें वस्तुकी चतुष्टय सीमाका भान हो जाता है और जहाँ यह विश्वास हो जाता है कि मेरा उद्धार किसी अन्य वस्तुके द्वारा हो ही नहीं सकता वह ज्ञानी अन्तरमें ज्ञानका स्वाद ले लेता है।

अज्ञानी और ज्ञानीकी भावस्थिति——यह बहुत बड़ा भयानक अंधेरा है जो धन वैभव, नाम, प्रतिष्ठा, आबरू आदिकी कोई तरंग उठा करे। करता क्या यह जीव ? कर्मविपाकोंके वशीभूत है। वशीभूत भी क्या है, उदय है पर क्षयोपशम भी साथमें है। उस क्षयोपशमके रहते हुए अपनी बुद्धिसे चाहे अपनेको कुपथकी ओर ले जाकर बिगाड़ कर ले, चाहे सत्पथ की ओर उपयोग कर ले, ऐसा प्रमादी है, ऐसा संस्कारोंका शिकारी है कि वह निज ज्ञायक-स्वभावके मननरूप आश्रयरूप सत्पथका परिग्रहण नहीं कर पाता है। ज्ञानी जीवकी दृष्टिमें वस्तुका यथार्थस्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अस्तित्व लिए है। मेरा किसी अन्य पदार्थमें प्रवेश नहीं है।

हम आपके इस पिंडोलेमें भी वस्तुवोंकी स्वतन्त्रता—यहाँ ही देखो हम आप जितने भी लोग बैठे हैं ये मुख्यतया तीन चीजोंके पिण्डोला हैं। एक आत्मा, दूसरा कार्माणवर्गणा और तीसरी शरीरवर्गणा। इन तीनोंका पिण्डीभूत है यह पुतला। फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना जुदा-जुदा सत् रखते हैं। ऐसा पिण्डीभूत होनेकी दशामें भी मैं पुद्गलका कुछ नहीं कर सकता; कर्मका, शरीरका कुछ नहीं कर सकता। जो होता है इन पदार्थोंमें वह उनमें स्वयमेव निमित्त पाकर होता है। स्वयमेवका अर्थ यह है कि केवल उनके स्वकी परिणति होती है। पर तो निमित्त हो सकता है, किन्तु परिणति केवल एककी ही होती है। प्रत्येक पदार्थ केवल अकेले परिणमता है। किसी दूसरे पदार्थकी परिणतिको साथ लेकर नहीं परिणमता है। तब प्रत्येक पदार्थ केवल ही परिणमता है और प्रतिक्षण परिणमनशील है। अपनी जाति सीमाको छोड़कर भी परिणम नहीं जाता। तब ऐसा ही मैं हू, फिर मेरी अरक्षा कहाँ है ? ऐसा ज्ञानी जीव अपना विश्वास बनाए है इस कारण ज्ञानीके अरक्षाका भय नहीं है।

ज्ञानीका विलास——यह ज्ञानी सम्यग्ज्ञानके कारण निःशंक होता हुआ अपने सहज ज्ञानका, स्वाभाविक ज्ञानका ही निरन्तर अनुभव करता है। अज्ञानी ज्ञानके स्वादको कभी भी नहीं लेता, क्योंकि उसकी बहिर्मुखी दृष्टि है और ज्ञानी पुरुष श्रद्धामें अन्तरमें कभी भी

परका अनुभव करता हो, स्वाद लेता हो, कुछ बनाता है, ऐसा कभी ध्यान नहीं होता, विश्वास नहीं होता । वह जानता हुआ भी नहीं जानता, करता हुआ भी नहीं करता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता क्योंकि ज्ञानीकी धुनि केवल अपने आपके सहज स्वरूपकी दृष्टिके लिए लगी रहती है । यों ज्ञानी पुरुष अत्राणका भय नहीं करता । अत्राण मायने रक्षा न होना, इसका उसे भय नहीं है । वह अपने आपको सदा स्वरक्षित, सुरक्षित मानता है । कैसा सुरक्षित है यह कि अनादिकालसे अनेक परभाव और परद्रव्योंके बीच रहता हुआ भी रहता चला आया हुआ भी यह अब भी सुरक्षित है । इसका सत् नहीं बिगड़ा, उतनाका ही उतना वैसाका ही वैसा अपना सत्त्व स्वरूप लिए है । ऐसा देखने वाला ज्ञानी पुरुष सदा निःशंक रहता है, निरंतर स्वयं ही अपने ज्ञानका अनुभव करता है ।

सहज भाव—सहज ज्ञानका मतलब जानन परिणतिसे नहीं है किन्तु अनादि अनन्त अहेतुक सदा प्रकाशमान जो असाधारण स्वरूप है ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वभावमें ज्ञानस्वभावका प्रयोजन है सहज ज्ञानका । सहजका अर्थ होता है—सह जायते इति सहजं । जो एक साथ उत्पन्न हो उसे सहज कहते हैं । जबसे पदार्थ है, जबसे जो हो और जब तक पदार्थ है तब वही रहे ऐसा जो कुछ परिणाम है उसे कहते हैं सहज ।

सतत ज्ञानवेदीके अत्राणभयका अभाव—यह ज्ञानी पुरुष अत्राणका भी भय नहीं करता है । यह तो सतत निरन्तर अपने ज्ञानका अनुभव करता है । सम्यक्त्वके होनेपर स्वरूपाचरण चारित्र होता है । जिसका कार्य है कि अपने स्वरूपमें अपना आचरण बनाए रहना । यह आचरण कहीं दृष्टिरूप है, कहीं आश्रयरूप है, कहीं आलम्बनरूप है, कहीं अनुभवनरूप है और कहीं परिणमनरूप है । स्वरूपाचरण सम्यक्त्व होते ही यह प्रकट होगा और यह अनन्तकाल तक रहेगा । सिद्ध जनोंपर भी स्वरूपाचरण रहता है । देशव्रत, सकल व्रत, ये तो अध्रुव हैं, सहेतुक हैं, स्वभाव भाव नहीं हैं, किन्तु आत्माका यह अकलंक सहज स्वरूप स्वतःसिद्ध है, अनादि अनन्त है । जबसे वस्तु है तब ही से इसके साथ तन्मयता भी है । ऐसे सहज ज्ञानसे यह ज्ञानी जीव निःशंक होता हुआ अपने आपका अनुभव करता है । यों ज्ञानीके अरक्षाका भय नहीं होता । इस प्रकरणमें चतुर्थ भयका अभाव बताया है । प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानी पुरुषमें शंका नहीं रहती है, निःशंक रहता है, क्योंकि अंत तक उसके यह बल बना हुआ है कि परका और क्या होगा, वियोग हो जायगा, छिद जायगा, भिद जायगा । विनाश हो जायगा क्या ? अलग हो जायगा तिसपर भी मुझ सत्का कभी विनाश नहीं होता है । ऐसा उस ज्ञानीके दृढ़तम श्रद्धान है इसलिए वह निःशंक रहता है और निःशंक होता हुआ सतत अपने सहज ज्ञानका ही अनुभव करता है ।

ज्ञानीके अगुप्तिभयका अभाव—निःशंकित अंगके प्रकरणमें ज्ञानी जीव अगुप्ति भय

से पृथक् अपने आपको देख रहा है, वह क्या जानता है कि वस्तुका निजस्वरूप ही वस्तुकी परमगुप्ति है। गुप्ति उसे कहते हैं अथवा दृढ़ किले जैसी निर्मितिको गुप्ति कहते हैं जिसमें अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता। जैसे किला दृढ़ बनाया जाता है किसलिए कि इस किले के अन्दर कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ज्ञानी पुरुषका किला ज्ञानी पुरुषका स्वरूप है। यह किला है तो सबके पास। इसमें किसी भी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं हो सकता, पर इसका पता अज्ञानीको नहीं है ज्ञानीको लगा है। जिसे अपने स्वरूपका पता है उसके उपयोगमें अन्य कोई तत्त्व प्रवेश नहीं कर पाता है क्योंकि इसके प्रवेशका द्वार भावास्रव है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

अज्ञानीकी अगुप्ति—दृढ़ किला होकर भी विभाव एक ऐसा विलक्षण घर बसा तत्त्व है कि यह सारा किला भी बालूकी रेतकी तरह टूट जाता है, उपयोगद्वारसे वैसे वस्तुस्वरूप टूटता नहीं है। स्वरूपकिला इतना मजबूत है कि वह किला कभी टूट ही नहीं सकता। पर इस आत्मामें जो अज्ञानका उपयोग है, सो अपने उपयोग द्वारा अपने इस स्वरूपकिलेको तोड़ देता है। पर ज्ञानी जीव अपने उपयोगको अपने स्ववशमें रखता है और वह तोड़ नहीं पाता है। वस्तुका निजी स्वरूप ही वस्तुकी परमगुप्ति है। यह ज्ञान ही इस जीवका स्वरूप है। ज्ञानी जीवको कुछ भी अगुप्ति नहीं है इसलिए ज्ञानीको अगुप्ति का भय नहीं है। ऐसा भय होता है लोगोंको कि मेरे घरकी भीत पक्की नही है अथवा यह कम ऊँची है या किवाड़ मजबूत नहीं हैं, कोई भी दुश्मन, डाकू कहींसे भी प्रवेश कर सकता है ऐसा उसे अगुप्तिका भय रहता है।

ज्ञानीकी गुप्ति—ज्ञानी जीव निहारता है कि मैं तो अपने स्वरूपमें हूं। इस स्वरूप में कोई भी परपदार्थ रंच भी प्रवेश नहीं कर सकता है। न अन्य जीव प्रवेश करता है, न कोई पुद्गल आदिक द्रव्य प्रवेश कर सकते है। एक क्षेत्रावगाह भी हो जाय फिर भी स्वरूप में प्रवेश नहीं होता। जैसे दूध और पानी एक गिलासमें मिल जायें, जिसको अलग करना जरा कठिन है वहाँ भी दूधके स्वरूपमें दूध ही है और पानीके स्वरूपमें पानी ही है। पानीमें मिट्टीका तेल डाल दिया जाता है और जहाँ पानी है वहां वह तेल भी है किन्तु वहाँ एकदम स्पष्ट हो जाता है कि तेल पानीके ऊपर अथवा अगल-बगल पड़ा इकट्ठासा नजर आता है। लो यह तेल है. यह पानी है। तेलके स्वरूपमें तेल है और पानीके स्वरूपमें पानी है। मोटे अथवा सूक्ष्म अनेक दृष्टान्तोंसे इस बातको जान सकते हैं कि एक क्षेत्रमें भी रहकर एक पदार्थ अपने स्वरूप को किसी दूसरे पदार्थको नहीं दे सकता है। तब पदार्थका स्वरूप गुप्त हुआ ना, उनके स्वरूपको कोई भेद नहीं सकता। मेरा भी ऐसा ही सुरक्षित स्वरूप है कि उसमें परपदार्थका प्रवेश नहीं है। अरक्षा का क्या भय है, आक्रमणका क्या भय है? इस कारण

ज्ञानी निःशंक होकर निरंतर स्वयमेव अपने सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव करता है । यों यह मैं हूं, यह पूरा हूं, इसमें यह ही है, इसमें अन्य कुछ नहीं है ।

अज्ञानीका विकल्प व अनर्थ— यह जीव विकृत अवस्थामें अज्ञान और मिथ्यात्व अंधकारसे आच्छादित था, उस समय भी यह अपने आपका ही स्वामी था, कर्ता था, भोक्ता था । तब भी इसमें दूसरेके स्वरूपका प्रवेश न था भोजन करती हुई हालतमें भी । हालांकि लोभी पुरुष आशक्त होकर मौज लेता हुआ भोजन चबाकर स्वाद ले रहा है उस समय भी उस ज्ञानीकी आत्मामें भोजनका एक अणु अथवा रस आदि कुछ तत्त्व प्रवेश नहीं कर रहा है । वस्तुके स्वरूपकिलाको कोई तोड़ नहीं सकता है पर वह अज्ञानी अपने आपमें बैठा हुआ कल्पनाएँ कर रहा है कि मैं भोजनका स्वाद ले रहा हूं । इसके बाद मीठे रसका मौज मानता है । माने भले ही पर वह उपयोगद्वारसे बाहर किसी भी द्रव्यमें नहीं गया । इसका पता नहीं है इसलिए अपनी प्रभुताका विपरीत उपयोग कर रहा है ।

स्वरूपकी सहज दृढ़ता— जीव सब प्रभु हैं, ऐश्वर्य सम्पन्न हैं पर कोई अपने ऐश्वर्यमें स्वाभाविक परिणमन कर रहा है जैसे कि परमात्मा । और कोई अपने उपयोगको ज्ञानकी दृष्टिमें परिणमन कर रहा है जैसे कि अंतरात्मा । और कोई अपने उपयोगको बाह्यपदार्थजन्य सुखकी कल्पना करके परिणमन कर रहा है जैसे कि वहिरात्मा । पर सभी आत्मावोंने केवल अपने आपके स्वरूपमें ही तो कुछ किया, पर बाहरसे कुछ प्रवेश नहीं हो सकता । जैसे मजबूत किलेके अन्दर रहने वाले राजाके कुटुम्ब वाले परस्परमें तो लड़ें भिड़ें पर उस किलेमें दूसरा शत्रु प्रवेश नहीं हो पाता है । इसी तरह इस आत्मस्वरूपमें इस मजबूत किलेमें स्वयं का उपयोग विकल्प रागादिक भाव विकृत होकर बिगड़ते हैं तो बिगड़ें, पर इस आत्मस्वरूप में किसी भी वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता है ।

निजबलका ज्ञानी— ज्ञानी जीवको ऐसा पता है इस कारण वह अपने उपयोगसे बाहर नहीं जाता है । जिसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता ऐसे गढ़का नाम गुप्ति है, या कुछ भी मजबूत चीज हो उसका नाम गुप्ति है । इसमें यह मनुष्य होकर ठहरता है वढ़िया मकान बना हो, मजबूत किवाड़े हों तो किवाड़ोंको बंद करके कैसा आरामसे लोग सोया करते हैं और कभी खुली दालान वगैरहमें रहनेको मिले तो कितनी आशंका रहती है ? निःशंक होकर सो नहीं सकते हैं, अधजगे सोते हैं क्योंकि अगुप्तिका भय है, गुप्ति नहीं है, सुरक्षित ओट नहीं है । पर ज्ञानी जीवके अन्तर श्रद्धाकी बात कही जा रही है । उसको यह विदित है कि मेरा अंतःस्वरूप परम सुदृढ़ है । इस स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं हो सकता, सो अपने स्वरूपमें, प्रवेशमें रहता हुआ यह प्राणी निर्भय बना रहता है ।

आत्मामें बल विकसित होनेका स्वभाव— गुप्त प्रदेश न हो, खुला हुआ हो उसको

अगुप्ति कहते हैं। वहाँ बैठनेमें अज्ञानीको भय उत्पन्न होता है। पर ज्ञानी ऐसा सोचता है कि जो वस्तुका निज स्वरूप है उसमें परमार्थसे दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं है। यही परम गुप्ति है, पुरुषका स्वरूप ज्ञान है। उस असाधारण ज्ञानस्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं होता है। ऐसे सुदृढ़ श्रद्धान वाले पुरुषमें भय कहाँ उत्पन्न होता है? जब जमींदारी खतम होनेका कानून लागू हो रहा था उस समय लोग कितना भयशील थे कि इतनी बड़ी जायदाद इतनी बड़ी आयका साधन यह सब समाप्त हो जायगा, गुजारा कैसे होगा? इन्हीं प्रसंगोंमें जब बहुत-बहुत दुःखी होने लगे तो यह बल भी प्रकट हो गया कि जैसे इतने देशके बहुत लोग रहते हैं उस तरहसे रह लेंगे, गुजारा हो जायगा। उससे कम तो नहीं हो जायगा। मुझे तो कोई न छुड़ा ले जायगा। समय गुजरा, भय सब समाप्त हो गये।

निर्भयताका मूल उपाय आकिञ्चन्य भावना—जितना आकिञ्चन्यकी ओर मनुष्य बढ़ता है उतना ही उसे संतोष होता है। धनसंचय करके न किसीने शांति पाया और न कोई शांत बन सकेगा। और धनका त्याग करके अथवा अच्छे कार्यमें सदुपयोग करके न कोई पछता सकेगा। भाग्यमें जितना होता है उतना ही रहता है। चाहे उसका जितना दान करे चाहे भोग करे अथवा दोनों बातें न करे तो नाश हो जायगा—इन बाह्य समागमों की स्थितियोंमें इस आत्माका कुछ कल्याण नहीं है। प्रत्येक स्थितिमें अपनेको आकिञ्चन्य अनुभव करो। धन हो अथवा न हो, धनके लिए बुरा बोलना, अच्छा बोलना उससे तो क्लेश ही बढ़ेंगे। गरीबीसे भी अधिक क्लेश इसमें होता है। अपने माने हुए परिवारके वचन बाड़ भिद जाया करते हैं, उस समयमें भी क्या औषधि है कि अपने क्लेश मिटें? अपने आपको अकिञ्चन अनुभव करो। यही एक परम औषधि है। मैं अकिञ्चन्य हूं अर्थात् मेरे स्वरूपके अतिरिक्त लोकमें अन्य कुछ भी पदार्थ मेरा नहीं है। इस आकिञ्चन्यके अनुभवके प्रसादसे वे सारे क्लेश खतम हो जाया करते हैं।

वचनसंयमका प्रताप एवं कुवचनकी अनर्थता—विवेकी पुरुष तो अपने वचनोंपर बड़ा कण्ट्रोल रखते हैं। किसीसे वे बोलना ही नहीं चाहते। जब कोई अधिक गले पड़ जाय, आजीविका नष्ट होनेको देखे अथवा अन्य कोई अपना बड़ा अहित होते देखे तो वह बोलता है अन्यथा वह कुछ बोलना पसंद ही नहीं करता है। बोल देनेके बाद ये वचन फिर वापिस नहीं आते हैं। यदि कुछ खोटा बोल दिया तो बोल चुकनेके बाद वे खोटे वचन वापिस नहीं आते। जैसे धनुषमें से निकला हुआ बाण, छूटा हुआ बाण हो उससे कितनी ही मिन्नत की जाय, कितनी ही प्रार्थना की जाय कि ऐ बाण तू भूलसे छूट गया है, अरे वापिस आ जा, तो वह वापिस नहीं आता। इसी प्रकार इस मुखरूपी धनुषसे छूटा हुआ वचनबाण हो, उससे कितनी ही मिन्नत करो, कितनी ही प्रार्थना करो तो भी वह वचन वापिस नहीं आ

सकता । जिसमें निशाना करके मारा गया है उसे लगे बिना वापिस नहीं आ सकता है । यह मुख धनुष ही तो है । जब बोला जाता है तो मुखका आकार धनुषकी तरह हो जाता है दोनों ओंठ ऐसा फैल जाते हैं जैसे खींचा हुआ धनुष । उस खिंचे हुए धनुषसे बाण निकलता है । जब खोटे वचन बोले जाते है तो यह धनुष और तेज खुलता है । जब समतापूर्ण बात बोली जाती है तब इस धनुषका मुख थोड़ा ही खुलता है, पर जहाँ गुस्साके वचन खोटे वचन बोले जाते हैं वहाँपर यह बहुत ज्यादा खुल जाया करता है । यह वचनबाण निकलनेपर कितना ही कहो कि भाई मेरी बात वापिस कर दो तो वापिस नहीं होती । यह सब अपने स्वरूपके वशमें न रख सकनेका परिणाम है ।

गुप्त स्वरूपके गुप्त रहनेमें गुप्ति——मन, वचन, कायको वशमें रखना यही गुप्तिका सदुपयोग है । गुप्तिका अर्थ अप्रकट भी है और सुरक्षित भी है । जो रक्षा करे उसका नाम गुप्ति है । न तो छुपा हुआ इसका अर्थ है और न प्रकट हुआ इसका अर्थ है । जो रक्षा करे उसका नाम गुप्ति है । गुपू रक्षणे संस्कृतमें धातु है, उससे गुप्ति शब्द बनता है । चाहे वह किला हो जो दुनियाको स्पष्ट दीखता है उसका भी नाम गुप्ति है और कोई अत्यन्त छिपा हुआ हो वहां भी गुप्ति शब्द कहा जायगा, क्योंकि कोई उस किलेको नहीं भेद सकता है, वह मजबूत है और न कोई छिपे हुए पदार्थको भेद सकता है क्योंकि वह दूसरेकी नजर ही में नहीं है, सुरक्षित होनेका नाम गुप्ति है । यह असाधारण चैतन्यस्वरूप पूर्ण सुरक्षित है ।

संश्लिष्ट होनेपर भी असंश्लेप—अनादिकालसे अब तक यह आत्मतत्त्व इस विभाव और परके निमित्तनैमित्तिक बननेमें ऐसा रह आया है कि एक तान होकर उनमें विस्तृत रहा । यह शरीर है और इस शरीरमें जीव भरा हुआ है । तो कैसा घन भरा हुआ है कि इस शरीरके रग-रगमें जीव मौजूद है । इस शरीरके अन्दर जहाँ-जहाँ भी जो कुछ पोल है, नाकके छिद्रोंमें, कानके छिद्रोंमें, पोलमें जीव प्रवेश नहीं है, क्योंकि वहाँ शरीर ही नहीं है, जहाँ शरीरकी वर्गणाएँ है वहाँ सर्वत्र आत्मप्रदेश है, ऐसा सघन बँधा हुआ यह जीव है । जब शरीर हिले चले तो आत्माका भी हिलना चलना होता है । जब यह जीव जाता है तो इस शरीरको भी जाना होता है । ऐसा इसका परस्पर निकट सम्बन्ध है तिस पर भी आत्माका स्वरूप मजबूत और गुप्त है । न शरीरके स्वरूपमें जीवका प्रवेश हो पाता है और न जीवके स्वरूपमें शरीरका प्रवेश हो पाता है । ये दोनों अपनी अपनी जगह अपने स्वरूपमें गुप्त है, सुरक्षित हैं, स्वतः सिद्ध है । ऐसा अवगम इस ज्ञानी जीवको वस्तुस्वरूपके दर्शन में होता है । अतः उसे किसी ओरसे भी भय नहीं रहता है ।

आत्मसावधानीमें संकटकी समाप्ति—भैया ! जब कभी भी कोई उपद्रव, संकट, झंझट, चिंता, रागद्वेष कुछ भी अनर्थ होनेको हो उसी समय यह सम्यग्दृष्टि पुरुप सावधान

रहता है। जाता है तो जावो। तो यह मैं जानता हूं, परिपूर्ण हूं, इतना मात्र हूं, हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। ऐसा ज्ञानी पुरुषको दृढ़ बोध है अपने आपके स्वरूपके विषय में। यों तो कितनी ही सीमामें पुद्गलमें भी बातें निरख सकते हैं। समुद्रके पानीमें हवाका बहुत सघन स्पर्श है तब लहर चल रही है। उस लहरके साथ हवाका भी पूरे रूपसे सम्बन्ध है, चिपका हुआ है, लेकिन हवाके स्वरूपमें हवा ही है और पानीके स्वरूपमें पानी ही है। कोई किसीको अपना स्वरूप नहीं सौंप देता है।

सर्वत्र निज निजका अभ्युदय—दो मित्र मिलकर किसी एक कामको कर रहे हों और बड़ा आल्हाद मना रहे हों, सुखी हो रहे हों वहाँ पर भी प्रत्येक मित्रका मात्र अपने आपमें ही परिणमन हो रहा है। अपनेसे अतिरिक्त अन्य किसी भी परमें परिणमन नहीं हो पाता है। ऐसी वस्तुकी मर्यादा ही है। ऐसा स्पष्ट बोध जिस ज्ञानी जीवके रहता है उसको अगुप्तिका भय नहीं होता। वह अपने सहज ज्ञानस्वरूपको ही अपने आपमें स्थित होता हुआ अनुभव करता है। सहज ज्ञानस्वरूपकी एक परिस्थिति है अनुभवमें और कैसा हुआ है इसके लिए बाह्यविषयक यथार्थ साधारण ज्ञान करके जो इस आग्रहपर उतर गया है कि समस्त परपदार्थ पर ही हैं, किसी भी परसे मेरा हित नहीं है। ऐसा बोध करनेपर उसे उपेक्षा करनेका बल प्रकट होता है। जब मेरा हितकारक नहीं है, मेरा मोक्षका साधक नहीं है, आनन्दकी सिद्धि करा सकने वाला नहीं है तो बाह्यपदार्थोंमें क्या ममत्व करना? ऐसे उठे हुए अंतरंग वैराग्य परिणामसे यह जीव समस्त वस्तुवोंसे उपेक्षा कर देता है तो स्वयं ही अपने आप इसका जो अपना स्वरूप है ज्ञान स्वरूप, जाननमात्र, उस जाननमात्र भावके ही जाननेमें लग जाता है। कोई विकल्प नहीं है। जो भी विकल्प होता है उसको भी यह कहकर कि तू परभाव है, तू दुःख देनेके लिए उत्पन्न होता है, तू हट जा।

विकल्पविनाशका बुद्धिपूर्वक साधन ज्ञानार्जन—भैया! विकल्पके हटते ही स्वयं ही ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव होता है। इसके लिए बहुतसी साधनाएँ करनी पड़ती हैं। उन साधनावोंमें मुख्य साधना है ज्ञानार्जन, स्वाध्याय। ज्ञानार्जन करनेके तीन-चार तरीके हैं। एक तो अकेले मुखसे क्रमशः अध्याय करना। दूसरे प्रतिदिन प्रवचन करना, शास्त्रका वाचन कर लेना। इस प्रकार १०-१२ मिनट पठन किया और तीन चार मिनट उसके सारभूत बातके विचारमें लग जाय, इस प्रकार स्वाध्याय करना ज्ञानार्जनका साधन है। तीसरा साधन वीतराग भावसे आत्महितके चावसे जैन सिद्धान्त तत्त्वकी चर्चा करना। चर्चा करनेसे बहुतसी बातें स्पष्ट प्रकट हो जाती हैं। और चौथा उपाय यह है कि एक वर्षमें एक माहको घर छोड़कर सत्संगमें रहना, १ माहको घर छोड़नेके बाद भी यद्यपि घर आना है फिर वह छोड़कर अंतरंगमें रहनेपर धर्मकी ओर चलता है। इन तीन चार उपायोंको अपने ज्ञानार्जन

में लेकर अपने ज्ञानस्वरूपकी मजबूतीका भान कर लेगा तब अपने स्वरूपका भली प्रकार पता हो लेगा, तब समझिये कि यह जीव कृतकृत्य होनेको तैयार है।

वास्तविक वैभव——यथार्थ ज्ञानका हो जाना ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। ये सब समागम धन, कन, कंचन, राजसुख ये सब ही मिल जाते हैं, ये सब सुलभ हैं। जितना मिला है उससे कुछ और अधिक मिल जायगा, दुगुना हो जायगा तो उससे आत्माकी कौनसी सिद्धि हो जायगी? प्रत्युत व्यवस्थाकी धुनि हो जानेसे इस बाह्य सम्पदासे क्लेश ही मिलेगा। गृहस्थावस्था है, आजीविका चलाना है, यह तो कर्तव्य ही है करो, पर धन कमाना अपने हाथकी बात नहीं है, केवल उद्यम करना ही अपना कर्तव्य है। उसे उपेक्षा भावसे करो और अपने ज्ञानार्जनकी मुख्यता दो तो अपने इस गुप्त आत्माका भान होगा और यह बल मिलेगा कि किसी भी समय मेरेमें परसे कोई आपत्ति नहीं आया करती है।

परसे मेरे बिगाड़का अभाव——परपदार्थोंका मेरेमें कदाचित् भी प्रवेश नहीं हो सकता है। हम बिगड़ते हैं तो अपने आपकी परिणतिसे बिगड़ते हैं, सुधरते है तो अपने आपकी परिणतिसे सुधरते हैं। ऐसा इस ज्ञानी जीवके अपने दृढ़ स्वरूपका भान है, अतः उसको अगुप्तिभय नहीं होता। वह तो निःशंक होता हुआ निरंतर स्वयं ही अपने अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण सहज ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव किया करता है। इस प्रकार इस भयके प्रकरणमें अगुप्तिभयसे सम्यग्दृष्टि पुरुष दूर है, इस बातका वर्णन किया।

ज्ञानीके मरणभयका अभाव——सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि आत्मस्वरूपसे परिचित है और आत्माके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके उपयोगके कारण परमआनन्दका स्वाद ले चुका है, अतः अब उसे विश्वमें किसी भी प्रकारका भय नहीं रहता है। वे भय ७ प्रकारके होते हैं, उनमेंसे एक लौकिक जनोंको बड़ा भयंकारी भय है मरणका, किन्तु ज्ञानी जीवको मरणका भय नहीं होता।

गति व आयुकी प्रकृतिमें अन्तर—नारकी जीवोंको छोड़कर बाकी सभी अज्ञानी जीव मरणसे डरते हैं। नारकी मरणको चाहते हैं पर उनका असमयमें मरण हो नहीं सकता। गतियोंमें दो गतियां पुण्य हैं और दो गतियाँ पाप हैं, किन्तु आयुवोंमें एक आयु पाप है और तीन आयु पुण्य हैं। नरक आयु तो पापप्रकृति है और तिर्यञ्च, मनुष्य, देव ये तीन आयु पुण्यप्रकृति हैं। गतियोंमें नरक गति और तिर्यञ्चगति ये दो गतियाँ पापप्रकृति हैं किन्तु मनुष्यगति और देवगति ये दो गतियाँ पुण्यप्रकृति हैं। इस विषमताका क्या तात्पर्य है कि तिर्यञ्चगतिके जीव अपनी अवस्थाको बुरी अवस्था मानते हैं, दुःखी भी होते रहते हैं पर मरण नहीं चाहते हैं। कैसा ही क्लेश हो तिर्यञ्चोंको पर मरण नहीं चाहते हैं। तिर्यञ्चोंको आयु प्रिय है इस कारण वे आयु चाहते हैं, और नारकी जीव अपनी वर्तमान

अवस्थाको भी नहीं चाहते और मरण चाहा करते हैं इस कारण उन्हें अपनी आयु प्रिय नहीं है। सो नरक आयु केवल पापप्रकृति है, पर वे मरण चाहते है यह एक स्थूल दृष्टिसे है पर अन्तरसे तो कोई भी जीव अपना विनाश नहीं चाहता।

आत्माका परमार्थ प्राण—मरण कहते हैं प्राणोंके उच्छेद हो जानेको, विनाश हो जानेको। पर आत्माका प्राण क्या है? प्राण उसे कहते हैं जो वस्तुके सत्त्वका मूल आधार आत्माके सत्त्वका मूल आधार इन्द्रिय नहीं, किन्तु ज्ञान, दर्शन, चैतन्य स्वभाव है। आत्मामें ज्ञान दर्शन चैतन्य स्वभाव न हो फिर आत्मा रह आये ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्माके सत्त्वका मूल आधार लक्षण ज्ञान दर्शन है। अतः आत्माका परमार्थ प्राण ज्ञानस्वरूप है। सो वह ज्ञान शाश्वत है. स्वयमेव है, वह कभी भी किसी भी प्रकार छिद नहीं सकता, वियुक्त नहीं हो सकता। इस कारण इस ज्ञानका मरण ही नहीं है। जब इस ज्ञानका मरण नहीं है तब ज्ञानी जीवको भय किस बातका? सबसे बड़ा विष जीवके साथ लगा है तो मोही, मलिन, मायावी, तुच्छ पुरुषोंमें मेरा नाम हो जाय यही विष लगा है। यह सारा जगत मायामय है। और सम्भव है कि जिस जीवलोकमें हम अपना नाम जताना चाहते हैं वह जीवलोक अपनेसे भी निम्न दशामें हो। और प्रायः ऐसा है। तो मायामय, असार, मलिन, दुखी, मोही प्राणियोंमें नामकी चाह यह सबसे बड़ा भयंकर विष है। जीव संज्ञी और समर्थ होकर भी इस ख्यातिकी आनमें चलकर अपने प्राणोंको भून डालते हैं।

नाम किसका— ये जो नाक, आँख, कान हैं, जिनका फोटो उतरता है क्या उनका नाम चाहते हो? यह लोककी दृष्टिमें बड़ा उच्च जंच जाय तो इससे क्या आत्माका संसार कट जायगा? मरण होनेपर क्या वे नरक तिर्यंच निगोद गतियाँ छूट जायेंगी? किसका नाम चाहते हो? जो तू है सो तेरा नाम नहीं है। तू बिना नामका चेतन है। तू अपने आपको देख। तू बाहरी वस्तुवोंको देखता है कि यह भींत है, यह खम्भा है। जरा अन्तर दृष्टि करके अपने आपके भीतर इस स्वरूपको निहारो, यह तो सर्व साधारण एक चित् प्रकाशमात्र है। इसका कुछ नाम है क्या? कोई इसको जानता हो तो नाम भी धरे, पर दुनियाके लोग इस मुझको जानते कहाँ है? फिर नाम किसका? इस मुझ आत्माका सम्बन्ध मेरे आन्य लोकसे बाहर रंच मात्र भी नहीं है। कहाँ नाम चाहते हो? किसको वताना चाहते हो? अपनी करनी अच्छी होगी तो अपनेको लाभ मिलेगा। अपनी करनी वहिर्मुखता की है तो उसमें अपने प्राणोंका विनाश है। बाहर कुछ मत ढूँढ़ो। जो कुछ किया जाय वह अपनी विशुद्धिके लिए किया जाय, विषय कषायोंसे हटते हुए रहना यह बहुत बड़ा लाभ है।

विषय दावाग्नि—भैया! पंचेन्द्रियका विषय यह है दावाग्नि। इन विषयोंकी चाह

यही है भयंकर दहन। इसमें जगतके जीव जले जा रहे हैं। इसको बुझानेके लिए समर्थ केवल ज्ञानजल है। उस ज्ञानके द्वारा इन विषयोंसे निवृत्ति पायें तो आत्माको हितका मार्ग मिलेगा। मनुष्यको कुछ न कुछ काम चाहिए। यदि निर्विकल्प समाधिमें ही रह सको तो रहो, पर एक रूखी धर्मकी धुनि बनाकर कि अपना ही काम करो, अपना ही हित करो, ऐसी रूखी धुनि करके और साधर्मी जनोंकी सेवासे दूर रहकर कर्तव्यव्यवहारसे कर्तव्य मार्गसे पृथक् रहकर सेवाके कार्यसे निवृत्त रहकर तो न अपना ही कार्य बन पाता है और न लौकिक प्रसन्नता भी साथ रह पाती है। सूना-सूना सा रहता है। अपने मनका मिट्टू हुआ बना रहता है। हमारा आपका मुख्य काम क्या है स्वाध्याय करना, ज्ञान ध्यान समाधि में रहना, सो इतना तो हो नहीं पा रहा है और इसके एवजमें पर्याय बुद्धि रहती है। कितनी ही दुनियाकी खोटी बातें हृदयमें आती रहती हैं, अपना विषय वासनाकी बातें मनमें आती हैं। अपना कर्तव्य है कि ऐसी वृत्तिमें लगें, ऐसी परसेवामें लगें जिससे ये भयंकर विषयकषायके भाव हमसे दूर हो सकें।

परसेवाका उद्देश्य—परसेवाका उद्देश्य विषयकषायोंसे निवृत्ति पाना है। और देखते ही हो कि कभी किन्हीं रोगी, दुःखी, कोढ़ी पुरुषोंके बीचसे निकलो तो वहाँ परिणाम कैसा बदल जाता है? वहाँ विषयकषायके भाव नहीं सता पाते हैं। परसेवा प्रसंग विषय कषायोंकी निवृत्तिका उद्देश्य लिए हुए है। इस जीवका इस लोकमें कोई साथी नहीं है। जिसको अपना घर मान रखा है और जिन घर वालोंके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया जाता है, अन्य जीवोंके समान वे भी अत्यन्त भिन्न है। उनसे मोह बसानेसे क्या प्राप्त होता है? अंतमें हाथ रहता भी कुछ नहीं है। यह हंस अकेलाका अकेला ही रहता है। इसका कोई सहाय नहीं होता है। जिसने इस जीवनमें निर्मल शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका लक्ष्य करके अपने आपका पोषण किया है वही पुरुष कल्याणका पात्र हो सकता है।

परमार्थमरण व काल्पनिक मरण—भैया! संसारके सभी जीव मरणसे डरते हैं पर मरण तो वास्तविक निरन्तर जीवका प्रतिसमय होता जा रहा है। विभावपरिणामोंको करके जो शुद्ध ज्ञानस्वभावका विकास बन रहा है ज्ञानसुधा रसका स्वाद नहीं लिया जा सकता है वह मरण ही तो है। जैसे आजकल पतली बरषाती चादर आती है। कागजसे भी अधिक पतली होती है उसको मुंहके आगे लगाकर पानीमें डूबे हैं, उसके ऊपर पानी लबालब भरा है पर पानी अत्यन्त दूर है। उस पानीका एक बूँद भी मुँहमें नहीं जा सकता है। पानी और मुँहके बीचमें कागजसे भी पतला एक प्लास्टिकका पर्दा है, सो पानीका स्वाद नहीं लिया जा सकता है। इसी तरह अत्यन्त निकट और निकट ही क्या, स्वयं ज्ञानघन आनन्दमय यह आत्मतत्त्व है पर इस आत्मतत्त्व और सदुपयोगके बीच विषयकषायोंका अमू-

तिक अत्यन्त पतला जिसमें लम्बाई चौड़ाई मोटाई कुछ नहीं है, न कोई पिण्डरूप है, हवासे भी पतला अमूर्तिक विषयकषायोंका पर्दा पड़ा हुआ है जिसके कारण इस परमात्मरसका स्वाद नहीं लिया जा सकता है। यह परमार्थ प्राणघातरूप प्रतिसमय मरण हो रहा है, इस मरणकी ओर तो दृष्टि नहीं है किन्तु इस जगतके जीव इस शरीरके मरणसे डरा करते हैं। मरणसे डरें तो वास्तविक मरणसे डरें। यह तो कोई मरण नहीं है यह तो पुरानी कुटीसे निकलकर नई कुटीमें पहुंचने जैसी बात है। यदि अपना आत्मतत्त्व अपनी दृष्टिमें है तो भय किस बातका है ? और अपना आत्मतत्त्व अपनी दृष्टिमें नहीं है तो निरन्तर मरण हो रहा है। वह जीना भी मरणसे बुरा है, जिस जीनेमें जीव न दिखता हो, परमात्मस्वरूप का दर्शन न हो सकता हो, मोह अंधकारमें भी बुरा है।

अज्ञानीकी त्रुटिके परिचयका अधिकारी—भैया ! इस मोही जीवपर हँसी करने वाला ज्ञानी ही हो सकता है। अज्ञानी तो उसका समर्थन करता है। तुमने बहुत अच्छी कला खेली है, तुमने बड़ी सुन्दर व्यवस्था बनायी है—इस तरहसे अज्ञानी तो उसका समर्थन किया करता है। अज्ञानी की गल्तीपर ज्ञानी ही एक मधुर हास्य कर सकता है। अहो कितना व्यर्थका ऊधम ये जीव कर रहे हैं ? कितना बाहरी पदार्थोंकी पकड़में ये जीव लगे हुए हैं और अपने आपके प्रभुका घात किए जा रहे हैं। ज्ञानी पुरुषके तद्भव मरणका भय नहीं है। यह अपने आपकी दृष्टिमें यथार्थ रूपसे बना रहे तो यह तो सदा हराभरा है। इसका मरण कहाँ है ? ज्ञानी जीव मरण भयसे दूर रहता है, निःशंक रहता है। जिसने अपने आत्मासे रिश्ता लगाया उसको मरण नहीं दिखता, जिसने निज सहजस्वरूप ज्ञानमय अपने आपको ही माना उसको यहाँ कोई भय नहीं है।

मरणभयके प्रधान कारण—भैया ! मरणके समय जीवको २ प्रकारके भय होते हैं—एक तो बड़ी मेहनतसे धन जोड़ा, कुटुम्ब परिवार मिले वे सब छोड़ने पड़ रहे हैं, एक तो इस आशयकी चोट लगी है। दूसरे शरीर जो उसे प्रिय लग रहा है, उस शरीरसे प्रेम है, उस शरीरसे प्राण जंत्रोमें से चाँदीके तारकी तरह खिचकर जाना होता है तो शरीरके मोह से वह अपनेमें दुःख मानता है। जिस ज्ञानी पुरुषके अपने शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि है अर्थात् अपने आप यह मैं आत्मा जो सत् हूं, जो मुझमें सर्वस्व है, जिस स्वरूपसे मेरा निर्माण है, जिस स्वरूपमय मैं स्वरसतः हूँ ऐसे उस प्रतिभासमात्र स्वरूपका अनुभव किया है, उसे किसी भी परपदार्थसे मोह नहीं रहता है। सभी पर पृथक् हैं। जहाँ परसे मोह नहीं रहता वहाँ मरणका भय भी नहीं रहता है। ज्ञानी पुरुष मरणके भयसे सदा दूर रहता है। वह तो निःशंक होता हुआ निरंतर स्वयं अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है।

मरणके भेद—मरण दो प्रकारके होते हैं—एक तद्भव मरण और एक आवीचि

मरण । दोनों ही व्यवहारनयसे हैं । तद्भव मरण इस आयुका समाप्त हो जाना है अर्थात् इस भवसे वियुक्त हो जाना यह होता है तद्भव मरण । और आवीचि मरण क्या है कि प्रत्येक समयमें आयुके निषेक खिरते हैं और उनके खिरनेसे यह बात हो जाती है कि अब आत्मा तो इस समयको भी मरण गया है, अर्थात् जीवनका यह क्षण भी चला गया । आयु कम हो जाना, जीवनका वह क्षण चला जाना यही है आवीचि मरण । ये दोनों मरण व्यवहारनयसे है । परमार्थतः इसका मरण जो हो रहा है वह यही है कि ज्ञानका पूर्ण विकास नहीं है, शुद्ध ज्ञानमात्र रह नहीं पाता है । यही इस प्रभुका निरन्तर मरण है । किन्तु विशुद्ध परमार्थ दृष्टिसे निरखें तो यह अपने अन्तरके मरणरहित अनादि अनन्त सदा नित्य प्रकाशमान बना हुआ है ।

स्वयंकी स्वयंसे अत्यन्त दूरीका कारण—भैया ! जो अपने प्रभुको नहीं देख पाता है उसके लिए यह अपना प्रभु उतना दूर है जितना कि मुँहके आगे बरषाती भीनी चादर । चादरके आगे पानी भरा हुआ है पर स्वाद नहीं लिया जा सकता । ऐसा ही उसके लिए यह परमात्मा अत्यन्त दूर है । जिसकी ओर पीठ करली है उसकी ओर दृष्टि करना है और जिसकी ओर दृष्टि करली है उससे मुँह फेरना है । ऐसा उपयोग हो तो आत्मदृष्टिसे आत्मा का ग्रहण कर सकते हैं । अज्ञानी जीवके तो निज परमात्मतत्त्वसे पीठ फिरी हुई है । यह जीव लोक जहाँ दृष्टि लगाये है वहां से पीठ फेर ले और जहाँ पीठ फेरे हुए है वहां पर दृष्टि लगा ले तो फिर उसके मुक्तिका उपाय बननेमें विलम्ब नहीं है । ज्ञानी पुरुष कुछ खेद करता है । तो वह अपने ज्ञान प्राणके मरण पर खेद करता है । वह शरीरके मरण पर खेद नहीं करता है । वह ज्ञानी पुरुष दुनियामें कोई अपनी कीर्ति नहीं चाहता है । वह ज्ञानी पुरुष लोकमें झूठा नाम फैलानेकी धुन करके अपनेको बरबाद नहीं करता है । वह इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका ही अनुभव करके तृप्त रहना चाहता है । उसके लिए मरण कुछ नहीं है । इस प्रकार ज्ञानी पुरुष मरणके भयसे निवृत्त होकर निःशंक होकर निज ज्ञानका ही अनुभव करता है ।

अपवित्रता और पवित्रता—सबसे बड़ा संकट है बहिर्मुखता, सबसे बड़ी मलिनता है बहिर्मुखता । यह सब व्यवहारसे है । आत्मा अपवित्र बनता है तो बहिर्मुखदृष्टिसे । उस अपवित्रतासे कुछ नुक्सान नहीं है यदि अनाकुलता न हो, पर बहिर्मुखतासे ही इसके आकुलता आती है । सबसे बड़ी अपवित्रता है जीवकी बहिर्मुखता । जो अन्तर्मुख है, अपने भीतरके वैभवको पहिचानता है वह पवित्र है, अपवित्रतर है । यह अमूर्त ज्ञानमात्र है, आकाशवत् निर्लेप है । यह ज्ञान प्रकाश इस ज्ञानीके ज्ञानमें आ जाय तो उससे बढ़कर पवित्रता कहीं लोकमें हो नहीं सकती है । यही सच्चा जीवन है, यही सच्ची आत्मवर्तना है

इसके प्यासे होते हैं ज्ञानी पुरुष। ज्ञानीपुरुष परवस्तुके प्यासे नहीं होते हैं। बहिर्मुखता एक महासंकट है क्योंकि वह कोरा भ्रम है। जहाँ मिलना-जुलना कुछ नहीं केवल भ्रम भरी कल्पनाएं बढ़ रही हैं, उनके विषय होते हैं परपदार्थ।

निर्भ्रान्तिमें अनाकुलताका दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष कुछ भ्रम करके दुःखी हो, रस्सी को साँप जान करके भ्रम करके घबड़ायेगा, पर जिसे मालूम है कि यह कोरी रस्सी है तो वह उस भ्रमी पुरुषपर बड़ी समीक्षा प्रकट करता है। अहो कुछ भी तो बात नहीं है, यह दुःखी हो रहा है। उसे समझाता है कि क्यों दुःखी होते हो, वहाँ तो कुछ भी नहीं है, कोरी रस्सी है। तब उसकी समझमें आता है. ऐसा लगता है कि अहो इतना समय व्यर्थ ही कल्पनामें बिताया है। इस घरमें तो कुछ डरकी बात ही न थी। जब ज्ञान जागृत होता है, वस्तुकी स्वतंत्रता विदित होती है, समस्त वस्तुवोंसे विविक्त यह आत्मतत्त्व ज्ञानमें आता है तब समझमें बात आती है कि अहो व्यर्थ ही इस भ्रमपूर्ण संकल्प विकल्पमें पड़कर इतना काल व्यतीत कर डाला। ज्ञानी पुरुषके यथार्थ ज्ञान होनेपर फिर शंका नहीं रहती है।

जागृतिमें काल्पनिक भयकी समाप्ति—जैसे किसीको स्वप्न आ रहा हो कि मैं जंगलमें जा रहा हूं, सामनेसे सिंह आ रहा है, मुझपर आक्रमण करनेके लिए दौड़ रहा है, मैं चादर ओढ़े हुए अपनी जान चादरमें छिपाता जा रहा हूं, पर उसने तो तीव्र हमला कर दिया, चादर भी नुच गया, ऐसा स्वप्न जब आ रहा हो उस ही प्रसंगमें घबड़ाकर ही नींद खुल जाय और आंख खोलकर देखता है कि मैं तो यहाँ अपने घरमें बड़े सजे सजाए कमरेमें बैठा हुआ हूं, तो उसके भय एकदम समाप्त हो जाता है। क्या रंच भी शंका है अब उसके? नहीं है, क्योंकि जग गया है। इसी तरह जब तक मोहकी नींद इस ज्ञानीको दबाए हुए है, जब तक इसके पर्यायबुद्धि लगी है, जब तक यह ज्ञानस्वरूपको नहीं जान पाता तब तक इस पर्यायकी बिगाड़को यह अपना बिगाड़ मानता है। सो पर्याय तो अध्रुव है, उसका तो बिगाड़

सकनेका भी कारण बन जाती है। उसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है. हो रहा है सब कुछ, पर मेरा रिश्ता किसीसे कुछ नहीं है। ये सब भी बलायें हैं, विपत्तियाँ हैं, इन सबसे विविक्त निरापद अपने स्वरूपकी जो दृष्टि करता है वह ही पुरुष निःशंक रहता है। सबसे प्रधान भय मरणका भय है। मरणभय ज्ञानी पुरुषके नहीं रहता है। इन्द्रिय आदिक प्राणोंके विनाश को ही तो इस लोकमें मरण कहते हैं। और ये इन्द्रिय आदिक प्राण आत्माके परमार्थस्वरूप नहीं हैं। निश्चयसे इस आत्माका ज्ञान ही प्राण है। वह प्राण अविनाशी है, इस कारण आत्माका मरण ही नहीं है। ऐसा स्पष्ट बोध रहनेसे ज्ञानी पुरुषके मरणका भी भय नहीं रहता। वह तो निःशंक होता हुआ अपने ज्ञानस्वरूपका ही स्वयं निरंतर अनुभव किया करता है। यों ज्ञानी पुरुष मरण भयसे अत्यन्त दूर है।

लोकभयके अभावका पुनः संक्षिप्त विवरण—सम्यग्दृष्टि जीव सातों भयोंसे रहित होता है। उन सातों भयोंमें से ६ प्रकारके भयोंका वर्णन हो चुका है, आज सप्तम भयका वर्णन चलेगा। इस ७ वें भयका नाम है आकस्मिक भय। इसके पहिले ६ भय आ चुके थे। इह लोकभय अर्थात् मेरा इस लोकमें कैसे गुजार हो, कैसे नियम कानून बनेंगे, सम्पत्ति रहेगी अथवा नहीं। इहलोकमें सम्यग्दृष्टि जीवको भय नहीं होता है। इस लोकमें उसे भय नहीं होता क्योंकि इस दिखते हुए लोकको वह लोक ही नहीं मानता। अपने आत्माका जो स्वरूप है, स्वयं आत्मा है वह ही उसका लोक है। परलोकका भय यह कहलाता है कि परभवमें मेरी कैसी गति होगी, किसी खोटी गतिमें उत्पन्न हो गया तो फिर क्या गुजरेगा? इस प्रकारका भय करना परलोक भय है। ज्ञानी जीवको परलोकका भय यों नहीं होता है क्योंकि उसके लिए परलोक, परलोक ही नहीं है, किन्तु पर अर्थात् उत्कृष्ट निजलोक मायने ज्ञायकस्वभाव ही मेरा परलोक है। वह जानता है कि मैं अपने इस ज्ञायकस्वभावमय उत्कृष्ट लोकमें रहता हूँ तो यहाँ कोई शंका ही नहीं आती है।

मरणभय व अत्राणभयके अभावका पुनः संक्षिप्त विवरण—तीसरा भय है वेदना भय। शरीरमें पीड़ा होगी तो कैसी होगी—ऐसी आशंका हो जाती अब क्या होगा? यह रोग बढ़ जायगा तो कैसी वेदना होगी, ऐसा ही डरनेका नाम वेदनाभय है। ज्ञानीको यह वेदना का भय नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि जो ज्ञान वेदा जाता है वही तो वेदना है। वेदना किसी दूसरे तत्त्वका नाम नहीं है। वेदना शरीरमें नहीं होती है। वेदना आत्मामें होती है और वेदना ज्ञानकी वेदना होती है। वेदनाका अर्थ जानन है। किसी भी प्रसंगमें वह जानता है, किन्तु किसी परको न वह करता है, न भोगता है। जब वेदना मेरे स्वरूपसे बाहर ही नहीं है तो भय किसका हो उसे? ज्ञानी जीवको अत्राण भय भी नहीं होता है। मेरी रक्षा कैसे हो, मेरा रक्षक कोई नहीं है ऐसा वहम सम्यग्दृष्टि पुरुषके नहीं होता है

क्योंकि वह जानता है कि यहाँ भी मेरी रक्षा कर कौन रहा है ? जब तक उदय अनुकूल चलता है चार आदमी मुझे पूछ लेते हैं, अथवा वे चार आदमी भी पूछते नहीं हैं, वे भी अपने में कषाय भाव बनाते हैं और उन कषाय भावोंके अनुसार होने वाली चेष्टा हमारे सुखका निमित्तभूत होती है। ये भी कोई शरण नहीं हैं। तो अन्यत्र मेरा कौन शरण होगा ? वास्तविक शरण तो मेरा मैं ही हूँ। मैं स्वतःसिद्ध हूँ, अतः अपने पास स्वरक्षित हूँ। सम्यग्दृष्टि पुरुषके अत्राण भय नहीं होता।

अगुप्तिभय व मरणभयके अभावका संक्षिप्त विवरण——सम्यग्दृष्टिसे अगुप्तिभय भी नहीं है। जैसे लोगोंको यह भय हो जाता है कि हमारे घरकी भींत कच्ची है, ऊँची नहीं है, दरवाजा छोटा है तो शत्रु अथवा डाकू कहींसे भी आक्रमण कर सकते हैं। कैसे मेरी रक्षा हो, मैं तो अरक्षित हूं। ज्ञानी पुरुषके यह भय नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि मैं अपने स्वरूपमें ऐसा गुप्त हूं और अपने स्वरूपके ऐसे दृढ़ किलेमें रहता हूँ कि उसको कोई तोड़ नहीं सकता, भेद नहीं सकता। ऐसा ज्ञानी संतका दृढ़ निर्णय है, इस कारण उसे अगुप्तिभय नहीं रहता। छठवें भयका नाम है मरणभय। इसका वर्णन कल हो चुका था। ज्ञानीको मरणका भय इसलिए नहीं होता कि उसे विश्वास है कि मेरा मरण ही नहीं हुआ करता, भय किसका मानें ? मेरा प्राण है ज्ञानदर्शन, जिसका उच्छेद नहीं होता। प्राणोंके उच्छेदका ही तो नाम मरण है। मेरे प्राणोंका विनाश नहीं है। मैं सदा ज्ञानदर्शनस्वरूप रहता हूं। यदि प्राण ही मेरे चले जाएँ तो इसका अर्थ यह है कि मैं असत् हो गया अर्थात् मेरा कुछ भी न रहा। सो लोकमें ऐसा होता ही नहीं है कि जो हो उसका समूल अभाव हो जाय। ऐसा एक भी दृष्टान्त न मिलेगा। ईंधन है, जलकर राख हो जाता है पर उसका अभाव नहीं हो जाता है। उसके परमाणु धुवां बनकर सब फैल गए, कुछ परमाणु राखकी शकलमें आ गए, और राख उड़ जाय तो उसके छोटे-छोटे कणके रूपमें सर्वत्र फैल गए। दिखे भी नहीं तो भी उसका सत्त्व कहीं नहीं गया। जितना सत् है, जितने परमाणु हैं, जितने पदार्थ हैं उनका तीन लोकमें भी अभाव नहीं हो सकता। मेरा कभी अभाव ही नहीं होता है। अज्ञानी तो मरणमें इस बातको रोता है कि हाय मेरा घर छूटा, हाय मेरे लड़के छूटे, हाय मेरे घरके लोग छूटे, इसका खेद उस अज्ञानीको होता है। ज्ञानीको रंच भी खेद नहीं है। मरणका भय उसे नहीं है।

ज्ञानीके आकस्मिक भयका अभाव—अब बतलाया जा रहा है कि इस जीवको आकस्मिक भय भी नहीं होता है। आकस्मिक भय उसे कहते हैं कि किसी ओरसे अकस्मात् कोई उपद्रव आ जाय, उपसर्ग आ जाय। पर ज्ञानी जानता है कि यह तो मैं ज्ञानस्वरूप

ही हूँ। अनादि अनन्त हूं, अचल हूं, स्वतःसिद्ध हूं। जब तक यह है तितना यह है उतना ही यह है। यहां दूसरी चीजका प्रवेश ही नहीं हो सकता है। किसी भी परपदार्थसे मुझमें आयगा क्या ? अनादि कालसे अब तक मुझमें अनन्त कार्माणवर्गणावोंका पुञ्ज निमित्त-नैमित्तिकरूपसे एक क्षेत्रावगाहरूपसे बंधनरूपको बनाता हुआ चला आया है तिस पर भी एक भी अणु मुझमें प्रवेश नहीं कर सकता। मेरे क्षेत्रमें प्रवेश कर गया हो, पर मेरे स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता है। मैं वहीका वही रहा। एक बहुत मोटी बात है—एक गिलास में पाव-पाव भर दूध और पानी मिला दिए गए, वे एक जगह आ गए फिर भी दूधके अंश में पानी प्रवेश नहीं कर सकता और पानीके अंशमें दूध प्रवेश नहीं कर सकता। जब सजातीय स्कंधोंमें भी बेमेलपना देखा जाता है तो ये तो अत्यन्त विजातीय पदार्थ हैं— आत्मा और पुद्गलकर्म। वे कैसे एक हो सकते हैं ? ऐसा इस ज्ञानी संतके दृढ़ निर्णय है, उसमें किसी चीजका प्रवेश नहीं होता है।

बहम, सितम, गजब—अपने आपके प्रभुका जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। जिसका केवल वही निज स्वरूपास्तित्व है, जिसमें रंच भी आपत्तियाँ नहीं हैं, कष्ट नहीं है, क्षोभ भी नहीं है, ऐसे अपने परमपिता परमेश्वर कारणसमयसारकी दृष्टि न देकर यह जीव कितना विह्वल हो रहा है कितनी शंकाएँ मचा रहा है ? आज कुछ गजब न ढा जाय। इस दुनियामें गजब क्या होगा ? यही कि धनका नुक्सान हो गया। अरे इससे मुझ आत्मा पर क्या गजब है ? धन तो पुद्गलका स्कंध है, आना जाना तो उसके स्वरूपमें है। वह यहाँ न रहा, किसी दूसरी जगह चला गया। क्या सितम ढा गया आत्मापर और गजब क्या कहलाता है ? परिवारका कोई मर गया, बिछुड़ गया, चला गया, क्या गजब हो गया ? तो तू यह भ्रम किए था कि ये मेरे कुछ हैं थे कुछ नहीं। जैसे जगतके अनन्त जीव है वैसे ही ये परिजनके जीव हैं। इनसे मेरा रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। फिर भी संकट क्या हुआ ? बस उस भ्रमका सहारा टूट गया, इसीको ही गजब कहा करते हो ना ? तुम्हारे बहमका आश्रय मिट गया यह तो आनन्दकी बात होना चाहिए था, कि लो अब मेरे विकल्पका आश्रय नहीं रहा, अब मैं अन्तरोन्मुख रह सकूँगा, पर इस जीवने अपने आप ही अपनेपर अपनी भूलसे सितम ढा रखा है। सितम कहते हैं जुल्मको और गजब क्या होगा ? यही गजब हो सकता है कि दुनियाके लोग मेरा अपयश करेंगे, निन्दा करेंगे। यह तो जीवके गजबकी बात नहीं है।

निन्दामें विपत्तिका भ्रम—भैया ! धनके न होनेसे तो थोड़ा वर्तमानमें इतना क्लेश हो सकता है कि अब रोटी कैसे खायें, पेट कहाँसे भरें ? अपने परिवारके लोग न रहनेसे थोड़ी यह बात अनुभव की जा सकती है कि मुझे खाने पीने, नहाने धोनेको कौन आराम

देगा ? सो उनके उपयोगसे तो कुछ साधारणतया माना भी जा सकता है कि थोड़ी तकलीफ हो गई, पर एक-दो, दस या सर्व जगतके जीव एक स्वरसे मिलकर निन्दाकी बात कहने लगें तो उससे तो यहाँ कुछ बाधा नहीं हो सकती है। माननेके लिए तो जिस चाहे बातको बाधा मान लें। गजब और दुनियामें क्या होगा ? एक बड़ा यह भी अपराध चल रहा है कि मोही मलिन पुरुषोंके मुखसे दो बातें सुनकर अपने आपको भूल जाते हैं और ज्ञानको गड्ढेमें पटक देते हैं। उसे गजब नहीं मानते हैं।

स्वच्छन्दताकी अहितकारिता—मोही जीवोंको जो अपनेको परपरिणति प्रतिकूल लगता है उसे तो समझते हैं कि यह अनहोनी हो रही है और जो परपरिणति अपनेको अनुकूल जंचती है उसे मानते हैं कि यह बात तो मेरे जैसे नवाबके लिए होना ही चाहिए। पर ये सारे विभाव आत्मापर क्लेशके लिए ही आये हुए हैं। ये सब किसी परपदार्थोंसे नहीं आये, कर्मोंसे नहीं आये हैं। कर्मोंका उदय तो निमित्तमात्र है। ये विभाव मेरी ही अज्ञान परिणतिसे उठे हुए हैं। मुझपर कोई विपत्ति आती है तो मेरे ही अज्ञान परिणमनसे आती है, किसी अन्य पदार्थसे नहीं आती है। हममें आकस्मिक कोई विपत्ति ही नहीं है। किसी अन्यसे विपत्ति नहीं आती। हम अपनेको सम्हाले रहें सावधान बनाए रहें और मेरे ही किसी परिणामसे मुझे विपत्ति आ जाय सो ऐसा भी आकस्मिक उपद्रव नहीं है।

ज्ञान व आत्माका अभेद—यह ज्ञान एक है, अखण्ड है, बिखरा हुआ नहीं है। स्वरूपको देखो तो इसमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं है। लम्बे, चौड़े रूपमें फैले हुए ढंगमें अनुभव होता है तो आनन्दका अनुभव होता है, किन्तु ज्ञानका अनुभव लम्बे चौड़े फैले हुए ढंगसे नहीं होता है। फैले हुए ढंगसे ज्ञानका अनुभव होगा तो कितना ही लम्बा चौड़ा फैले हुए ढंगसे अनुभव होगा, पर आनन्दका अनुभव होगा तो केवल आत्मप्रदेश मात्रमें हो जायगा। यह ज्ञान एक है, अखण्ड है, ज्ञानमय आत्मा एक पदार्थ है, अनादि है, अनन्त है, अचल है। ज्ञान अथवा आत्मा कहो, इसमें भेद न डालना। ज्ञानगुणका भेद वस्तुके निहारने का आनन्द खो देता है। यह ज्ञान स्वतःसिद्ध है। जब तक है तब तक सदा वही है। यह ज्ञान कब तकके लिए है—इस ज्ञानपरिणतिकी बात कही जा रही है। इस ज्ञानस्वभावकी बात जो समग्र ज्ञान पदार्थका मूल स्रोत है, जहाँ अनन्त ज्ञानपरिणतियाँ निकलीं और निकलेंगी, फिर भी जिसका ज्ञानभण्डार कभी रिक्त नहीं होता है ऐसे उस ज्ञानस्वभावकी बात कही जा रही है। वह ज्ञानस्वभाव कब तक है ? अनन्त काल तक है। जब तक है वह वही है, उसमें दूसरेका उदय नहीं है। इसलिए ऐसा भी कुछ नहीं है कि इस आत्मामें अकस्मात् कोई नई बात उत्पन्न हो जाय।

आत्मामें अन्य किसीसे भयका अभाव—मुझमें जो हो सकता है वही होता है। जो

नहीं हो सकता है वह त्रिकाल नहीं होता है। ऐसा विचार करनेसे अकस्मात् भय सर्व समाप्त हो जाता है। सभी द्रव्य हैं और अपने स्वरूपसे हैं, परिणमते हैं, और अपनेमें ही परिणमते हैं। ये चार विशेषताएँ प्रत्येक द्रव्यमें स्वरसतः पायी जाती हैं और इन्हीं विशेषतावोंके कारण यह लोकव्यवस्था बन रही है। यदि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यको अपना स्वरूप, अपनी शक्ति, अपनी परिणति कुछ भी देने लगे तो यहाँ संकर व्यतिकर हो जायगा, कोई पदार्थ फिर रहेगा नहीं। एकने दूसरेको बदला, उसने दूसरेको बदला। यदि दोनों ही परस्परमें एक दूसरेको बदलने लगें तो संसारमें कुछ न रहेगा। यह सारा विश्व आज तक है, यह इस बातका प्रमाण है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध हैं और अपनेमें परिणमते रहते हैं। इस प्रकृतिको कोई भी पदार्थ कभी भी छोड़ नहीं सकता है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब मुझमें किसी दूसरे पदार्थसे उपद्रव आ जाय, यह कैसे हो सकता है?

दुःखका कारण स्वकीय अपराध—हम जब जब दुःखी होते हैं तब तब अपने अपराध से ही दुःखी होते हैं। दूसरेके अपराधसे हम दुःखी हो सकें ऐसा त्रिकाल भी नहीं हो सकता है। कोईसी भी घटना ले लो, किसी भी प्रसंगमें हम दुःखी हैं तो अपना ही अपराध विचारें। अपने अपराध बिना हम दुःखी नहीं हो सकते हैं। दुःख ही एक अपराध है, उस अपराधको कोई दूसरा नहीं कर सकता है। मोटे रूपसे कहा भी है कि एक हाथसे ताली नहीं बजती। अपराध वहां दोनोंका होता ही है। तो दोनोंके अपराधमें ऐसा नहीं है कि अन्यके अपराधसे अन्य कोई दुःखी होता हो। दोनों ही अपराध करते हैं और दोनों ही अपने अपने अपराधसे दुःखी होते है। ऐसी एक घटना ले लो कि कोई मुनिराज शांतस्वभाव से बैठे हुए हैं और अनेक लोग उन्हें गालियां दें, निन्दा करें और कभी मारपीट भी करें, अनेक दुःख भी दें, अब बतलावो कि वे मुनिराज दूसरेके अपराधसे दुःखी हो रहे हैं ना, अरे ऐसी बात नहीं है कि कोई मुनिराज किसी दूसरे पुरुषके अपराधसे दुःखी हो जाय। वे अपने अपराधसे ही दुःखी हुए, प्रथम तो अपने स्वरूपसे चिगे, यह दुःख है, यह अपराध है। अब और देखो—वह ज्ञानी संत ज्ञानदेवको मिटाकर उस दुःख पर्यायमें जो आया है उसके दुःखी होनेका अपराध बहुत पहिलेसे चला आया। कभी कषाय किया था जिसके निमित्तसे इस ही प्रकारके कर्मोंका बंध हुआ, और उस बद्ध कर्मके उदयका ऐसा निमित्त जुड़ा कि क्लेश हुआ। तो उस जीवके पहिले समयमें अपराध हुआ था जिस अपराधकी परम्परामें इसे आज आकुलित होना पड़ा।

दुःखमें वर्तमान अपराध—भैया और कहा जा सकता है कि ये तो पहिले भवके अपराध आप कहे जा रहे हैं, इस ही भवके अपराध बताओ जीवके अपराध हो सकते हैं। किसी दुश्मनने सताया है आज वह शांत है। तो दुश्मन बना कब था, किस घटनामें बना

था ? जैसे पाण्डवोंको उनके वंशके या कौरवके दंशने उनकी मुनि अवस्थामें तप्त गरम लोहे के कड़े पहिनाए। उन पाण्डवोंका अपराध इस ही भवका था कि उन्होंने युद्ध किया। उस युद्धमें उनके इष्ट जन हार गए, मर गए तो बदला चुका रहे हैं। जिसने इस भवमें किसीके साथ कोई व्यवहार न किया हो और फिर भी उसे दुःख मिले तो इसमें अपराध क्या है ? उत्तर--पहिला अपराध यह है कि वह बहिर्मुख बन रहा है, अपने उपयोगसे चिगकर किसी बाह्यपदार्थमें अपना उपयोग लगा रहा है, यह उसका एक विकट अपराध है। तो जितने भी जीव हैं वे सब अपने ही अपराधसे दुःखी होते हैं, दूसरेके अपराधसे कोई नहीं दुःखी होता है। क्योंकि किसी दूसरेकी परिणति मेरे आत्मामें प्रवेश नहीं पा सकती है। यह ही आत्मा संतोषमें न रहा और बाह्य पदार्थोंमें विकल्प करके व्यर्थकी झूठी पोजीशनमें सार समझकर मायावी पदार्थोंमें विकल्प करनेका ऊधम करो तो इस ऊधम करनेका फल तो कोई दूसरा भोगने न आयगा। जो अपराध करता है वही दुःखी होता है। अपराध किसी दूसरे पुरुषसे नहीं प्राप्त होता है।

ज्ञानदृष्टिमें निर्भयता--यह ज्ञान स्वतःसिद्ध है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस ज्ञानमय आत्मामें किसी दूसरेका उदय ही नहीं है। मेरा ज्ञान ही काम है। स्वरसतः ही मेरी परिणति है, उस जाननस्वरूपमें राग तकका भी उदय नहीं आता है। परवस्तुकी बात तो दूर रही। इस जाननस्वरूपमें इस जाननभावके अतिरिक्त किसी अन्य गुणका विलास तक नहीं आ पाता है। अन्य पदार्थोंकी तो गति ही क्या है ? तब इस मुझमें किसी भी दूसरे पदार्थसे कोई वृत्ति नहीं आती है। तब भयकी कौनसी बात है ? ऐसी वृत्ति साधारणतया सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके होती है। अपना ही बल अपनी मदद कर सकेगा। दूसरे का बल मेरे किसी कामका नहीं है। अपने ही वस्तुस्वरूपके निर्णयसे उत्पन्न हुए ज्ञानबलका भरोसा रखना चाहिए। इस मुझ आत्मामें कुछ आकस्मिक होता ही नहीं है तब भय कहाँसे उत्पन्न हो ? ऐसा निर्णय रखने वाला ज्ञानी पुरुष निःशंक रहता है और सदा सहज ज्ञान-स्वरूपका अनुभव किया करता है। सहज ज्ञान कहते हैं जो आत्माके सत्त्वके साथ ही हो। जबसे आत्मा है तबसे स्वरूप जो बना हुआ हो उसे सहज कहते हैं। जो वस्तुका निजस्वरूप है वही वस्तुका सहजभाव है। मेरा यह ज्ञानस्वभाव ही सहज-पारिणामिक भाव है।

सहजता और पारिणामिकताका अविनाभाव—सहज और पारिणामिक--इन दो शब्दोंका अविनाभावी जोड़ा है। सहज पारिणामिक होता है और पारिणामिक सहज होता है। सहजका अर्थ है जबसे वस्तुका सत्त्व है तबसे जायमान है वह सहज है। और पारिणा-मिकका अर्थ है कि जिसका परिणमन ही प्रयोजन हो अर्थात् जिसपर परिणमन तो चल रहे हैं, पर जो ज्योंका त्यों है उसे पारिणामिक कहते हैं। ज्ञानस्वभाव सहजपारिणामिक

भाव है, इसकी दृष्टि निकट संसारी जीवको होती है, भव्य जीवको होती है। जिसने इस आत्मदर्शनकी उपलब्धि की वह कृतकृत्य हो गया और जिसने इस आत्मदर्शनको न पाया, पुण्यके उदयसे कितना ही महान वैभव पाया हो वह समस्त वैभव इस जीवके हितका कारण नहीं है, प्रत्युत अहितका ही कारण है। यह ज्ञानी जीव समस्त परपदार्थोंकी ओरसे निःशंक रहता है, उसके किसी भी प्रकारका कोई विकल्प नहीं हो सकता है। आँधी चले, आग जले, तूफान चले, सारे लोकमें हो हल्ला मचे पर यह ज्ञानी तो आकाशवत् निर्विकल्प ज्ञानमय आत्मस्वरूपको देखता है।

ज्ञानीकी निःशङ्कता—ज्ञानी संत समझता है कि मेरे आत्मामें किसी भी परपदार्थ का प्रवेश नहीं है, मैं कहाँ यहाँ वहाँ मुँह उठाऊँ? जैसे सारे नगरमें करफ्यू मच गया खिड़कीसे जो झांके उसीके गोली मार दो यह आर्डर होता है। तो जिसने खिड़कीसे बाहर सिर निकाला उसके गोली लगी। तो इस प्रकारसे तुम बाहर कहां ढूकते हो, यहाँ करफ्यू चल रहा है, जगतमें महान् उपद्रवरूपी परपदार्थोंका ही हल्ला मच रहा है तो मचो तुम कहाँ अपने ज्ञानानन्दमय गृहसे चिग कर बाहर ढूकते हो। ज्ञानी देख रहा है कि मैं तो अपने परमविश्राम गृहमें हूं, इस मुझ आत्मामें किसी भी परपदार्थसे कुछ उपद्रव नहीं आता है। सो वह निःशंक होता हुआ संत निज सहज ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव करता है। इस प्रकार यह सम्यग्दृष्टि जीव ७ प्रकारके भयोंसे रहित है। ऐसी निर्भयता और निःशंकता ही इस सम्यग्दर्शनका प्रथम अंग है। यह निश्चयसे निःशंकित अंगका स्वरूप चल रहा है।

ज्ञानीका उद्यम—सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंके सप्तभयरहित अवस्थाको बताया गया है। इसी प्रकार ७ अंगोंका भी वर्णन है। अभी प्रथम अंगका प्राकरणिक लक्षण नहीं आया है किन्तु प्रथम अंगमें जो भयरहित अवस्था होती है उस अवस्थाका वर्णन किया है। सम्यग्दर्शनके निःशंकित आदि सर्व चिह्न समस्त कर्मोंको हनन करते हैं अर्थात् कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। और जिस कर्मका बंध पहिले होता था उसके उदयको भोगते हुए उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके नियमसे निर्जरा होती है। कर्मोंकी निर्कराका कारण है कि कर्मोंका लगाव रखने वाले भावोंका अभाव हो जाय। यह जीव कर्मोंसे स्वरसतः न्यारा है। कर्मोंसे न्यारा करने का और श्रम नहीं करना है। व्यर्थका जो श्रम कर्मोंके आनेका हो रहा है उस श्रमको दूर करना है। इस जीवमें ऐसी मोहबुद्धि पड़ी हुई है कि यह मोहवश है, राग हो रहा है। इस जीवका जीव ही है। जीवका परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है। जीवका चतुष्टय जीवमें ही है, उसका कुछ भी उससे बाहर नहीं है।

अनन्त प्रभुवोंपर अन्याय—ये दिखनेमें आने वाले जो मायामय स्वरूप मनुष्यादिक

हैं इनसे कहीं मेरा कुछ सुधार न हो जायगा। पर पर्यायबुद्धि ऐसी अपवित्रता है कि जहाँ सार भी नहीं है और चाह रहे हैं कि दुनियामें मेरा नाम हो जाय। जिसका जितना प्रसंग है, जितनी पहुंच है उतने घेरेके बीच यह चाहते हैं कि मैं दुनियामें अच्छा कहाऊं। तो सब लोगोंमें अच्छा कहलाने की इच्छा होनेका अर्थ यह है कि अन्य जो भगवान हैं, जीव हैं उनका आघात कर रहे हैं। मैं इन सबमें अच्छा कहलाऊँ इसके मायने हैं कि ये सब लोग न कुछ रहें, छोटे रहें, तो इन अनन्त भगवानोंपर हमला किया कि नहीं ? जो भगवानोंपर हमला करेगा उसका क्या भला होगा ? लोगोंमें अपना नाम बड़प्पन कहलवा लेना इसका भाव यही है कि तुम इन सबको ठुकराना चाहते हो। सबको ऊँचा देखनेका भाव हो इसमें नम्रताकी वृत्ति बनती है। मैं सबमें लीन हो जाऊँ, मुझे कुछ अपना बड़प्पन नहीं दिखाना है, ऐसी भावनामें तो इसकी प्रगति है, और मोहवश यह जीव उल्टा चाहता है कि मेरा लोकमें कुछ बड़प्पन बने। अरे इस लोक और संसारको ही मिटानेकी आवश्यकता है। जब तक संसारमें रहेंगे तब तक चतुर्गतियोंमें भ्रमण ही करना पड़ेगा, फिर कुछ न मिलेगा।

ज्ञानदृष्टिके अभावमें विकट आधि—भैया ! ज्ञानकी बात तो यह है कि अपने यथार्थ स्वरूपका निर्णय कर लें, हमारा स्वरूप आकाशवत् निर्लेप अमूर्त केवल ज्ञानमात्र है। इस स्वरूपकी ओर जिसकी दृष्टि रहती है, जो इस स्वरूपके उन्मुख होता है वह संत पूज्य है। ज्ञानियोंके ज्ञानका मार्ग पवित्र और गुप्त है। इस असार संसारमें अपने पर्यायका नाम जाहिर कर देनेकी बुद्धि बिल्कुल निष्फल जाती है। प्रथम तो इस धनकी तृष्णाका थाह नहीं है। हजारपति हों तो लखपति होना चाहते। लखपति हों तो करोड़पति होना चाहते। जो करोड़पति है वे सुख चैनसे नहीं खा पाते हैं। वे उससे ज्यादाकी धुनिमें हैं। कोई ऐसा धनिक नहीं है एक ज्ञानी पुरुषको छोड़ करके कि जो किसी धनसे संतोप तो कर सके। इसी प्रकार जगतमें नाम बढ़ानेकी तृष्णाकी भी थाह नहीं है। मोहल्लेमें मेरा नाम रहे, हो गया, मेरा सारे नगरमें नाम रहे, हो गया, तो अब सारे देशमें नाम हो, लो हो गया, अब देशसे अतिरिक्त विदेशोंमें नाम हो, हो गया, सारे लोकमें नाम हो। जैसे धनकी तृष्णाकी थाह नहीं है इसी तरह नामकी चाह की तृष्णाकी भी थाह नहीं है। जैसे धनमें तृष्णा करना व्यर्थ है क्योंकि सब छूट जायगा। और वर्तमानमें भी जब तक धनका साथ है तब तक भी कुछ संतोष आराम सुख नहीं है। और जिन्हें संतोष है उन्हें धनके कारण संतोष नहीं है किन्तु ज्ञानके कारण है। इसी तरह मर मिटे, लो नाम गया। यह जीव मरकर मान लो घोड़ा बन गया और यहां नाम बहुत फैला हुआ है, जगह-जगह कीर्तिस्तंभ बने है, बड़े-बड़े बोट साइन लगे हैं तो लगे रहें, वहाँ तो उस जीव पर कोड़े पड़ रहे हैं ! नामवाला जब तक जीवित है तब तक भी आरामसे नहीं रह पाता है।

नामकी चाह अनन्तप्रभुत्रोंपर अन्याय—ज्ञानका मार्ग जिन्हें मिलता है वे ही आराम पा सकते हैं। अज्ञानमें तो आराम है नहीं। और फिर मोटी बात यह है कि लोकमें नाम चाहनेका अर्थ यह है कि मैं बड़ा कहलाऊँ और ये सब न कुछ रहें, तुच्छ रहें। तो इसका अर्थ क्या यह नहीं हुआ कि तुमने हजारों भगवानोंपर आघात किया ? एक पर्यायबुद्धिमें बहकर अज्ञानमें मानी हुई कुमतिके पथमें होकर इन सब प्रभुवोंपर आक्रमण कर रहे हो। ये न कुछ रह जायें, मैं इन सबमें बड़ा कहलाऊँ यही तो इस चैतन्य भगवत् स्वरूपका आघात है। इतना अपराध करनेके फलमें क्या यह आरामसे रह सकेगा ? कोई किसी दूसरेपर अन्याय करता है तो वह भी व्यथित रहता है और जो अनन्त प्रभुवोंपर अन्याय कर रहा है, उनका आघात कर रहा है, तो अपनी कुमतिके भावोंसे क्या वह आरामसे रह सकेगा ? नहीं। यही कारण है कि नाम चाहने वाला कभी सुखसे नहीं रह सकता।

नामचाहकी व्यर्थता—धन तो कदाचित् कुछ पीड़ा हरनेका हेतुभूत हो सकता है, कदाचित अपने व्यवहारधर्मके चलानेमें सुविधाका आश्रय हो सकता है, क्योंकि स्वास्थ्य अच्छा रहे तो धर्मकी साधनामें सहायता मिलती है, पर नामसे क्या पिलता है ? नाम चाहने वाले लोग इसी कारण आरामसे नहीं रह सकते हैं। यह पिशाच ऐसा विकराल पिशाच है कि इसके फन्देमें कोई आ तो जाय, फिर यह जीवन भर सुखसे नहीं रह सकता है। कभी ज्ञानकी झलक ऐसी आए कि अपनी पर्यायको भी अपने स्वरूपसे उपयोग द्वारा दूर निकाल फेंके और केवल पारिणामिक भाव स्वरूप निज चैतन्यस्वरूपका आदर रखे तो इसको शांति हो सकती है।

अष्टाङ्गोंकी अशुचिविनाशकता—यहाँ सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंका वर्णन चलेगा। उन ८ अंगोंमें शुद्ध भावोंकी घोषणा है। शुद्ध भावको धर्म कहते हैं। जो अशुद्धताएँ हैं उनको हटालो शुद्धता प्रकट हो जाय। शंका करना, भय करना यह अशुद्धता है। उसके हटनेसे निःशंकित अंग प्रकट होता है। इच्छा करना, निदान बाँधना, इच्छाकी चाह करना, परके उन्मुख बनना ये सब संकट हैं, अपवित्रताएँ हैं। इन वाञ्छावोंको दूर करनेसे निकांक्षित अंग प्रकट होगा। किसीसे ग्लानि करना उसको तुच्छ समझे बिना नहीं हो सकता है। किसीको तुच्छ समझा जाय तभी तो उससे ग्लानि हो सकती है। यही अपवित्रताका परिणाम है। यह ग्लानिका परिणाम दूर हो इससे निर्विचिकित्सित गुण प्रकट होता है। अपवित्रताएँ हटानेका ही नाम रत्नत्रय है। सम्यग्दर्शन अपवित्रता दूर होनेसे, मिथ्यात्व दूर होनेसे प्रकट होता है। सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्रकी अपवित्रता दूर होनेसे प्रकट होता है। अपवित्रताएँ दूर हुईं कि इसमें यह अंग प्रकट होने लगता है। मोह बुद्धि होना, मुग्ध हो जाना, विवेक खो देना, जिस चाहे के पीछे लगना, अमुक देवसे हित होगा, अमुक गुरुसे हित होगा, वह

देव है या कुदेव है, वह गुरु है या कुगुरु है इसका भी कुछ निर्णय न होना, ये सब अपवित्रताएँ ही तो हैं। इन अपवित्रतावोंका न होना मूढ़दृष्टि अंग है। कुगुरु किसे कहते हैं, कुदेव किसे कहते हैं कि देव तो न हो, गुरु तो न हो और देव गुरु माना जाय वही तो कुदेव और कुगुरु है।

कुदेवत्वका आधार निजका विकल्प—भैया! देव तो यहाँके लोग भी नहीं हैं तो क्या ये कुदेव कहलाने लगे। जो देव नहीं है उसे कुदेव कहेंगे क्या? नहीं। जो देव नहीं है और उसे देव मानें तो कुदेव है तो कुदेवपना दूसरे प्रभुमें है या उस मानने वालेके आत्मा की बुद्धिमें है? दूसरा तो जो है सो है। आप भी देव नहीं हैं और स्त्री पुत्र रखने वाले जो लोग प्रसिद्ध हो रहे हैं वे भी देव नहीं हैं। सो देव नहीं है. यह तो ठीक है पर हम लोगोंका नाम कुदेव नहीं पड़ता है, और उनका नाम कुदेव पड़ा। तो इसमें कारण वे नहीं हैं, इसकी मान्यता है। स्वरूप तो ज्ञानमें आ रहा है, परिचयमें आ रहा है कुदेवपनेका और मान्यता बना रहे हैं देवपनेकी, इसीको कहते हैं कुदेव। और इस पद्धतिसे जो ऐसी जगह है क्षेत्रकी जगह मान ली है कि वहां जावो तो अपना कार्य सिद्ध होगा, पुत्र होंगे, विवाह होगा, मुकदमा जीतेगा, ऐसी बुद्धि रखकर मानना यह भी कुदेवपना हुआ कि नहीं? यह भी कुदेवपना हुआ क्योंकि कुदेवत्व तो परमें नहीं है। यह कुदेवत्व मानने वालेकी बुद्धिमें है। ये सुख दुःख देंगे ऐसा स्वरूप मानते हो, फिर उसे महावीर स्वामी बोलें तो कुदेवका स्वरूप तो परिचयमें आ रहा है और देव मान रहे हैं तो इसमें कुदेवत्व करना पड़ा कि नहीं? यह बात औरोंके प्रति है कि देव स्वरूप नहीं है। स्त्री रखे हैं, शस्त्र रखे हैं, शंख चक्र रखे हैं, युद्ध करवाते हैं, जहाँ चाहे मौज उड़ाते हैं, यह देव स्वरूप नहीं है और देव माने उसे कुदेव कहते हैं। ऐसे ही सर्वत्र घटा लो। शुद्ध दृष्टि न होना सो मूढ़दृष्टि है। मूढ़दृष्टि अपवित्रता है। अपवित्रता के अभावका नाम है अमूढ़ दृष्टि।

उपगूहन अंगका मर्म—दूसरेके दोषोंको प्रसिद्ध करना, धर्मात्मा जनोंके दोषोंको प्रकट करना यह अपवित्रता है। क्यों अपवित्रता है कि धर्ममें कलंक लगता है। यदि कोई अपने धर्मका रूप रखे हो और दोष करता हो तथा अनेक बार विधिवत् समझानेपर भी दोष न छोड़ता हो तो उसके प्रति यह मेरा साधु नहीं है ऐसा प्रसिद्ध करो, फिर दोष कोई प्रकट करो तो धर्ममें कलंक न लगेगा। यह भी दुनियाको बताओ कि यह मेरा साधु है, यह मेरा गुरु है, यह मेरा साधर्मी है और फिर दोष कहो तो यह अपवित्रता है। एक बार निर्णय दे दिया कि यह उस म्नायका है नहीं, यह धर्मात्मा नहीं है, फिर दोष कहो तो धर्म में कलंक नहीं है। अपना भी मानें और दोष भी लोकमें प्रकट करे तो यह धर्मपालनके विपरीत बात है, यह अपवित्रता है। कोई किसीपर अन्याय करे, धर्मात्माके दोष दुनियामें

प्रकट करे तो क्या यह एक व्यक्तिपर अन्याय है ? नहीं। सारी जनतापर अन्याय है। यह जनता श्रद्धासे हट गई। धर्ममें कुछ लगनेकी जिसकी भावना है वह यह सोचेगा कि यहाँ तो ऐसा ही होता है, कुछ यहाँ तत्त्व नहीं है यों सोचकर वह श्रद्धासे चिग गया है। तो इसमें उसने हजारों लाखोंपर अन्याय किया। जिसने धर्मात्माका दोष प्रकट किया उसने उन भगवंतोंपर अन्याय किया। यह अनुपगूहन अपवित्रता है। इसके नाश होनेको उपगूहन कहते

स्थितिकरणका मर्म--जिसमें बल है, सामर्थ्य है ऐसा पुरुष दूसरे धर्मी पुरुषोंको धर्मसे विचलित देखे और उनको सहयोग न दे, उनको धर्ममें स्थिर न करे और देखता जाय, तो उसके धर्मकी तीव्र रुचि नहीं है। जिसे धर्ममें रुचि होती है वह जानता है कि जो अपने धर्मको सम्हाले, अपने स्वभावको सम्हाले वह पुरुष संकटोंसे दूर हो जाता है। वहाँ यह नहीं है कि दूसरे मोक्ष जाने वाले तैयार हैं तो हमारे मोक्षका नम्बर देरसे आए। उसमें रुकावट नहीं होती है। बल्कि उस धर्मपथपर जाने वालेके प्रति अनुकंपा व गुणस्मरण जगता है तो अपने धर्ममें प्रगति होती है। विचलित होने वाले पुरुषको धर्ममें स्थिर कर देना यही अप-वित्रताका विनाश है और गिरते हुएको धक्का लगा देना यही अपवित्रता है ईर्ष्या। अविवेक जब जगता है तब जाकर ऐसी परिणति होती है कि हो रहा है तो हो रहा है। गिर रहा है तो गिरने दो। उसे छोड़ देनेसे वह और गिर गया। मनुष्यका सर्व कुछ बल वचनोंमें है। वचनोंसे ही किसीको सम्हाल ले और वचनोंसे ही किसीको गिरा दे। तन, मन, धन, वचन इन सबमें वचनकी चोट बहुत बुरी होती है। और लगता भी कुछ नहीं हैं। लेकिन अविवेक का जब उदय है तो अपने वचन अपनेसे सम्हाले नहीं जा सकते है। कषाय भीतरमें भरी हो तो वचनोंको ऐसे निकल जाना ही पड़ता है। इन्हीं वचनोंके द्वारा बड़ा अनर्थ हो जाता है और इन्हीं वचनोंके द्वारा लोगोंकी सम्हाल हो जाती है। गिरते हुए जीवको गिरने देना, देखते रहना, यह भावना न हो कि इसको सहयोग दूं और इसका परिणाम स्थिर हो जाय, तो इसे कहते हैं अपवित्रता। पहिले समयमें स्थितिकरणका बड़ा यत्न होता था। आजके युगमें जुदी-जुदी खिचड़ी पकाने जैसा ढंग बढ़ गया है। बहुत समय व्यतीत हो जाता, यह पता नहीं रहता कि हमारे मोहल्लेमें धर्मीजन कितने रहते है। पड़ौसमें भी इतना पता नहीं रहता है। पढ़े लिखे, ज्ञानी, संत, समझदार गृहस्थ लोगोंका पता ही नहीं है कि कहां कौन

[illegible] स्थितिकरण होने जैसा ढंग अपवित्रता है [illegible]

शुद्ध चेतनका बोध हो तो उस शुद्ध चैतन्य स्वरूपके दर्शन हों। और ऐसी प्रीति जगे कि अहो यहाँ तो सर्व समानता है। जो मैं हूँ सो ही सब हैं! भगवानके लिए ऐसा कह लिया जाता है कि जो भगवान सो अहं। जो भगवान हैं सो मैं हूं और अपने धर्मीजनोंके प्रति इस बातकी झलक न आ सके कि अहो सब एक ही तो मामला है। वही सर्वत्र विराजमान है। जो यह है सो मैं हूं, जो मैं हूं सो यह है। साधर्मी जनोंसे ऐसा जो घुलमिल न सके उसे अपवित्रता कहते हैं। न घुलमिल सके तो न सही, पर अपना ज्ञान तो सही बना लेना चाहिए। जिसे अपने चैतन्यस्वरूपका दर्शन हुआ, मुक्तिका मार्ग मिला वह उस मार्गसे चल कर वहाँ घुलमिल सकता है। ऐसा वात्सल्य ज्ञानी संतोंके होता है। साधर्मी जनोंपर अवात्सल्य रखना यह दोष है, और इस दोषके अभावमें सम्यग्दर्शनका वात्सल्य गुण प्रकट होता है।

अप्रभावनाकी अपवित्रता—लोगोंके बीचमें धर्मात्माजन देखे जा रहे हों और उन धर्मात्माजनोंके प्रति अपनी जिम्मेदारी न समझें, अपने हितकी बातपर जोर न दे सकें और यथातथा प्रवृत्तियाँ कर डालें यही है अप्रभावना। धर्मकी प्रभावना धर्मात्माजनोंके चरित्र द्वारा होती है। सदाचारका एकदम सीधा प्रभाव पड़ता है। पहिले समयमें खजांची प्रायः जैन ही पुराणोंमें सुने गए हैं। इतिहासमें मुगुल बादशाह हुए तो क्षत्रिय बादशाह हुए तो खजांची, कोषाध्यक्ष अथवा सलाहकार संख्याके अनुपातसे कई गुणा अधिक जैन लोग हुए। और कचहरीमें गवाही देने वाला जैन है इतना ज्ञात होते ही इसकी गवाहीमें कई गुणा बल आ जाता था। कारण यह था कि ज्ञान था, वैराग्य था, उदारता थी, संयमका पालन था, बाह्य सदाचार, अंतरंग सदाचार उन सबका प्रभाव था। आज देशके आगे अब वह स्थिति नहीं रही। यह सब अप्रभावना दोषका फल है। तो अप्रभावना अपवित्रता है। इस अपवित्रताके अभावमें प्रभावना अंग प्रकट होता है।

सम्यक्त्वकी विशेषता—सम्यग्दर्शनके ८ अंग आत्माके शुद्धभाव हैं और ये ही समस्त लक्षण सम्यग्दृष्टिके कर्मोंको नष्ट करते हैं। क्योंकि इस सम्यग्दृष्टि पुरुषने टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अपने ही स्वभावसे एकत्रित उपयोगमें बसाये गये ज्ञान सर्वस्वको प्राप्त कर लिया है सो अब कर्मोंके आस्रव बंधका कारण नहीं रहा। अतः निर्दोष सम्यग्दृष्टि पुरुष समस्त कर्मों को दूर करता है। सो अब उनके कर्मोंका ही बंध नहीं रहा और जो पूर्वभवमें अज्ञानसे कर्म बंधे थे उनका उदय आ रहा है और विपाक कालमें अनुभव भी हो रहा है, क्लेश भी आ रहा है पर समतापरिणामसे उन सबको भोग रहे हैं, टाल रहे हैं इसलिए पूर्वबद्ध कर्मों की भी उनके निर्जरा ही होती है। अब इसके बाद सम्यग्दर्शनके ८ प्रकारके दोषोंके लक्षण का विवरण सहित क्रमसे वर्णन चलेगा।

अब निःशंकित अंगका स्वरूप कह रहे हैं !

जो चत्तारिवि पाए छिंददि जे बंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

जो पुरुष अर्थात् आत्मा कर्मबंधके कारणभूत मोह भावको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार पादोंको निःशंकित होता हुआ काटता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ।

संसार विष वृक्षका मूल— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार संसारवृक्ष के मूलभूत हैं । संसार इन ही परिणामोंका नाम है, जिनमें मुख्य है मिथ्यात्व । अपने आत्मा के स्वरूपका यथार्थ परिचय न हो और बाह्य पदार्थोंको अपना स्वरूप माने यह सब मिथ्यात्व भाव है । जब यह जीव इतनी बड़ी भूलमें रहता है कि जिसे अपने और परायेका भी ठीक ठिकाना ज्ञात नहीं है तो उसका काम संसारमें रुलना ही है । और मिथ्यात्व होता है तो अविरति कषाय और योग भी पुष्ट होता है । मिथ्यात्वके नष्ट हो जानेपर भी कदाचित् कुछ समय तक अविरति कषाय और योग रहता है, किन्तु मिथ्यात्वके अभावमें अविरति आदिकमें वह जोर नहीं रहता है जो मिथ्यात्वके होनेपर रहता है । यह अविरतिभाव मिथ्यात्वके साथ हो तो उसमें अधिक जोर रहता है । जहाँ यह ही पता नहीं है कि विषयोंसे रहित केवल शुद्ध ज्ञानदर्शनमात्र मैं हूं तो वह अविरतिके भावमें ही अपना हित मानेगा सो अधिक आसक्त होगा । जो मिथ्यात्वसे रहित ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव है उसके जब तक अप्रत्याख्यान कषायका उदय चलता है तब तक अविरति भाव होता है किन्तु उस अविरति भावमें रहकर भी, विषयोंकी साधना करते हुए भी हटाव रहता है, वियोगबुद्धि रहती है कि मैं कब इससे अलग हो जाऊँ ? इसी प्रकार कषाय भावकी भी यही बात है । योग भी मिथ्यात्वके मूलसे चलकर आगे भी सिलसिला बनाये रहता है । इस प्रकार इन चारोंका बंधन मिथ्यात्वमें दृढ़ रहता है । मिथ्यात्वके अभावसे इन तीनोंका बंधन शिथिल हो जाता है ।

निरंग-निस्तरंग आत्मामें रंग व तरंगका कारण—भैया ! द्रव्यकर्म और भावकर्म व क्षेत्रांशान्तर रूप प्रदेश, क्रिया—इन तीन क्षेत्रांशसे प्रकारके कर्मोंसे रहित आत्माका स्वभाव है, पर इस मिथ्यात्व, अरति, कषाय और योगके निमित्तसे द्रव्यकर्मका भी संचय होता है, भावकर्म भी प्रकट होता है और क्षेत्रसे क्षेत्रांतर रूप क्रिया भी चलती है । यों यह कर्मोंका करने वाला होता है । इसी प्रकार मोह कषायको भी उत्पन्न करनेके कारण है । ये चारों पाद है—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ।

आत्मद्रव्यका निरखन—आत्मद्रव्य मोहरहित है, यह तो शुद्ध प्रतिभासमात्र है । जैसे पुद्गलके ढेलेमें निरखने चलते है तो वहाँ परमाणु मिलता है जो कि पिंड रूप है; रूप,

रस, गंध, स्पर्श भी रहता है। इसी तरह आत्मस्वरूपके अन्तरमें कुछ निरखने चलें तो वहाँ क्या मिलेगा ? इन्द्रियोंको संयत करके सर्वपदार्थोंसे भिन्न और अहित जानकर उपयोगको दूर करके परमविश्रामके साथ निरखो कि आखिर इस मुझसे बात है क्या ? जब तक निरखने की बुद्धि चलेगी तब तक कुछ न मिल पायगा। निरखनेका यत्न प्रथम यत्न है। निरखनेके यत्नमें आत्माका निरखना नहीं होता है। निरखनेका यत्न एक आत्माके दरबारके आंगन तक पहुंचा देना है। बादमें स्वयं ही स्वयंको स्वयंके द्वारा सहज ही बिना यत्न किए बल्कि क्रियाके यत्नोंके श्रमके अत्यन्त दूर करनेकी विधिसे यह आत्मा स्वयं निरखनेमें आता है। निरखनेका यत्न करना मन काम है और निरखना अनुभवना यह न इन्द्रियका काम है और न मनका काम है। यह आत्माका स्वरूप सहज होता है। इस आत्माको निरखें तो क्या मिलेगा ? केवल ज्ञानप्रकाश। ज्ञानप्रकाशके अतिरिक्त इस आत्मद्रव्यमें और कुछ जानने, समझने ग्रहण करनेको नहीं मिलता।

स्वभाव, परिस्थिति और कर्तव्य—भैया ! कैसा ज्ञान द्वारा रचित यह आत्मतत्त्व है, आकाशकी तरह अमूर्त, ज्ञानघन यह एक चेतन पदार्थ जो समस्त पदार्थोंसे प्रधान व्यवस्थापक एक महान् शोभा वाला है। तो यह आत्मद्रव्य मोहभावसे मुक्त केवल शुद्ध भाव प्रकाश वाला है। लेकिन इन मिथ्यात्व अविरति आदि परिणामोंके कारण इसमें ऐसी मलिनता उत्पन्न होती है। सबसे महान् पुरुषार्थ यही है कि इस मैली पर्यायके होते हुए भी स्वभावके दृष्टिमें लें और स्वयं अपने आप जो केवल चैतन्यस्वरूप है उस रूपमें अनुभव करें यही आनन्दका उपाय है। बाकी तो सब झंझट है। यहाँ जितनी बुद्धिमानी करो यह उतना ही उलझ जाता है। इस लोकव्यवहारमें इन मायाचारी मिथ्यात्वियोंको देखकर इनमें कुछ अपना कायम करनेके लिए जितनी बुद्धिमानी चतुराईका व्यवहार बनावो उतना ही यह जीव विकल्पजालोंमें उलझ जाता है। इस उलझनसे मुक्त होनेका उपाय सहजशुद्ध जो आत्मस्वरूप है, ज्ञान मात्र अर्थात् आत्माके सत्त्वके ही कारण आत्मामें जो कुछ भाव है उस भावकी दृष्टि होना है। स्वभावकी दृष्टि होनेपर ये सब उलझनें समाप्त हो जाती हैं।

दुनियाके बीच ज्ञानीका अपूर्व साहस—भैया ! क्या इतना साहस किया जा सकता है कि सारा जहान मिलकर भी कितनी ही निन्दा करे, तो हम यह जान सकें कि सारा जहान प्रत्येक जीव अपना परिणमन अपने आपमें ही करके समाप्त होता है। उस समस्त जहानसे बाहर इस मुझ उत्कृष्ट लोकके भीतर कुछ भी नहीं आता है। इतनी हिम्मत रहती है ज्ञानी पुरुषोंमें। क्या यह साहस किया जा सकता है कि समस्त जीव लोक भी मिलकर हमारी प्रसंसाके शब्द भी कहें तो हम वहाँ यह जान सकें कि यह समस्त लोक अपने विभाव से रागप्रेरणासे उत्पन्न हुए खुदकी वेदनाको शांत करनेके लिए खुदमें परिणमन कर रहे हैं.

उनसे मुझ उत्कृष्ट लोकमें कुछ आना जाना नहीं होता है। ऐसी जीव लोक की परिणतिके ज्ञाता द्रष्टा रह सकनेका साहस इस सम्यग्दृष्टि पुरुषमें होता है। सारा महत्त्व जाननका है। कितना ही धन वैभव संचित करलो, कितना ही परिग्रह जोड़ लो पर उस परिग्रहीकी त्रुटि ज्ञानी पुरुषको ही मालूम हो सकती है कि देखो यह है तो केवल अपने रूप, केवल चैतन्यमात्र सबसे न्यारा, कुछ भी सम्बन्ध किसी परवस्तुसे नहीं है किन्तु उपयोग द्वारा वहिर्मुख होकर कितना दूर भागा चला जा रहा है, यह त्रुटि ज्ञानी संत पुरुषको ही मालूम हो सकती है।

मिथ्यात्वादिकी बाधाकारिता--ये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बाधाके ही करने वाले हैं। इस जीवका स्वरूप अनाकुलताका है किसी परके द्वारा इसे बाधा आ ही नहीं सकती है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपमें विकल्प करके अपने आपके ही विभावोंसे आकुलता मचाता है। एक भी अणु यह सामर्थ्य नहीं रखता कि किसीकी आत्मा में मैं परिणति बना दूं। किसी भी जीवमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह जीव किसी जीवमें किसी प्रकारके गुणोंकी परिणति कर दे। सुख दुःख रागद्वेष कठिन कर्मोका उदय निमित्त हो सकता है और उनका निमित्त पाकर यह जीव अपने आपमें रागद्वेष सुख दुःख आदि उत्पन्न करनेका असर पैदा करता है। और इस असरके निमित्तभूत होनेके कारण यह उदय भी बाधाका करने वाला कहलाता है। किन्तु साक्षात् बाधा करने वाले आत्माके मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग भाव ही है। इन चारों पैरोंसे जिसके बलसे यह संसारमें चक्कर लगाया करता है उन पादोंका जो उदय दूर कर देता है उसे निःशंक पुरुष सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना चाहिए।

सम्यग्दृष्टिकी निःशंकताका विषय--मिथ्यात्वका तो अभावरूप छिदना होता है और अविरति, कषाय और योग कहीं अभावरूप छिद जाता है तो उससे पहिले यह जर्जरित हो जाता है। मिथ्यात्वका अभाव हो तो यह सम्यग्दृष्टि होता है और अविरति आदिक जर्जरित हों और आगे बढ़कर इनका भी अभाव हो ऐसी उत्कृष्टता बढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है। यह निःशंक किस विषयमें रहता है? शुद्ध आत्माकी भावनाके सम्बधमें। जैसे कोई सांप सामनेसे आ रहा हो और वह जगह छोड़कर हट जाय तो उस वृत्तिको सम्यक्त्वमें बाधा करने वाली शंका नहीं कहते हैं। कोई लोग तो यह मान लेते हैं कि मनुष्य पैदा होता है तो मौज मान लेनेके लिए होता है। जैसे बहुतोंने यह बना लिया है कि 'जिन आलू भटा नहिं खायो, वे काहेको जगमें आयो।' जिसको जो सुहाता है वह वही गीत बनाता या बताता है। वर्तमान सुखको छोड़कर किस सुखकी आशा करते हो? कितना ही बहकाया जाय, किन्तु अपने आत्मस्वरूपके सम्बंधमें रंच भी शंका न हो, ऐसा निःशंक सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है। सिगड़ी पास जल रही है और चद्दरकी खूंटमें आग लग गई और

उस चद्दरको लपेटे ही रहे तो क्या आप उसे भला कहेंगे ? नहीं। अथवा कोई किसी नदीमें से निकल रहा हो, चलते-चलते एक ओर जल अधिक गहरा मिले, और यह मालूम पड़ गया कि गड्ढा है तो हटे नहीं और वह गिर जाय तो यह कोई निःशंकताकी बात नहीं है। किन्तु शुद्ध आत्मस्वरूपके सम्बन्धमें वह सदैव निःशंकित रहता है।

ज्ञानीकी प्रक्रिया—भैया ! वह ज्ञानी पुरुष स्व सम्वेदन ज्ञानके बलसे अथवा आत्म-सम्वेदन रूप शस्त्रसे, खड्गसे इन चारों ही संसारवृक्षोंको मूलसे छेद देता है। उस निःशंकित आत्माको सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। चूँकि सम्यग्दृष्टि पुरुष टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकभाव स्वरूपका उपयोगी होता है। अतः कर्मबंधकी शंका करने वाले मिथ्यादृष्टि आदिक भाव नहीं पाये जाते हैं। अतः वह निःशंकित रहता है। यह जीव क्या बन सकता है ? जो खुदका स्वरूप है उस परमात्माके किसी भी परिणमन रूप बन सकता है, अपने स्वरूपके विरुद्ध कुछ भी परिणमन नहीं कर पाता है। तो होगा क्या ? उसके ये अनन्त गुण हैं, उन अनन्त गुणोंका परिणमन ही होगा और कुछ नहीं हो सकता। यह पूर्ण निश्चित है। इस पर किसी भी परपदार्थसे आपत्ति नहीं आती है। हम ही अपने विभाव भयकारी बनाते हैं तो क्लेश पाते हैं। और यह भयकारी विभाव तब बनता है जब अपने ही कर्तापनको, कर्मफलको और करणको भूल जाते हैं।

आत्माकी अभिन्नकर्तृकर्मकरणता—मैं ही कर्ता हूं, किन्तु किसका कर्ता हूं ? जो मेरेमें परिणमन चलता हो उस परिणमनका कर्ता हूं, अर्थात् मैं मेरा ही कर्ता हूं और मेरे द्वारा जो कुछ कार्य किया जाता है उसका प्रयोजन भी मैं हूं, उसका जो फल है वह है सुख दुःख और आनन्द। इस तरहसे परिणमा हुआ मैं हूं। अंगुली टेढ़ी हो गई तो यह क्या है ? अंगुली ही है। सीधी हो गई तो यह क्या है ? अंगुली ही है। किसी भी परिणतिमें रहे अंगुली-अंगुली ही है। ये सुख दुःख रागद्वेष, ज्ञान, आनन्द ये सब आत्माके हैं, पर अन्तर इनमें इतना है कि कोई तो है अस्थिरभाव और कोई है स्थिरभाव। जो स्वभावरूप परिणमन हैं उनकी संतान वैसी ही वैसी चलती है। यह जीव चैतन्यस्वरूप है, टंकोत्कीर्ण-वत् निश्चल एक ज्ञायकभावमय है। जैसे टांकीसे उकेरी गई प्रतिमा अपने ही पाषाण स्वरूप है, किसी दूसरे पदार्थसे लगी हुई नहीं है। जैसे मिट्टी, कागज आदिकी प्रतिमा बनाई जाती है वह तो लगाव ही है। उस मूर्तिमें एकत्वस्वरूप नहीं है, मगर टांकीसे उकेरी हुई प्रतिमा पाषाणके ही स्वरूप है। ऐसे ही आत्माकी अवस्थायें आत्मरूप है।

देवस्थापनामें विवेक—जैन सिद्धान्तमें देवकी स्थापना कितने महत्त्वपूर्ण विधि विधान से सोची गई है। यहाँ मिट्टीकी मूर्तियां नहीं बनती हैं, कारण यह है कि जैसा शुद्ध आत्मा है, स्वयंके एकत्व स्वरूपमें है इसी प्रकार इसको मूर्तिको भी आखिर बनाया तो इस ढंगसे

बनाया कि जिस उपादानसे मूर्ति बनी उसका स्वरूप एकत्व स्वरूप है। लगाव वाली मूर्ति जैनसिद्धान्तमें निषिद्ध है। कागजकी बनाना, गोबरकी बनाया, मिट्टीकी बनाना यह सब निषिद्ध है। दूसरी बात यह है कि मिट्टी, गोबर, कागजसे बनाई हुई मूर्तिमें विनय नहीं रह सकती है। उसका टूटना फूटना न देखना हुआ तो पानीमें सिराया जायगा। कुछ तो करना ही पड़ेगा। वह स्थिरतासे नहीं रह सकती। उस देवकी स्थापना अस्थिर तत्त्वमें हो और अगर वह टूटती फूटती फिरे या इस भयसे सही पानीमें सिरवाये तो यह देवका अविनय है। प्रभुकी स्थापना पाषाण प्रतिबिम्बमें ही चिर-स्थायी रह सकती है।

पाषाणबिम्बसे रहस्यमय शिक्षा—यह प्रतिबिम्ब यह भी शिक्षा देता है कि जैसे हम किसी वस्तुके द्वारा बजाए हुए नहीं हैं किन्तु जो पहिले थे सो ही अब हैं। जो पाषाणका बड़ा शिलाखण्ड रखा हुआ था या उसके भीतर जिस जगह मैं था मानो प्रतिबिम्ब पुरुष बनकर कह रहा हो परसोनीफिकेसन अलंकारसे कि मैं उस बड़ी शिलामें जहाँका था वहाँका अब भी हूं, उस चीजको छोड़कर नहीं बनता हूं, मुझे कारीगरने नहीं बनाया है। मैं जो अब व्यक्त हूं सो पहिलेसे बना बनाया हूं। मैं पहिले अव्यक्त था। अब मैं लोककी निगाहमें व्यक्त हो गया हूँ। यहां कह रहा है पाषाणबिम्ब। कारीगरने मेरे स्वरूपको पहिचाना कि उस बड़े पाषाणखण्डमें यह विराजा है, मेरे इस स्वरूपको ढकने वाले जितने पाषाण थे, जितने अवयव थे उनको कारीगरने हटाया। और समस्त आवरक अवयव जब हट गए तब मैं सब लोगोंकी निगाहमें प्रकट दिखने लगा। हम तो उतने ही वहाँ भी थे यहाँ भी हैं। हम नये नहीं बने, चीजोंके लगावसे नहीं बने।

सावधानीके तीन कारण—पाषाणबिम्ब कह रहा है—हाँ यह बात अवश्य है कि मुझे पहिचानने वाला कारीगर बड़ा चतुर था। उसने पहिचाना और आवरकको ऐसी सावधानीसे हटाया कि मेरा आघात न हो जाय। पहिले तो बड़े-बड़े पाषाणोंको हटाया, उस समय भी हमारी भक्तिवश जितनी चाहिए उतनी सावधानी रखी। बड़ी हथौड़ी और बड़ी छेनीसे हटाया आवरणको। बड़ा आवरण हट चुकनेपर छोटी छेनी और छोटी हथौड़ीसे छोटे-छोटे आवरण भी दूर किये। उसमें भी हमारी भक्तिवश उसने बड़ी सावधानी बर्ती। अब जब मध्यम प्रकारके आवरण हट गए तब उसने अत्यन्त अधिक सावधानी बर्ती। बिल्कुल पतली छेनी और हथौड़ी लेकर नाम मात्रकी चोट देकर बड़ी सावधानीसे सूक्ष्म आवरणोंको हटाया। इतना काम कुशल कारीगरने किया था। उसने मुझे नहीं बनाया। मैं तो वही हूं जो पहिले पाषाणमें अव्यक्त था। हे दर्शक! हे भक्त! तू भी अपनेको सम्हाल। तू भी वही है जो अनादिसे है और तू जब परमात्मत्व पायगा तो कुछ नई बात न पायगा। जो है सोई होगा। विषयकषायोंके आवरणोंको तू हटा। तू तो स्वयं सिद्ध परिपूर्ण स्वरूप

वाला है, आवरण दूर होनेके साथ ही तू व्यक्त हो जायगा ऐसा यह प्रतिबिम्ब उपदेश दे रहा है मानो।

प्रभुस्थापना पुरुषमें न किये जानेका कारण—यह मूर्ति या स्थापना किसी अन्य पुरुषमें नहीं की जाती है कि बना दें महावीर स्वामी किसी लड़केको। वह रागी है, द्वेषी है अविवेकी है, कुछसे कुछ वचन बोलने वाला है। महावीर स्वामीका नाटक पूरा हो चुकने पर वह लड़का मूंगफलीकी गलियोंमें मूंगफली माँगता फिरे तो क्या वह प्रभुकी विनय है? नहीं। जैसे एक बार राष्ट्रपति देशका बना दिया जाता है तब उसका जितना जीवन शेष है तब तक राष्ट्रपतित्व मिटनेके बाद भी उसका आदर करते हैं। सरकार उसे बैठे बैठे पेंशन देती है। जिससे लोग यह न कह सकें कि ये भारतके राष्ट्रपति थे, और आज खेती करके भी पेट नहीं भर पाते हैं। तो हम किसीमें प्रभुकी स्थापना कर दें और वह फिर दर-दर भीख माँगता फिरे तो क्या यह प्रभुकी विनय है? तो कितनी बुद्धिमानी से यह मूर्तिका विधान बना हुआ है। उस मूर्तिवत् निश्चल ज्ञान स्वभावरूपका परिचय है ज्ञानीको तो कर्मबंधकी शंका करने वाले मिथ्यात्व आदिक भाव नहीं होते हैं, अतः यह निःशंक है, इसके शंका, बंध नहीं हैं, शंका ही नहीं है. अतः इसके निरन्तर निर्जरा ही चलती है।

उपदेशोंका प्रयोजन—जैनसिद्धान्तमें जितने भी उपदेश होते हैं उन उपदेशोंका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। यह जीव स्वभावदृष्टिके बिना जगतमें अब तक मिथ्यात्व ग्रस्त रहकर अनेक संकट भोगता चला आया है। संसारके संकटोंको दूर करनेका उपाय है तो केवल एक स्वभावदृष्टि है। इसी कारण जितने भी उपदेश किसी भी अनुयोगमें हों—प्रथमानुयोग करुणानुयोग, चरणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे कितने भी कथन हों, उन सबका प्रयोजन स्वभावदृष्टि निकालना चाहिए। जिस जीवको स्वभाव दृष्ट होता है वह निःशंक रहता है क्योंकि वह जानता है कि मेरा स्वरूप स्वतः सिद्ध है, इसमें परचतुष्टयका प्रवेश नहीं है। इसका कोई गुण इससे पृथक् नहीं हो सकता है। यह परिपूर्ण स्वरक्षित है। ऐसा बोध होनेके कारण वह निःशंक रहता है और इसही बोधके कारण उसके किसी भी प्रकारके भोग व वैभवकी इच्छा नहीं उत्पन्न होती है। आज उसी निःकांक्षित अंगका लक्षण कह रहे हैं।

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

चूंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् ज्ञायकस्वभावका उपयोगी है, इसी कारण किसी भी कर्मफलमें और सर्व वस्तु धर्मोमें कांक्षाको नहीं करता है। उस निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टिके कांक्षाकृत बंध नहीं होता है।

इच्छाके विवरणका ज्ञापन—इच्छा होना आत्माका स्वभाव नहीं है। जैसे कि अभी बताया गया था कि जैनसिद्धान्तके उपदेशों का मूल प्रयोजन स्वभावदृष्टि करनेका है। जैसे कि पदार्थके स्वरूपके कथनमें जहाँ स्याद्वादका पुट न हो वह कथन प्रमाण नहीं होता, इसी प्रकार जिस कथनमें प्रयोजन स्वभाव दृष्टिका न हो या सुननेका प्रयोजन स्वभावदृष्टिका न हो तो वह अपने लिए उपदेश नहीं हुआ। पदार्थोंके स्वरूपका भी जितना वर्णन है वह वर्णन भी स्वभावदृष्टि करानेके लिए है, न कि जैसे कहावत है कि ठाढ़े बैठे बनियाका बेटा बैठा तराजूके बाट यहाँसे वहाँ रखे। खाली समय है तो बाटोंसे बाट तौलता है और अपना समय बिताता है। इसी तरह यहाँपर सर्वरचनाओंके परिज्ञान करते रहना, उस ओर बाह्य दृष्टि करना, जो यह है, यह ऐसा है, इस तरह जानते रहनेसे कार्य सिद्ध नहीं होता। समग्र उपदेशका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। जहां विभावका लक्षण किया है, स्वरूप वर्णन किया है वहां भी समस्त विवरणका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। जरा इच्छाके स्वरूपपर दृष्टि करो।

इच्छाके स्वरूपका विवरण—इच्छाका परिणाम आत्मामें स्वरसतः नहीं होता है। यद्यपि है आत्माके चारित्र गुणकी विकारपरिणति। पर ऐसा नहीं है कि आत्मामें इच्छा या सभी विभाव भाव आत्मामें स्वभावसे बंधे हुए हों—और एकके बाद एक पर्याय बननेका इसमें स्वरसतः अधिकार हो। किन्तु कर्मोदयका निमित्त पाकर आत्मभूमिमें इच्छाका विकार-रूप परिणमन होता है। ऐसा भी नहीं है कि जब आत्मामें विभावपरिणमन होता हो तब कर्मोदयको हाजिर होना पड़ता हो। जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने आपके स्वरूपमें रत हैं। एक दूसरेके सत्के कारण अपनी परिणति किया करता हो, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, पर अपने विकारपरिणमनमें एक दूसरेका निमित्त होता है। अब इस वर्णनमें भी हम स्व-भावदृष्टिका प्रयोजन कैसे निकाल सकते हैं? देख लीजिए। यह इच्छा मेरे स्वभावसे नहीं उत्पन्न होती, कर्मोदयका निमित्त पाकर यह इच्छारूप परिणमन होता है, अतः इच्छा मेरे अन्तरका परिणाम नहीं है। इस विभावसे इस दृष्टिकी उपेक्षा होती है और स्वभावदृष्टिमें इसे प्रेरणा मिलती है।

अध्यात्ममें जानने योग्य नयोंका विवरण—अध्यात्ममें जानने योग्य नय चार हैं—परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। इन चारों नयों का प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है। परम शुद्ध निश्चयनयमें साक्षात् प्रयोजन पड़ा हुआ है। परम शुद्ध निश्चयनयका विषय है वस्तुके अखण्डस्वभावका देखना, वस्तुके स्वभावका भेद न करके स्वभावमात्र वस्तु निरखना यह परम शुद्ध निश्चयनयका कार्य है। परमशुद्ध निश्चयनयने सीधा स्वभाव दृष्ट कराया। शुद्ध निश्चयका विषय है जो पर्यायतः शुद्ध है,

जैसा शुद्ध प्रभु है, परमात्मा है, उस शुद्ध प्रभुको शुद्ध पर्याय परिणत निरखना और उस शुद्ध पर्यायका विकास उन्हींके स्वभावसे होता है, इस तरहकी युक्ति सहित निरखना। इस शुद्ध निश्चयनयके निरखनेमें चूंकि वह पर्याय स्वभावके अनुरूप है अतः उस पर्यायके स्रोतभूत स्वभावकी दृष्टि कर लेना सुगम कार्य होता है।

अशुद्धनिश्चयनयसे स्वभाव देखनेकी पद्धति—तीसरा नय है अशुद्ध निश्चयनय। अशुद्ध निश्चयनयका यहां विषय है अशुद्ध पर्याय परिणत आत्मद्रव्यको निरखना और इस पद्धतिसे निरखना कि अशुद्ध परिणति किसी अन्य द्रव्यसे नहीं होनी है, किन्तु इस निजसे ही होती है जिसमें यह अशुद्ध परिणति है। ऐसा देखना शुद्ध निश्चयनयका काम है। ये दृष्टियां हैं। सभी दृष्टियां अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हैं, दूसरोंके कार्यकी परवाह नहीं करतीं। समन्वय प्रमाण करता है। अब यह देखिए कि अशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे वस्तुको निरखते हैं। इससे स्वभावदृष्टिका प्रयोजन सिद्ध होता है या नहीं? अशुद्ध निश्चयनयमें ये निरखे गए जीव हैं—इनमें यह राग परिणमन है। यह रागपरिणमन इस जीवके चारित्रगुणके विकार रूप है और यह रागादि परिणति इस चारित्र गुणकी विकृत परिणतिसे हुई। यह अशुद्ध निश्चयनयका विषय है। निश्चयनय केवल एक वस्तुको देखा करता है—दोपर दृष्टि नहीं देता है और न वहां दोका सम्बंध देखा जाता है। इस अशुद्ध निश्चयकी दृष्टिमें जहां यह देखा गया कि ये राग क्रोधादिक पर्यायें आत्माके चारित्र शक्तिकी परिणतिसे हुई तो ऐसा निरखनेमें चारित्रशक्ति मुख्य हो जाती है और होने वाली पर्याय गौण हो जाती है। जब ऐसा निरखते हुएमें यथाशीघ्र पर्यायसे हटकर पर्यायके स्रोतभूत मूल शक्तिपर उपयोग पहुंचता है और उस आधारभूत शक्तिपर उपयोग पहुंचते ही स्वभावदृष्टि बन जाती है।

व्यवहारनयसे स्वभाव देखा जा सकनेकी पद्धति—चौथा नय है व्यवहारनय। व्यवहारनयमें भी यह देखना है कि हमें स्वभावदृष्टिसे उत्साह कैसे जगता है? व्यवहारनय दो या अनेक पदार्थोंका सम्बन्ध बतलाता है। चूंकि कोई भी विकारपरिणमन किसी परका निमित्त पाये बिना नहीं हो सकता है, अतः यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध वास्तविक है, परन्तु व्यवहारनयसे कुछ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको देखते रहने तकका ही अपना प्रयोजन बनाया तो हमने उस उपदेशसे लाभ न उठाया। समग्र उपदेशका प्रयोजन स्वभावदृष्टि करानेका है क्योंकि स्वभावदृष्टिके बिना ही ये जगतके जीव अनादि कालसे अब तक इस जगतमें रुलते चले आए हैं। जहाँ यह देखा कि इस जीवमें ये विषय कषायके परिणाम स्वरसतः नहीं हुए हैं पर उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं, तब आत्माका जैसा सहज स्वभाव है, उसको सुरक्षित तक लिया जाता है। यह मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, यह जो रागपरिणमन हुआ है यह कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ है मेरे स्वभावसे नहीं हुआ है। ऐसा व्यवहारनयसे जानने

पर स्वभावदृष्टिके लिए हमें उत्संगजाहता है ।

ज्ञानीकी लीलामें स्वभावदर्शन—भैया ! जैनसिद्धान्तमें कितनी ही जगह निश्चयनय के उपायने स्वभावदृष्टिमें पहुंचाया है और कितनी ही जगह व्यवहारनयका वर्णन करके स्वभावदृष्टिपर पहुंचाया है। जैसे किसी खेलमें निपुण बालक जो बहुत अधिक निपुण है उस खेलको खड़े, बैठे, डोलते हुए टेढ़े मेढ़े किसी भी प्रकारसे अपने खेलको खेलता है। इसी प्रकार मर्मरूपसे स्वभावका परिचय पाने वाला ज्ञानी पुरुष किन्हीं भी नयके उपायोंसे या किन्हीं भी वर्णनोंसे, किन्हीं भी कथनोंसे अपनी स्वभावदृष्टिको कर लेनेसे उसके विलासको उत्पन्न कर लेता है।

निःकांक्षता पानेकी रीति—यहाँ निःकांक्षित अंगका वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी कर्मफलमें और वस्तुधर्ममें कांक्षाको उत्पन्न नहीं करता है। इस जीवपर सबसे महान संकट है तो विकल्पोंका संकट है। बाह्य पदार्थोंसे संकट नहीं आते हैं। अन्न नहीं है तो संकट है ऐसा नहीं है किन्तु जीवमें विकल्प मच रहा है यह संकट है। यह विकल्प कैसे टूटे ? इसके टूटनेकी रीति निर्विकल्प निज स्वभावके दर्शन करनेमें है। अब निर्विकल्प निज स्वभावके दर्शन कैसे हों, इसका उपाय दो पद्धतियोंमें बताया है। एक तो यह बतलाते हैं कि हे आत्मन् तेरा जो कुछ है वह तुझमें है, तेरा जो कुछ बनता है तुझसे बनता है, तेरा परमें कुछ नहीं होता है। तुझमें परका अभाव है परमें तुझका अभाव है, ऐसे एकत्वकी मुख्यतासे आत्माको निज स्वभावके दर्शनमें पहुंचाया जाता है, विभावसे हटनेकी दूसरी पद्धति यह है कि जो ये विकल्प उत्पन्न हो रहे हैं ये विकल्प तेरे निजकी चीज नहीं हैं। ये कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं। तेरा तो टंकोत्कीर्णवत् स्वरससे जैसा सहज स्वभावरूप है वैसा ही तेरा स्वरूप है। पर ये जो विकार आए है ये कर्मोदय विपाक प्रभव भाव हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं है। ऐसे व्यवहारनयके उपायसे स्वभावदृष्टि तक पहुंचनेकी पद्धति भी यह सम्यग्दृष्टि करता है। जब तक निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वभावकी दृष्टि नहीं जगती है तब तक वह आत्मीय आनन्द नहीं प्रकट होता, जिस आनन्दमें सामर्थ्य है कि भव-भवके संचित कर्म भी नष्ट हो जाते है। यह सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध आत्माकी भावना कर रहा है और उसी भावनाके परिणाममें परम आनन्दकी परिणतिमें तृप्त हो रहा है।

ज्ञानीके पराधीन व विनाशीक सुखमें अनास्था—जो ज्ञानी अनुपम स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर चुका हो वह पराधीन विनाशीक सुखकी वाञ्छा कैसे करे ? ये जगतके सुख पराधीन हैं। प्रथम तो इस सुखका मुख्य कारण कर्मोदय है। कर्मोदय अनुकूल हो तो यह सुख प्राप्त हो। फिर बादमें तो सुखके लिए आश्रयभूत वे अनेक पदार्थ जुटाने चाहिएँ। सो कर्मोंके उदयको जब नोकर्म नहीं मिलता तो वे कर्म भी संक्रान्त हो जाते हैं। यह सुख

पराधीन है। पराधीन ही सही लेकिन जब मिला तब तो अच्छा है ना? ऐसा न सोचना चाहिए क्योंकि जो सुख उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला हो, जो विनाशीक हो उसके पाने का क्या आनन्द है? सम्यग्दृष्टि जानता है कि संसारका सुख मिलता है तो वह नियमसे यथाशीघ्र नष्ट हो जाया करता है। अतः सम्यग्दृष्टिको जगतके सुखका आदर नहीं होता है।

इन्द्रियज सुखमें दुःखबहुलता—कोई कहे कि पराधीन सही और विनाशीक सही मगर जिस क्षणको सुख मिल जायगा उस क्षण तो मौज यह जीव पा ही लेगा। सो इतनी भी बात नहीं है। कोई भी जगतका सुख ऐसा नहीं है जिसके भोगनेके बीच-बीचमें दुःख न आया करते हो। कोई भी सुख ऐसा नहीं है। धनके कमानेका सुख है तो उसके अर्जनके बीच-बीचमें कितने ही संकट आया करते हैं। कोई समारोह करनेका सुख है, पुत्रका विवाह है, बारात बड़ी ठाठबाटसे जा रही है तो क्या उस पुत्रका पिता या जो अधिकारी माना जाय, जो अपनेको सुखी समझता हो, या वह दूल्हा ही स्वयं क्या एक दो घंटे या आधा घंटे लगातार सुखसे रह सकता है? नहीं। बीच-बीचमें उसे कितने ही दुःख भोगने पड़ते हैं। अधिकारी तो अमुकको मनाए, अमुकको मनाए, कोई नाराज हो गया तो उसके हाथ जोड़े। भैया! आपको जाना ही पड़ेगा। आपके जाये बिना काम ठीक न होगा। कितनी कितनी बातें करते हैं? सुखमें कौन रह पाता है? सारे लौकिक सुख दुःखसे भरे हुए हैं। भोजन भी कोई करता हो तो प्रथम तो जो तृष्णा लगी है, आसक्ति लगी है, उसके मारे सब आनन्द किरकिरा हो जाता है। दुःखसे ही कौर उठाता है। क्षोभसे भरा हुआ होकर वह भोजन कर रहा है। कौनसा सुख ऐसा है जो निरन्तर शांतिको बहाता हुआ उत्पन्न होता है? ये समस्त सुख दुःखोंसे भरे हुए हैं और फिर इतना ही इनमें अनर्थ नहीं है। यह भी अनर्थ है कि पापबंध करा देता है। आगामी कालके लिए भी सुखका साधन जुटाकर यह सुख जाया करता है। ऐसे सुखमें सम्यग्दृष्टिको आदर नहीं होता है।

ज्ञानीके पुण्येच्छाका अभाव—सम्यग्दृष्टिने शुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपको तकनेके उपायसे एक अनुपम आनन्दका अनुभव किया है जिस आनन्दमें तृप्त होकर यह पंचेन्द्रियके विषय सुखोंमें वाञ्छा नहीं करता है। वह इन्हें आफत जानता है। इनके प्रसंगमें विकल्प करना पड़ता है। यह विकल्प होना कलंक है, क्लेश है। उन विकल्पोंमें इस सुदृष्टिकी भावना नहीं रहती है। इसी प्रकार विषयसुखके कारणभूत नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंमें इसकी चाह नहीं रहती है। यद्यपि शुद्ध दृष्टिके कारण जब तक राग शेष है तब तक इसके पुण्यरूप कार्य होता है, पर अन्तरमें से चाह कर कि इस पुण्यसे मुझे मुक्ति मिलेगी अथवा मुझे पुण्य बंध जाय इसके लिए मैं पूजन करूँ ऐसी आशा रखकर वह पुण्यरूप कार्यको नहीं

करता है। कहते भी है कि पुण्यकी आशा रखनेसे पुण्यबंध नहीं होता है किन्तु विशुद्धिके शुद्ध प्रतापसे इस जीवके पुण्य कार्य होता है, पर उन पुण्य कार्योंमें यह आशा नहीं रखता है कि मुझे पुण्य बँधे अथवा इस पुण्यके प्रतापसे मेरी आगामी स्थिति उत्तम हो ऐसी वाञ्छा ज्ञानी पुरुष नहीं करता है।

ज्ञानीका आशय—ज्ञानी सब प्रकारके वस्तुधर्मोंमें अथवा कुधर्मोंमें वाञ्छा उत्पन्न नहीं करता। मिथ्यात्वरूप कोई कुधर्म चमत्कार सम्पन्न होनेसे कायर जनोंको सत्पथकी दृष्टिसे विचलित कर सकनेके कारण है ऐसे कुधर्ममें उसकी वाञ्छा उत्पन्न नहीं होती। मुझमें लौकिक चमत्कार न सही मुझे लौकिक चमत्कारकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो एक स्वभावदृष्टि चाहिए जिसके प्रतापसे संसारके समस्त क्लेशोंसे मुक्त हो सकूं। ज्ञानी पुरुषको भोगोंमें अथवा भोगोंके कारणभूत पुण्यबंधमें, उन चमत्कारोंसे भरे हुए धर्मोंमें वाञ्छा नहीं होती है। वह ही आत्मा सम्यग्दृष्टि है जो संसारके सुखोंकी वाञ्छासे रहित है। जिसके विषय सुखोंकी वाञ्छा नहीं है, इच्छा नहीं है उसके विषय सुखोंके इच्छाकृत बंध नहीं होता है। बल्कि विषय सुखोंकी इच्छा दूर होनेके कारण स्वयं सम्वररूप भाव होनेसे पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। इस तरह सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित अंगमें वाञ्छारहित स्वरूप बताया गया है।

धर्मधारणके प्रयोजनमें भोगेच्छाके स्थानका अभाव—छहढालामें निःकांक्षित अङ्गके स्वरूपमें लिखा है—'चारि वृष भव सुख वाञ्छा भावे।' धर्मधारण करके भव सुखकी इच्छा न करना सो निःकांक्षित अंग है। कहीं ऐसा नहीं है कि सम्यग्दृष्टि जीवके किसी प्रकारकी इच्छा ही न उत्पन्न होती हो, व्यक्तरूप इच्छा छठे गुणस्थान तक चलती है, पर धर्मधारण करके उन धर्मोंके प्रयोजनमें किसी प्रकारके सांसारी सुखकी इच्छा करना यह ज्ञानी पुरुषके नहीं होता है। धर्मकार्य करता है, पुण्यकार्य करता है, स्वभावदृष्टिकी महिमा जानकर उस स्वभावदृष्टिकी महिमा जानकर उस स्वभावका जहाँ पूर्ण विकास है ऐसे परमात्मप्रभुकी भक्तिमें गद्गद होकर वंदना और स्तुतिमें, स्तवनमें प्रायश्चितरूप यह अपनी आत्मनिन्दा कर लेता है और प्रभुके शुद्ध स्वरूपको देखकर बड़ा आल्हाद उत्पन्न करता है। ऐसी वंदना, स्तुतिके प्रसंगमें यह जीव रहता तो है मगर उस कार्यसे मेरेमें पुण्य बँधे अथवा मुझे ऐसी-ऐसी स्थिति मिले इसकी रंच इच्छा नहीं होती है।

ज्ञानी गृहस्थके मूलमें निरीहता—सम्यग्दृष्टि जीव भी जो गृहस्थ है तो दूकान क्यों जाता है? क्या थोड़ी बहुत मनमें यह बात न आती होगी कि काम करना है? कुछ आय होना चाहिए। वह निरुद्देश्य ही जाता होगा क्या? इच्छा होती है वह विकार है, कमजोरी है। पर धर्मधारण करके उसने अपने जीवनका उद्देश्य ही इस चीजको बनाया ऐसी ज्ञानी

के प्रवृत्ति नहीं है। मेरे जीनेका उद्देश्य यह है कि खूब धन जोड़ लें, ऐसा ज्ञानीके भाव नहीं रहता है। अथवा पूजा पाठ धर्मध्यान गुरु सेवा आदिक रखे यह प्रयोजन रखे कि मेरे सब प्रकारका आराम और कुशलताएँ रहें ऐसा ज्ञानीके परिणाम नहीं होता है। यह ज्ञानी पुरुष निकांक्षित होता है। इसके कांक्षाकृत बंध इसी कारण नहीं है कि वह अन्तरमें इसकी वान्छा नहीं रखता, किन्तु परिहरण स्वभाव होनेसे, उन सबसे हटा हुआ परिणमन बनाने वाला होनेसे उसके पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है। यों निःकांक्षित अंगके प्रकरणमें सम्यग्दृष्टिको निरीहताकी मूर्ति, इच्छारहित मूर्ति जानो, इस तरहका स्वरूप दिखाया है।

ज्ञानीके वैषयिक सुखसे उपेक्षाका कारण—जो जीव कांक्षा आदि भाव रहित निज शुद्ध आत्माका सम्वेदन करता है, ज्ञानमात्र स्वरूपमें अपने आपको निहार कर उत्कृष्ट देखता है, उसीके साथ लीला करता है, उससे जो आनन्द प्राप्त होता है उस आनंदमें स्थित हुए ज्ञानी पुरुषके वैषयिक सुखोंसे प्रीति नहीं होती है। इस ज्ञानीने ऐसा कौनसा बल पाया जिस बलके कारण यह निरन्तर स्वाधीन आनन्दरसमें तृप्त रहा करता है? वह बल है शुद्ध ज्ञानस्वभावके दर्शनका। जगतमें जितने भी समागम हैं उन समागमोंसे आत्मामें न कोई सुधार होता है और न कोई बिगाड़ होता है। कम बिगाड़ होनेका नाम सुधार है। लेकिन कहा जाता है कि जैसे १०४ डि० बुखार हो और कभी दो डिग्री बुखार कम हो जाय तो वह बुखार वाला अपनेमें सुखका अनुभव करता है। कोई दूसरा पूछे कि अब कैसी हालत है तो वह कहता है कि हाँ अब अच्छी हालत है। वस्तुतः बुखार तो अब भी है लेकिन बुखारकी जो कमी है उसमें सुखका अनुभव करता है। इसी प्रकार जगतमें बाह्य पदार्थोंसे कहीं सुख नहीं है किन्तु जब कभी दुःखोंमें कमी होती है तो उसे सुख कहा करते हैं। वस्तुतः सुख नहीं है। सुख तो आत्माके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके अनुभवमें ही है।

कालस्थिति व कर्मस्थितिकी ओरसे सम्यक्त्वकी पात्रताका समय—अब बाह्यपरिस्थितियोंसे इस ज्ञानीके सम्यक्त्वका निर्णय कीजिये तो प्रथम प्रश्न यह होता है कि सम्यक्त्व पात्र यह जीव किस समय होता है कालकी अपेक्षासे? तो बताया गया कि जब अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन संसार रह जाता है तब जीवमें सम्यक्त्व होनेकी योग्यता होती है। फिर कर्मोंकी स्थितिके प्रश्नमें पूछा जाय कि कितने कर्मोंकी स्थिति बँधनेपर जीवके सम्यक्त्वकी योग्यता होती है? तो बताया है कि अंतः कोड़ाकोड़ी सागर मात्र हो, स्थितिबंध हो तब जीवके सम्यक्त्वकी योग्यता होती है। अंतः कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका कभी अभव्यके भी बंध रहता है और प्रायोग्य बंधमें कम कम होता हुआ हजारों सागर कम अंतः कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिमें बंध होता है। फिर भी वह सम्यक्त्वका पात्र नहीं है। मंद कषायमें और वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें कुछ चिंतनमें इतनी सामर्थ्य है कि स्थितिबंध कम हो जाय, स्थिति

सत्त्व भी कम हो जाय तिस पर भी यदि शुद्धस्वभावकी दृष्टि नहीं जगती है तब आत्मामें सम्यक्त्व नहीं होता।

सम्यक्त्वकी महिमा—सम्यक्त्वकी महिमाके सम्बंधमें समंतभद्रस्वामी ने कहा है कि सम्यक्त्व समान तीन लोक और तीन कालमें श्रेयस्कर कुछ भी वस्तु नहीं है और मिथ्यात्वके समान तीन लोक तीन कालमें अश्रेयस्कर वस्तु और कुछ नहीं है। लेना न देना, पदार्थ सब अपने अपने सत्‌में हैं; लेकिन अज्ञानी जीव प्रत्येक पदार्थके सम्बन्धमें ऐसे आत्मीय विकल्प करता है कि वह सर्व जगतको अपना बनानेमें उत्सुक रहता है। ज्ञानी जीवको समस्त परवस्तुपर नजर आती है इसलिए उसके वैराग्य निरन्तर रहता है। ज्ञानीके यह प्रतीति है कि मेरा ज्ञानस्वरूप समस्त परपदार्थोंसे और परभावोंसे हटा रहनेका स्वभाव रखता है। यह स्वभाव कभी भी किसी विभाव या परपदार्थमें मिल नहीं सकता। ऐसे अछूता निर्लेप अबंध आत्मस्वभावको निरखने वाला ज्ञानी पुरुष विभावमें व परपदार्थमें मुग्ध नहीं हो सकता। उसे तो कल्याणमय केवल अपना स्वरूप ही दृष्ट होता है।

पञ्चपरमेष्ठीकी उपासनामें ज्ञानीका मूल उद्देश्य—भैया ! पंचपरमेष्ठीकी आराधनामें यह ज्ञानी जीव आता है वहाँ भी इसका प्रयोजन आत्मस्वभावका दर्शन है। वह परमेष्ठियों को ही आत्मविकासके रूपसें समझता है। इन परमेष्ठियोंमें सर्व प्रथम साधु परमेष्ठी होती है। सर्व आरम्भ परिग्रहके त्यागसे पहिले आत्मामें परमेष्ठित्व नहीं उत्पन्न होता है। ये ज्ञानी गृहस्थ जो भी साधु हैं वे पहिले घरमें तो थे ही। पैदा तो जंगलमें नहीं हुए। भले ही कोई बचपनसे ही ८ वर्षकी ही उम्रसे साधु बना हो पर था तो वह घरमें ही। कोई साधु ऐसे भी हुए हैं कि जब से पैदा हुए तबसे ही उन्होंने कपड़ा नहीं पहिना। हुआ क्या कि बचपन में ही उनके माता पिता ने किसी मुनिके साथ पढ़नेको रख दिया तो मुनिके संघमें भी नग्न रहते हुए बच्चेकी शकलमें पढ़ता रहा और पढ़ते ही पढ़ते छोटी उम्रमें, मानों ८ वर्ष की उम्रमें ही उसे बोध होता है, सम्यक्त्व जगता है और संयम धारण कर लेता है तो उसने तो कपड़ा कभी भी नहीं पहिना। ऐसे भी साधु हुए है पर उत्पत्ति और सारा पालन पोषण तो प्राय: मनुष्योंका घरमें ही होता है।

साधुताका प्रारम्भ—गृहस्थ ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञानके जगनेसे जब विरक्त होता है तब आरम्भ परिग्रहका परित्याग करके साधु व्रत ग्रहण करता है। साधुका स्वरूप ऐसा है कि जो आत्माको निरन्तर साधता रहे वह साधु है। साधुकी वृत्ति, प्रवृत्ति मात्र आत्महितके लिए होती है। वह किन्हीं भी बाह्य परिकरोंसे प्रसन्न नहीं रहता। वह किन्हीं भी शिष्य आदिककी सेवासे अथवा भक्त श्रावक जैसे अपनेमें गौरव नहीं अनुभव करता। साधु तो निरन्तर आत्मतत्त्वके दर्शन किया करता है। ऐसे आत्मतत्त्वके साधक साधु पुरुष जब अनेक

साधुवों द्वारा प्रमाणित और हितकारी माना जाता है तब किसी आचार्यके द्वारा दिए गए पदसे या समस्त साधुवों द्वारा चुने गए की विधिसे कोई आचार्य होता है। आचार्य परमेष्ठी भी इतने विरक्त होते है कि उनके द्वारा लोकमें कल्याण भी हो जाता है और अपने स्वभाव की दृष्टिसे चिगते नहीं।

बहिर्मुखी वृत्तिमें साधुताका अभाव—यदि कोई साधु लोककल्याणमें ही लग जाय, शिष्य आदिकके संग्रहमें ही लग जाय, बाहरी व्यवस्थामें ही लग जाय और अपने हितकी कोई वृत्ति न करे तब वहाँ आचार्यपरमेष्ठित्व तो दूर रहो सम्यक्त्वका भी संशय है। साधु उसे ही कहते हैं जो ज्ञायकस्वरूप निजआत्मतत्त्वकी साधनामें निरन्तर रत रहता हो। जिसे केवल एक ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप ही लक्ष्यमें रहता है उसे साधु कहते हैं। कोई राग मोहमें ग्रस्त हो और गृहस्थ भी इसी प्रकार ग्रस्त है, फिर उनमें परमेष्ठिता कहाँ आयी, पूज्यता कहाँ आयी ?

असावधानीका फल दुर्निवार विपत्तियाँ—ज्ञानी गृहस्थ चूँकि यह जानता है कि राग-द्वेष मोह ही विपत्ति है, संकट है। और आजके समयमें चूँकि हम मनुष्य हैं इसलिए संकटों का कुछ निवारण भी कर लेते हैं, पर अन्य-अन्य गतियोंके संकट तो देखो दुर्निवार संकट हैं। कीड़े मकोड़े, पेड़ पौधे, पशु पक्षी इन अनेक जीवोंके संकट तो निहारो, ऐसे घोर संकट इस संसारमें है। ये संकट बढ़ते है रागद्वेष मोहके कारण। भले ही वर्तमान समयमें रागद्वेष मोह रुच रहा हो क्योंकि पर्यायबुद्धि है, घरवालोंके मुखसे प्रशंसाकी बात सुननेमें आ रही हो, विनयशील और आज्ञाकारी बन रहे हों, इनके शरीरकी सुख सातामें लग रहे हों, ये सब भले मालूम होते हैं पर अन्तरमें कुछ रुच जानेका जो परिणाम बन रहा है, रागपरिणति हो रही है इससे ऐसे कर्मोंका बंध हो रहा है जिसके फलमें इसके संकट दुर्निवार हो जायेंगे।

तीव्र मोहका फल—भैया! एक किसी समयके तीव्र मोहके फलमें ७० कोड़ाकोड़ी सागर की स्थितिके कर्म बंध जाते हैं, दर्शन मोहनीय कर्म बंध जाते हैं। अर्थात् किसी समय में बँधे हुए कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक अपना पिंड नहीं छोड़ते। सागर कितना कहलाता है उसको हम कल्पनासे न जान सकेंगे। न तो वहाँ तक गिनती की पहुंच है, क्योंकि वह गिनतीसे परे है, असंख्यात काल कहलाता है। जिसकी गिनती नहीं वह अनन्तकाल कहलाता है। अनन्तका अर्थ है जिसका कभी अंत न हो अथवा अवधि ज्ञानी जीवके अवधिज्ञान से दूर हो। सर्वोत्कृष्ट अवधि ज्ञान सर्वावधि ज्ञान भी जितनी संख्याको नहीं जान सकता उसको भी अनन्त कहते हैं।

सागरका प्रमाण—तो अब सागरको उपमाके प्रमाणसे सुनिये। मानलो,

२ हजार कोसका लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढा है और उसमें उत्तम भोगभूमिके ७ दिनके जाये हुए मेढ़ाके बच्चेके वाल कैंचीसे उतने छोटे टुकड़े करके जिनका दूसरा हिस्सा न हो ठसाठस भर दिये जायें। ऐसा न तो करना है और न कोई कर सकेगा, पर जो संख्याके हदसे बाहरकी बात है उसको बतानेका उपाय केवल कल्पना हो सकती है। यह बात सर्वज्ञदेवकी ज्ञानपरम्परासे चली आयी हुई है, यह मनमानी कल्पना नहीं है। उस खू ठसाठस धसे और भरे हुए गड्ढेमेसे एक बाल १०० वर्षमें निकाला जाय, वे समस्त बालके टुकड़े जितने वर्षोंमें निकल सकेंगे उतने वर्षोंका नाम है व्यवहारपल्य। और व्यवहारपल्यसे असंख्यात गुणा होता है उद्धारपल्य। और उद्धारपल्यसे असंख्यात गुणा होता है अद्धापल्य। एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा किया जाय तो उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है। एक करोड़ सागरमें एक करोड़सागरका गुणा किया जाय तो कहलाता है एक कोड़ाकोड़ी सागर। ऐसे ऐसे ७० कोड़ामोड़ी सागरकी स्थिति एक समयकी खोटी भावनामें बंध जाती है। इस कारण जीवको सदा सावधान बना रहना चाहिए।

शुभ उपयोग—भैया! अशुभ परिणामोंसे बचनेके लिये व शुद्ध उपयोगकी पात्रताके लिये अपनी प्रवृत्ति किसी न किसी धर्मकार्यमें, पूजामें, सामायिकमें, स्वाध्यायमें, व्रत उपवासमें, संयमकी स्थितिमें, सत्संगमें व्यतीत करना चाहिए। इस पुण्यकर्मके समय इतना तो सुनिश्चित है कि विषय कषायके अशुभ भाव नहीं होते हैं जिन अशुभ भावोंके कारण तीव्र अनुराग बढ़ता है। पुण्यकार्यमें लगे हुए भी दृष्टि अपने आत्मस्वरूपकी रखना चाहिए। हम परमेष्ठियोंको क्यों पूजते हैं? हम वहाँ शुद्ध स्वभावका विकास देख रहे हैं। साधु, आचार्य और उपाध्याय—ये तीनों आत्माके शुद्ध विकासके यत्नमें लगे हैं। आजकल उपाध्यायोंका मिलना बड़ा कठिन है। कहीं न सुना होगा कि फलाने मुनि उपाध्याय हैं। चाहे आचार्य जल्दी बन जाँय पर उपाध्यायका बनना बड़ा कठिन हो रहा है, क्योंकि उपाध्याय बननेका मूल तो ज्ञान है। ज्ञान बिना उपाध्यायपद नहीं मिलता। केवल बातोंके कहनेसे ही उपाध्यायपद हो नहीं पाता।

परमात्मत्व—ये तीनों प्रकार के साधु जब आत्मस्वभावमें रत रहते हैं तो इनमेंसे किसीके भी, आजकल तो नहीं हो सकता, किन्तु पदके स्वरूपकी बात कह रहे हैं कि जब स्वरूपाचरणचारित्रमें उत्कृष्ट प्रवेश हो जाय, जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येयका विकल्प न हो, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र, जो उदार है, धीर है, गम्भीर है ऐसे ज्ञानस्वरूपका ही उपयोग अभेद वृत्तिसे रह जाय तो इस उत्कृष्ट अभेद आत्मस्वभावके ध्यानके प्रसादसे चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है। दर्शनमोहनीयका क्षय पहिले हो चुका था। चारित्र मोहनीयका क्षय

क्रम-क्रमसे होता है और शेष तीन कर्मोंका क्षय एक साथ होता है। घातिया कर्मोंका क्षय होनेके बाद वह अरहंत प्रभु हो जाता है।

वीतरागताका प्रताप—उनमें से जिन आत्मावोंने पूर्व कालमें संसारके जीवोंपर तीव्र दया बुद्धि की और यह भावना की थी कि देखो ये संसारके प्राणी स्वयं तो ज्ञानानन्द स्वरूप वाले हैं, इनका स्वयं प्रभुताका स्वरूप है किन्तु एक अन्तरमें दृष्टि भर नहीं दी जा रही है कि बाह्य पदार्थोंकी ओर इतनी वेगपूर्वक दृष्टि दौड़ गई है कि व्याकुल रहता है। इसे यह अन्तरदृष्टि प्राप्त हुई है, ऐसा परमकरुणाका परिणाम जिनके हुआ था, और तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया था उन अरहंत देवोंका समवशरण बनता है, बड़े इन्द्रदेव सब दास होकर, सेवक बनकर धर्मप्रभावना करते हैं। सो अरहंत परमेष्ठीका स्वरूप, समवशरणका स्वरूप जब आप ध्यानमें लायें तो यह न भूलें कि यह सब वीतरागताका चमत्कार है।

समवशरण—अहो! कैसी अपूर्व समवशरणकी रचना है? पृथ्वीतलसे कुछ कम ५ हजार धनुष ऊपरसे ये सब रचनाएँ चलती हैं। भगवान ५ हजार धनुष ऊपर विराजमान रहते हैं। चारों ओरसे रम्य पहाड़ियां बनी हुई हैं। जमीनपर समवशरण कैसे बने, पर्वत हैं, नदी हैं, नगर हैं, ये कहाँ हटा दिये जायें? कहाँ मिलेगा ऐसा मैदान जहाँ १२ कोस तक मैदान ही मैदान पड़ा हो। जरा कठिन हो जाता है। ऐसी प्रकृत्या रचनाएँ चलती हैं, बुद्धियां चलती हैं। इस पृथ्वी तलसे ५ हजार धनुष उपर ये समस्त रचनाएँ है। सीढ़ियोंसे ऊपर जाकर मानस्तम्भ है। मानियोंका मान उस अद्‌भुत रचनाको देखकर गल जाता है। आगे बढ़ते जाते हैं तो गोलाकारमें पहिले किला जैसा, फिर खातिका, फिर वेदिका, फिर ध्वजा इस तरह अनेक अद्‌भुत रचनाएँ चलती जा रही हैं। जब अन्दरके गोलमें पहुँचते हैं तो वहाँ १२ सभाएँ हैं। एक-एक दिशामें तीन-तीन सभायें बनी हुई हैं। एक बड़ी स्फटिक कीं वेदिका है, उसके अन्दर गंधकुटी विराजमान है जिसपर भगवान विराजे हैं, चारों ओर से देवी देवता मस्त होकर भक्तिसे ओतप्रोत बडे आल्हादसे गानतान करते चले आ रहे हैं। अहो, इतना अद्‌भुत चमत्कार, यह किसका प्रताप है? यह वीतरागताका प्रताप है।

निःकांक्षिताकी पूजा और विकास—एक आत्मा जो कुछ नहीं चाह रहा है, जिसने एक शुद्ध स्वभावका अवलम्बन किया था, जिसके फलमें ऐसा सहज पूर्ण विकास है कि तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे सर्वज्ञ वीतराग प्रभुकी सेवामें मनुष्य क्या, बड़े बड़े तिर्यञ्च क्या, देव देवियाँ सभी एक साथ आ रहे हैं। यह सब वीतरागताका प्रभाव है। आनन्द वीतरागतामें ही है। शुद्ध विकास वीतरागतामें ही है। जगतके जीवोंको जितना भी क्लेश है वह सब रागका क्लेश है। इस जगतके जीवमें यदि किसी चीजका राग न रहे तो फिर उसे क्लेश ही किस बातका है? इन जीवोंको जितने भी

क्लेश प्राप्त हो रहे हैं वे सब रागके ही कारण प्राप्त हो रहे हैं। और इस रागसे भी अधिक महान् क्लेश है मोहका। अरहंत परमेष्ठी बहुत समय पर्यन्त जब तक उनकी आयुके थोड़े ही दिन बाकी नहीं रहते है तब तक उनके द्वारा धर्मोपदेश विहार आदि हो रहे हैं। वे प्रभु अंतमें योग निरोध करते हैं। पहिले तो लोगोंको दिखने वाले योग रुक जाते हैं, जैसे विहार करना आदि दिव्यध्वनि होना। पश्चात् जब अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है एक अन्तर्मुहूर्तमें अनेक अन्तर्मुहूर्त होते हैं) तब उनके वचनका निरोध, श्वासोच्छ्वास निरोध हुआ, स्थूलकाययोगका निरोध, मनका निरोध अर्थात् जो द्रव्य मनोयोग था उसका निरोध, ये सब निरोध होकर अंतमें अयोगकेवली बनकर पंच ह्रस्व अक्षरोंके बोलनेमें जितना समय लगता है उतने ही मात्र समयमें अयोग केवली गुणस्थानमें रहकर वे मुक्त हो जाते हैं।

आत्माका चरम विकास व उसकी भक्तिमें कर्तव्य—अब चार अघातिया कर्मोंसे वे मुक्त हो गए, शरीरसे वे मुक्त हो गए। अब धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह सर्व प्रकारसे शुद्ध वे आत्मदेव हो जाते है। वे सिद्ध परमेष्ठी हैं। इनका ध्यान ज्ञानी पुरुष शुद्धस्वभावके नाते से कर रहा है। पंचपरमेष्ठियोंकी पूजा आत्मविकासके नातेसे की जा रही है। आत्म-विकास ही उपादेय है ऐसा जानकर जहाँ आत्मविकास मिलता है ज्ञानी पुरुषके वहाँ ही प्रीति उत्पन्न होती है और उस ज्ञानविकास, आत्मविकासकी प्रीतिमें ही ये सब प्रवृत्तियाँ चलती हैं। अतः हमें अपना लक्ष्य योग्य बनाना है। अशुभोपयोगसे हटने के लिए हम शुद्धो-पयोगके कार्योंमें अधिकाधिक लगें। और दृष्टिके लक्ष्यमें शुद्धस्वरूपके विकासका भाव बनायें, चाहे वह कभी भी हो। लक्ष्य तो अभीसे बना लेना चाहिए। यों ज्ञानी पुरुष शुद्ध आत्मा की भावनामें जो आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्दरससे तृप्त होकर संसार सुखकी इच्छा नहीं करता है।

सम्यक्त्वोन्मुख आत्माकी विशुद्धि एवं लब्धियां—भैया! सम्यक्त्वके परिणामका तो महत्त्व ही क्या कहा जाय, कैसे कहा जा सकेगा जब कि सम्यक्त्वके उन्मुख होनेवाले जीवके परिणाममें ही इतनी बड़ी महिमा है कि उस अभिमुखतामें ही कितनी प्रकृतियोंका बंध रोक लेता है, जो ५वें, छठवें, ७वें गुणस्थानमें बँध सकता है। कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो छठे गुणस्थान तक भी बँधती है उनका बंध मिथ्यादृष्टि जीव जो सम्यक्त्वके अभिमुख हो रहा है उसके रुक जाता है। गुणस्थानके हिसाबसे उन्हें सम्वर नहीं कहा गया, किन्तु सम्य-ग्दर्शनके अभिमुख जो जीव है उसके कितनी ही प्रकृतियां बँधनेसे रुक जाती हैं। सम्यग्दर्शन ५ लब्धियोंके बाद उत्पन्न होता है—पहिली क्षयोपशमलब्धि, दूसरी विशुद्धिलब्धि, तीसरी देशनालब्धि, चौथी प्रायोग्यलब्धि, पांचवी करणलब्धि। क्षयोपशमलब्धिमें इस जीवके साथ जो कर्म बँधे हुए है उन कर्मोंमें क्षयोपशम विशेष होने लगता है, जिस क्षयोपशमके फलमें

इस जीवमें विशुद्धि आने लगती है। जिस विशुद्धिसे बढ़कर यह जीव इतना पवित्र बनता है कि उसमें दूसरेके तत्त्वके ग्रहण करनेकी शक्ति आ जाती है। उपदेश ग्रहण करनेकी शक्ति आना इसे देशनालब्धि कहते हैं। अब वर्तमानमें देखो तो तीन लब्धियोंके पानेकी सभीके योग्यता है। कर्मोंका इतना क्षयोपशम है कि जो निगोद पर्यायसे निकलकर, स्थावरोंसे निकल कर, विकलत्रिकोंसे निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय हुए और संज्ञी पंचेन्द्रियमें भी मनुष्य हुए।

मनुष्यगतिकी विशिष्टता—सब गतियोंसे बड़ी विशेषता मनुष्यमें होती है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता इस गतिमें ही हो सकती है। मनकी स्थिरता मनुष्यगतिमें ही होती है। देवगतिके जीव भी सम्यग्दृष्टि होते है, ज्ञानी होते हैं, किन्तु उनके चित्तमें स्थिरता नहीं होती है। चित्त स्थिर रख सकनेकी योग्यता मनुष्यमें है। कारण यह है कि संसारमें जिसको जितनी सुविधा, सिद्धि ऋद्धि प्राप्त होती है उसके चित्तमें प्रायः स्थिरता कम होती है। कहते तो लोग यह हैं कि भाई कुछ साधन अच्छा जुट जाय तो चित्त स्थिर हो जाय। इतनी सम्पत्ति हो जाय कि किराये भाड़े से अपना काम चलने लगे तो चित्त स्थिर हो जाय। बैठे-बैठे रहें, आरम्भ कुछ न करना पड़े, फिर तो खूब धर्म करेंगे पर जैसे ही उस लक्ष्मीकी शकल सूरत सामने खूब आ जाती है तो इसका चित्त अस्थिर हो जाता है। न कुछ परिकर हो उस स्थितिमें यह अपने चित्तको स्थिर बना सकता है, पर जहाँ सम्पत्ति इसको प्राप्त होती है, सम्पत्ति बढ़ जाती है वैसे ही चित्तमें अस्थिरता बढ़ जाती है। प्रायः देखो धर्मके भक्त कितने लोग हैं? धर्मकी तरफ थोड़ा लोगोंको ख्याल भी कम है। आप देख लीजिए कि धर्म करने वालोंकी संख्या कितनी है? सारे देशमें दृष्टि डाल लो और कोई खेल खिलौना, सनीमां आदि होने लगे तो कितनी संख्या जुड़ सकती है? कितना उपयोग और उत्साह जगता है? तो क्या कारण है कि सर्व प्रकारकी पात्रता भी है और फिर भी स्थिरता नहीं होती है। देवगतिके जीवोंमें चित्तमें स्थिरता नहीं है इसलिए वे संयमके पात्र नहीं होते हैं। उनको भूख नहीं लगती, प्यास नहीं लगती। हजारों लाखों वर्षोंमें यदि भूख प्यास लगी भी तो उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है किन्तु यत्न नहीं करना पड़ता है। कितनी सुविधा है उनको? इतनी सुविधामें भी देव गतिके जीव स्थिर नहीं रह पाते हैं। उनका चित्त डोलता रहता है। तो वैभव सम्पन्न होनेसे चित्त स्थिर होगा ऐसा भ्रम है। ज्ञानवश होगा तो चित्त स्थिर होगा, सम्पन्नतासे चित्त स्थिर न होगा। चारों गतियोंके जीवोंमें खूब परख लो मनुष्यका कितना उत्कृष्ट जीवन है?

उत्कृष्ट अवसरसे लाभ न उठानेका खेद—इतना उत्कृष्ट जीवन पाकर भी हम अपने सहजस्वरूप की दृष्टिमें नहीं लगते, जिसके आलम्बनसे मोह रागद्वेष दूर होते हैं। जो यत्न, पुरुषार्थ पुराण पुरुषोंने किया है और वे परमात्मा हुए हैं उस शुद्ध सहज स्वरूपका

हम दर्शन नहीं करें उसकी उत्सुकता न जगायें और बाह्य पदार्थोंमें ही दृष्टि फंसाकर अपना समय गुजारें तो कहना होगा कि जैसे लोकमें अनन्त भव गुजारे इसी प्रकार यह भी भव गुजार दिया। कमजोरी तो अपने आपकी है किन्तु यह कमजोरी अपने आपका स्वभाव तो नहीं है, यह नैमित्तिक चीज है। जो औपाधिक, नैमित्तिक मायामय होता है वह दूर हो सकता है और जो स्वभावरूप होता है वह दूर नहीं होता है।

स्वभावदर्शनका प्रकाश—स्वभावदर्शन करने वाले ज्ञानी पुरुषकी लीला अकथनीय है। वह ज्ञानी पुरुष किसी भी कथनमें अपने स्वरूपदर्शनका प्रयोजन निकाल लेता है। शब्द वे ही हैं पर जिसकी जैसी योग्यता है वह अपनी योग्यतासे उसमें वैसा ही अर्थ निकाल लेता है। एक बच्चा बारह भावनाका कोई दोहा पढ़े, उस दोहाको सुनकर किसी के चित्तमें तो वैराग्य बढ़ा, किसीके चित्तमें स्वरूपदृष्टि जगी और कोई इतना ही जानकर अपना उपयोग कर लेता कि यह पढ़ रहा है. इसने अच्छा याद किया है। बात वही है और उसको सुनकर जिसकी जितनी योग्यता है वह अपनी योग्यता माफिक उसमें अर्थ देख लेता है। तो ज्ञानी पुरुष व्यवहारनयसे यों देखता है कि ये रागादिक कर्म पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे होते हैं। ये स्वभाव भाव नहीं हैं तो इस कथनमें उसे स्वरूपदर्शन की उत्सुकता जगती है। वह खिचता किस ओर है? स्वभावकी ओर। जैसे एक गृहस्थका लड़का और एक पड़ोसका लड़का दोनोंमें कुछ कलह हो तो न्यायनीतिकी बात कहकर वह झुकता है जिसमें अपनी रुचि हो इसी प्रकार स्वभाव और विभावके कथनमें भी सारी दृष्टियोंका वर्णन करते हुए भी झुकता किस ओर है? जो अपना अनादि अनन्तस्वभाव है उस ओर झुकता है।

प्रायोग्यलब्धिमें विशुद्धि--यह जीव जब सम्यग्दर्शनके अभिमुख होता है तब उस समयके ही विशुद्ध परिणामका हम वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं तो सम्यग्दर्शनके परिणाम का तो वर्णन ही कौन कर सकेगा? जिन प्रकृतियोंका बंध छठे गुणस्थान तक भी चल सकता है उन प्रकृतियोंका बंध यह मिथ्यादृष्टि जीव जो सम्यक्त्वके अभिमुख है वह रोक लेता है। जिस समय कर्मोंके अंतः कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध होने लगता है तब जीव सम्यक्त्वके अभिमुख हो सकता है। कोई हो अथवा न हो, यह स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागरसे बहुत नीचे है। यह परिस्थिति प्रायोग्यलब्धिके प्रारंभमें है।

मिथ्यादृष्टिकी इस विशुद्धिमें आयुबंधका निरोध--अब सम्यग्दर्शनके अभिमुख जीवके परिणामोंका प्रताप देखिए। अंतः कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध करने वाला जीव विशुद्ध परिणामोंमें बढ़कर जब सात आठ सौ सागर कम स्थितिबंध करने लगता है तब वह नरक आयु का भी बंध नहीं कर सकता है। इतनी विशुद्धि इस मिथ्यादृष्टि जीवके हुई। जो सम्यक्त्वके

अभिमुख जैसी स्थितिमें है, चाहे आगे सम्यक्त्व हो अथवा न हो, यह बंध पहिले कम हो हो करके कितनी ही देर बाद सैकड़ों सागरकी कम स्थिति होती है, फिर इसी तरह कम होता हुआ जब सात आठ सौ सागर और कम स्थितिबंध होने लगता है तब इसके इतनी विशुद्धि बढ़ती है कि तिर्यञ्च आयुका बंध नहीं होता है। और सात आठ सौ सागर कम बंध होने पर मनुष्यआयुका बंध नहीं होता है। सात आठ सौ सागर और कम होनेपर देव आयुका बंध नहीं होता है। इसे कहते हैं पृथक्त्व शत सागर।

विशुद्धिके प्रतापमें और वृद्धि—इतना ही नहीं, और कम बंध होनेपर नरकगति नरकगत्यानुपूर्वीका का बंध नहीं हो सकता है। आगे यह दिखाया गया है कि ऐसी भी प्रकृतियां हैं जो छठे गुणस्थानमें बंध जाती हैं, पर उस मिथ्यादृष्टिके नहीं बँधती है जो थोड़े समयके सम्यक्त्वके अभिमुख हो रहा है। बादमें सम्यग्दर्शन होनेके बाद वे प्रकृतियाँ चाहे बँधने लगें, मगर विशुद्धिका प्रताप तो देखिये कि मिथ्यादृष्टि जीवके कितनी प्रकृतियोंका बंध रुक जाता है। इसके बाद जब सात आठ सौ और कम स्थितियोंका बंध होने लगता है तो सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण—इन तीनोंका एक साथ बंध रुक जाता है। याने त्रिकका युगपत् बंध नहीं होता। जब सात आठ सौ सागर और कम स्थितिबन्ध हो जाता है तब सूक्ष्म अपर्याप्त प्रत्येक इस त्रिकका बंध नहीं होता है। इसी तरह चलते जाइए, फिर दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अनुत्कृष्ट संहनन और संस्थान और अंतमें अस्थिर, अशुभ, असाता, अयश, अरति, शोक, असुचि जिनका छठे गुणस्थानमें तो बंध होता है इनका भी बंध उस सम्यग्दर्शनके अभिमुख होतेके समयमें नहीं होता है। यह सब प्रायोग्यलब्धिकी बात कह रहे हैं। इतनी विशेष योग्यता इस चौथी लब्धिमें हो जाती है।

सम्यक्त्वप्राप्तिमें करणलब्धिकी साधकतमता—इतना काम हो चुकनेके बाद भी करणलब्धि प्राप्त न हो तो सम्यक्त्व नहीं होता है। करण तीन हैं—अधोकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। तो यह समझिये कि निर्मलतामें बढ़नेके ये तीन परिणाम हैं। कोई जीव जब निर्मलतामें बढ़ता है तब उसके बढ़ावमें ये तीन तरहकी स्थितियाँ होती हैं। पहिले बढ़ावमें ऊपरके समयके परिणाम नीचेसे मिल जायें, दूसरे बढ़ावमें ऊपरके समयके परिणाम नीचे तो न मिलें, पर बराबरीके समय वालोंमें मिल भी जायें, न भी मिलें। और तीसरे बढ़ावमें एक समय वालेके एक सदृश ही परिणाम होते हैं। ये बढ़नेमें तीन बातें आती ही हैं। पूरी सावधानी तीसरी बारमें होती है। व्यवहारमें भी तो किसी कामको करनेके लिए तीन मौके दिए जाते हैं। जब स्कूलोंमें खेल कूद दौड़धूप आदिक प्रतियोगिताएँ होती हैं तो उन्हे वन टू थ्री कहकर कार्य शुरू कराते हैं। सावधानीके ये तीन अवसर हैं।

सावधानीके अवसरोंका एक दृष्टान्त—जैसे बहुतसे सिपाही लोग अपनी मौजमें बैठे

हुए हैं, कमाण्डरने उन्हें बुलाया तो उसके पास सब सिपाहियोंको लेफ्ट राइटकी विधिसे एक लाइनमें पहुंचना चाहिए। अभी गप्पसप्प कर रहे है, सो कमाण्डरके पास जानेमें उनके तीन यत्न होते हैं। पहिले यत्नमें वे झट लाइन बनाते हैं, सो कुछ लाइन बनी कुछ न बनी। उनमें कुछ पीछे हैं, कुछ आगे हैं। दूसरे सावधानीमें लाइन तो ठीक हो गई पर अभी लेफ्ट राइटके कदम ठीक नहीं हुए। तीसरी सावधानीमें अब सब लेफ्ट राइटकी हालतमें हो गए। तीसरे यत्नमें एकदमसे उनमें समानता हो जाती है। उन सबके हाथ और पैर दोनों एक साथ उठ रहे हैं। ऐसे ही निर्मलतामें बढ़ रहे इस सम्यक्त्वके अभिमुखी जीवको ये तीन परिणाम होते हैं। इन तीनों परिणामोंके हो चुकनेपर अंतमें प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है।

स्वभावानुभूतिपूर्वक सम्यक्त्वकी जागृति—भैया! सम्यक्त्व जब जगता है तब स्वरूपका अनुभव करता हुआ जगता है, और निजस्वभावके अनुभवमें उत्पन्न हुए आनन्दरससे तृप्त होता हुआ जगता है। पीछे चाहे उपयोग स्वभावपर न रहे, कषाय विपाकमें प्रवृत्तियाँ होने लगें, लेकिन लब्धिरूपमें वह सब ज्ञान बना रहता है। ऐसा विशुद्धपरिणामी सम्यग्दृष्टि जीव जिसने आत्मीय आनन्दरसका स्वाद लिया है वह वैषयिक सुखमें आदर बुद्धि कैसे करेगा? यह विकार पिशाच है। पंचेन्द्रियके विषय सम्बंधी विचार विकल्प इस जीवको भुलावेमें डाल देते हैं। तो विकल्पोंमें यह जीव विषयोंमें भोगोंमें प्रवृत्त होता है। आसक्ति हुई तो यह जीव हित अहित कुछ नहीं गिनता है, किन्तु जिसकी दृष्टि विशुद्ध है, स्वभावमें दृष्टि है, ज्ञान है और सहज वैराग्य है ऐसे जीवको विषयोंके सुखमें प्रेम नहीं उत्पन्न होता है। ये इन्द्रियविषय बहुत धोखेसे भरपूर हैं, स्वभावदृष्टिके बाधक हैं। विषय यद्यपि कषायके ही रूप हैं पर कषायसे भी अधिक धोखे वाला समझकर कषायसे पहिले विषय शब्द लगा देते हैं। "आत्माके अहित विषयकषाय।"

इन्द्रियविषयसे अनर्थ—अहो एक-एक इन्द्रियके वशमें होकर जीव अपने प्राण गंवा डालता है, बहुतसी प्रसिद्ध बातें हैं। स्पर्शन इन्द्रियके वशमें होकर हाथी जैसा बड़ा जानवर जिसमें इतना बल है कि सिंहको भी पकड़कर दो टूक कर दे। सिंहमें फुर्ती है इस कारण हाथीपर विजय कर लेता है पर बल देखा जाय तो हाथीमें बल अधिक होगा। ऐसा बलवान जानवर भी स्पर्शन इन्द्रियके वशमें होकर बंधनमें होता है। पकड़ने वाले लोग हाथीको इसी तरह पकड़ते हैं कि एक बड़ा गड्ढा खोदा, उसके ऊपर पतले बाँस बिछा दिये और ऊपर बहुत सुन्दर रंगोंसे रंगकर एक हथिनी बनाते हैं और होशियार पकड़ने वाले हुए तो एक हाथी और बना देते हैं एक या दो फर्लांग दूर पर। उस हाथीको दौड़नेकी शकल वाला बना देते हैं। जंगलका हाथी उस हथिनीको देखकर मोहित हो जाता है और उस हाथीको

देखकर द्वेष भी करता है कि यह हाथी दौड़कर आ रहा है। यह न आ सके, मैं पहिले पहुंचूं। इसमें देखो—जंगलके हाथीमें मोह, राग और द्वेष तीनों परिणतियां चल रही हैं। मोह तो यही है अज्ञान। यथार्थ स्वरूपका पता न रहा क्योंकि विषयोंमें आसक्ति है। कुछ भी विचार कर सकनेका उसके अवसर नहीं है। कहीं गड्ढा है या नहीं, जान आफतमें आ जायगा कि नहीं, यह कुछ विवेक नहीं रहता है। सोचनेका अवसर ही नहीं रहता है क्योंकि कामवासनाकी वृत्ति इतनी है कि उसे अन्य बातें नहीं सुहाती हैं। यह तो हुआ मोह। और हथिनीके रूपमें राग हुआ, और दूसरा हाथी उसके पास पहिले न जा सके यह उसका द्वेष हुआ। सो राग द्वेष मोहके वशमें होकर वह हाथी उस गड्ढेपर पहुंचता है, बाँस टूट जाते है और वह गिर जाता है। कई दिन तक उसे भूखा रखा जाता है। फिर रास्ता बनाकर उसे निकाल लिया जाता है और अपने वशमें कर लिया जाता है या भूखे ही वह हाथी अपने प्राण गंवा देता है।

रसना आदिक इन्द्रियोंसे अनर्थ—रसना इन्द्रियके वशमें मछलीका दृष्टांत बड़ा प्रसिद्ध है। शिकारी लोग जालमें कुछ खानेकी चीज, मांस जैसी चीज या जीव जन्तु लगाकर जलमें डाल देता है। उसमें कांटा तो लगा ही रहता है। उसको वह मछली खा लेती है, वह कांटा उसके गलेमें फंस जाता है और वह मछली अपने प्राण गंवा देती है। भंवरा गंध में आसक्त होकर कमलके फूलमें छिप जाता है, जिस भंवरेमें इतनी शक्ति है कि वह काठ को भी छेद भेद करके निकल जाता है पर गंधमें आसक्त होनेके कारण कमलके फूलको भी वह छेदभेद नहीं सकता है और उस कमलके फूलमें छिपकर वह भँवरा अपने प्राण गंवा देता है। दीपकपर बैठकर पतंगे अपने प्राण गंवा देते हैं। यद्यपि वे दूसरे पतंगोंको देखते हैं कि मर रहे हैं पर चतुरिन्द्रियके वशीभूत होकर वे पतंगे अपने प्राण गंवा देते हैं। हिरण, सांप ये संगीतके वशमें होकर शिकारीके फंदेमें पड़ जाते हैं।

विषयोंके अनर्थके परिज्ञानसे शिक्षा—एक एक इन्द्रियका विषय भी विनाशके लिए हो रहा है। तो अज्ञानी मनुष्यकी तो कहानी देखो कि कौनसे विषयोंमें यह कमी कर रहा है या गम खाता है? सर्व इन्द्रियोंमें व्यर्थकी इन्द्रिय है नाक। इस तकका भी तो ये जीव बड़ा ख्याल रखते हैं। इत्र चाहिए, फुवा लगाना चाहिए, नाकमें लगाना चाहिए। कैसा इन्द्रियके वशमें है यह जीव कि उसे अपनी स्वभावदृष्टिका कुछ श्रद्धान ही नहीं होता है। और स्वभावदृष्टिके बिना इस जीवको शांति नहीं मिल सकती। अतः हमें ज्ञान, ध्यान आदि समस्त प्रवृत्तियोंसे अपनी स्वभावसाधनाके लिए यत्न करना और इसके लिए उत्सुक रहना चाहिए।

अब अष्ट अंगके प्रकरणमें तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है, उसका यहाँ वर्णन किया

जाता है।

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

निर्जुगुप्सक सम्यग्दृष्टि—जो जीव सभी धर्मोंमें ग्लानिको नहीं करता है वह निश्चयसे निर्विचिकित्सा दोषरहित सम्यग्दृष्टि है, ऐसा मानना चाहिए। जुगुप्साका अर्थ है निन्दा, दोष ग्रहण करना, ग्लानि करना, इन सब बातोंको सम्यग्दृष्टि नहीं करता है। सम्यग्दृष्टिको परमात्मतत्त्वकी भावनाका महान् बल प्रकट हुआ है और उस भावनाके फलमें उसने यह अनुभव किया है कि सर्व जीवोंमें सार, सर्वस्वभूत यह चैतन्यस्वभाव एवं स्वरूप है। यहाँ अर्थात् स्वभावदृष्टिमें स्वरूपकी समानता कहते हैं कि उसमें हीनाधिकता नहीं है।

जातिकी अपेक्षा जीवोंकी एकता—यदि जीवके स्वभावमें हीनाधिकता होती तो जीव ६ न कहे जाकर ७ कहे जाते, अनेक कहे जाते। यद्यपि द्रव्य अनन्त हैं, ६ नहीं हैं। क्योंकि उस एकका लक्षण है, जितना परिणमन एक पूरेमें होना ही पड़ता है, जिससे बाहर कभी नहीं होता है उसको एक द्रव्य कहते हैं। जैसे जीवका ज्ञानपरिणमन है, जाननपरिणमन, आनन्दपरिणमन या विकार अवस्थामें रागद्वेषादिकरूप परिणमन, सुख दुःख आदिक परिणमन ये जीवके जितने पूरेमें होते हैं उतनेको एक कहते हैं। कोई विवक्षित सुख दुःख किसी अन्य जीवमें नहीं होता है। जिसका सुख दुःख परिणमन है उसका उस ही में होता है और उसके पूरे जितनेमें वह विशेषता है उतनेमें होता है। जीवका ज्ञानपरिणमन आधे प्रदेशोंमें हो और आधेमें न हो ऐसा नहीं है। एक परिणमन जितनेमें होना ही पड़ता है उसको एक कहते हैं। यों अनन्ते जीव हैं, पुद्गल अनन्ते हैं और भी द्रव्य हैं। तो भी उनको जाति अपेक्षासे ६ प्रकारके कहे हैं।

एकके स्वरूपपर बांसका दृष्टान्त—इसके लिए मोटा दृष्टांत बांसका बताया है। दृष्टांत तो दृष्टांत ही होता है। बाँस भी एक द्रव्य नहीं है। वह अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्य का स्कंध है, फिर भी एक व्यवहारिक दृष्टांत है। और एक दृष्टान्तसे उसमें दृष्टांत घटाया है कि जैसे बांस पड़ा है उसका एक छोर हिले तो सारा बांस हिल जाता है क्योंकि वह एक है। बाँससे चौकी अलग है तो बाँसके हिलनेसे चौकी नहीं हिलती है। एक वह कहलाता है कि कोई गुण परिणमन जितनेमें होना ही पड़ता है। इस दृष्टिसे जगतमें जीव अनन्त हैं, और जीवोंसे अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं।

जीवसे अनन्तगुणे पुद्गलोंकी सिद्धि—एक-एक संसारी जीवके साथ अनन्त पुद्गल द्रव्य लगे हैं, मुक्त जीवोंके साथ नहीं लगे हैं। पर मुक्त जीवोंसे अनन्तगुणे संसारी जीव है। एक जीवके साथ अनन्त पुद्गल लगे हैं। प्रथम तो उसके साथ जो शरीर लगा है वह

शरीर ही अनन्त पुद्गलोंका प्रचय है। पर उस शरीरके साथ शरीरके ही विस्रसोपचयरूप परमाणु लगे हैं। वे भी अनन्त हैं। इस जीवके साथ कर्म भी बद्ध हैं वे ज्ञानावरणादिक भी अनन्त हैं और विस्रसोपचय रूप कार्माणवर्गणाएँ भी लगी हैं, वे भी अनन्त हैं। तैजस शरीर है, तैजस वर्गणाएँ हैं वे भी अनन्त हैं। तो एक जीवके साथ अनन्त पुद्गल प्रथम लगे हुए हैं और अनन्त जीव हैं। तो पुद्गल द्रव्यका समूह तो जीवसे भी अनन्त गुणा है।

व्यक्तिसे अनेकता व जातिसे एकताका परिचय होनेपर निर्जुगुप्साका अभ्युदय—जीव पुद्गलके अतिरिक्त और भी द्रव्य हैं, धर्म, अधर्म, आकाश भी एक-एक द्रव्य है। काल असंख्यात द्रव्य है। यों समस्त द्रव्य अनन्त है। किन्तु उन सर्वद्रव्यों को जातिकी अपेक्षा संक्षिप्त किया जाय, जातिमें सम्मिलित किया जाय तो वे सब द्रव्य ६ जातिके होते हैं। जाति जो बताई जाय उसमें न एक छूटना चाहिए और न भिन्न जातिका एक भी मिलना चाहिए वह जातिका लक्षण है। तो जीव जातिसे जो लक्षित किया गया है वह स्वरूप सब जीवोंमें हीनाधिकतासे रहित एक समान होना चाहिए। यदि एक जीवका दूसरे जीवमें लक्षण दृष्टिसे रंच भी अंतर होता है तो उनकी जाति अलग-अलग हो जाती है। इस तरह जीव-जीव सब असाधारण चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे एक समान हैं। उनमें रंच भी अन्तर नहीं है। जीवकी ऐसी स्वरूपमहिमाको जानने वाला तत्त्वज्ञानी पुरुष उनमें निर्विचिकित्सा, निन्दा, घृणाका परिणाम नहीं करता है। अथवा अपने आपमें ही उत्पन्न होने वाले विकार परिणामोंमें वह खेदरूप निर्विचिकित्सा नहीं करता है अर्थात् उनके भी एक विकारी भाव है इस प्रकार जानता है पर उसके कारण उद्विग्न नहीं होता है। परिस्थिति है, औपाधिक भाव है, अथवा क्षुधा आदिक कोई वेदना हो जाय तो उन वेदनाओंमें भी अपनेको मलिन नहीं बनाता। उनका ज्ञाता द्रष्टा रहता है। अथवा उस समयमें भी अपनी सावधानीको नहीं खोता है। व्यवहारदृष्टिसे जो ऐसे साधु संत जन हैं, रत्नत्रय की मूर्ति है, ऐसे पुरुषोंमें ग्लानि, जुगुप्सा, निन्दा आदि भावोंको नहीं करते हैं।

निर्विचिकित्सित अङ्गपर एक दृष्टान्तका भाषण—निर्विचिकित्सा अंगका एक कथानक बहुत प्रचलित है। स्वर्गमें सभामें चर्चा हुई निर्विचिकित्सा अंगके प्रति कि भूलोकमें राजा उद्दायन अति प्रसिद्ध है। धर्मात्मा पुरुषोंको देखकर, उनके मलिन रुग्ण शरीरको देखकर राजा उद्दायन ग्लानि नहीं करता है। जैसे माँ अपने बच्चेकी किसी भी प्रकारकी सेवामें ग्लानि नहीं करती। वह बच्चा माँके कपड़ोंमें मल भी कर दे, मूत्र भी कर दे, इतनी तरह की झंझटोंमें भी माँ अपने बच्चेसे ग्लानि नहीं करती। इसी प्रकार जो धर्मरुचिया पुरुष हैं वे धर्मात्मा जनोंकी सेवामें रत रहते हैं, उनकी सेवामें ग्लानिका परिणाम नहीं करते, घृणा

नहीं करते । कोई यदि किसी धर्मात्मासे घृणा करे या अंतरमें ईर्ष्या द्वेष रखे तो ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टिमें नहीं हो सकती है । जिसके पर्यायबुद्धि है, अपनी वर्तमान परिस्थितिमें अहंकार है, तत्त्वसे अपरिचित है ऐसे पर्याय व्यामोही जीवके ही दूसरेको तुच्छ गिननेका और इसी कारण द्वेषके निहारनेकी बुद्धि रखनेका यत्न करता है, व्यसन रखता है, तत्त्वज्ञानी पुरुष धर्मात्मा जनोंमें विचिकित्सा, निन्दा, घृणा, ग्लानिको नहीं करता है ।

देवद्वारा उद्दायन राजाकी परीक्षा—ऐसा व्याख्यान सुनकर एक देवके मनमें ऐसा आया कि हम जाकर परीक्षा करें कि उद्दायन राजा किस प्रकार निर्विचिकित्सा अंगको पालता है । आया वह भू लोकमें । बना लिया कोई भेष । तो साधुका भेष बनाया देवने और चर्याके लिए चला मुद्रा सहित । उद्दायन राजाने जब देखा कि साधु महाराज आ रहे हैं तो बड़ी भक्तिसे पड़गाहा, भोजन कराया । देव भोजन नहीं करते, पर मायामय उनकी पर्याय जो होती है वह नाना प्रकारकी बन जाती है । कैसा ही रूप रख लें, पत्थर, पहाड़ जैसे दृश्य भी बना लें । तो भोजन करनेके बाद देवने वहीं वमन कर दिया । सो वमन तद बड़ी दुर्गंधित चीज होती है । उसके बाद भी उद्दायन राजा व उनकी रानी दोनों बड़ी भक्ति से उनकी सेवामें लगे हैं । ग्लानि नहीं करते है, वे अपने ही कर्मोंका दोष देते हैं । कैसा मेरा उदय आया कि इन्हें यहांपर ऐसी तकलीफ हो गई । वे राजा और रानी अपने विनयमें, धर्मबुद्धिमें अन्तर नहीं डाल रहे हैं । कुछ ही समय बाद वह देव वास्तविक देव रूपमें प्रकट होकर राजा उद्दायनकी स्तुति करने लगा । धन्य हो तुम । जैसा सुना था, जैसा जिनधर्मी को होना चाहिए वैसा ही स्वरूप आपका मिला । ऐसा कहकर देव प्रणाम करके चला गया ।

भैया ! प्रथम तो किसी जीवसे भी घृणा नहीं होनी चाहिए । पर जो जिनशासन की सेवामें लगे हुए हों ऐसे पुरुषोंके प्रति भी अर्थात् धर्मसाधक पुरुषोंके प्रति भी कोई यदि ईर्ष्या, द्वेष, विचिकित्सा, ग्लानि रखता है तो उसे स्वयं यह अपनी कमजोरी सोचना चाहिए कि मेरे तत्त्वकी स्फूर्ति नहीं हुई है, मलिन परिणामोंमें ही बसकर हम बंध कर रहे हैं । परमात्मतत्त्वकी भावनाके बलसे ज्ञानी जीव सर्व ही धर्मोंमें जुगुप्साको नहीं करते हैं । वस्तु-स्वभावमें विभावमें प्रत्येक जीवमें विचिकित्सा ग्लानिको नहीं करते है । और जिसकी ऐसी निर्विचिकित्सा रूप प्रवृत्ति होती है वह धर्मात्माके प्रसंगमें मल मूत्र आदिसे तो ग्लानि करता ही नहीं, पर ऐसी भी एक साधारण वृत्ति हो जाती है कि किसी भी जगह हों, जा रहे हों, कोई गंदी चीज पड़ी हो तो उस समय भी नाक भौंह आदि सिकोड़नेकी वृत्तियां नहीं होती हैं । इस कारण यह जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमय है, ऐसा उपयोगी है । जो अपने निश्चल सहज तत्त्वस्वरूपका प्रतिभास करता है ऐसे जीवको सब ही वस्तु धर्मोंमें जुगुप्सा नहीं होती है, उसे निर्विचिकित्स बोलते हैं ।

निर्जुगुप्स ज्ञानी जीवके विचिकित्साकृत बंध नहीं होता है क्योंकि ग्लानिका परिणाम नहीं है। पर द्रव्योंमें द्वेष करनेके निमित्तसे होने वाला बंध ज्ञानी जीवके नहीं होता है।

ग्लानिके होने व न होनेका कारण—भैया ! द्वेपकी प्रवृत्ति बहुत गंदी प्रवृत्ति है ! मिलता क्या है द्वेष करके? द्वेष करने से कुछ भी तो हाथ नही आता है। और अपने आत्मा को व देहको जलाया जाता है। बिना प्रयोजन के दुःख करता है, क्लेश करता है। दूसरे पुरुषोंको द्वेष करनेकी वृत्ति तब होती है जब अपनी पर्यायका अभिमान होता है। मैं ऊँचा हूँ, श्रेष्ठ हूँ, धनमें, बलमें, सौभाग्यमें मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, ऐसी परिणति पर जब आत्मीयताकी बुद्धि होती है, यही मैं हूं मैं बड़ा हूँ, तब दूसरे जीवोंसे ग्लानिकी द्वेषकी प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष कैसा स्पष्ट हो गया है अपने आपमें ? उसके लिए ग्लानिको बसाने वाला विभाव नहीं रहा। वह सब जीवोंको एक चैतन्यस्वरूपमय तकता है ऐसी उसकी पैनी अन्तरमें दृष्टि हो गई है।

अन्तर्दृष्टिकी विषयविधिपर एक दृष्टान्त—जैसे हड्डीका एक्सरा लेने वाला यंत्र होता है उसके नीचे पड़ा हुआ पुरुष कपड़े पहिने हुए हो तो भी कपड़ेकी फोटो नहीं लेता, चमड़ेकी फोटो नहीं लेता, खून, मांसका फोटो नहीं लेता किन्तु भीतरमें जो हड्डी है उसका ही फोटो ले लेता है। वह यंत्र अन्य सब चीजोंको छोड़ देता है इसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुष समस्त जीवोंको निहारकर ऐसी उसकी पैनी तीक्ष्ण अन्तरदृष्टि है कि वह उनकी पर्याय में न अटक कर, उनकी देहके भेदमें न अटककर होने वाले औपाधिक परिणामोंमें न बसकर अन्तरमें सहज अनादि अनन्त अहेतुक जो चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि पहुंचती है और इस वृत्तिसे उस ज्ञानी पुरुषको सभी जीव प्रभुस्वरूप नजर आते हैं। जैसे अन्य लोगोंमें सभी में राम और नारायण देखनेकी जैसी वृत्ति है और जो उनमें ज्ञानी संत लोग हुए है वे प्रत्येकको राम इस प्रकार निहारते हैं। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष जीवके भेद और पर्यायमें अपना उपयोग न अटकाकर आंतरिक चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि देता है और उस दृष्टिमें सर्व जीव चैतन्यस्वरूप समान नजर आते हैं।

जो देखता जानता है सो निश्चयसे अपनेको ही देखता जानता है। जैसे खुद हैं तैसा ही तो अपना परिणमन होगा ना, जैसी स्वयंकी दृष्टि है उसके खिलाफ भी कुछ है दुनियामें, मगर वह उपयोगमें नहीं जंच पाता है। साधारणतया उनके ज्ञाता दृष्टा रहते हैं। जैसे इन व्यवहारी जीवोंमें परके प्रति अपनी दृष्टिके मुताबिक अनुभव होता है इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीवोंमें अपनी दृष्टिके मुताबिक समस्त जीवोंके प्रति ख्याल और श्रद्धान होता है। जिसको सहज केवल शुद्ध ज्ञानमात्र की दृष्टि है अर्थात् जिस स्वरूपमें जानन बसा है, जाननसे अतिरिक्त कुछ भी विभाव हो उसे स्वरूपमें नहीं लपेटता है, होता तो है मगर स्वरूप रूप नहीं जानता है, ऐसा भेद करके तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाला पुरुष सब जीवोंके बाह्यस्वरूपको भी देखकर उनके बाह्य स्वरूपमें नहीं अटकता, किन्तु चैतन्यस्वरूपकी अन्तरदृष्टि करता है, ऐसी शुद्ध दृष्टि रखने वाले पुरुषके निर्विचिकित्स अंग प्रकट होता है।

रुचिके विषयभूत पदार्थमें ग्लानिका अभाव—तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके वस्तुके धर्ममें, जिस विभावरूप धर्ममें जीव दुःखी हो भान हो सकता है, ऐसे क्षुधा, तृषा आदि भावोंमें और बाहरके जो मलिन पदार्थ हैं—मलमूत्र आदिक उन मलिन द्रव्योंमें ग्लानि नहीं होती और विशेषतया धर्मीजनोंकी सेवाका प्रसंग हो तो वहाँ ग्लानिके अंशका नाम नहीं होता। धर्मकी रुचिके आगे मल मूत्र आदि की ग्लानि भी खतम हो जाती है। जैसे माँको पुत्रकी रुचिके कारण पुत्रके मलमूत्र आदिकसे ग्लानि नहीं रहती। और यदि रुचि न हो तो ग्लानि करे। जैसे प्रेमसे अपने बच्चेकी नाक साड़ीसे भी पोंछ सकती है, दूसरेके बच्चेकी नाकको वह माँ अपनी साड़ीसे नहीं पोंछ सकती है, क्योंकि उससे प्रेम नहीं है। यह एक व्यावहारिक बात कही जा रही है। जहाँ रुचि होती है वहाँ ग्लानि नहीं होती है और जहाँ रुचि नहीं है वहाँ ग्लानि होती है और रागद्वेष उत्पन्न होते हैं।

कल्याणके लिये कर्तव्य—अपनेको करना क्या है? जिससे अपनी परिणति सुधरे, शांति आए वही तो काम करना है। किन्हींको क्या दिखाना है, क्या बताना है, कहाँ महिमा बढ़ाना है, स्वयं अपने आपमें अपना कल्याण करना यही काम करनेको पड़ा हुआ है। सो कल्याणस्वरूप जो खुदका ऐश्वर्य है, स्वरूप है उस स्वरूपकी रुचि जगना चाहिए। जिसको कल्याणस्वरूप निज तत्त्वकी रुचि जग जाती है उस पुरुषको कल्याणमूर्ति धार्मिक जनोंकी सेवामें ग्लानि नहीं होती है। उस ग्लानिका कारणभूत जुगुप्सा नामकी पर्यायका उदय है। ग्लानि करने रूप पर्याय जीवमें जीवके कारण नहीं हुआ करती। जीवमें होती तो है, पर जीवद्रव्यके स्वभावसे नहीं है। जुगुप्सा नामक प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर यह जीव अपने आपमें अपनी परिणतिको स्वतंत्र रूपसे करता है। जितने पदार्थ हैं वे मात्र अपनी परिणतिसे परिणमते हैं। दूसरे निमित्तभूत पदार्थोंकी परिणति लेकर नहीं परिणमते। स्व-

तंत्रता तो इतनी है, और चूंकि कोईसा भी विभाव उपाधिरूप पर-निमित्तके अभावमें नहीं उत्पन्न हो सकता, इस कारण सर्वविकारभाव परभाव कहलाते हैं। इनमें रुचि मत करो और इनसे अपनेको ग्लान मत बनावो।

निर्जुगुप्स ज्ञानीका कार—जुगुप्सा नामक प्रकृतिका उदय होनेपर अपने आपकी ग्लानिरूप पर्यायिका कर्ता होता है, पर ज्ञानी जीवके परमात्मतत्त्वकी भावनाका ऐसा बल है कि उस ज्ञानभावनासे उदय योग्य प्रकृतिको संक्रांत कर देता है और फिर उदय रहता है तो उसका अव्यक्त परिणाम रहता है। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीवको जुगुप्साके कारण होने वाला बंध नहीं होता है। वह जुगुप्सा प्रकृति कुछ रस देकर छूट जाती है। वह आगामी कालके लिए बंधका कारण नहीं बनती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपकी भावनामें सावधान है और दूसरे जीवसे द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि बातोंको नहीं करता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंगका धारी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक होकर अपने आपमें सदा प्रसन्न रहता है।

ग्लानि भावसे आत्मघात—ग्लानि करना एक आत्मघातक दोष है। बाह्यपदार्थोंसे ग्लानि करते हुएमें इस जीवको स्वरूपकी दृष्टि तो रहती नहीं। बाह्यपदार्थोंमें द्वेष और जगता है। ग्लानिका मूलकारण द्वेष है। द्वेषकी प्रेरणामें ग्लानिकी उत्पत्ति होती है। जीव जब सर्व एकस्वरूप है, उनका सहज सत्त्व सहज लक्षण एक समान है, फिर उनमें से किसी को अपना मान लिया, किसीको पराया मान लिया, ऐसी जो अन्तरमें वृत्ति जगती है यही महाविष है। यह सारा संसार झूठा है अर्थात् परमार्थरूप नहीं है, विनाशीक है और दो पदार्थोंके संयोगके निमित्तनैमित्तिक भावसे होने वाला इन्द्रजाल है। यहाँ कोई चीज विश्वास के योग्य नहीं है। किसका विश्वास करें, किसका शरण मानें, यह जीव मोहमें विश्वास करता है अपने परिजनोंका, कुटुम्बका, मित्रोंका और चाहें वे परिवारके लोग मित्र जन भी अन्तर से अपने कषायके अनुसार प्रेम दिखाते हों, आज्ञा मानते हों, पर वस्तुके स्वरूपको मेट कौन देगा? जब पापका उदय आयगा तब सब ही विपत्ति बन जायेंगी अथवा जब आयुकर्मके विनाशका समय होगा तो कितना ही कोई प्रेम करने वाला हो, कोई बचा नहीं सकता।

यथार्थज्ञानकी हितकारिता—भैया! यथार्थ ज्ञान जीवको रहे तो विह्वलता नहीं हो सकती। अपने पुत्र परिवारमें विशेष राग और मोह परिणाम रहेगा तो उसमें वेदना ही बढ़ेगी, शांति नहीं हो सकती है। जो मिला है उसके ज्ञाताद्रष्टा रहो, घरमें ये पुत्र हैं, रहो, उनके ज्ञाता रहो। है वे भी एक जीव। और संयोगवश इस घरमें आकर जन्मे हैं, पर ये ही मेरे है बाकी सब गैर हैं, इस प्रकारकी जो अंतरंगमें श्रद्धा है यह श्रद्धा ही इस जीवको अंधेरेमें पटक देती है। उससे कोई सारभूत बात नहीं निकली। जैसे किसीसे राग करना

आत्माका विनाश है, इसी प्रकार किसीसे द्वेष करना भी आत्माका विनाश है। राग और द्वेष इन दो पाटोंके बीच यह जीव पिसता चला आया है। करना कुछ पड़े पर ज्ञान यथार्थ रखो। जो बात जैसी है वैसी ही माननेमें कोई श्रम नहीं होता है। घर है, वही है, ठीक है, रहना पड़ रहा है, रहना ठीक है। बात वही करना है जो कर रहे हो इस गृहस्थावस्थामें, पर यथार्थ ज्ञान भी अन्तरमें बनाए रहो तो उसमें फर्क कहाँ आता है कोई सम्पत्ति घटती है या परिवार नष्ट होता है? बल्कि यथार्थ ज्ञान होनेके कारण न तो रागकी वेदना सतायेगी और न चिंताएँ सतायेंगी। इस कारण यथार्थ ज्ञान रखना इसमें ही अपने आपकी रक्षा है।

सम्यग्ज्ञानसे ही आत्मरक्षा—आप जीवोंकी रक्षाका उपाय इस लोकमें और कुछ दूसरा नहीं है। किससे अपनी रक्षा हो सकती है? सभी दूसरे अरक्षित हैं। जिनको हम दूसरा मानते हैं और पर्यायकी मुख्यतासे जो हम ढाँचा देखते हैं वह ढांचा ही स्वयं अरक्षित है। जो स्वयं मर मिटने वाले हैं वे हमारी रक्षा कैसे कर सकते हैं? हमारी रक्षाका करने वाला न तो कोई अन्य चेतन पदार्थ है और न कोई अचेतन पदार्थ है। हमारी रक्षा करने वाला हमारा सम्यग्ज्ञान है। हम स्वयं सुरक्षित हैं, अरक्षित हैं कहाँ जो हम घबड़ाएँ। हाँ व्यर्थकी हठ की परपदार्थ मेरे तो कुछ नहीं हैं और उनमें हठ कर जायें कि ये मेरे ही हैं, इन्हें मेरे ही पास रहना चाहिए था, इन्हें मेरे पास रहना पड़ेगा, इस प्रकारका एक व्यर्थका हठ, व्यर्थका ऊधम मचायें तो अपने ही इस दुराचारसे हम स्वयं दुःखी हो जाते हैं। हमारा स्वरूप सुरक्षित है, ऐसे सुरक्षित ज्ञानानंद मात्र सहज आनन्दका निधान शुद्ध ज्ञायक स्वरूपसे विमुख होना यह परमार्थसे बड़ी जुगुप्सा है। अपने आपके प्रभुस्वरूपसे मुंख मोड़े रहना यही परमार्थसे ग्लानि है।

स्वरूपविमुखतामें अशरणता—अपने आपके स्वरूपसे प्रभुरूपसे ग्लानि करके यह जीव कहाँ शरण पायगा? जहां जायगा वहाँ ही फुटबालकी तरह ठोकर खाकर वापिस आयगा। किसी शरण मैं जाऊँ? ये दिखने वाले चेतन पदार्थ जीव त्रस आदिक, मनुष्य आदिक पशु पक्षी, ये स्वयं कषायसे भरे हुए हैं। इनके स्वार्थमें जहाँ धक्का लगा तहाँ ही आपसे मुख मोड़ लेंगे। कोई भी हो, स्वरूपको कहाँ टाला जा सकता है? जो पुत्र, मित्र आपको बहुत अधिक प्रिय लग रहे हैं उनके स्वार्थमें कुछ धक्का तो लंगे; फिर देखो आपसे वात्सल्य रखते हैं कि नहीं। नहीं वात्सल्य रख सकते हैं। तो यह समस्त व्यवहार कषायसे कषाय मिलनेका है। यहाँ कोई किसीसे प्रीति नहीं करता। कोई भी हो। भगवान है वह तो प्रीति रंच भी नहीं करता है। और भक्त है सो व्यवहारभाषामें ऐसा कहा जाता है कि भक्त भगवानसे प्रीति करता है। पर वास्तवमें भक्त अपने ही मंद कषायसे जो स्वयं

भक्तमें होने वाली वेदना है, परमात्मस्वरूपके स्मरणका जो अनुराग है उसको दूर करनेके लिए उस पीड़ाको शांत करनेके लिए चेष्टा करता है। और वास्तवमें अनुराग करता है तो अपने गुणोंके विकासमें अनुराग करता है।

परमार्थजुगुप्सा महान् अपराध—अपने आपकी प्रभुताके स्वरूपसे प्रतिकूल रहना यह सबसे बड़ा दोष है। यही परमार्थसे जुगुप्सा है। धर्मस्वरूपमय निजपरमात्मतत्त्वसे ग्लानि करना, मुख मोड़े रहना यह महान् अपराध है और केवल अपने आपके प्रभु पर अन्याय करने मात्रका ही अपराध नहीं है, किन्तु जगतके समस्त जीवोंपर सर्व प्रभुवोंपर यह अन्याय है, अपने आपके स्वरूपका पता न हो सके, यही निज प्रभुपर अन्याय है, अनन्त प्रभुवोंपर अन्याय है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके स्वभावसे विमुख नहीं होता, अपने स्वरूपसे जुगुप्सा नहीं रखता किन्तु रुचि रखता है। इस धर्ममय आत्मप्रभुकी सेवामें रहकर कोई कष्ट भी भोगना पड़े, उपद्रव उपसर्ग भी सहना पड़े तो भी उनमें विषाद नहीं मानता, अपने परिणामोंको म्लान नहीं करता, ग्लान नहीं होता। यही है परमार्थसे निर्विचिकित्सक अंगका दर्शन।

परमार्थनिर्विचिकित्सित अङ्गकी मूर्तियां--गजकुमार, सुकुमार, सुकौशल और और भी अनेक मुनिराज, पांडव, सनत्कुमार, चक्री, अभिनन्दन आदि चतुर्थकालमें कितने ही विरक्त मुनिराज ऐसे हुए हैं जिनपर घोर संकट आया था। स्यालनी आदि पैरोंका भक्षण कर रहे थे। तो क्या उनसे थोड़ा फुंकार भी नहीं देते बनता था ? अरे उन स्यालस्यालिनियोंको अगर तेज आँखोंसे देख लेते तो कभी के भाग जाते। क्या उनके हटाने में बड़े बल की जरूरत थी ? किन्तु उन सुकुमार मुनिराजने अपने आपमें जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप का दर्शन पाया था उस परमात्म प्रभुके मिलनेमें, उस परमात्म प्रभुकी उपासनामें इतने रुचिया थे कि जिस रुचिको भंग करनेके लिए उन्हें स्यालनी हटानेका विकल्प भी नहीं आया। वे थे परमार्थसे निर्विचिकित्साकी मूर्ति, जो धर्म स्वभावमय, अपने आपके प्रभुकी उपासना से रंच भी विचलित नहीं हुए। बड़े-बड़े बली शूर, वीर, सुभट मुनिराज जो हजारों सैनिकोंका मुकाबला करनेमें लीलामात्रसे सफल हो जाते थे, अब जब विरक्त होकर इस परमात्म स्वभावकी साधनामें लगे तब उन्हें इस प्रभुस्वरूपसे इतनी महती रुचि जगी कि इसमें भंग करना उन्हें सुहाया नहीं। चाहे शरीर जले, गले, कटे मिटे, छिदे-भिदे, जहाँ चाहे तहां जावे, पर अपने आनन्दको, अपने प्रभुस्वरूपकी उपासनाको छोड़ने का उन्हें भाव नहीं जगा।

वर्तमान विकल्प बनाकर भविष्यमें निर्विकल्पताकी आशा व्यर्थ--यहाँ सामायिक करते हुएमें एक चींटी ऊपर चढ़ी हो, चाहे वह काट न रही हो, केवल बैठी हो या जरा

चलती हो तो इतना भी कितने ही भाई सहन नहीं कर पाते हैं और उसको अलग हटाते हैं और ऐसी मुद्रा बनाते है कि इसके हट जानेके बाद फिर बढ़िया ढंगसे सामायिकमें मस्त हो जायेंगे। अरे जब पहिले ही ग्रासमें मक्खी गिर गई तो अब भोजनका क्या ठिकाना ? जब इस पहिले ही अवसरमें चींटीके चढ़नेके उपद्रवको नहीं सह सकते, विकल्पोंका उपादान रखा तो अब आगे निर्विकल्पताका क्या भरोसा ? सम्यग्दृष्टि जीव अपने इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप की रुचिमें इतना दृढ़ है कि वह इसकी साधनाके समक्ष अन्य सब बातोंको अत्यन्त असार और हेय समझता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंगके साक्षात् मूर्ति मुनिराज ज्ञानी संत हैं। वे ज्ञानी संत न तो क्षुधा तृषा आदि वेदनामें विशाद मानेंगे, न अपने को ग्लान करेंगे और न बाहरी पदार्थ हड्डी, माँस, मल, मूत्र, आदि गंदे पदार्थोंको देखकर वे उनसे द्वेष करेंगे। ग्लानि न करेंगे। अब भी देखा जाता है कि जो विवेकी, धीर, उदार, विरक्त आत्मतत्त्वके रुचिया श्रावकजन होते हैं वे भी व्यवहारके अपवित्र पदार्थोंको देखकर नाक, भौंह सिकोड़ने की आदत नहीं रखते हैं।

वास्तविक अपवित्रताका स्थान—इस जगतमें अपवित्र पदार्थ है क्या ? किसे कहते हैं अपवित्र पदार्थ, युक्तिपूर्वक निरखिये। नालियोंमें जो गंदगी बहती है उसे अपवित्र कहते हैं क्या ? भला बतलावो कि जो अपवित्र कहे जाने वाले स्कंध हैं उनमें अपवित्रता आयी कहां से ? मल, मूत्र, बहता होगा अथवा कुछ कीड़े मकोड़े आदि जानवरोंका विध्वंस हुआ होगा। इन सारी बातोंका जो मिश्रण है वही तो नालियां हैं, अर्थात् शरीरके सम्बन्ध वाली चीजोंका वह समूह है। तो शरीर गंदा हुआ। जिस शरीरके मांस, मज्जा, मल, मूत्र, हड्डी, चर्बी आदि अपवित्र माने जाते हैं वह शरीर ही अपवित्र है। अब और विचारिये कि यह शरीर क्यों अपवित्र हो गया ? जिन परमाणुवोंसे यह शरीर बना वे परमाणु जब तक शरीररूप नहीं बने थे तब तक लोकमें बड़े शुद्ध स्वच्छ थे। जब तक शरीररूप परमाणु न बने थे तब तक उन आहारवर्गणावोंके परमाणुवोंका क्या स्वरूप था ? क्या हड्डी माँस आदिरूप ही थे, जिनसे अब हम ग्लानि किया करते हैं ? नहीं थे। जीवका सम्बन्ध हुआ, शरीरकी रचनाएँ हुईं और इस शरीरमें ऐसी गंदी, अपवित्र मांस आदिक धातुवें उत्पन्न हुईं तो शरीरका जो मूल आधार है, स्कंध है, परमाणु पुञ्ज है, औदारिक वर्गणायें आहार वर्गणायें ये तो बड़ी अच्छी थीं, पवित्र थीं। पवित्र होनेपर कोई अपवित्रका सम्बन्ध हो जाय तो अपवित्र बना करता है। शुद्ध नहाये धोए लड़के को नालीसे भिड़ा हुआ लड़का छू ले तो वह नहाया धोया लड़का अपवित्र माना जाता है। अन्य पवित्र बालकोंको एक गंदे बालकने स्पर्श कर लिया ना, तो ये जो आहारवर्गणायें लोकमें बड़ी अच्छी विराज रही थीं उनको इस मोही जीवने छू लिया, ग्रहण कर लिया, छू तो नहीं सकता, ग्रहण तो नहीं

कर सकता, पर ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि ऐसे मोही मलिन जीवोंका प्रसंग होनेसे यही वर्गणाएँ शरीररूप परिणाम कर बुरी हो जाया करती हैं। तब शरीरके परमाणुवोंको जिसने छू कर गंदा बनाया है वह गंदा हुआ या शरीर गंदा है। वह मोही जीव गंदा हुआ।

जीव पदार्थमें अपवित्र भाव—अब उस मोही जीवकी भी चर्चा सुनो वह जो जीव हैं, द्रव्य है, एक चेतन पदार्थ है, वे द्रव्य तो सब एक चेतन समान हैं, केवल ज्ञायकस्वरूप है, चैतन्यस्वभावरूप हैं। उनके स्वभावमें कहाँ गंदगी बसी है? ये जीवद्रव्य भी अपने स्वभावसे मलिन नहीं है। पर इस जीवका जो विकारपरिणमन हुआ है, रागद्वेष मोह भाव जगा है यही अपवित्र परिणमन है। तो लोकमें सारी अपवित्र चीजोंके कारणको विचारा जाय तो अंतमें मिलेगा सबसे अधिक अपवित्र तो रागद्वेष मोह मिलेगा। इन तीनोंमें रागद्वेष तो एक शाखाकी तरह है और मोह उनकी जड़ है। इन तीनोंमें भी अधिक अपवित्र क्या है? अपेक्षाकृत बात देखो—लोग द्वेषसे बड़ी घृणा करते हैं। कोई जीव द्वेषी है, बैर रखता है, लड़ाई झगड़ा करता है, द्वेष दिखाता है तो उसके द्वेषसे लोगोंको बड़ी नफरत होती है। कैसा बेढंगा आदमी है, द्वेष ही द्वेष करता है। द्वेषभावको लोग बुरी दृष्टिसे देखते हैं, किन्तु यह तो बतलावो कि यह द्वेष क्या द्वेषके लिए ही आया है? द्वेषका प्रयोजन क्या द्वेष करना है? नहीं। द्वेष किसी रागके कारण आया है। द्वेषका प्रयोजन किसी रागका पोषण है। किसी बातमें राग आये बिना परसे द्वेषकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। जो मनुष्य बैठे ही ढाढ़े प्रकृत्या किसी भी धर्मात्मा जीवसे द्वेष और ईर्ष्याका परिणाम बनाते हैं और अपने आपमें जलते भुनते हैं, अपनी परिणतिका राग, अपने आपकी पर्यायको आपा मानकर, उसके बड़प्पन रखनेका परिणामरूप जो राग है उस रागकी प्रेरणासे वह धर्मात्माजनोंसे भी द्वेष रखता है। तब द्वेषसे अधिक गंदा राग हुआ ना।

रागका मूल मोह—अब रागकी भी बात देखिये—इस जीवको खामोखां राग हो क्यों गया? जब कोई वस्तु अपनी नहीं है, किसी परपदार्थसे अपना हित नहीं है तो यह रागभाव जग क्यों गया? इस रागभावके जगनेका कारण है मोहभाव। इसे अज्ञान है, स्व और परका विवेक नहीं है, भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्वकी निरख नहीं है। वह जानता है कि किसी पदार्थसे किसी दूसरे पदार्थका कुछ काम होता है, बनता है। मैं किसी दूसरेका कुछ भी कर सकता हूं, कोई दूसरा मुझे कुछ भी कर सकता है। निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक अपने आपके चतुष्टयमें परिणमन होते रहने की बात इसके उपयोगमें नहीं है। कर्तृत्व बुद्धि और स्वामित्व बुद्धि समाई हुई है। इस कारण यह जीव परसे राग करता है। तो उस राग भावका कारण है अज्ञानभाव, मोहभाव। इस मोहभावके वश होकर जो जीव सहज ज्ञाना-

नन्द निधान निज परमात्मास्वरूपकी रुचि नहीं करता, उससे अरुचि रखना, विमुख रहता, वही है परमार्थसे विचिकित्सक प्राणी।

निर्विचिकित्सित अङ्गकी मूर्ति जयवंत हो—जो महान् आत्मा प्रत्येक परिस्थितियों में अपने आपके प्रभुस्वरूपकी रुचिमें दृढ़ रहता है इस धर्मस्वभावमय आत्मतत्त्वकी उपासना में इतना रुचिवान है कि उपद्रव उपसर्ग कुछ भी आए तो भी विषाद नहीं करता, खेद नहीं मानता, वही है परमार्थसे निर्विचिकित्सा अंगका दर्शन। जैसे माँ अपने बच्चेमें रुचि रखती है तो बच्चेके नाक निकले, मलमूत्र निकले तो भी उस स्थितिमें विषाद नहीं मानती। जैसे कि और माँ किसी दूसरे पुत्रसे ऐसी बात हो जाय उसके शरीरपर, कपड़ोंपर, तो वह खेद मानती है, झल्ला जाती है। इस माँको झुलझुलाहट नहीं होती है, खेद नहीं होता है, इसी प्रकार अन्य धर्मात्माजनोंकी सेवामें रहते हुए ऐसी ही बात आए तो वह धर्मात्मा पुरुष खेद नहीं मानता और चैतन्यस्वभाव धर्ममय अपने आत्मतत्त्वकी उपासनामें रहते हुए क्षुधा, तृषा, निन्दा, दरिद्रता कुछ भी बातें उपस्थित हों, तो उन परिस्थितियोंमें खेद नहीं मानता, विशाद नहीं मानता। अपनी रुचिकी धुनमें ही बना रहता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंगकी मूर्तिरूप ये ज्ञायकस्वभावी जयवंत हों और इनके उपासनाके लिए ऐसा बल प्रकट हो कि हम धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवामें रहते हुए खेद, विषाद, थकान न मानें और उनके रत्नत्रय गुण स्वरूपकी महिमामें हमारा उपयोग बना रहे। भैया ! दोष ग्रहण करना, घृणा करना, ग्लानि करना, विमुख रहना, ईर्ष्या करना, इन दोषोंसे इन विपत्तियोंसे दूर बना रहूं, ऐसा यत्न करना, सो मोक्षमार्गका इस निर्विचिकित्सक अंगमें एक महान् पुरुषार्थ है।

अब अमूढदृष्टि अंगका वर्णन करते हैं।

जो हवइ असंमूढो चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

अमूढदृष्टिका स्वरूप—जो जीव सर्वभावोंमें अमूढ़ है, समीचीन दृष्टि रखता है वह ज्ञानी पुरुष निश्चयसे अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। आत्माका जो सहज अपने आपके सत्त्वके रससे जो परिणाम है उस असाधारण भावके अतिरिक्त अन्य जो भी भाव हैं उनमें जो मुग्ध नहीं होता अर्थात् उन्हें आत्मरूपसे नहीं अपनाता उसे अमूढ़दृष्टि समझना चाहिए। मैं क्या हूं, इसके उत्तरमें जिसकी दृष्टि अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञायकस्वभावपर पहुंचती है और उस ध्रुव पारिणामिक भावसे भिन्न जो अन्य भाव हैं उन भावोंमें आत्मरूपसे श्रद्धान नहीं होता है उसे अमूढदृष्टि कहते हैं। यह जीव बाहरी पदार्थोंको अपना मानता है, यह व्यवहार कथन है। उन्हें नहीं मानता है किन्तु जिस प्रकारका ज्ञान बना, ज्ञेयाकार परिणमन हुआ ऐसी परिणतिमय अपने आपको जानता है। अन्य पदार्थोंका जानना व्यवहारसे कहलाता

है। अर्थात् अन्य पदार्थोंमें यह जीव तन्मय नहीं हो सकता। यद्यपि अज्ञानी जीवके लिए यह कहा जाता है कि यह किसी अन्य पदार्थसे तन्मय हो रहा है, फिर भी वास्तवमें वह अज्ञानी भी किसी परपदार्थमें तन्मय नहीं हो सकता। वह तो जिस प्रकारकी रचना अपने आपमें बना रहा है उसमें ही तन्मय है।

मूढ़दृष्टिके लक्ष्यस्थान—यह जीव किसे अपना मानता है? शरीरको आपा रूपसे श्रद्धान करता है। यह शरीर निज सहज चैतन्यभावसे अत्यन्त विपरीत है। और इससे गहरे उतरें तो आगमसे जैसा जाना है उस प्रकारसे रचे हुए ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मोंको आपा मानता है। अथवा उन द्रव्यकर्मोंके विपाकमें होने वाली जो आत्मभूमिमें परिणति है उसे 'यह मैं हूं' ऐसा मानता है। तब कषाय करते हुएमें विषय कषाय करते हुए 'यह यही तो मैं हूँ' ऐसा अभेद श्रद्धान करता है, रागादिक भावोंसे भिन्न मैं कुछ हूँ, ऐसी दृष्टि नहीं पहुंचती है, न उसे निज ध्रुव पारिणामिक भावोंसे भिन्न रागादिक भावोंको आत्मस्वरूप मानता है वह मूढ़दृष्टि है। उसे अन्य भावोंमें मोह हो गया है। अन्य भावोंको आत्मरूपसे ग्रहण करता है, और अन्तरमें चलें तो क्षयोपशमिक विकल्प हो रहे हैं, छुटपुट ज्ञान हो रहे हैं उन्हें यह जीव आत्मस्वरूप मानता है।

ज्ञानविकल्पोंमें मूढदृष्टिता—क्षायोपशमिक ज्ञान-विकल्पोंको आत्मस्वरूप मानता है, इसका प्रमाण यह है कि किसी जानकारीके समयमें जब परस्पर कोई विवाद हो जाता है तो अपना पक्ष गिरनेपर वह अपनी बड़ी हानि अनुभव करता है, और ऐसी स्थितिमें अपनेमें क्रोध मान कर लेता है। वह अपनेको बरबाद सा अनुभवने लगता है। यह है क्षायोपशमिक विकल्पोंमें आत्मस्वरूप माननेका फल। उस जीवने निज स्वभावसे भिन्न ज्ञानादिक क्षायोपशमिक विकल्पोंमें आपा स्वीकार किया है। अभी इसके अन्य भावोंमें मोह है।

शुद्ध परिणमनमें भी आत्मद्रव्यत्वकी अमुग्धता—इससे और अन्तरमें चलते हैं तो परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण विकास, शुद्ध परिणति, केवलज्ञान जैसे कि बांचा है, सुना है, जाना है। उसके महत्त्वको जानकर उस परिणतिके लिए अपना उपयोग विकल्प बनाकर ऐसा ही मैं होऊँ, यह ही मैं हूं, यद्यपि विकासकी बात ठीक है किन्तु जिसे निज ज्ञायकस्वरूपका परिचय नहीं है, वह केवलज्ञान आदिक शुद्ध भावोंके पानेका भी विकल्प बनाए तो उसके लिए तो वह परिणाम ऐसा है जैसा किसी अन्यके प्रति परिणाम करता हो। वे केवल ज्ञानादिक पर्यायें मेरी परिणति हैं, मेरेसे प्रकट होती हैं, वह क्षण-क्षणका निरंतर अनन्तकाल तक सदृश चलने वाला परिणमन है; मैं एक ध्रुव ज्ञायकस्वरूप हूं, ऐसा जिसे बोध नहीं है वह पुरुष उनमें उपयोग लगाए और उपयोग लगाते समय वह अपनेको वैसा ही अनुभव

करे जैसा आत्मरूप अनुभव करता है। और आत्मद्रव्यरूप अनुभव करना सो ज्ञायकस्वरूपसे अपरिचित पुरुषका एक काम है। एक टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभावमय परमपारिणामिक भावरूप निज चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें आत्मरूप श्रद्धान करना, यह ही मैं समग्र आत्मद्रव्य हूं, सो ये सब मोहकी जातियां है।

अमूढदृष्टिका आवृत्व—यह जीव सर्व भावोंमें असम्मूढ है, यथार्थ दृष्टि रखता है, उस ही पुरुषको सम्यग्दृष्टि जानो। सम्यग्दृष्टि सर्व पदार्थोंका यथार्थस्वरूप जानता है, उसके रागद्वेष मोहका परिणाम नही है, अतः अयथार्थ दृष्टि नहीं है। चारित्र मोहके उदयसे इष्ट अनिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं, उनको उदयकी बलवत्ता जानकर उन भावोंका कर्ता नहीं होता है। उन रूप अपने आपका श्रद्धान नहीं करता है। विशेष विह्वलता होनेके कारण परभावोंमें आत्मस्वरूपका अनुभव करता है। जिस पदार्थविषयक राग है उस रागके अनुकूल पदार्थका परिणमन न देखकर अपने आपमें खेद करने लगता है। विशेष विह्वलता इस कारण होती है कि उस रागपरिणमनमें ही आपाके स्वरूपका श्रद्धान है। यदि उस काल में इस रागस्वरूपमें आपाका श्रद्धान न हो तो वहां विह्वलता न हो सके। अपने आपके विनाशकी शंका सर्व शंकाओंका मूल बनती है। और प्रधान शंका यही कहलाती है, ऐसी शंका, ऐसा व्यामोह सम्यग्दृष्टि पुरुषके नहीं होता है।

शुद्धात्मभावनासे अमूढता एवं कापथमें अनास्था—जो ज्ञानी निज शुद्ध आत्मामें श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणके रूपसे अर्थात् निश्चय रत्नत्रयकी भावनाके बलसे शुभ अशुभ कर्मजनित परिणामोंमें मुग्ध नहीं होता है उसे अमूढदृष्टि जानना। अपने ध्रुव पारिणामिक ज्ञानस्वभावसे भिन्न किसी भी परपदार्थमें मुग्ध न होना चाहिए। परिणतियोंका व्यामोह क्षोभका स्थान है, वह ज्ञानी जीव निश्चयकरि सम्यग्दृष्टि है। जिसको अध्रुव औपाधिक परभावोंमें ही जो कि जीवके स्वतत्त्व है अर्थात् आत्मामें परिणत होते हैं उनसे भी मोह न रखता हो वह सम्यग्दृष्टि पुरुष किन्हीं बाह्य पदार्थोंमें कैसे मोह रख सकता है? जिनके उपयोगमें ऐसे स्वभावकी दृढ़ता है वे कदाचित् कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म—इनमें कोई चमत्कार भी देखें तो वह उनमें व्यामोह नहीं करता है, और उन चमत्कारोंके कारण उन कुपथोंको यह सम्यक् सोच ले ऐसी प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टिमें नहीं होती है। एक दृष्टांत दिया गया है पुराणोंमें रेवती नामक रानीका। एक मुनिराजने रेवती रानीके अमूढदृष्टि अंगका वर्णन किया, प्रशंसा की। तो सुनते हैं कि भव्यसेन मुनि हो, या कोई हो, उसको यह जिज्ञासा हुई कि देखें तो सही कि कैसा इसका दृढ़ श्रद्धान है, या किसी देवने परीक्षा की हो। ब्रह्मा का रूप रखकर बड़ा चमत्कार बताया। सारी दुनिया उसकी ओर झुके, पर रेवती रानीका चित्त न डिगा। और-और देवतावोंने जैसा उन पुराणोंमें वर्णन है, अपना आडम्बर दिखाया

बड़ी ऋद्धिसिद्धि दिखाई पर उस रेवती रानीका चित्त न डिगा। अंतमें एक तीर्थंकर जैसा कोई आडम्बर दिखाया, रचना वैसी ही बनाया, वैसा ही सब किया जितना तक हो सकता था। लोगोंने कहा कि अब तो तीर्थंकर महाराज आए हैं, अब तो वंदनाको चलना चाहिए। उस रेवतीरानीका दृढ़ श्रद्धान था कि इस कालमें तीर्थंकर होता ही नहीं है। चौबीस तीर्थंकर माने गए हैं, ये २५ वें तीर्थंकर कहांसे हो गए? कुछ ऐसी ही कथा है। जिसमें यह दिखावा है कि बड़े-बड़े चमत्कारोंके दिखाये जाने पर भी जिसका चित्त चलित नहीं होता है, श्रद्धासे विचलित नहीं होता है उस ही आत्माको अमूढ़दृष्टित्व कहते हैं।

विभावरूप स्वतत्त्वमें भी ज्ञानीके असम्मोह—इस सम्यग् दृष्टिके निज भूमिकामें उत्पन्न होने वाले पर-भावोंमें भी मोह नहीं जगता। लोकमें सबसे बड़ा वैभव है शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि जगना। जितने भी जैनसिद्धान्तके उपदेश हैं उनका मात्र प्रयोजन शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कराना है। तुम तो चैतन्यस्वरूप मात्र हो। निश्चयनयसे स्वरूपका वर्णन है कि अपने आपको ही करते हो, अपने आपको ही भोगते हो। तुम्हारा तुम्हारेसे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थमें रंच भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारा चतुष्टय तुम ही में है। अन्य वस्तुवोंका चतुष्टय उन अन्यमें ही है। ऐसा दिखाकर इस जिज्ञासु मुमुक्षुको एकत्वस्वरूप में उपयुक्त कराया गया है। इसे किसी परका विकल्प न उठे और यह अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करले, इसके लिए निश्चयनयसे ज्ञायकस्वभाव इसे पहिचानाया गया है। जहां विज्ञान और व्यवहार दृष्टिमें उपदेश चलता है कि यह जीव तो शुद्ध ज्ञायकस्वभावमय है। इसमें स्वरसतः रागादिक होते ही नहीं है। उसका रागादिक स्वभाव ही नहीं है। इसमें जो रागादिककी झलक होती है वह कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर होती है। जिसका उदय होनेपर हो और उदय न होने पर न हो, इन रागादिक भावोंका उससे ही अन्वय-व्यतिरेक है। इन रागादिकोंका आत्मासे अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। आत्माके होनेपर रागादिकसे हों तो आत्मा तो सतत है, फिर कभी रागादिकसे मुक्त नहीं हो सकता है। ये औपाधिक भाव हैं, परभाव हैं, तेरा स्वरूप नहीं हैं। तू तो सबसे निराला शुद्ध ज्ञायकस्वभावी है। इस ज्ञायकस्वभावकी ही दृष्टि कराने के लिए ही व्यवहारका भी प्रयोजन है।

स्वानुभवका मात्र एक कर्तव्य—भैया! अपना यह एक ही कर्तव्य है जिस किसी भी उपायसे हम अपने आपको ज्ञानस्वरूपमात्र अनुभव कर सकें। स्वानुभवकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा गाई है। उस स्वानुभवके होनेकी पद्धति है स्वका अनुभव होना। अनुभवका अर्थ जानना। जाननेसे और भी अन्तरमें चलें तो कहिए मानना। जानने और माननेकी कलामें भी तो द्वैतभाव रह जाता है—मैं इसे जानता हूं, मैं इसे मानता हूं, जब माननेकी स्थिति और गहरी बन जाती है, अर्थात् जहां यह द्वैत भी नहीं रहता है उस स्थितिको कहते

अनुभवना ! स्वका अनुभवना क्या है ? स्वका जानना ही तो स्वका अनुभवना है। दृढ़तासे निश्चलतासे अभेद विधिसे जाननेका नाम अनुभवना है। स्वका अनुभवना, स्वको किस प्रकार जानें तो बन सकता है। इस निज आत्मतत्त्वको क्या विविध संसारी पर्यायरूप देखते रहें तो स्वका अनुभव हो सकेगा ? क्या उस जाननके साथ इस ज्ञाताके अभेद अनुभवन बन सकेंगे ? अथवा उन व्यञ्जन पर्यायोंको भी छोड़िये, विभाव गुण पर्यायोंरूप अपने आपको जानें तो क्या उनसे स्वका अनुभव हो सकेगा ? अथवा भेदवृत्तिसे जिसने स्वभावपर्यायको भी जाना तो क्या वहाँ स्वके अनुभवकी स्थिति हो सकेगी ?

सहजज्ञानानुभूतिमें स्वानुभूति—स्वको किस प्रकार जानें कि निजका अनुभव हो सके ? अब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें से पिंडरूप द्रव्य विस्तार रूप, क्षेत्र और परिणतिरूप काल—इन तीनोंकी अपेक्षा न रखकर अर्थात् इनका आश्रय न लेकर अभेदमें चलना। हैं तो वे सही, पर उनका आश्रय लेकर अर्थात् उन-उन रूप अपने आत्माको निरखने पर इस ज्ञाताको अभेद वृत्ति नहीं होती है। उस चतुष्टयमें से जीवद्रव्यके लिए भावोंका बड़ा प्रधान स्थान है। वे भाव भेदरूप और अभेदरूप दो प्रकारसे निरखे जाते हैं। भेदरूप भावमें तो शक्तियाँ और गुणदृष्टिमें आते हैं। सो उन शक्तियोंमें से किसी भी शक्तिरूप किसी भी गुण रूपसे आत्मामें निरखनेपर चूंकि भेदवृत्तिसे गुणोंको देख रहा है तो वहाँ जानने वाला यह और जाननेमें आया हुआ यह, यों द्वैत दिखा ना, इस प्रकार अंशअंशीका भेद रहता है। जिस कालमें इससे भी और अन्तरमें उतरकर सर्वगुणोंका प्रतिनिधिस्वरूप असाधारण रूप जो ज्ञायकस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है जिसका कि परिणमन ज्ञातृत्व है, वह ज्ञाता अपने ज्ञातृत्व परिणमनके स्रोतरूप ज्ञानस्वभावके जाननेमें लग जाय तो इस पद्धतिमें जो जानने वाला है वही ज्ञेय बन जाता है और इस ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेयकी अभेदानुभूतिमें इसके स्वानुभव जगता है। इसे सीधे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जो सहज ज्ञानकी अनुभूति है वही आत्माकी अनुभूति है।

स्वरूप परिचय बिना मनचाही कल्पना—जब तक निज ज्ञायकस्वरूपका परिचय और अनुभव नहीं होता है तब तक यह जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके परभावोंमें आत्मरूपका श्रद्धान करता है—यह मैं हूँ। जिसकी समझमें जो अपने निकटमें आया उसे ही आपारूप मानने लगता है। इस पिंडके अन्तरमें अमूर्त चैतन्यस्वभावमात्र चेतनपदार्थ है ऐसा जगतके प्राणियोंको पता नहीं है। जिन्हें पता है उन्हें अंतरात्मा कहते हैं। निजस्वभावका परिचय न होनेसे पद पदमें छोटी-छोटी घटनावोंमें भी यह जीव अपने आपका विश्वास पर्यायमें है, इस मुद्रासे बात करता है। लो यह मैं आया, अजी इसे मैं कर दूँगा, आप क्यों तकलीफ करते हैं ? यह तो सब मेरी लीलामात्रमें हो जायगा। अपनी विभावरूप परिणतियोंमें, कलावोंमें

अहंकार, कर्तृत्व, मोह ये सब बना रहे हैं।

अमूढ़दृष्टित्वका प्रताप—यह सम्यग्दृष्टि जीव एक निज टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध, अनादि सिद्ध अविनाशी ज्ञानस्वभावमें ही अपने आपका श्रद्धान करता है और इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे चाहें स्वमें अनुभवरूप हों, अन्य क्षेत्रमें अन्य रूप हों उन सबमें आपाका श्रद्धान नहीं करता वह पुरुष अमूढ़दृष्टि जानना चाहिए। ऐसे पावन आत्माके बाह्य विषयोंमें मूढ़ता होने रूप भाव कृतबंध नहीं होता है। अथवा पर समयोंमें मूढ़ताकृत बंध नहीं होता है, अथवा संवरका निधान जो संवर स्वरूप है, सुरक्षित दृढ़ दुर्ग है उसके उपयोगमें स्थित है। यह आत्मद्रव्य स्वयं संवर स्वरूप है। इसमें किसी दूसरेका प्रवेश नहीं है। इस बातका इस ज्ञायकस्वभावका जब परिचय होता है तो बाह्य सम्बन्धों में भी वह सम्वृत ही रहता है। इस संवर तत्त्वका वहां विलाश होनेसे परिणामोंमें इतनी निष्पृहता, स्वोन्मुखता और परम्पराङ्मुखता है कि पूर्वबद्ध कर्मोंकी वहाँ निर्जरा ही होती है।

अमूढ़दृष्टिकी मोक्षमार्गमें प्रगति—इस तरह यह अमूढ़दृष्टि अंगका धारी सम्यग्दृष्टि न तो किन्हीं कुदेव, कुगुरुवोंमें मुग्ध होता है, न उनके किसी चमत्कारमें मुग्ध होता है, न अन्य बाह्य विषयोंमें मुग्ध होता है और न अपनेमें उत्पन्न हुए रागादिक परिणामोंमें मुग्ध होता है। वह तो निरन्तर आनन्द झराने वाले शुद्ध चैतन्यस्वभावमें ही अपने आपका श्रद्धान करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अमूढ़दृष्टि है। मोक्षके मार्गमें उसके निरन्तर तीव्र प्रगति होती रहती है।

मूढ़ताका विवरण—अमूढ़दृष्टि अंगमें जो यथार्थ है उसे यथार्थ मान किया जाता है। अयथार्थको यथार्थ मानना मूढ़ता है, इसी प्रकार यथार्थको अयथार्थ मानना मूढ़ता है। जो वस्तुका वास्तविक स्वरूप है उसको मिथ्या समझना भी मूढ़ता है। चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें 'यह मैं हूं' इस प्रकारकी बुद्धि होना भी मूढ़ता है। यद्यपि रागादिक भावोंका कर्ता आत्माको शुद्ध निश्चयनयसे बताया है किन्तु वहाँ जीवके स्वरसतः स्वभावसे रागादिक भावोंको जीव करता है ऐसी दृष्टि नहीं है, पर इस कर्तृत्ववादीकी जो कि रागादिकको करने वाला आत्माको कहते हैं वे स्वभावसे करने वाला मानते हैं, और इनकी दृष्टि में रागादिक कभी छूट नहीं सकते। रागादिकका मंद हो जाना इनके मंतव्यमें बैकुण्ठ है, मोक्ष है, और इसी कारण जब उरा उपशांत रागादिक भावोंकी व्यक्ति होती है तब उसे बैकुण्ठसे आना पड़ता है, फिर संसारमें जन्ममरण लेता है। इस कर्तृत्ववादीकी दृष्टिमें आत्मा कदाचित् सर्वथा सर्वदाके लिए रागरहित हो सकता है, यह दृष्टिमें नहीं है, यह यथार्थको अयथार्थ मानता है और अवास्तविकको वास्तविक माना है, किन्तु ऐसी मूढ़ता जिन अन्तर आत्मावोंमें नहीं है वे अंतरात्मा अपनेको शुद्ध केवल ज्ञायकस्वरूप ही अनु-

भवते है।

नयचक्रकी गहनता——भैया ! नयवादोंका प्रकरण बहुत गहन है। इस नयचक्रके गहन बनमें उलझे हुए मंतव्य कभी अपने सम्मानकी ओर नहीं आ पाते। जीवमें परिणतियाँ होती है, और किन्हींका मंतव्य है कि जीवमें परिणतियाँ नहीं भी होती हैं। ये दो पक्ष सामने हैं, और दृष्टिभेदसे ये दोनों पक्ष सही हैं। जीवमें परिणतियां होती हैं यह देखा जाता है स्वभावसे दूर दृष्टि रखनेपर, और जीवमें परिणतियां होती ही नहीं हैं यह देखा जाता है जीवको स्वभावमें लक्ष्यमें लेनेपर। इन रागादिकोंका करने वाला जीव है तो एक पक्षमें रागादिकोंका करने वाला जीव नहीं है। जीव रागादिकोंका कर्ता है——यह परिज्ञान अद्वैत दृष्टिसे होता है। एक अद्वैत वस्तुको देखते हुए और उसके परिणमनको निरखते हुए में जब यह प्रश्न उठता है कि इन रागादिकोंका कर्ता कौन है, जब उसे अन्य वस्तु दृष्ट नहीं देती है तब अभेद षट्कारकके प्रयोगसे रागादिकका कर्ता जीवको बताता है, और जब जीव के सुरक्षित स्वभावमें कुछ भंग न डालनेका आशय है और रागादिकका कर्ता बताना है तब निमित्तदृष्टिको प्रधान करके उत्तर आता है कि रागादिकोंके करने वाले कर्म हैं।

पर्यायोंके नियतपने व अनियतपनेमें नयविभाग— ये जीवमें रागादिक पर्यायें जब जो होनी होती हैं तब ही होती हैं। यह जीवमें नियत है, बद्ध है ऐसा भी परिज्ञान होता है और जीवमें रागादिक पर्यायें नियत नहीं हैं, बद्ध नहीं हैं, अनियत हैं ऐसा भी परिज्ञात होता है।

पर्यायोंमें नियतपनेकी दृष्टि——जब काललब्धि और सर्वज्ञज्ञानको दृष्टिमें लेते हैं तब वहाँ यह विदित होता है कि जीवमें अदल-बदल करना, पुरुषार्थ करना, किसी भी प्रकार जो कुछ भावीकालमें होगा जीव करेगा वह सब सर्वज्ञके ज्ञानमें विदित है। अथवा अवधि-ज्ञानी जीव भी जान जाता है तो उस समय वह होगा इसमें शक नहीं है। उस ज्ञानकी ओर से देखते हैं तो जगतमें सब कुछ नियत है, अथवा कुछ भी हो कल या परसों, जो कुछ भी होगा उस समयमें वह उस समयमें है, ऐसा कालकी दृष्टिसे देखते हैं तो पर्याय नियत है, बद्ध है, पर वस्तुकी ओरसे जब देखते हैं जो कि वास्तविक दृष्टि है उस वस्तुमें तो प्रत्येक समय एक ही पर्याय बद्ध होती है, तन्मय होती है।

पर्यायोंके समुदायमें द्रव्यपनेकी दृष्टि——हाँ, इस दृष्टिसे कि चूंकि पदार्थ है तो वह किसी भी समयमें परिणमन बिना नहीं रहता। कोई काल ऐसा नहीं आयगा जिस समयमें वस्तुका परिणमन न रहे। अनन्तकाल है, तो अनन्त समयोंमें अनन्त परिणमन हैं हो इस पदार्थके। कोई सा भी परिणमन बीचमें टूटता नहीं है कि वस्तु परिणमता रहे और किसी मिनट परिणमन बंद कर दे, बादमें फिर परिणमने लगे, ऐसी टूट परिणमनपरम्परामें नहीं

है। इस कारण यह कह दिया जाता है कि द्रव्य त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंका पिण्ड है। इस कारण पदार्थोंमें वे सब पर्यायें नियत साबित होती हैं, पर इस दृष्टिसे पर्यायोंका नियतपना सिद्ध नहीं होता। किन्तु परिणमनसामान्य कुछ भी हो, परिणमनशून्य द्रव्य नहीं हुआ करता है। सो उन पर्यायोंका समुदाय द्रव्य है यह बात घोषित होती है।

पर्यायोंके अनियतपने व नियतपनेकी दृष्टि—पदार्थमें तो प्रत्येक समय एक पर्याय बद्ध है, तन्मय है। उस उपादानमें जितनी योग्यताएँ बसी हैं उन योग्यतावोंमेंसे किसी भी योग्यताके अनुकूल जैसा सहज निमित्तका योग होता है यह उपादान अपनी स्वतंत्रतासे अपनेमें परिणमन करता है। इसमें भावी कालमें अमुक पर्याय होगी, ऐसी बद्धता द्रव्यके अन्दर नहीं है। इस दृष्टिसे पदार्थोंमें विभावपरिणमन अनियत है। जो शुद्ध आत्मा हुए हैं उनमें अवश्यंभावी अनन्त पर्यायें नियत हैं, और वे नियत इस कारण हैं कि वे शुद्ध आत्मा हो चुके हैं और आगामी कालमें किसी भी समय अशुद्ध नहीं हो सकते हैं। तो शुद्धका परिणमनका तो तो एकरूप चलता रहता है सो एक रूप ही चला करता है, अपने आप ही वह नियत शुद्ध हो जाता है। यह नयचक्र बहुत गहन है, इसमें प्रत्येक तत्त्व स्याद्वादकी दृष्टिसे सुलझता है।

अनुभवकी निर्विकल्पता—हाँ अनुभव अवश्य ऐसा है कि उसमें स्याद्वादका प्रयोग नहीं होता है क्योंकि अनुभव एक अभेद अवस्था है। वहाँ किसी भी नय-विकल्पका अवकाश नहीं है। और नय-विकल्पका ही अवकाश नहीं है ऐसा नहीं है किन्तु प्रमाण, निक्षेप और-और भी उपाय जो वस्तुके परिज्ञानके हैं उन सबका भी प्रयोग अनुभवदशामें नहीं होता है।

अमूढ़ सुदृष्टिका प्रताप—भैया ऐसे अलौकिक स्वानुभवको प्राप्त कर चुकने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष किन्हीं पदार्थोंमें कैसे मोहको प्राप्त हो सकता है? जैसे किसी घटनासे पूर्ण परिचित है ऐसा मनुष्य किसी भी वाद सम्वादमें भी च्युत नहीं हो सकता है, और जो घटनासे अपरिचित है, किसीकी सिखाई हुई बातें वह बोलता है तो किसी भी प्रकरणमें उसे च्युत कर दिया जा सकता है। यह चैतन्यस्वभावका रुचिया ज्ञानस्वभावसे उत्पन्न हुए आनन्दको भोगने वाला सम्यग्दृष्टि मूढ़दृष्टिकृत बंधको नहीं प्राप्त होता, किन्तु किसी पदार्थमें मोह नहीं है, अज्ञान नहीं है, यथार्थ-यथार्थ ज्ञाता है इस कारण निर्जरा ही होती है। इस प्रकार अमूढ़ दृष्टि अंगका वर्णन करके उपगूहन अंगका वर्णन करते हैं।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

उपगूहन अंगके लक्षणमें यह बात बतलाते हैं कि जो सिद्धभक्ति करके सहित सर्व धर्मोंका उपगहक है उसे उपगूहक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

सिद्ध और सिद्धभक्ति—सिद्ध शब्दसे दो विषयोंमें लक्ष्य पहुंचता है। एक तो जो

अष्टकर्मोसे रहित अनन्त ज्ञानादिक गुणोंकर सहित निर्लेप सिद्ध परमात्मा है वह सिद्ध कहलाता है। और इस आत्माका जो सहज स्वरूप है चूंकि वह असिद्ध नही है, परत: सिद्ध नहीं है, किन्तु अपने ही सत्त्वके कारण परिपूर्ण केवल अंत:प्रकाशमान अनादि अनन्त अविनाशी है वह भी सिद्धस्वरूप कहलाता है। इसके परिणमनकी ओर दृष्टि दें तब यह सिद्धस्वरूप लक्ष्यमें नहीं रहता। जो निश्चयसे इस ध्रुव परमपारिणामिक भावमय चैतन्यस्वभाव की भावनारूप वास्तविक सिद्ध भक्तिको करता है वह जीव मिथ्यात्व रागादिक विभाव धर्मो का उपगूहक है, प्रच्छादन करने वाला है, अर्थात् विनाश करने वाला है, उसे उपगूहक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

व्यवहार उपगूहनका तात्पर्य——भैया! उपगूहन अंगका साधारणतया यह अर्थ किया जाता है कि धर्मी पुरुषोंके दोषोंको प्रकट न करना। प्रकट न करना——इसका अर्थ यह है कि उनके दोषोंको दूर करना, नष्ट करना। धर्म धारण करने वाला भी कोई किञ्चित् दोषी होता है, पर इसका भाव यह नहीं है कि धर्मीमें दोष हैं तो उन्हें ढके जावो और बने रहने दो और मानते जावो——यह उसका भाव नही है। उपगूहकका अर्थ है दोषोंका विनाश करने वाला। हाँ उसमें यह कर्तव्य आ जाता है कि जनतामे धर्मात्मावोंके दोषोंको प्रकट न करें, क्योंकि उससे धर्मपर लांक्षन आता है और लोग यह कह सकेंगे कि इस धर्म वाले तो ऐसे दोषी होते है। तो इस उपायने उस धर्मात्मा पुरुषके दोषोंको नहीं ढका किन्तु धर्ममें दोष न लग पायें, दुनियाकी दृष्टिमें धर्म दोषयुक्त न कहलाये, इस बातपर यत्न किया है उस सम्यग्दृष्टि जीवने।

ज्ञानीका गुणविनय——सम्यग्दृष्टि जीव व्यक्तिगत रूपमें तो उसका महत्त्व नहीं देता। किसी भी व्यक्तिको ज्ञानी पूजता है तो व्यक्तिके नाते नहीं पूजता, किन्तु धर्मके नाते पूजता है। पंचपरमेष्ठी है अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें किस व्यक्तिको पूजें? किसीका नाम देखा नहीं है। नाम लेकर भी जो वंदन करते है भरतका, बाहुबलिका, ऋषभदेवका, महावीर स्वामीका, रामचन्द्र जी का——जितने भी सिद्ध हुए है उनका नाम लेकर जो विनय करते है वह व्यवहारदृष्टिसे है। नामकी मुख्यता लेकरके वह विनय नही है किन्तु अनन्त गुण सम्पन्न आत्माके शुद्ध विकासको दृष्टिमें लेकर वंदन करें तो वह वंदन और विनय है।

भगवंत अरहंत——अरहंत सिद्ध उसे कहते है जो पूज्य हो। जिसने चार धातिया कर्मरूपी शत्रुवोंको नष्ट कर दिया हो, रागादिक विभावोंसे जो सदाके लिए मुक्त हो गया है किन्तु जब तक उसके घातिया कर्मोके सहायक अघातिया कर्मोका उदय है तब तक वह अरहंत प्रभु कहलाता है। अघातिया कर्म जीवके गुणोंका घात नहीं करते, किन्तु जितने काल

तक जीवके गुणोंका घात करने वाले घातिया कर्म रहते है उतने काल तक उन घातिया कर्मोको उतने घातके काममें सहायक होता है। सो घातिया कर्म जब नहीं रहे तब अघातिया कर्म इस जीवके गुणघातमें सहायक तो नहीं किन्तु पूर्वबद्ध कर्म हैं तब तक उनकी स्थिति है, वे कर्म रहते हैं। जब तक अघातिया कर्म हैं और घातिया कर्म तो हैं ही नहीं तब तक उन्हें अरहंत कहते है। हमारे देव अरहंत हैं। इसमें किसी नामका पक्ष नहीं है। केवल शुद्ध विकासका पक्ष है जैन सिद्धान्तमें। किन्तु इस लक्ष्यकी जब मुख्यता हमारी व्यवहारिकतामें न रही तो अन्य मंतव्यों--जैसे नामकी मुख्यता रखकर अपना पराया जो बनाया है, इस विधिमें लोग कुछ जुगुप्साकी दृष्टिसे या अनमेलकी दृष्टिसे निरखने लगे हैं। सो यह विवाद तो संसारमें अनादिसे ही चला आया है।

ज्ञानी की स्वरूपपूजा—जैन सिद्धांतमें स्वरूपकी पूजा है, गुणोंकी पुजा है, किसी व्यक्तिकी पूजा नहीं है। भगवान ऋषभदेव मरूदेवीके नन्दन थे, नाभिके नन्दन थे, इस कारण वे बड़े हैं ऐसा जैन सिद्धान्त नहीं मानता। महावीर प्रभु सिद्धार्थके नन्दन थे इस कारण हम उन्हें नहीं मानते हैं किन्तु उस भवमें स्थित आत्माने ऐसे स्वभावका आश्रय, आलम्बन ध्यान किया कि जिसके प्रतापसे चारघातिया कर्म नष्ट हुए और अघातिया नष्ट हुए, आत्मा सिद्ध हो गया। इस कारणसे मानते हैं। तो जिस कारणसे मानते हैं उस कारणमें नाम नहीं लगा है। नामके कारण हम किसीको नहीं मानते हैं। यह तो गुणोंकी पूजा है, शुद्ध विकासकी पूजा है।

दोषके उपगूहनका कारण—भैया ! जिसे स्वभावदृष्टिकी रुचि है वह उसमें भंग नहीं चाहता। जिसको जिसमें रुचि है वह उसमें लांछन नहीं लगाने देता। किसी धर्मात्मा के दोष प्रकट न करने से कहीं यह बात नहीं है कि उस नाम वाले धर्मात्मासे उस साधर्मी को प्रेम है इसलिए वह दोषोंको प्रकट नहीं करता, किन्तु रत्नत्रयरूप धर्ममें उसे प्रेम है इसलिए वह दोष प्रकट नहीं करता। लोग यह ग्रहण करेंगे कि इस धर्ममें तो ऐसा ही हुआ करता है। यह काहेका धर्म है ? ऐसे धर्मकी निन्दा, धर्मका लांच्छन लगा इस कारण उस धर्मात्माको दोष न लगने दें। और फिर जीवोंकी दृष्टि दोष ग्रहण करनेकी है। हुआ दोष तो ग्रहण करे, न हुआ दोष तो भी चूँकि दोषमय जगत है, तो इस कारण न किया हुआ दोष भी दोषरूपमें उपस्थित करनेकी आदत बनी हुई है, ऐसी स्थितिमें विवेकी पुरुष किसी भी धर्मात्माके दोष प्रकट करनेकी भावना नहीं करता।

उपगूहनका तात्पर्य--उपगूहनका अर्थ ढाकना नहीं है किन्तु उपगूहनका अर्थ जनता के उपयोगके मैदानसे उन दोषोंको दूर किए रहना है। ऐसे जो जीव धर्मरुचिक हैं, धर्मात्मावोंके धर्मके, सर्व धर्मोके उपगूहक है अर्थात् निन्दा दोषोंके उपगूहक हैं वे उपगूहन अंग

वाले है। केवल निश्चयदृष्टिमें चलें तो जीवमें उत्पन्न होने वाले जो मिथ्यात्व रागादिक दोष हैं विभावरूप धर्म हैं, उन धर्मोंका वह प्रच्छादन करता है, हटाता है। प्रभुकी ज्ञानभूमिसे उन दोषोंको हटाता है वही वास्तविक उपगूहन अंग वाला सम्यग्दृष्टि है।

उपबृंहणका तात्पर्य—अथवा इसका दूसरा नाम है उपबृंहक। चूँकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभावमय है इस कारण समस्त आत्मशक्तियोंका वर्द्धनशील होनेसे यह सम्यग्दृष्टि जीव उपबृंहक है, इसमें अपनी आत्मशक्तिकी दुर्बलता नहीं है, साहस है इसमें। कितने ही कर्मोंका तीव्र उदय आये, सब परिस्थितियोंमें इसके यह साहस बना हुआ है कि यह अपनी आत्मशक्तिका वर्द्धन करे, अतः आत्मशक्तिक उपबृंहण करने वाला यह ज्ञानी है।

ज्ञानीकी उपगूहनता और उपबृंहणताका फल—यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्माके दोषोंका विनाशक है; प्रच्छापक है, यह सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व रागादिक विभावोंका विनाशक है, यह सम्यग्दृष्टि अपनी शक्तियोंका उपबृंहक है, प्रगतिमें अपने आपको ले जाने वाला है, इस कारण इसके उपगूहन रूप असावधानीकृत बंध नहीं होता अथवा अपनी शक्तिकी दुर्बलतासे होने वाला बंध इस सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता, जब न अनुपगूहनका दोष रहा, न दुर्बलताका दोष रहा तो कर्मोंकी निर्जरा ही इसके उस गुणके कारण होती है। किसी भी संकटमें बंधनमें यह जीव पड़ा हो उसके बंधन और संकट मिटनेके उपाय चाहे व्यवहारमें नाना हों, पर उन सब व्यवहारोंका प्रयोजनभूत पारमार्थिक उपाय केवल एक ही है, वह है शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहना।

ज्ञाता रहनेका विधि और निषेधरूपमें वर्णन—शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थितिमें विधि और निषेधके ये दो कार्य चलते है। विधिके कार्यमें निज ज्ञायकस्वभावका निर्दोष परिणमन है और निषेधरूप कार्यमें रागादिक दोषोंका निवारण है, उपाय एक है, उस उपायको जब विधि रूपसे कहते हैं तो यह कहना चाहिए कि निज ज्ञायकस्वभावका दर्शन, अवलोकन, विश्वास, प्रत्यय, अवगम और उसीमें रत रहना—ये उपाय है संकटोंसे मुक्त होनेके और जब निषेधरूपसे वर्णन करेंगे तब यह कहा जायगा कि मोह न करना, रागद्वेष न करना, विषय कषायोंमें न पड़ना—ये सब उपाय हैं संकटोंसे दूर होनेके। ये भी उपबृंहण और उपगूहनके रूपमें विधि निषेधरूप दो प्रकारसे बताये गये हैं।

ज्ञानीका उपगूहन अंगमें कर्तव्य—इस सम्यग्दृष्टि जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे होने वाला बंध नहीं है किन्तु अपनी शक्तिकी संभालके कारण और किसी परदृष्टिमें न उलझने के कारण पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। उपगूहनका अर्थ है छिपाना। तो निश्चयकी प्रधानतामें इसका अर्थ यह हो गया कि अपने उपयोगको परमार्थ सिद्धस्वरूप

चैतन्य भावमें उपयोग लगावो और इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व रागादिक जो भाव हैं उनका उपगूहन करें और व्यवहारमें यह अर्थ है कि अपने मनकी प्रगतिमें शक्ति बढ़ाएं और धर्मात्मा जनोंके दोषोंको जनतामें प्रकट न करें सो यह उपगूहन अंग है। यह अंग सम्यग्दर्शन का उन मुख्य अंगोंमें से एक अंग है।

उपगूहन अंगके पालक जिनेन्द्रभक्त सेठ—उपगूहन अंगमें जिनेन्द्रभक्त सेठ प्रसिद्ध हुए हैं, उनकी ऐसी कथा है कि महलमें एक विशाल चैत्यालय बना हुआ था। वहाँ किसी चालाक आदमीने देख लिया कि इस चैत्यालयमें एक मणि जड़ित छत्र है, तो सोचा कि इसको चुराया कैसे जाय? सोचते-सोचते एक युक्ति ऐसी आयी कि ब्रह्मचारी या क्षुल्लक बन जायें, कुछ दिनों तक यहाँ रहें, जब इनको विश्वास हो जाय तो किसी समय अवसर मिल सकता है कि इसको चुरा ले जायें। सो वह बन गया क्षुल्लक, मंदिरमें रहने लगा। बहुत दिनोंके बाद जब जिनेन्द्रभक्तको कहीं बाहर जाना था तो सब कामकाज चाभी क्षुल्लक जीके सुपुर्द कर दिया और चल दिया। इसने यह देखा कि अब अवसर है उसे तो वह कीमती छत्र चुराना था, उसे चुराया और रात्रिको वहाँसे चल दिया। वह तो जा रहा था और उस चमकते हुए छत्रको देखकर कोतवालने पीछा किया और उसे पकड़ भी लिया। इतनेमें सामनेसे जिनेन्द्रभक्त भी आ रहे थे। जब मामला उन्होंने जाना तो जिनेन्द्रभक्त कहता है कि यह तो हमींने बुलाया था। यद्यपि बात ऐसी नहीं है किन्तु आशय तो देखो कि जिसमें यह बात बसी हुई है कि धर्ममें लांछन न लगे। कोई लोग यह न जानें कि जिनधर्मके धारण करने वाले पुरुष ऐसे हुआ करते हैं। केवल धर्मके लांक्षनको उपगूहित करनेके लिए उन्होंने यह किया। उसके आशयमें कहीं उस व्यक्तिसे अनुराग न था कि उसे बचाना है। केवल लोकमें धर्मको लांछन न लगे, इस आशयसे किया था।

स्वरूपके रुचियोंका स्वरूपको अलाञ्छित रखनेका प्रयत्न—भैया! उपगूहन अंगमें यह आशय रहता है कि लोगोंकी दृष्टिमें यह धर्म मलिन न समझा जाय। ऐसे इस संसार संकटसे सदाके लिए मुक्त करा सकने वाले धर्मकी भक्तिमें जो ज्ञानी पुरुष रहे है वे धर्मके स्वरूपमें लांछन नहीं सह सकते। और परमार्थसे जो शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र निज परमात्म-प्रभु है उस प्रभुके गुणोंका रुचिया ज्ञानी पुरुष अपने आपकी भूमिकामें उत्पन्न होने वाले विभाव लांछनोंको नहीं सह सकता। जैसे व्यवहारमें ज्ञानी पुरुष धर्मके लांछनोंको दूर करता है इसी प्रकार निश्चयसे अपने आपके आत्मामें से विभावरूप लांछनोंको दूर करता है और इन दोषोंको दूर करनेका स्वभाव इस आत्मामें है।

सम्यग्दृष्टिकी उपबृंहकता—इस उपगूहक सम्यग्दृष्टिके ऐसा उत्साह बना रहता है। समस्त आत्मशक्तियोंको बढ़ानेका स्वभाव रखनेसे और विकासका यत्न करनेसे इस सम्य-

ष्टिका नाम उपवृंहक भी है। इस जीवके शक्तिकी दुर्बलतासे होने वाला बंध नहीं होता है किन्तु निर्जरा ही होती है, इस प्रकार उपगूहन अंगका वर्णन करके अब स्थितिकरण अंगका वर्णन किया जा रहा है।

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेहि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

उन्मार्गमें जाते हुए अपने आत्माको भी जो सन्मार्गमें स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितिकरण गुण सहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

ज्ञानीके स्थितिकारिता--जिसे अपने आत्माके सत्य स्वभावका परिचय होता है ऐसा पुरुष निष्छल होकर अपने आपको और दूसरे प्राणियोंको मार्गमें स्थित बनानेका यत्न करता है। कोई पुरुष तनके दुःखोंसे ऊबकर धर्मको छोड़कर उन्मार्गमें जाता हो तो उसके दुःख मिटानेका और धर्ममार्गमें लगानेका ज्ञानी, सधर्मी बड़ा प्रयत्न करता है। इस ज्ञानीके लिए जगतके सब जीव एक समान हैं, और जिन जीवोंके धर्मकी ओर प्रेम है, मोक्षके लिए यत्न है, मोह रागद्वेष परिणामको दूर रखनेका यत्न करते हैं ऐसे ज्ञानी जीवोंकी इस ओर प्रीति बढ़ती है। कदाचित् वे दुःखी होकर धर्ममार्गको छोड़कर कुमार्गमें जाने लगें तो ज्ञानी संत उनको धर्ममार्गमें स्थापित करता है। कोई मानसिक दुःखोंसे दुःखी होकर धर्ममार्गको छोड़कर उन्मार्गमें जाने वाला हो तो उसे धर्ममार्गमें स्थित करता है। गरीबी आदिके कारण परेशान होकर जो धर्ममार्गको छोड़कर उन्मार्गमें जाने लगता है उसको धर्ममें स्थिर करता है। ऐसे उन्मार्गमें जाते हुए अन्य पुरुषोंको धर्ममार्गमें स्थित करनेका इस ज्ञानी पुरुषके उत्साह है।

उन्मार्गगामियोंका कर्तव्य आत्मसावधानी—निश्चयसे उन्मार्गमें जाते हुए अपने आपको धर्ममार्गमें स्थित करनेकी इस ज्ञानीमें अलौकिक कला है। उन्मार्गमें जाने वाले इन अनेक कुमार्गियोंमें इतना महान् अन्तर है कि कोई पुरुष तो ऐसा होता है कि उन्मार्गमें जा रहा हो तो भी ध्यान रहता है कि यह खोटा मार्ग है और सच्चे मार्गकी खबर रहती है, किन्तु अनेक जीव तो ऐसे पड़े हुए हैं कि खोटे मार्गमें लग रहे हैं और बुद्धिमानी समझ रहे हैं, उससे विमुख रहनेका ध्यान नहीं होता। यह उन्मार्ग, खोटा मार्ग, विषय कषायोंका मार्ग कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्मकी प्रीति व सेवा करनेका मार्ग इस जीवको भव-भवमें क्लेशका कारण है। अज्ञानी ही धर्ममार्गसे च्युत होकर कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें लगता है। कर्मोंका उदय विचित्र होता है। उनका निमित्त पाकर यह जीव करता तो है स्वयंकी परिणतिसे ही विकार, किन्तु वे विकार भी विचित्र होते हैं। कैसी धुनि बन जाय, किस ओर दृष्टि लग जाय?

परमार्थ और व्यवहार स्थितिकरण—सो भैया ! मैं इन विषयकषायोंसे दूर हटूं।

और अपने आपकी ओर अभिमुख होने लगूं ऐसे अपने आपमें अनेक विवेकपूर्ण यत्न करके आत्मस्वभावकी दृष्टिका बल बढ़ाकर उन विषयकषायोंसे अपनेको अलग रखनेका यत्न करना चाहिये। इस आत्माको इस आत्माके स्वभावके ज्ञान विकासमें लगाना और ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी स्थिति बनाए रहना यही वास्तविक स्थितिकरण है। और व्यवहारमें ऐसे साधन बना देना जिन साधनोंमें रहकर कुछ निश्चिंत रहकर यह जीव अपनी बुद्धिको सही रखे और धर्ममें स्थिर गति करे — वह है व्यवहारका स्थितिकरण। जो जीव उन्मार्गमें जाता हुआ खुदको धर्ममार्गमें स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अंगका पालक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

उन्मार्ग और सन्मार्ग—उन्मार्ग है मिथ्यात्व रागादिक विभाव और सन्मार्ग है निज शुद्ध सहज स्वभावकी दृष्टि। निज सहज शुद्धस्वभाव क्या है? ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप शुद्धका अर्थ है कि जो सत् आत्मा है उस आत्माके ही नाते उस सत्त्वके ही कारण आत्मामें जो कुछ भाव होता है उसे कहते हैं सहज शुद्ध स्वभाव। अपनेसे भिन्न परका नाम सहज भाव नहीं है। परके गुणपर्यायका नाम सहज भाव नहीं है और परका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए विकारपरिणामोंका नाम सहजभाव नहीं है, किन्तु अपने ही स्वभावसे अपने ही सत्त्वके कारण केवल जो अपनेमें भाव है उसका नाम सहजभाव है। यह इसकी दृष्टि, इसका आलम्बन इसकी ओर झुकाव यही सन्मार्ग है।

संकटोंसे छुटकारा पानेका उपाय सन्मार्गका आश्रय—जीव संकटोंसे छूट सकता है तो सन्मार्गका आश्रय करके ही छूट सकता है। वैसे भी कुछ कुछ अनुमान किया जाय, अंदाज किया जाय तो जब यह विकल्पोंसे दूर बाहरी पदार्थोंकी दृष्टि और स्मरणसे विराम लेता है और अपने आपमें एक निर्विकल्प स्थिति सो पाता है उस समयमें यह शून्य नहीं रहता। आत्माका ज्ञान सद्भूत गुण है। वह परिणमनशून्य कभी नहीं रह सकता। तो उस समय ज्ञानका एक ज्ञानको ही जाननेमें एक साधारण सामान्य परिणमन चल रहा है, उस समय जो इसे निराकुलता मिलती है वह निराकुलता किन्हीं भी बाह्य पदार्थोंके प्रसंगमें नहीं मिल सकती। वास्तविक स्थितिकरण है रागादिक उन्मार्गोंसे हटाकर शुद्ध ज्ञानस्वभावके आश्रयको लेना और अभिमुख रहना, यही है परमार्थसे स्थितिकरण।

मोहियोंका लौकिक स्थितिकरणका यत्न—अहो! लोकमें जीवोंने अपनी ही स्थिति मजबूत बनानेके लिए बहुत-बहुत काम किए। बहुत अच्छी आर्थिक स्थिति बना लें जिससे कभी क्लेश न आएँ, ऐसें ही कितने ही मकान खड़े कर लें जिनका इतना भरपूर किराया आए कि किसी भी प्रकारके मौजमें अथवा लोगोंके उपकारमें भी लगानेमें कमी न आ सकेगी। शरीरकी स्थिति, धनकी स्थिति, वैभवकी स्थिति मजबूत बनानेका इस जीवने यत्न

किया सो वैभवकी ओर ही दृष्टि होनेसे इस जीवने अपने आपमें क्या लाभ लिया ? लाभको देखा जाय तो स्वयं ही वह अस्थितिमें हो गया है, बुरी परिस्थितिमें आ गया है। मन कमजोर हो गया, आत्मबल घट गया। अचानक कोई विपत्ति आए तो उसमें अधीर हो जायगा।

अस्थितिका परभवमें फल—अंतमें पर्यायव्यामोही जीवने जैसा जीवनभर भाव बनाया उससे उपार्जित जो कर्मबंध है उसके विपाककालमें मरणके बाद तो एकदम सही फैसला हो जाता है। यहाँ धनके कुछ प्रतापसे दान देकर या कोई बड़े-बड़े उत्सव समारोह आदि मना कर अपने भावोंमें जो कमजोर भाव हुए उनको छिपाया जा सकता है, किन्तु मरणके बाद अब क्या छिपायेंगे ? एक-दो तीन समयोंमें ही यह ऐसे शरीर धारण कर लेगा जैसा कि इसका परिणाम हुआ होगा। कीड़ा बन जाय, पशुपक्षी बन जाय, पेड़ पौधा बन जाय अब क्या करेगा ? अभी तो करोड़पति थे, बड़ी पोजीशनके थे, बड़ा प्रताप छाया था, लोग हाजिरीमें बने रहा करते थे। अब एकदम क्या हो गया ? यदि अपने आपकी परमार्थ स्थिति का ध्यान नहीं हो और इस मनुष्यजन्मको पाकर भी न ऊँचे समागममें रह सके, न ऊँचे पदमें रह सके तो वह गिरनेका ही काम करेगा।

ज्ञानीका पुरुषार्थ—अपने आपके रागादिक भ्रम विकल्पोंको दूर करके अपने आपको शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूपमें स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है। न कुछ सोचे बाहरी बातें, न कुछ देखे शरीर आदिक बाहरी प्रसंग। मन, वचन, कायको स्थिर करके उनका भी उपयोग दूर करके क्षणिक विश्रामसे स्थित होकर जो अपने आपमें एक ज्ञानविकास नजर आता है, जाननमें आता है उस विकासरूप अपने आपको बनाए रहना, यही वास्तविक स्थितिकरण है। यह जीव इन रागादिक उन्मार्गोंसे उठते हुए अपने आत्माको परमयोगके अभ्यासके बलसे शिवमार्गमें स्थापित करता है।

परमयोग—वह परमयोग क्या है ? यद्यपि व्यवहारसे इस ध्यानके सहायक नाना प्रकारके ध्यान बताए गए है, अन्य धारणाएँ बतायी गई है। उन प्राणायाम प्रत्याहार आदि उपायों द्वारा चित्तको स्थिर करनेका विधान बताया है। बहुत सीधी सरल स्थिर मुद्रासे पद्मासनसे बैठकर एक अपने आपके हृदयस्थान नाभिस्थानपर अष्टदल कमलदलका विचार करके उनके जाप करनेका या कुछ सोचनेका या इस ज्ञानस्वरूपको केन्द्रित करनेका उपाय करके एक जगह ठहराया। मायने नाभि कमलमें और ऐसा विचार बना कि इस ज्ञानदृष्टि रूप अग्निकणमें ऐसा प्रताप प्रकट हुआ है कि ये कर्म ध्वस्त होते रहते है। ऊपरके कर्मका औधा कमल ध्वस्त हुआ, इस तरह अनेक प्रकारकी योग स्थितियाँ की गई, किन्तु उन योग स्थितियोंका प्रयोजन है निज शुद्ध सहज चैतन्यस्वभावकी दृष्टि, अर्थात् बाह्य विकल्प छोड़

कर निर्विकल्प स्थितिमें जो ज्ञानको न पकड़ सकने वाला विकास होता है अर्थात् विकल्प न किया जा सकने वाला विकास जो मेरे ग्रहणमें तो है किन्तु न अभी ग्रहण विकल्पमें है और न पीछे वह ग्रहण किया जा सकता है, ऐसे शुद्ध ज्ञानविकासकी स्थितिमें बने रहना यही समस्त योग अभ्यासोंका उद्देश्य है। तो परम योग है इसी शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी अभेद उपासना।

शिवमार्ग—इस परमयोगके अभ्यासके बलसे जो अपने आपको शिवमार्गमें स्थापित करता है वह स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि है। वह शिवमार्ग क्या है? निज शुद्ध आत्माको भावना करना। भावनामें और ज्ञानमें याने साधारणतया जाननेमें यह अन्तर है कि साधारण जाननेमें तो जैसा जान गए तिसरूप अपनेको कुछ बनानेका यत्न न होना, वह तो एक साधारण विज्ञान है। और इस ज्ञानकी भावनाका अर्थ यह है कि जिस ज्ञानका सहज स्वरूप है उस प्रकार ज्ञानमें लगना और उस तरह अनुभवन करना, तन्मात्र अपने आपका परिणमन करना ऐसा जो यत्न है उसे भावना कहते हैं। ऐसे निज शुद्ध आत्माकी भावनाका नाम है शिवमार्ग। ऐसे कल्याणमार्गमें जो अपमें आपको निश्चल स्थापित करता है उस सम्यग्दृष्टिको स्थितिकरण युक्त समझना चाहिए।

अपना ठिकाना न मिलना ही क्लेश—भैया! जीवको और क्लेश क्या है? ठिकाना न रह पाना। यह निजमें अस्थित जीव बाहर जहाँ-तहाँ अपने साधन ढूँढ़ता है, विश्राम करता है वह परमार्थसे विश्रामोंका साधन तो है नहीं। वहाँ तो यह लग ही नहीं सकता। कल्पनामें मानता है, सो वे विनाशीक पदार्थ जब नष्ट होते हैं तब इसे क्लेश होता है। कोई पुरुष जीवनभर साधारण धनमें गरीबी मानकर दुःखी होने लगे और कोई पुरुष खूब धन कमाकर अपने जीवनभर धनी होनेके गौरवका मौज ले तो इसने तो कई वर्षों तक थोड़ा-थोड़ा करके दुःख भोगा है पर उस बाह्यदृष्टिमें धनके मौजमें चाहे जीवनभर दुःख न भोगा हो, पर अंतमें जब वियोग होता है तो मानो सारे जीवनके सुखके एवजमें एकत्रित होकर एकदम दुःख टूट पड़ता है, वह विकल्पोंमें बड़े संक्लेश करता है। तो किस पदार्थका संयोग हमें ठिकाने रख सकता है? जिस पदार्थकी शरणमें जावो वहाँसे उस पदार्थकी ओरसे फुटबालकी तरह ठोकर मिलती है।

अस्थित पुरुषकी फुटबालकी तरह अशरणता—जैसे फुटबाल जिसके पास पहुंचता है वह उसको रखनेके लिए नहीं ग्रहण करता है बल्कि आते ही झट लात मार दिया, हाथ मार दिया। जैसे ही फुटबाल उस बालकके पास पहुंचा वैसे ही उससे ऐसा उत्तर मिलता है कि क्षणभरको भी उसके पास नहीं ठहर पाता है, उसे यत्र तत्र डोलना ही पड़ता है। इसी तरह रागादिक भावोंकी हवासे भरा हुआ यत्र तत्र ठौर ठिकाने डोलता हुआ यह जीव जिस

पदार्थकी शरणमें जाता है अर्थात् यह अपने उपयोगमें जिस पदार्थको सहाय मानता है जिसे
रखता है, जिसके पास ठहरता है, उस पदार्थकी ओरसे तुरन्त ही और तुरन्त तो क्या पहिले
से ही उत्तर बना हुआ था, जवाब मिल जाता है। उस पदार्थमें कोई परिणति, कोई आत्म-
स्थितिकी बात उत्पन्न नहीं होती है। वैसी ही कल्पनासे वैसे ही पदार्थोंके निकट ठहरकर
मौज मानते रहें, वह हमारे कल्पनाकी बात है किन्तु किसी पदार्थने मुझे आश्रय नहीं दिया,
मुझे शरण नहीं दिया, मेरा सुधार नहीं किया।

मेरे ठिकानेका आश्रय—परपदार्थ मेरा कुछ कैसे करें ? प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने
चतुष्टयमें सत् है। अपने द्रव्यमें हैं, अपने प्रदेशोंमें हैं, अपनी ही उस भूमिमें, प्रदेशोंमें अपना
परिणमन करने वाले हैं, अपने ही गुणोंमें तन्मय हैं। तो वे पदार्थ अपनेसे बाहर क्या कर
सकते हैं। कहीं वे दूसरोंसे ग्लानि करके खुदगर्जीमें नहीं बैठते हैं किन्तु वस्तुका स्वरूप ही
ऐसा है कि वे हैं और अपनेमें परिणमते रहते हैं। ये दो उन पदार्थोंकी खास बातें हैं। ऐसा
ही सब पदार्थोंमें है। तो मैं किस पदार्थके निकट पहुंचूं, किसको अपने उपयोगमें बसाऊँ कि
मेरा स्थितिकरण बना रहे, स्थिरता बनी रहे। ऐसा बाहरमें कुछ भी नहीं है कि जिसको
उपयोगमें बसानेसे कुछ ठीक ठिकाने रह सकें। वह तो तत्त्व है खुदका ही सहज स्वरूप।
अर्थात् अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण स्वयं जो कुछ यह है उसको जान लें, समझ ले
और उसकी समझपर ही बना रहे तो इसको ठिकाना मिलता है। अन्यथा तो कहीं भी
ठिकाना नहीं है।

बाह्यमें ठिकानेका अभाव— भैया ! बाहरमें कैसी भी स्थिति आ जाय, बड़ा राज्यपाट
भी मिल जाय मगर यह उपयोग ठिकाने तो नहीं रहता। बड़ी सम्पदा मिल जाय तो
भी ठिकाना तो नहीं रहता है। दूसरा पुरुष जब विह्वल होता है और अपने ठिकाने नहीं
रह पाता है, अट्टसट्ट अधीरताकी बातें किया करता है तब इसको बड़ी जल्दी विदित हो
जाता है कि देखो कैसा यह अधीर हो रहा है, अटपट बातें बोलता है। इसका चित्त ही
ठिकाने नहीं है। ऐसे ही हम जितने काम करते हैं वे सब अट्टसट्ट करते हैं। यह बाहरमें
क्या करेगा ? अशुद्ध निश्चयसे तो यह अपने विभावपरिणाम करता है, वह भी प्रतिकूल
है, आत्माके स्वभावके अनुकूल, निराकुलताके अनुकूल कार्य नहीं है। इसी कारण व्यवहारमें
ऐसी परिणतियां हो जाती हैं जिनमें यह सारा जग घूम रहा है, चल रहा है, विचर रहा
है, ऐसी वृत्तियां हो जाती हैं जिनमें ठीक ठिकाने यह जीव नहीं रहता है।

अपने ठिकाने स्थित हुए जीवके बन्धका अभाव—जो जीव रागादिक रूप उन्मार्ग
को छोड़कर शुद्ध ज्ञानस्वभावकी भावनारूप सन्मार्गमें अपने आपको स्थापित करता है वही
स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि पुरुष है। इसके अब अस्थितिकरण नहीं रहा, ठौर ठिकाना

भटकना नहीं रहा, इस कारण ठौर टिकाना भटकने रूप होनेवाला जो बंध था वह बंध नहीं होता है— किन्तु अपने आपकी टिकाना स्थिर रहनेसे, अपने आपके स्वभावका आश्रय करनेसे इसके पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा ही होती है, इस प्रकार परमार्थसे जो जीव अपने आपको स्थित करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरणयुक्त जानना चाहिए।

पुष्पडालकी स्थितिकरणके लिये वारिषेणका यत्न—स्थितिकरण अंगमें वारिसेण मुनि प्रसिद्ध हुए हैं। वारिसेण मुनिके आहार करानेके बाद उनके मित्र पुष्पडाल बहुत दूर तक पहुंचाने गए। उन्होंने कितना ही चाहा कि ये मुनिराज मुझे पीछे लौट जानेको कहें किन्तु उनके तो मित्रके उद्धारका भाव था, सो पीछे लौट जानेको नहीं कहा। तब पुष्पडाल का भी कुछ चित्त बदला और मुनि हो गए। मुनि तो हो गए, पर उनको स्त्रीका ख्याल सताने लगा। यद्यपि वह स्त्री कानी थी, कोई प्रियवादिनी भी न थी, किन्तु मोह तो है, तब वारिसेणने उनके अस्थिरचित्तपनाको कैसे मिटाया कि स्वयं उन्होंने माँ को खबर भेजा कि आज हम आयेंगे और सब रानियोंको श्रृङ्गार करके तैयार रखना। माँ ने पहिले तो विकल्प किया कि ऐसी कुबुद्धि क्यों अभी, फिर सोचा कि होगा कोई रहस्य। खैर, वे दोनों आये। उस समय पुष्पडाल इस वैभवको देखकर बड़े विरक्त हुए और उनका शल्य छूट गया। सोचा कि ये वारिसेण तो इतने विशाल वैभवको छोड़कर साधु हुए हैं, हमें एक ही स्त्रीका शल्य क्यों हो? यह है स्थितिकरण।

व्यवहारस्थितिकरणसे अन्तःस्थितिका सहयोग—जिसके पास जो सामर्थ्य है उसके बलसे कुपथमें गिरनेके उन्मुख हुए पुरुषोंको धर्मात्मा पुरुष स्थिर करते हैं। ऐसा स्थितिकरण का भाव रहनेपर इस जीवके ज्ञानदृष्टि जगती है क्योंकि दूसरे जीवोंपर मौलिक दृष्टि रहती है तो आत्मस्वभावकी स्मृति रहती है। यदि परिवारके ही लोगोंपर दृष्टि रहे और उन्हें ही आर्थिक और अन्य परिस्थितियोंसे मजबूत करना चाहें और करें तो उससे इसे ज्ञानमार्ग नहीं मिलता। जिससे मेरा सम्बन्ध नहीं है, जो परिवार जन नहीं है, जिनके संगसे विषय साधनाकी कुछ सहायता नहीं मिलती है ऐसे विरक्त ज्ञानी संतोंकी उपासना और वे कदाचित चलित हों तो उनको धर्ममार्गमें स्थिर करना—इस उपायसे ज्ञानकी दृष्टिमें बल मिलता है। इस कारण यह स्थितिकरण अंग सम्यग्दृष्टि पुरुषका एक प्रधान कर्तव्य है।

परमार्थ स्थितिकरणसे मोक्षमार्गमें प्रगति—सर्व प्रथम तो यह ज्ञानी अपने आपको ही शुद्ध मार्गमें स्थित रखनेका प्रयत्न करता है और साथ ही साथ अन्य धर्मात्मा पुरुषोंको किसी कारण चलित देखता है तो उन्हें धर्ममार्गमें स्थित करता है। ज्ञानस्वभावी आत्माको ज्ञानदृष्टिमें स्थित बनाना यही वास्तविक सम्यग्दर्शनका फलित पुरुषार्थ है। ऐसा जो स्थिति-करण करते है उन जीवोंके मार्गसे च्युत हुए कृत बंध नहीं होता है क्योंकि वे मार्गसे च्युत

नहीं हो सकते। च्युत होनेका प्रसंग आया तो ज्ञानबलसे अपने आपको सावधान बना लिया अर्थात् शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र मैं हूँ ऐसी दृष्टिको दृढ़ कर लिया और विषय कषायोंसे रहित वृत्ति बना कर ज्ञानके अनुभवनका परिणाम कर लिया, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवोंको मार्गसे छूटने कृत बंध नहीं होता है क्योंकि वे मार्गसे च्युत नहीं होते और ज्ञानमार्गसे च्युत न होने के परिणाममें पूर्वबद्ध जो कर्म हैं उन कर्मोंमें निर्जरा होती है।

इस प्रकार स्थितिकरण अंग का वर्णन करके अब वात्सल्य अंगका वर्णन करते हैं।

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

वात्सल्य भाव—जो जीव मोक्ष मार्गमें स्थित तीनों साधुवोंका आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंका जो वात्सल्य करता है वह वात्सल्यभाव सहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। मोक्षमार्गमें स्थित हैं आचार्य, उपाध्याय और साधुजन। मोक्षमार्ग कहलाता है मोक्षस्वरूप शुद्ध ज्ञानस्वभावका आलम्बन करना। इस ज्ञानस्वभावके आलम्बनमें स्थित हैं साधुजन। यद्यपि गृहस्थ भी अपनी योग्यता माफिक मोक्षमार्गमें स्थित हैं पर उनके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि स्थिर नहीं रह पाती। कारण यह है कि आरम्भ परिग्रहका सम्बन्ध गृहस्थोंके लगा है। उसकी व्यवस्थामें उनका चित्त बसा रहता है। सो यद्यपि कभी-कभी अवसर पाकर उन विकल्पों से मुख मोड़कर वे निज ज्ञानस्वभावका आश्रय करते है तो भी यह अवसर एक तो कम आता है और पूर्व वासनाके कारण वास्तवमें गृहस्थ पदमें ऐसी ही परिस्थिति है सो विकल्प उठ आते हैं और यह अस्थिरता मोक्षमार्गके आलम्बनमें शिथिल बना देती है। इस कारण जो जन आरम्भ परिग्रहसे विरक्त हैं आत्मतत्त्वकी साधनामें रत है उन पर वात्सल्य वत्सल आत्मा करते हैं।

समताके पुञ्ज—शत्रु और मित्रमें साधुका समतापरिणाम है, प्रशंसा और निन्दाको एक शब्दमय ही जानकर अपने स्वरूपको पृथक् समझ कर अथवा दोनोंमें जो समता परिणाम करता है, यश और अपयशमें जिसकी यह बुद्धि है कि यह यश और अपयशमें चीज है क्या, दूसरे जीवोंकी एक परिणति। मेरे सम्बन्धमें किन्हीं पुरुषोने यह जान लिया कि यह बहुत अच्छा है, इसीका नाम तो यश कहा जाता है। तो यह बहुत अच्छा है ऐसा जो विकल्प है वह तो दूसरे जीवोंका परिणमन है। सो दूसरे जीव चाहे यशविषयक विकल्प करें और चाहे अपयशविषयक विकल्प करें, उनके किसी भी परिणमनसे इस मुझ विविक्त आत्माका सुधार अथवा बिगाड़ नहीं हो सकता। आत्माका सुधार और बिगाड़ अपने आत्मा के ही भावोंके अनुसार है। ऐसा जान कर साधुजनोंको यश और अपयशमें भी समानता रहती है।

यदि कोई साधुका भेष रखकर समतापरिणामको धारण न करे और प्रशंसा, निन्दा, यश, अपयश, अपनी महत्ता जनाना इत्यादिमें दृष्टि गड़ाता है तो उस जीवको साधु नहीं कहा जा सकता। साधु तो वह है जो केवल निज ज्ञायकस्वभावमें ही रुचि रखता हो, बाहरी लोगोंकी परिणतिमें रुचि न रखता हो, ऐसा जीव ही उन साधुवोंमें अपना वात्सल्य रखता है। यह है व्यवहारसे वात्सल्य अंग। यह ग्रन्थ मुख्यतया साधुवोंके लिए कहा गया है। इसलिए साधुवोंके सम्बंधमें वात्सल्य भाव बताया है।

साधुजनोंका धर्मरुचियोंमें वात्सल्य—साधु जन साधुवोंमें ही वात्सल्य रखते हैं ऐसा नहीं है। उनसे तो वात्सल्य रखते ही हैं किन्तु जो धर्मके रुचिया हैं, विरक्त हैं, धर्मात्मा हैं ऐसे गृहस्थ जनोंमें भी वे साधु यथायोग्य वात्सल्य रखते हैं। यदि साधुके गृहस्थ जनोंपर वात्सल्य न हो तो वे उपदेश कैसे करें? क्या उपदेश प्रेम बिना किया जा सकता है? जो मुमुक्षु श्रावक उपदेश सुनने आएँ और साधु उनको उपदेश दें तो यह बात वात्सल्य बिना नहीं हो सकती। एक प्रभु अरहंत ही ऐसे हैं जिनकी धुनि प्रत्येक जीवपर अनुराग हुए बिना होती रहती है, पर आचार्य, उपाध्याय, साधु ये अभी मोक्षमार्गमें ही चल रहे हैं। इनके अभी मोक्षमार्ग चल रहा है, इनके अभी रागभाव नहीं समाप्त हुआ, सो ये धर्मात्मा जनोंमें निष्छल वात्सल्य करते हैं।

निष्छल वात्सल्य—निष्छल वात्सल्यका अर्थ यह है कि वात्सल्य करके, उनका उपकार करके उस एवजमें अपने लिए कुछ नहीं चाहते। इसके लिए गाय और बछड़ेकी उपमा दी गई है। जैसे गायका बछड़ेपर निष्छल प्रेम रहता है, निःस्वार्थ प्रेम रहता है, गाय बछड़ेसे कुछ आशा नहीं रखती है कि यह बछड़ा मेरे बुढ़ापेमें कुछ मदद करेगा, यहां वहांसे घास उठाकर मेरे मुंहमें धर देगा। कोई आशा नहीं रखती है पर प्रकृत्या ही गायका बछड़ेपर वात्सल्य उमड़ता है। इसी प्रकार एक सधर्मी पुरुष दूसरे सधर्मी पुरुषकी सेवा शुश्रूषा करके वात्सल्य भावसे उसका उपकार करके भी उसके एवजमें कुछ नहीं चाहता है कि मेरा भी यह कभी उपकार करे या मेरी विपत्तिमें काम आए। ऐसा निष्छल प्रेम सधर्मी जनोंका सधर्मी जनोंसे होता है। यह है व्यवहारमार्गका वात्सल्य अंग।

निश्चय वात्सल्य—निश्चय मार्गका वात्सल्य क्या है? तो इस ही गाथामें केवल साधु शब्दका अर्थ दूसरा लेनेसे निकल आता है। साधु कहते उसे हैं कि जो आत्माके कल्याणको साधे। मेरी आत्माके कल्याणको साधने वाला रत्नत्रयरूप धर्म है। निश्चयसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप परिणमन ही मेरे कल्याणका साधक है। सो मोक्षमार्गमें लग रहे हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका, अपने इन निर्मल परिणामोंका जो वात्सल्य करते हैं, प्रेम करते हैं, उनकी साधना बनाते हैं उन सम्यग्दृष्टि जीवोंको वात्सल्य

भाव युक्त जानना चाहिए।

वात्सल्यका अर्थ—वात्सल्य शब्द भी वत्सल शब्दसे बना है, और वत्स शब्दकी प्रसिद्धि धर्मदृष्टिका नाता जिनसे लगा हुआ है उनमें है। जैसे घरके पुत्र आदिकको पुत्र आदि रूपसे कहनेका ही व्यवहार है, पर शिष्योंको मुमुक्षु बनकर आत्मसाधनाके लिए आए हुए कल्याणार्थियोंको वत्स शब्दका सम्बोधन करनेकी प्रथा है और गायके बछड़ेको भी वत्स शब्द से अधिक कहा जाता है। तो उन वत्सोंमें जो स्नेह लाया जाता है ऐसे स्नेहका नाम है वात्सल्य। वह वात्सल्य भाव युक्त सम्यग्दृष्टि कहा जाता है जो मोक्षमार्गके साधकका अर्थात् निज दर्शन ज्ञानचारित्रका वात्सल्य करता है अथवा उनके आधारभूत साधुवोंका वात्सल्य करता है उसे सम्यग्दृष्टि कहना चाहिए। जिसका जिससे प्रेम होता है वह प्रेमी अपना कुछ बिगाड़ और विनाश करके भी दूसरोंका उपकार करता है।

वात्सल्य अङ्गके पालक श्री विष्णु ऋषिराज—इस अंगके पालनेमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि हुए है। कैसा था उनका वात्सल्य कि अकम्पानाचार्य आदिक साधुसंघपर जब बलि आदिक मंत्रियोंने घोर उपसर्ग किया था—वह दिन था श्रावण सुदी तेरस या चौदशका। उपसर्ग ऐसा किया वे मुनि महाराज तो अपने ध्यानमें लीन बैठे थे, और उन्हें एक बाड़ीसे उन मंत्रियोंने घेर दिया। उनके चारों ओर कूड़ा करकट, अनेक दुर्गन्ध देने वाली चीजें चारों ओरसे लगा दीं जिनमें आग जल्दी लग जाय। और आग लगा दिया। देखो तो इतना भयानक मुनियोंपर उपसर्ग करनेका मूल कारण अपमानकी ठेस थी। पूर्व समयमें उन मुनियो में से एक मुनिराजके द्वारा उन बलि आदिकको शास्त्रार्थमें हारना पड़ा था, उसकी इतनी चोट थी कि उस समय उन्होंने अपना बदला चुकानेका निश्चय कर लिया था। किसी पुरुष को अपमानित कर देना श्रेयके लिए नहीं होता। यद्यपि वहाँ उन श्रुतसागर मुनिने उन्हें अपमानित करनेकी दृष्टिसे शास्त्रार्थमें नहीं जीता किन्तु एक धर्मको अक्षुण्ण बनानेके लिए कि राजा यह न कह सके कि जैन सिद्धान्तमें कुछ तत्त्व नहीं है। इस दृष्टिसे शास्त्रार्थ किया था। पर हुआ क्या सो बहुत खतरनाक परिणाम हुआ।

क्या कोई जनताका आदमी ऐसा उपद्रव देखकर सह सकता है, पर विवश थी जनता। बलिके हाथमें राज्य था, घोर उपसर्ग किया, और इतना ही नहीं किन्तु इस खुशी में धर्मका ढोंग बनाकर एक अलग यज्ञ रचकर याचकोंको किमिच्छिक दान देने लगा। आवो ब्राह्मणो, जो चाहो दान ले जावो। उसका ७ दिनका तो राज्य था। सारा धन बिगड़ जाय तो उसका क्या बिगड़ा? ऐसी परिस्थितिमें विष्णुकुमार मुनिने अपनी तपस्यामें भी कमी करके उन मुनियोंका दुःख दूर किया था। धर्मका जब अनुराग जगता है तब रहा नहीं जाता। दूसरोंका उपद्रव टालना ही चाहिए।

शुभ अनुरागमें वृत्ति—आप जब सामायिकमें बैठे हों, जाप दे रहे हों और आपने यह देखा कि इस भींतपर कीड़ा बैठा है और यह छिपकली उस कीड़ेको खाना चाहती है तो प्रकृत्या आपका ऐसा यत्न होगा कि पहिले तो वहीं बैठे-वैठे छू-छू करके हाथ हिलायेंगे, जाप सामायिक तो आप कर रहे हैं पर यह दृश्य जब सामने आता है कि अमुक जीव बैठा है और यह छिपकली उसे खाना चाहती है तो अपने ही दिलसे वतलावो कि आप उस जाप की गुरिया फेरते हुए या मंत्र जपते हुए आरामसे बैठे रह सकते हैं क्या ? नहीं । दयाका ऐसा अनुराग जगता है कि आप बैठे नहीं रह सकते हैं । यहाँ कोई प्रश्न करे तो क्या सामायिककी प्रतिज्ञा लेकर अथवा जापमें बैठकर यह क्रिया करना चाहिए ? वहाँ तो मन, वचन, कायकी क्रियावोंको बंद ही करना चाहिए । हाँ भाई उस जाप देने वालेको इसका पता है और ऐसा करते हुएमें अन्तरसे वह खेद भी मानता है और यत्न भी करता है कि मैं छू-छू करूँ या थप्पड़ी बजाऊँ, या थोड़ा झुककर कुछ उसमें घबड़ाहट पैदा कर दूँ ताकि वह कीड़ा बच जाय । ऐसा यत्न करते हुए वह अपने आपमें ऐसा विषाद भी कर रहा है और यह अनुरागका कार्य भी कर रहा है । अपना ही प्रेक्टिकल करके देख लो ।

श्री विष्णु ऋषिराजके दयाकी उमड़—तो विष्णुकुमार मुनिराज जिनको विक्रिया-ऋद्धि सिद्ध थी, जब उन्हें यह समाचार विदित हुआ कि अहो मुनिसंघपर इतना घोर उपसर्ग हो रहा है, तो उनके यह इच्छा हुई कि यह उपसर्ग दूर किया जाय । किन्तु उन्हें अपनी ही ऋद्धिका पता न था । देखो—ऐसे समयपर विष्णुकुमार मुनिराजने सोचा कि क्या ऐसा किया जा सकता है कि अपने ध्यानका लक्ष्य कर इस उपसर्गको दूर कर सकें ? लेकिन जब पता हुआ, जिसने समाचार दिया था उन क्षुल्लक जी ने कि विक्रियाऋद्धि सिद्ध हुई है—अपना हाथ बढ़ाया तो बढ़ता ही चला गया पर्वत तक । जान लिया कि विक्रिया-ऋद्धि हुई है । तो विष्णुकुमारमुनिने उस विक्रियाऋद्धिकी सिद्धिके बलसे उपसर्गको दूर करनेकी ठान ली ।

जैसे घर का बच्चा बीमार हो और आपका उससे प्रेम हो तो सारा धन खर्च करके भी आप उस बच्चेको बचाना चाहते हैं । जिस धनको आपने बड़े कष्टसे कमाया, बहुत दिनोंमें कमाया, वह धन हजारों लाखोंका बच्चेकी बीमारीमें दो तीन दिनमें ही खर्च होनेको है, और खर्च करते जाना आवश्यक है, बड़ा खर्च करना पड़ता है, सो सारा खर्च कर देता है । तो विष्णुकुमार मुनिको बड़ी साधनाके फलसे विक्रिया ऋद्धि सिद्ध हुई थी, उस ऋद्धि सम्पत्तिके खर्च करनेके लिए अर्थात् विकल्प करके उस अनुपम साधनासे कुछ गिर गए । गिर जाने दो, गिरते हुए भी जान रहे हैं कि उठना किस तरहसे होता है ? उनको ज्ञान है ।

श्रीविष्णु द्वारा करुणासम्पादनकी प्रस्तावना—के भट गए, जहाँ बलि यज्ञका ढोंग रच रहा था एक बामन स्वरूप रखकर। वहां किमिच्छक दान देने वाले बलिके आगे मंत्र और बड़ी ध्वनिसे यज्ञकी बातें भी करली। उस समय संतुष्ट होकर बलि कहता है कि जो तुम्हें माँगना हो माँगलो। एक तो अन्याय कर रहा है बलि और पिछला बदला चुकाने के आशयसे खुश हो रहा है। और दूसरेका धन है सो खूब लुटा रहा है। ऐसी हालतमें संतुष्ट होकर बलि यों कहता कि ले लो जो तुम चाहते हो। विष्णु जी बोले कि मुझे तो केवल तीन पैड़ जमीन चाहिए। विष्णु जी मायने विष्णुकुमार मुनि। आज यह प्रसिद्ध हुआ है कि विष्णु जी ने ही तीन पैर भूमि मांगा था। विप्र लोग जब राखी बाँधते है तो यह श्लोक पढ़ते हैं कि जैनराज बली बध्यो। वहाँ जैन नहीं है, येन है। क्योंकि ये की जगह जै कर देने से श्लोक अशुद्ध हो जाता है। जिसने बलि राजाको बाँध लिया वह हम सबकी रक्षा करें।

श्री विष्णु ऋषिराजकी विक्रिया व साधुवोंका उपसर्ग निवारण—तो तीन पैड़ जमीन विष्णुने माँगा। बलि राजा बोला कि तीन पैड़ जमीनमें क्या होता है, अरे कोई महल माँगो, सोना चाँदी माँगो, कोशोंकी जमीन माँगो। विष्णु बोले कि हमें तो तीन पैड़ ही जमीन चाहिए। इसका उन्होंने संकल्प किया। कहा अच्छा ले लो। विष्णुने एक टाँगको तो मध्यमें रखा, मानो सुमेरुमें, चारों ओर टाँगको घुमाया, सारा मनुष्यलोक घेर लिया। विष्णुने कहा कि अब तीसरा पैड़ दो। इतना ही देखकर राजा वलि भयसे कांप गया और कहने लगा कि महाराज अब मेरे पास और जमीन कहाँ है? उस समयका दृश्य कई दृष्टियों से बड़ा रंजक था। अंतमें बलिसे विष्णुने कहा कि इन सब मुनियोंका उपसर्ग इसी समय दूर करो। उपसर्गको बलिने दूर कर दिया। तो विष्णुकुमार मुनिराजने अपनी साधनामें शिथिलता भी करके अनेक मुनियोंके प्राण बचाए। उनपर वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया।

वात्सल्यकी नींव निर्मोहता—वात्सल्य परिवार जनोंपर करो तो उससे ज्ञानदृष्टि नहीं मिलती है। परिवारके जनोंका भी स्मरण रहे, कुछ भी करो किन्तु उनके साथ कुछ मोह और रागका सम्बंध है तो दुःख ही है। इस कारण परिवारजनोंसे मोह न करो। अन्य धर्मात्मावोंपर, जिनसे कोई अपना स्वार्थ नही निकल रहा है ऐसे धर्मात्मा जनोंपर वात्सल्य करो और अपने सन्मार्गमें प्रगतिशील वनो।

वास्तवमें सगुन और असगुन—भैया! धर्मात्मा जनोंके प्रति जो वात्सल्यवृत्ति होती है वह ज्ञानस्वभावका स्मरण कराने वाली होती है। यही सगुन है। अन्य जीवोंसे अनुराग वढ़ना जिनसे विषय साधनोंका कुछ मतलब नही है, यही एक सगुन है और जिन जीवोंसे मोहभाव वना हुआ है उनसे स्नेह वनाए रहे यही असगुन है। सगुन वह कहलाता है जो

निज ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें सहायक है और असगुन वह कहलाता है जो निज ज्ञानस्वभावकी भक्तिमें बाधक है। धर्मात्मा जनोंसे निष्छल होकर कुछ न चाहकर वात्सल्य करना चाहिए, उसीसे निर्मलता प्रकट होती है, जिस निर्मलताके प्रभावसे भव-भवके बांधे गए कर्म क्षीण हो जाते हैं।

निज अभेदस्वरूपका वात्सल्य---चूंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभाव रूप है इस कारण वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र---इन तीनों गुणोंसे अपनेको अभेद बुद्धिसे देखता है। उत्तम वात्सल्य वह है जिसमें दूसरा अभेद साधुको दिख जायँ, प्रीतिमें भी यही होता कि दूसरेको भी अपना मान लिया जाय। यहाँ निश्चयके वात्सल्य में यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणोंसे अपने को अभेदबुद्धिसे देखना है अर्थात् इस रूप ही मैं हूं--इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप अपने आपको देखना सो ही वास्तवमें रत्नत्रयका वात्सल्य है। जिसने अपने आपको रत्नत्रय स्वरूप देखा अर्थात् मोक्षमार्गमें वात्सल्य भाव हुआ तो उसको मोक्षमार्ग ही मिल ही गया।

मार्गवात्सल्यकृत बंधका अभाव---अब इसके मार्ग न मिलनेके द्वारा जो पहिले बंध चल रहा था अब वह बंध नहीं रह गया, और चूँकि मार्ग मिल गया है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अपने आपके आत्मतत्त्वका अनुभव चल रहा है तो इसका मार्ग मिलनेके कारण पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। यही वास्तविक वात्सल्य है। इसके अवात्सल्य तो है नहीं, फिर बंध किस बातका? बंध उन जीवोंके होता है जो अपने आपके ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वभाव में श्रद्धान न करे, रुचि न करे, इसकी खबर ही नहीं रखे, विमुख रहे और इतना ही नहीं बल्कि इसके प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भाव हैं इन भावोंकी रुचि रखे, उनका ही तो बंध होता है। सम्यग्दृष्टिके बंधके कारण मुख्य जो मिथ्यात्व है उस मिथ्यात्वका अभाव हो गया इस कारण अब उसके बंध नहीं चलता। उसके मार्गका वात्सल्य है, उससे निर्जरा ही होती है। इस प्रकार वात्सल्य अंगका वर्णन करके अब अष्टम अंग जो प्रभावना अंग है उसका वर्णन कर रहे हैं।

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

ज्ञानप्रभावकता व विद्यारथमें स्थिति---जो जीव विद्यारथ पर आरूढ़ है वही मनुष्य जिनज्ञानका प्रभावक हो सकता है। प्रभावना करने के लिए लौकिक पद्धति भी ऐसी है जैसी कि कोई घोषणा करना हो, ऐलान करना हो तो रिक्शामें बैठकर, तांगामें बैठकर, रथमें बैठकर उसकी घोषणा करते हैं, ऐलान करते हैं। तो इसी तरह यह देखिए कि कोई जीव यदि जिनज्ञानकी प्रभावना करनेको उत्सुक है तो उसकी पहिली प्रवृत्ति यह है कि

वह विद्यारथ पर आरूढ़ हो अर्थात् विद्यावान बने। सर्व विद्यावोंकी विद्या है निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि रूप। लोकमें अनेक विद्याएं हैं, रेडियोंका आविष्कार किया है, उपग्रह छोड़े जा रहे हैं, और अनेक प्रकारके नवीन-नवीन आविष्कार बनते चले जा रहे हैं। इन आविष्कारोंमें क्या कम बुद्धिकी आवश्यकता है? बुद्धि बहुत लगती है। उनका भी बहुत तीव्र विज्ञान होता है पर इतना बड़ा तीव्र विज्ञान कर लेने के बाद भी उनकी परिस्थिति को देखा जाय तो वे शांत नजर नहीं आते, क्योंकि उनकी दृष्टि परद्रव्योंकी ओर है। वे पर जब तक व्यासंगमें रहते हैं तब तक उस पर प्रायोगिक उपयोग है। परकी परिणति अपने आधीन तो है नहीं। परका संयोग वियोग अपने आश्रय तो है, नहीं सो उसका वियोग हो, किसी भी प्रकारका परिणमन हो तो उसको देखकर यह जीव दुःखी होता है। सो सब विद्यावोंमें उत्तम विद्या है शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप। उसही विद्यारथ पर आरूढ़ होता हुआ जो पुरुष अपने मनकी वेगोंको दूर करता है वही पुरुष जिनज्ञान का प्रभावक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

निदानकी कलुषता—ख्याति, पूजा, लाभ, भोग इनकी जो इच्छा है यही हुआ निदान बंध। निदान बंधको बहुत कुत्सित परिणाम बताया है। आर्तध्यानके चार भेद हैं—इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाप्रभव और निदान। इन चारोंमें मुनिराजके तीन आर्तध्यान हो सकते हैं पर निदान नामका आर्तध्यान नहीं होता है। तो समझो कि उन तीनों की वेदनासे निदानकी कितनी बड़ी वेदना है? कितना बड़ा निदान है?

निदानके नानारूप—निदानके अनेकरूप हैं। सबसे बड़ा रूप तो यह बताया गया है कि धर्मकार्य करके संयम, तप नियम करके परभवमें इन्द्रका पद, राजा महाराजा चक्रवर्ती का पद, बड़े आरामके साधन मिलें, ऐसी इच्छा बनाना सबसे विकट निदान बंध है। और साधारणतया ऐसा भाव बनाना कि परलोकमें मुझे आराम मिले, आनन्दकी स्थिति मिले, सो यह भी निदान बंध है और इस भवमें भी भविष्यकी आगेकी बात सोचना—बुढ़ापेमें मुझे आरामके साधन मिलें, कुछ वर्षों बाद मेरी ऐसी बढ़िया स्थिति बन जाय कि ब्याज और किराये से ही सारा काम चलता रहे तो ऐसी इच्छाको भी निदान कहते हैं। और व्यवहारधर्मके बाह्य प्रसंगोंकी चाह करना, परभवमें मेरा धर्मात्मावोंका समागम रहे आदिक बातें सोचना यह भी तो निदान है, किन्तु इसे शुभ निदानमें शामिल किया है। बंध तो है ही। शुभ निदान की अपेक्षा चौथे और गुणस्थानवर्ती जीवको भी निन्दान नामका आर्तध्यान कह दिया गया है, पर मुनिराजके शुभ अशुभ किसी भी प्रकारका निदानबंध नहीं चलता है।

निदानके अभावमें ही उन्नति व शान्ति—साधुजनोंकी कैसी उत्कृष्ट साधना है? उनकी केवल शुद्ध निज ज्ञायक स्वरूपमें ही रुचि है। उनके यह निर्णय है कि इस शुद्ध

ज्ञानस्वरूपका श्रद्धान, आश्रय, आलम्बन यही आत्माका सर्व वैभव है। आनन्द ही इस स्वभावके आश्रयमें बसा हुआ है। किसी भी परपदार्थके अथवा परभावके आश्रयसे आत्मा में आनन्द परिणमन नहीं होता। वे सब आकुलतावोंके ही कारण हैं। कोई मनुष्य किसी भी परपदार्थविषयक किसी भी व्यवस्थावी दृष्टि बनाए और आशा रखे कि बाह्यमें ऐसी व्यवस्था बन चुकने पर फिर तो मेरा शेष जीवन आराममें और धर्ममें व्यतीत होगा, यह सोचना व्यर्थ है। परपदार्थोंपर दृष्टि दें और उनसे शांतिकी आशा रखें, यह त्रिकाल नहीं हो सकता है।

निदान व मनोकामनाकी लहरोंमें संकटोंका नाच—ज्ञानी पुरुष शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि रूप विद्यारथमें सवार होनेके कारण दुःखके कारणभूत मनोरथके वेगोंको दूर करता है, नष्ट करता है। ये चित्तमें जो कल्लोलें उठती हैं उन कल्लोलोंसे इस जीवको बड़े कष्ट हैं। सबसे बड़ा दुःख है इस मन वाले जीवको तो मानसिक दुःख है। भूखका तो दुःख थोड़ा सह भी लिया जा सकता है, कुछ साधारण भोजन पान मिले तो उसमें भी संतोष किया जा सकता है पर यह व्यर्थका जो मानसिक रोग है—लोग मुझे बुरा न समझ लें, मेरी प्रशंसा और नामवरी रहे, ऐसा जो भयंकर विष लगा हुआ है जिस विषपानकी प्रेरणा से यह जीव विनाशीक मलिन मायामय लोगोंके बीच पर्यायका नाम स्थापित करना चाहता है। यह मनोरथका वेग बहुत भयंकर दुश्मन है।

मनोरथोंके विजयी—इस चित्तकी कल्लोलोंको इस ज्ञानीने बड़े मजबूत ध्यानरूपी शस्त्रसे नष्ट किया। ध्यान कहलाता है शुद्ध ज्ञानको स्थिर बनाना। चित्तको एक ओर रोकने का नाम ध्यान है। उस चित्तका अर्थ है ज्ञान। जो भी ज्ञान किया जा रहा है एक पदार्थ-विषयक उस ज्ञानको स्थिर बनाए रहना इसका नाम है ध्यान। इस ध्यानरूपी शस्त्रसे इन मनोरथ वेगोंको ज्ञानी पुरुष नष्ट कर देता है। सो जिसने शुद्ध आत्माका ज्ञान किया और सर्व प्रकारकी इच्छावोंको जो कि भ्रमानेके कारण हैं उनको दूर किया, अपने मनकी वेगों से रागद्वेषकी कल्लोलें उठ रही हैं उनको अपने ही ध्यानरूपी खड्गसे नष्ट किया वे ही पुरुष जन ज्ञानके प्रभावक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

वास्तविक प्रभावना—सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक भाव स्वरूप है, उसनें अपने ज्ञानसे समस्त शक्तियोंको लगाकर, जगाकर अपनी पर्यायके अनुरूप अपनेको विकसित किया, इसलिए वह प्रभावनाकारी जीव है। जैनधर्मकी अथवा वस्तु विज्ञानकी, मोक्षमार्गकी प्रभावना यह जीव रत्नत्रय तेजसे ही कर सकता है। कहते हैं धर्मकी प्रभावना करो। किसकी प्रभावना करना है? धर्मकी। तो धर्मका जो स्वरूप है वह जीवोंकी समझ में आए, यही प्रभावना कहलायेगी। समारोह होना, उत्सव मानना, ये सब इस प्रभावनाके

सहकारी कारण हैं। ये स्वयं प्रभावना नहीं हैं। जिसकी प्रभावना करना है वह लोगोंके चित्तमें बैठे तो प्रभावना कहलाती है। प्रभावना करना है धर्मकी। धर्म कहते हैं वस्तुके स्वभावको। उपदेशके द्वारा अथवा साधु पुरुषोंकी मुद्राके द्वारा जो जीवोंपर यह छाप पड़ी, प्रभावना पड़ी कि अहो! सर्व विकल्पोंसे पृथक् ऐसे साधु हैं, ऐसा ज्ञान और आनन्द रह जाना ही धर्मका पालन है। यह बात जिन उपायोंसे प्रसिद्ध हो सके, बस उन ही उपायोंके करनेका नाम प्रभावना है।

परमार्थप्रभावना वस्तुविज्ञान—जब तक जीवका यह वस्तुस्वरूप परिज्ञानमें न आयगा कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र स्वतंत्र अपनी सत्ता लिए हुए हैं और उन सबमें परिणमते रहनेका स्वभाव पड़ा हुआ है, वे अपनी इस परिणमनशीलताके कारण निरन्तर परिणमते रहते हैं। भले ही किसी पदार्थके विकाररूप परिणमनमें अन्य पदार्थ कुछ भी निमित्त हों, और यह बात सच है कि किसी परपदार्थका निमित्त पाये बिना विकारपरिणमन नहीं होता है। इतना सम्बंध होनेपर भी वस्तुके चतुष्टयको देखो तो निमित्तभूत पदार्थोंका न द्रव्य, न गुण, न पर्याय कुछ भी उसके प्रदेशसे बाहर नहीं निकलता। किन्तु ऐसा ही अद्भुत निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्तको पाकर स्वयं ही अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणम जाते हैं। ऐसी वस्तुमें रहने वाली स्वतंत्रताको उद्घोष जब तक अपने आपके हृदयमें नहीं होता है तब तक समझो कि इन जीवोंकी दृष्टिमें धर्मकी प्रभावना नहीं उतरी।

प्रभावनाकी अज्ञानविनाशपूर्वकता—प्रभावना अज्ञान अंधकारको दूर हटाकर जिनशासनकी महिमाको प्रकट करना सो प्रभावना है। प्रभावनामें सबसे मुख्य काम है अज्ञान अंधकार मिटाना। यह न मिटे तो प्रभावना क्या हुई? बड़ा समारोह किया, बड़ा शृंगार किया, सजावट की, जलूस निकाला तो इससे तो केवल यह प्रभावना होगी कि लोग यह जान जायेंगी कि समाजमें पैसा बहुत है और ये खर्च भी दिलसे करते हैं। उनको जो बात समझमें आयगी उसकी ही तो उनके हृदयमें प्रभावना कही जायगी। हमें करना है यदि धर्मकी प्रभावना ज्ञानकी प्रभावना तो धर्म क्या है, ज्ञानका स्वरूप क्या है—ये बातें उतारनेका प्रयत्न किया जाय।

प्रभावनीय तत्त्वज्ञान—यह तो लोगोंको एकत्रित करनेका और किसी मूर्ति मुद्राका, दृश्य दिखानेका अवसर जोड़ना हुआ। यह भी ठीक है। इस अवसरमें प्रभावना तब हो जब दर्शकोंके चित्तमें यह बात उतरे कि वस्तुवोंका स्वरूप स्वतंत्र है। जीव और अजीव ये दो तत्त्व हैं। जब यह जीव ज्ञानस्वभावमें नहीं रहता है, किसी बाह्य पदार्थको रुचिपूर्वक ग्रहण करता है तो वहाँ यह विह्वल हो जाता है, दुःखी होता है, संसारमें घूमता है, उससे उपा-

धियोंका कर्मोंका आश्रय होता है, बंध होता है, और यह जीव इन सब परदृष्टियोंसे हटकर केवल ज्ञान प्रकाशमात्र अपने स्वभावमें अपने उपयोगको जोड़ता है तो इसके कर्म छूटते हैं, शांति मिलती है, परमविकास होता है। सारे विश्वको जान जाय, ऐसी जो ज्ञानमें शक्ति पड़ी हुई है उस शक्तिका वहाँ विकास हो जाता है, इत्यादिक हितकी बातें दर्शकोंके चित्तमें घर न कर पायें तो बड़ा समारोह करके भी धर्मकी प्रभावना तो नहीं की, किन्तु समाजकी प्रभावना की। इस समाजके लोग बड़े पैसे वाले हैं, अपने मजहबके पीछे ये दिल जानसे खर्च करते हैं। जो बात दर्शकोंके चित्तमें आयी प्रभावना उसकी कही जायगी। दर्शकोंके चित्तमें धर्म ही उतरे तो धर्मकी प्रभावना है, और उनके चित्तमें केवल सजावट, शृंगार और खर्च ही उतरे तो इनकी ही प्रभावना है।

ज्ञानकी कलापर हमारे भविष्यकी निर्भरता—प्रभावनाके विषयमें समन्तभद्र स्वामीने यह बताया है कि अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करके फिर यथायोग्य जिनशासनका माहात्म्य प्रकट करना उसको ही प्रभावना कहते हैं। हम आपका अलौकिक वैभव ज्ञान है। सारे सुख दुःख आनन्द इस ज्ञानकी कलापर ही निर्भर हैं। हम इस ज्ञानसे कैसा जानें कि सुख होने लगे और इस ही ज्ञानसे कैसा जानें कि दुःख होने लगे। और इस ही ज्ञानसे कैसा जानें कि सुख दुःखके विकल्पोंसे रहित होकर शुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभवन करें? ये समस्त बातें अपने ज्ञानपर निर्भर हैं। कहाँ है यह ज्ञान? अपने में ही तो है और अपने ही आधीन है। हम उस प्रकारके जाननेमें तुल जाएँ जिस प्रकारके जाननेसे मोक्षमार्ग मिलता है तो क्यों न मिलेगा मोक्षमार्ग? हम ऐसे ज्ञानपर तुल जाएँ कि जिससे शांति ही मिलती है तो क्यों शाँति न मिलेगी? पर हम ही स्वच्छन्द होकर पुण्यके उदयसे पाया है तो अच्छा शरीर, पुण्यके उदयसे पाया है तो धन और इज्जत, तो उसको पाकर हम अपने आत्मके स्वरूप को भूल जाएं और परपदार्थोंमें ही कुछसे कुछ विकल्प बनाकर वहाँ ही कुछका कुछ परिणमन चाहनेकी धुन रखें तो उसमें शाँति नहीं प्राप्त होती। इस सम्बन्धमें यदि और अधिक न बन सके तो कमसे कम इतना तो ध्यान रखते रहें कि ये सब मेरी त्रुटियाँ हैं, और अधिक न बन सके तो इतना चित्तसे न भुलावें, हम गृहव्यवस्था करते हैं तो आत्माके नाते, यह भी मेरी त्रुटि है। हम धनार्जन करते हैं तो यह भी आत्माके नाते से त्रुटि है। हम लोगोंमें एक पोजीशनसे या शानसे रहते हैं यह भी आत्माके नातेसे त्रुटि है। हमारी बाहरकी जितनी भी चेष्टाएँ हैं वे सब चेष्टाएँ आत्माके नाते से त्रुटियां हैं। इतनी बात ध्यानमें बनी रहती है तो हम सुधारके मार्गपर हैं। हम भूले हुए तो नहीं कहलाये।

सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियोंमें भी अनात्मवृत्तिपनेका साधुके विश्वास—साधुजन जो उच्च विकासके होते हैं वे साधुपदके योग्य क्रियाएँ करके भी, सामायिक किया, दर्शन किया, वंदन

किया, समितियोंका पालन किया, जो उनके और गुण हैं उन सब गुणोंका निर्वाह किया, इतना करनेपर भी अन्तरमें वे समझते है कि आत्माके नातेसे ये सब मेरी त्रुटियां हैं। कितना है उनके स्पष्ट ज्ञान ? आगे खड़े होकर, हाथ चलाकर, पिछी सिरपर रखकर घुमाना क्या यह आत्माका कोई गुण है ? आत्माका कोई स्वाभाविक परिणमन है ? नहीं है। नहीं है तो क्या यह त्रुटि नहीं है ?" यह उच्च ज्ञानी साधुवोंके ज्ञानकी विशेषताकी बात बतला रहे हैं। जिसको व्यवहारमें साधु भी समझते हैं और करते हैं। करते हुए भी यह जानते हैं कि आत्माके नातेसे ये दर्शन, वंदन, स्तवन, समिति पालन, ये सारी प्रवृत्तियाँ आत्माके नातेमें नहीं बसी हुई हैं, किन्तु इन प्रवृत्तियोंसे भी रहित आत्मतत्त्वकी उपलब्धि करनेके लिए इन प्रवृत्तियोंको करते हैं।

सम्यग्दृष्टिके आत्मशक्तियोंका प्रबोध—वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्मल परिज्ञान होना और उसके अनुकूल भावना बनाकर निज शुद्ध ज्ञानस्वभावमें उन्मुख होना, यही है प्रभावना। ज्ञानी जीव चूंकि अपनेको एक ज्ञायकस्वरूप निश्चल मानता है इसलिए समस्त शक्तियोंको वह जगा देता है। अपनी आत्मशक्तियोंका विकास एक ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्वको दृष्टिमें लेनेसे स्वयमेव हो जाता है। धर्मके लिए हम बाह्यपदार्थोंपर दृष्टि दे देकर धर्मका संचय करना चाहें तो यह न हो सकेगा किन्तु धर्ममूर्ति एक निज शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें और तन्मात्र अपना विश्वास बनाएँ तो इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाके प्रतापसे परमार्थमें भी धर्मका पालन है और उसकी जो भी तन मन वचनकी चेष्टाएँ होंगी वे इस धर्मके अनुकूल होंगी।

ज्ञानस्वभावभावनारूप प्रभावनाका उत्तम परिणाम—प्रभावना वास्तवमें अपने अज्ञान अंधकारको दूर करना ही है। जो जीव ऐसे अपने ज्ञानकी प्रभावना करता है उस जीवके इस जातिका बंध नहीं होता है। ज्ञानकी जो प्रभावना नहीं कर रहे है ऐसे जो जगतके अनन्त जीव हैं, वे जो बंध करते है वह बध इस सम्यग्दृष्टिके नहीं होता, किन्तु उसके उपयोग में ज्ञानस्वभावकी प्रभावना बनी हुई है इसलिए निर्जरा ही होती है। सीधा तात्पर्य यह है कि हम अपनेको सेठ हूँ, मनुष्य हूँ, पंडित हूं इत्यादि रूप न निरखकर केवल एक ज्ञान प्रतिभासमात्र हूं ऐसी भावना बने तो अपनेमें ज्ञानकी प्रभावना होती है और कर्मोंकी निर्जरा होती है।

ज्ञानी जीवके निर्बन्धता—यह प्रकरण निर्जराका है। कर्म न आयें और कर्म खिरें ऐसी निर्जरासे मोक्षका मार्ग मिलता है। और जो कर्म खिर रहे हैं उन्हींके ही निमित्तसे नवीन कर्म आ जायें तो उसे मोक्षमार्गकी निर्जरा नहीं कहते हैं। जो कर्म बंध गए हैं वे खिरेंगे तो अवश्य, पर अज्ञानी जीवके ऐसा उदयमें आता है कि जिससे और नवीन कर्मोंकी

बांध लेता है। किन्तु ज्ञानी जीवके उदय तो होता है पर उदयकालमें अज्ञानमयताका पुट न होनेसे वह नवीन कर्मोंका सम्वरण नहीं करता। यह द्रव्यानुयोगका प्रधान कर्तव्य है। इसमें जो बंध हो भी रहा है उस बंधकी गौणता की गई है। करणानुयोगमें तो जहाँ थोड़ा भी बंध हुआ उसे बंधरूप स्वीकार करके कथन चलता है किन्तु इस द्रव्यानुयोग ग्रन्थमें जो संसारका प्रयोजक है, जो संसारकी परम्परा बढ़ानेका कारणभूत है उसे बंध कहा है। वह बंध ज्ञानी जीवके नहीं होता है इसलिए निर्बन्ध है।

निवृत्तिपरक प्रवृत्ति––जैसे कोई पुरुष तेज दौड़ लगा रहा हो, और दौड़ लगाते हुए में उसे यह ज्ञान आ जाय कि हम रास्ता भूल गए हैं। भूल गया वह रास्ता, और इस ज्ञान के होते ही कि हम भूल गए इसके बाद भी कुछ दूर तक शिथिल रूपसें दौड़ता तो है पर दौड़ना हटनेका अभिप्राय लगा हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानी जीवके भी उदय भाव बंध ये चलते भी रहते हैं कुछ पदों तक किन्तु वे सब हटनेका भाव लिए हुए हैं।

शुद्धात्मभावना भावनिर्जराका उपादान कारण––ऐसी सम्वर प्रयोजक जो भावनिर्जरा है उसका उपादान कारण क्या है, उसका इन अंतिम गाथावोंमें वर्णन है। यह जो ८ अंगों का वर्णन चला है यह निश्चयकी मुख्यतासे चला हुआ वर्णन है। अपने आत्माके विशुद्ध परिणामोंको जगाता हुआ, उन्हींको लक्ष्यमें लेता हुआ वर्णन है। तो भावनिर्जराका उपादान कारण क्या है? शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना।

आद्य चार अङ्गोंका उपादान––निःशंकित अंगमें शंका नहीं रहती है। निर्भयता हो गयी उसका कारण क्या? शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि इस ज्ञानी जीवके जगी। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, समस्त परपदार्थोंके सत्त्वसे अछूता केवल अपने स्वरूपमात्र हूं, ऐसी दृष्टि जगे तो निःकांक्षित अंग प्रकट होता है। उसमें विभावपरिणामोंकी वाञ्छा न रही तो इसका कारण क्या है कि उसे शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपका परिचय हुआ है। निर्विचिकित्सा अंशमें अब वह इन्हीं विभावपरिणामोंके कारण अंतरमें म्लान नहीं होता। जैसे बुझा दिल सा। कुछ मार्ग न सूझे, कायर बन जाय, कर्तव्यविमूढ़ हो जाय, ऐसी स्थिति न उत्पन्न हो, उसका कारण है यही शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावना। इसी प्रकार अमूढ़ दृष्टि अंगमें वह कुधर्मोंमें मोहित नहीं होता उसका कारण है कि उसे अपने शुद्ध स्वभावका परिचय मिल चुका है और दृढ़ निर्णय है कि हितका मार्ग है तो इस ही सहज ज्ञानस्वरूपका आश्रय है।

उपगूहन अंगका उपादान––उपगूहन अंगमें जो धर्मात्मा जनोंसे ईर्ष्या नहीं होती है उनके अवगुणोंका मौजूद हो अथवा न हो, प्रसिद्ध नहीं करता है, और ऐसा यत्न करता है कि उन धर्मात्मा पुरुषोंमें भी ये अवगुण नहीं रहे, ये सब किसके प्रतापसे हो रहे हैं? उसका कारण है कि उसे अपने आपके शुद्ध स्वरूपका परिचय मिला है। ईर्ष्या तो तब होती है

जब स्वयंमें पर्यायबुद्धि हो। ऐसी दृष्टि हो कि इससे मेरा बिगाड़ है, अथवा इसके बढ़नेसे हमारा उत्कर्ष न रहेगा। तो पर्यायमें जिसको आत्मबुद्धि है वह ही पर्यायको यह मैं, यह मैं' ऐसा लक्ष्यमें लेकर ईर्ष्या किया करता है। ज्ञानी जीवको धर्मात्माजनोंसे ईर्ष्या नहीं होती है। तब वह दोषोंको क्यों लोकमें प्रकट करेगा और इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाके कारण ऐसा उत्साह जगा रहता है कि समस्त अपनी आत्मशक्तियोंको जगाये बना रहता है।

अन्तिम तीन अङ्गोंका उपादान—इसी तरह स्थितिकरण अंगमें यह अपने आपको रत्नत्रय मार्गमें लगाये रहता है। कदाचित् कर्मोदयसे कुछ अपने मार्गसे च्युत भी हो रहा हो तो भी च्युत नहीं हो पाता। उस वातावरणमें शीघ्र ही अपने ज्ञानबलका आश्रय लेता है और अपनेको धर्ममार्गमें स्थापित करता है। यह किसका प्रताप है? शुद्ध आत्मतत्त्वके परिचयका प्रताप है। अपने गुणोंमें वात्सल्य होना; अपने शुद्ध ज्ञान चारित्रके विकासमें रुचि जगना—ये बातें भी तो इस शुद्ध ज्ञायक स्वरूपके परिचयसे बनी हैं। वह अपनेको प्रभावित करता है, ज्ञानादिकके विकाससे उन्नतिशील करता है, इसका भी कारण शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका परिचय है। यों ८ अंगोंका निश्चयदृष्टिसे इसमें वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शनके व्यावहारिक अङ्ग—एक बात और इन्हीं सब लक्षणोंमें साथ-साथ झलक जाती है कि इस निश्चय परिणामका साधक व्यवहारपरिणाम भी है। निश्चय रत्नत्रयका साधक व्यवहाररत्नत्रय है। उस व्यवहाररत्नत्रयमें भी शुद्ध जो सराग सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनमें भी ये सब लक्षण घटित करते जाना चाहिए। सराग सम्यग्दृष्टि हों, वीतराग सम्यग्दृष्टि हो उसमें जो अपने मोक्षमार्गको प्रेरणा मिलती है वह शुद्ध ज्ञानमय आत्मस्वरूप के परिचयसे मिलती है। उस सम्यग्दृष्टिके राग है इसलिए उसे सराग सम्यग्दृष्टि कहते हैं। राग होनेपर कुछ न कुछ विकल्प होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि रागका फल ही है कि कुछ विकल्प बनें। यदि सराग सम्यग्दृष्टि जीवके कोई धर्ममार्गमें चलते हुए विकल्प बनते हैं तो किस प्रकारके व्यवहाररूप ८ अंगोंके विकल्प बनते हैं? सो सुनिये।

सम्यग्दृष्टिका व्यवहार निःशंकित अंग—सम्यग्दृष्टिको यह दृढ़ निश्चय है कि जिनेन्द्रदेवके परमागममें जो कुछ वर्णन किया गया है वह पूर्ण सत्य है। चाहे उन वर्णनों का वर्णन न जान सकें, मगर मूलभूत श्रद्धा उसके रहती है। इस श्रद्धाके होनेका मोटे रूपमें क्या कारण है? इस ज्ञानी जीवने सर्वज्ञ स्वरूपका, ७ तत्त्वोंके विषयमें जिसमें कि युक्तियाँ चलती हैं, अनुभव काम देता है, पूर्ण निर्णय किया है कि ७ तत्त्वोंका स्वरूप इस ही प्रकार है। अभी स्वर्गोंका वर्णन किया जाय तो वह सही वर्णन है, इसके जाननेका आपके पास क्या प्रमाण है? सिवाय आगममें लिखा है इतना ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष नहीं दिखता कि स्वर्ग और नरक कहाँ हैं? युक्ति भी कोई समझमें नहीं आती है? कोई वहाँ गया हो और

आया हो, वह बात करता हो तो उसका कुछ विशेष अनुमान बने। जैसे कि अभी रूस और अमेरिका नहीं गए, फिर भी निश्चय तो है कि वे हैं। क्या इस ढंगसे स्वर्ग और नरकका भी निश्चय है ? नहीं। इस प्रकारका प्रमाण आगमके सिवाय और कुछ नहीं मिलता, लेकिन इस आगमकी प्रमाणतासे स्वर्ग और नरकका निर्णय करनेका प्रमाण उसके पास दृढ़ है।

स्वर्गादि परोक्षपदार्थोंके कथनमें सत्यताके विश्वासका कारण—इसकी दृढ़ताका कारण यह है कि सर्वज्ञ निरूपित ७ तत्त्वोंके बारेमें पूर्ण निर्णय किए हैं कि यह कथन सत्य है। जो चीज अनुभवमें उतर सकती है, प्रयोजनभूत है वह कथन जब रंच भी असत्य नजर न आया और उनके अतिरिक्त चरणानुयोग या नाना प्रकारकी पद्धतियां, जब उनमें असत्यपना नजर न आया तो सर्वज्ञदेव द्वारा निरूपित ऐसे पदार्थ जो हमारी दृष्टिसे अत्यन्त दूर हैं, जिनमें हमारी इन्द्रियाँ काम नहीं देतीं, वे सब भी पूर्ण सत्य ही हैं, क्योंकि जिन ग्रन्थोंमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका ऐसा स्पष्ट सत्य वर्णन है उनका अन्य परोक्षविषयक कथन भी सत्य है। ऐसे सत्यके प्रणेता रागद्वेष रहित वीतराग ऋषिसंतोंको, सर्वज्ञ देवोंको ऐसी क्या पड़ी है जो झूठमूठ लिख दें। ऐसा नहीं हो सकता। इस कारण स्वर्ग नरक तीनों लोक इन सब की रचना भी पूर्ण प्रमाण है। निःशंकित अंगमें यह व्यावहारिक रूपसे कथन किया जा रहा है कि ज्ञानी जीवको जिनेन्द्र वचनमें रंच शंका नहीं होती।

परके अयोग्य वचन देखकर भी सर्वज्ञ कथनमें शंकाका अभाव—किन्हीं ग्रन्थोंमें ऐसा भी लिखा मिल सकता है जो कि एक व्यर्थ जैसी बात हो क्योंकि ग्रन्थ तो बादमें अनेकोंने लिखे हैं। जो विधिसे खिलाफ हो, और अपनेको झूठ जंच जाय तो उस ज्ञानीके मनमें यह नहीं आता कि देखो सर्वज्ञदेवने झूठ भी बता दिया, किन्तु मनमें यह आता है कि यह उनकी परम्पराका वचन नहीं है। यह किसीने बीचमें जोड़ दिया है, लिख दिया है, पर सर्वज्ञके वचनोंमें रंच शंका हो जाय ऐसा ज्ञानी जीवका भाव नहीं है।

भोगोंमें इच्छाका अभावरूप निःकांक्षित अङ्ग—निःकांक्षित अंगमें भोग विषयोंकी वाञ्छा नहीं है। ठीक है, किन्तु वाञ्छा २ तरहसे होती है। एक तो होती है लगकर, सोचकर, अन्तरमें अनुराग करके, और एक वाञ्छा होती है उदयवश, परिस्थितिवश। सो ऐसे ज्ञानीको सोचिये जो गृहस्थीमें रह रहा है, क्या उस गृहस्थ ज्ञानीके कोई इच्छा ही नहीं पैदा होती ? व्यापार चल रहा है, लेनदेन हो रहा है, इतनी बड़ी व्यवस्था बन रही है, भोजन बना रहा है, दूसरोंको जिमा रहा है, खुद जीम रहा है, दूसरोंको जीमनेके लिए बुला रहा है, कितनी तरहकी सुरक्षाकी बातें कर रहा है, क्या ये सब बिना इच्छाके हो रही हैं ? इच्छा तो है उस गृहस्थ ज्ञानीमें, पर एक भी ऐसी इच्छा अंतरंगमें नहीं है कि मैं ऐसा कर लूं तो सदाके लिए सुरक्षित हो जाऊँगा, इसके बाद फिर मुझे कोई झंझट नहीं रहेगी

इत्यादिक भाव उसके नहीं है, उसके तो ऐसा भाव है कि मुझे यह करना पड़ता है, मेरे करने योग्य काम तो अपने आत्माको निर्विकल्प समता रससे परिपूर्ण आत्मीय आनन्दसे तृप्त होनेका था, पर उदय और परिस्थिति ऐसी है कि ये सब कार्य करने पड़ते हैं। सो एक तो अंतरमें से इच्छा नहीं जगती।

धर्मके फलमें भोगकी इच्छाका अभाव—दूसरी बात यह है जैसे कि छहढालामें लिखा है वृष धारि भवसुख वान्छा माने। धर्मको धारण करके संसारके सुखोंको न चाहना। जिसको संसारके सुखोंमें आसक्ति है वह इन्द्रिय सुखकी ओर ही दृष्टि लगाता है। धर्म भी करता है तो उससे सांसारिक सुख मिलता है ऐसी श्रद्धासे करता है। मंत्र जपे, तंत्र करे, पूजन करे, विधान करे, त्याग करे, दान करे और और भी बड़े-बड़े धार्मिक कार्य करे, जो भी कार्य वह करता है, इस आशासे करता है कि इससे हमें पुण्य मिलेगा, सांसारिक सुखोंका समागम मिलेगा। ऐसी बात ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होती है।

व्यवहारनिर्विचिकित्सित अंगका पालन—इस प्रकार निर्विचिकित्सक अंगमें सराग सम्यग्दृष्टि जीवका निर्विचिकित्सक अंगका पालन इस रूपमें होता है कि कोई धर्मात्मा जो रत्नत्रयका अनुरागी है, आत्मस्वरूपका रुचिया है, केवल एक आत्महितकी ही धुनि जिसने बनायी है ऐसे पूज्य ज्ञानी संतोंकी सेवा करते हुएमें कोई अपवित्रता मल आदिककी स्थिति हो जाय—जैसे कि कथामें प्रसिद्ध है कि एक देवने परीक्षा की थी उद्दायन राजाकी कि देखें तो सही कि इसके निर्विचिकित्सक अंग है या नहीं। सो उसने साधुका रूप धरकर वमन कर दिया, फिर भी उद्दायन राजाने ग्लानि नहीं की। यह तो बहुत दूरकी बात है, पर सेवा करते हुएमें शरीरसे कोई दुर्गन्ध आती हो, मल चलता हो, ऐसी भी शरीरकी स्थिति हो तो भी ग्लानि न करना चाहिए। और तो जाने दो, शरीरकी चमड़ी कड़ी हो जाती है, फट सी जाती है, ऐसे शरीरमें सेवा करते हुएमें हाथ फेरनेमें कोई लोग कष्टका अनुभव करते हैं, पर कैसी भी स्थिति हो, धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करते हुएमें कष्ट नहीं मानना चाहिए, ग्लानि न करना चाहिए। यह रूप ज्ञानी पुरुषका व्यावहारिक निर्विचिकित्सा अंगके पालनमें होता है।

व्यवहार अमूढदृष्टि अङ्गका पालन—चौथा अंग है अमूढ़ दृष्टि। इस अमूढ़दृष्टि अंगके पालनमें सराग सम्यग्दृष्टि जीवका कैसा व्यावहारिक परिणमन है, लोकमें अनेक तान्त्रिक मान्त्रिक संन्यासी बड़े बड़े चमत्कार वाले पुरुष, जैसे कि आजकल इसकी प्रथा ज्यादा सुनी जाती है कि कोई ४८ घंटेकी समाधि लगाता, कोई २४ घंटे की समाधि लगाता, कोई १२ घंटेकी समाधि लगाता और वे अपना प्रदर्शन भी करते हैं, लोग जुड़ते हैं, बड़े आफीसर उन्हें देखते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे चमत्कारोंको देखकर भी इस ज्ञानी पुरुषका

चित्त विचलित नहीं होता है कि मुझे भी यही चाहिये। सत्य बात यही है और तिरनेका उपाय भी यही है, कल्याणका मार्ग भी यही है। ऐसा भाव ज्ञानी पुरुषके नहीं जगता है।

अमूढदृष्टिके अन्तर्विचार—जो कुछ है, देख लिया, जान लिया, सुन लिया, पर हितके सम्बन्धमें तो उसका यह निर्णय है कि आत्मस्वरूपका परिज्ञान होना, विश्वास होना और उसही शुद्धस्वरूपमें रमना, इन प्रक्रियावोंको छोड़कर मोक्षका कल्याणका शुद्ध आनन्द का कोई दूसरा उपाय नहीं है। ऐसे सराग सम्यग्दृष्टि जीवको इन प्रसंगोंको देखकर भी दृढ़ निर्णय रहता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवके तो ये सब पालन एक निश्चयमार्गसे अपने आपके शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनामें चलता रहता है। व्यावहारिक रूप आता है तो अनुराग जगनेपर आता है। वीतरागताके भावमें यह व्यावहारिक रूप नहीं आता है।

व्यवहार उपगूहन अङ्गका पालन—उपगूहन अंगमें इस सराग सम्यग्दृष्टि जीवका ऐसा व्यवहार है कि वह धर्मात्मा पुरुषोंके दोषोंको अर्थात् धर्मके दोषोंको नहीं प्रकट करता है। धर्म और धर्मी कोई भिन्न-भिन्न जगह नहीं होती है। सो धर्मीके दोषको जनतामें प्रसिद्ध नहीं करता है अर्थात् धर्मको लांछित नहीं करता है। और इसके उपायमें कितनी ही विधियाँ करनी पड़ती हैं उन्हें भी वह करता है। जैसे प्रथम तो यह है कि धर्मात्माजनों में कोई दोष हो, न हो उसे तो जानकर कहता ही नहीं है पर दोष हो भी, तो भी उसे जनतामें प्रसिद्ध नहीं करता और उन्हीं साधुजनोंको एकान्तमें कहता है, उन्हींसे निवेदन करता हैं।

सर्वथा अयोग्य दोष होनेपर समाजका कर्तव्य—किसीके दोष ऐसा प्रबल हो जाय कि व्यवहारधर्म भी बिगड़ रहा हो ऐसी परिस्थितिमें, और अनेक बार समझाया जानेपर भी वह नहीं छोड़ता है अवगुण तो ऐसी परिस्थितिमें वह सबके बीच सम्मति करके निर्णय करता है, एक अंतिम परिणाम घोषित कर देता है, यह मेरा साधु नहीं है ऐसा जनताको पता हो जाय और इसके बाद फिर उनकी निन्दा चले या अटपट प्रवृत्ति चले तो उससे जनतामें यह प्रभाव न हो सकेगा कि इनके धर्ममें ऐसा ही देखा जाता है। हम उन्हें अपना साधु मानें, धर्मात्मा मानें ऐसा जनता समझे और फिर दोष हो तो जनता यह कह सकेगी कि इनके धर्ममें ऐसा ही होता है। इसलिए धर्मके लांछनको दूर करनेके लिए धर्मात्मा पुरुषोंके कितने ही प्रकारसे यत्न होते हैं पहिले छोटा यत्न फिर मध्यम यत्न। जब वशका ही नहीं रहा कुछ तो अंतिम यत्न यह है कि साधुकी अयोग्य परिस्थिति हो जाय तो उन्हें अलग कर देना, बहिष्कार कर देना, किन्तु इसे प्रकट देना। जैसे कहीं-कहीं सुना जाता है कि किन्हीं साधुको कपड़े पहिना दिया। ये विधियां भी कभी करनी पड़ें तो यह भी उपगूहन अंगमें शामिल है। धर्ममें दोष है ऐसा जनता न समझ सके ऐसे प्रयत्नको कहते हैं उपगूहन।

वात्सल्य और प्रभावनाका व्यावहारिक पालन—वात्सल्यमें यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा-जनोंमें निश्छल वात्सल्य रखता है, सेवा करता है और प्रभावना अङ्गमें उत्सवों द्वारा, समारोहों द्वारा कितनी ही प्रकारसे पाठशालाएँ खुलवा कर ज्ञान दान देकर जैन शासनकी प्रगति करना है। सराग सम्यग्दृष्टिके अनुरागके फलमें ऐसा व्यवहार होता है, सो ये समस्त व्यवहार रत्नत्रय है। यह व्यवहार अंगका प्रयोग निश्चय अंगका साधक है, बाधक नहीं। जितने भी निश्चयधर्ममें प्रतिकूल भाव हैं वे व्यवहारधर्म नहीं हो सकते। और जो ऐसे हमारे व्यवहारधर्म हैं जो निश्चयधर्मकी साधनाका अवसर देते हैं वे सब व्यवहारधर्म हैं। यों अष्ट अङ्गोंका इसमें वर्णन किया है। इस प्रसंगमें अब व्यवहार और निश्चयके सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर है, इसको फिर कहेंगे।

निश्चयनयसे तत्त्वकी दृष्टि—यदि जैन मतके रहस्यको प्राप्त करना चाहते हो व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनोंके मतको न छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय छोड़नेसे तो तीर्थ नष्ट हो जायगा और निश्चयनय छोड़नेसे तत्त्व ही नष्ट हो जायगा। निश्चयनय वस्तुके सहज स्वरूपकी दृष्टि कराता है और जैसा सहजस्वरूप मात्र अपनेको रहनेमें कल्याण है, जिसका शुद्ध विकास अंतिम साध्य है उसको निश्चयनय लक्ष्यमें कराता है तो निश्चयनयका विषय ही न ज्ञात हो, निश्चयनयको छोड़ दिया जाय तो तत्त्व ही क्या रहा ?

व्यवहारनयसे तीर्थकी प्रवृत्ति—अब निश्चयनयके तत्त्वको ज्ञानसे तो जान लिया, अब जो जाना गया तत्त्व है उस तत्त्वमें स्थिर होना है अथवा यों कहो कि जैसा है वैसा ही जानते रहना है तो इस स्थितिको करनेकी जीवमें वर्तमान पर्यायमें सामर्थ्य है नहीं, अनादि से कषायोंका संस्कार चला आ रहा है, उनकी वासनाएँ इसको इस शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिसे विचलित कर देती है, इस जीवका उपयोग विविध आश्रयोंमें घूमता रहता है। ऐसी स्थिति वाले ज्ञानी पुरुषको अब क्या करना चाहिए जिससे निश्चयनयसे ज्ञात किए हुए तत्त्वपर इसकी स्थिरता हो सके। तो उसके लिए इन शब्दोंमें कर्तव्य कह लीजिए कि जो फंसाव इसके हो गए थे उन फंसावोंसे अलग होना चाहिए। फंसावोंसे अलग होना एकदम बन नहीं पाता है सो उन्हें कम करना चाहिए। फंसाव हैं विषय और कषायके। विषय और कषायों से बचनेके लिए जो अनुकूल कार्य किए जाते हैं उन्हींका ही नाम व्रत और संयम है। यही व्यवहारधर्म है। इससे तीर्थकी प्रवृत्ति होती है।

व्यवहारनयके त्यागसे तीर्थके उच्छेदकी प्रसक्ति—यह पुरुष चले नहीं तो बड़ी अच्छी बात है, और अगर चले तो अपनेको जीवोंको सबको भूलकर क्या अटपट चलना चाहिए ? नहीं। अपनी भी सावधानी, दूसरे जीवोंकी भी दृष्टि रखकर समितिपूर्वक चलना चाहिए। यह वृत्ति ज्ञानीके बनती है इस ही का नाम तो व्रत है, व्यवहारधर्म है। राग

उठता है इस ज्ञानी जीवके तो क्या उस रागसे परिवारके, कुटुम्बके विषयोंके पोषणमें ही लगना चाहिए ? नहीं। राग उठता है तो ऐसी जगह राग लगावो कि जहाँ अपने स्वरूपके दर्शनकी अपात्रता न हो। जैसे जो सिद्ध हुए हैं और जो सिद्ध होनेके प्रयत्नमें लग रहे हैं ऐसे जो परमेष्ठी हैं उनका अनुराग आ जाय, उनकी भक्तिमें लगें, यही तो काम करनेमें आ पड़ता है ज्ञानीको, यही व्यवहारधर्म है। तो व्यवहार धर्मको यदि छोड़ दें तो तीर्थ सब समाप्त हो जाएँ अर्थात् तिरनेका उपाय खतम हो जाय। तत्त्वमें स्थिर होनेका मार्ग नष्ट हो जायगा इसलिए व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म इन दोनोंको न छोड़ना चाहिए।

व्यवहारोंकी नानारूपता—जब तक जैसी बुद्धि है, योग्यता है तब तक उस प्रकार का व्यवहार है। व्यवहार भी पदोंकी अपेक्षा नाना प्रकारके चलते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टिका व्यवहार प्रवर्तन और श्रावकका, मुनिका व्यवहार प्रवर्तन जुदा-जुदा है और जो श्रेणीमें स्थित हैं ऐसे साधु जनोंको जब तक कि रागभाव हैं उनका प्रवर्तन, व्यवहार और प्रकारका है। फिर जब रागभाव समाप्त हो जाता है, निष्कषाय परिणमन हो जाता है ऐसे प्रभुवोंका व्यवहार प्रवर्तन शुद्ध विकास रूप ही है। तो इन दृष्टियोंसे देखा जाय तो जो द्रव्य हैं वे सब व्यवहारमें हैं। जीवद्रव्यको देखा जाय तो यावत् जीव है, वे सब व्यवहारमें हैं, परंतु व्यवहार पदवियोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका है। और पहिले पदका व्यवहार छूटता जाता है, फिर आगे बढ़नेपर उस पदका भी व्यवहार छूट जाता है। इस तरहसे यह व्यवहार छूटता जाता है, अंतमें शुद्ध ज्ञाताद्रष्टामात्र व्यवहार रहता है।

प्रभुका व्यवहार—प्रभुके व्यवहारके सम्बन्धमें हम ऐसी चर्चा किया करते हैं कि केवली भगवान निश्चयसे तो स्वको जानता है और व्यवहारसे परको जानता है। ऐसा जाननेके सम्बन्धमें निश्चय और व्यवहार वाली बातें केवली भगवानमें ही नहीं है, हम भी, आप भी निश्चयसे स्वको जानते हैं और व्यवहारसे परको जानते हैं। अन्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव तो जिस रूपमें स्वको जानता है उस ही रूपमें जानता है और प्रभु जैसा रूप प्रभुमें है उस रूपमें जानता है। परपदार्थोंका जानना उपचारसे ही कहा जाता है, अर्थात् इस दृष्टिसे इन बातोंको लेना है कि कोई भी जीवपरपदार्थोंमें तन्मय होकर अर्थात् परका परिणमन और अपने परिणमन को एक करके नहीं जानता है इसलिए परका जानना व्यवहारसे कहा है। तो जहाँ इससे भी और मोटे किन्तु टेढ़े व्यवहार लगे हैं वहाँ उन सर्वजीवोंके विषयमें इस जानन सम्बंधी निश्चयव्यवहारको न बताकर प्रभुके सम्बंधमें जानन का निश्चयव्यवहार बताया जाता है।

सर्व पदार्थोंमें निश्चयव्यवहारमयता—भैया ! व्यवहार तो जब तक द्रव्य है तब

तक चलता है, पर ज्ञानी जीवकी प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वह परमार्थसे तो निश्चयका ही आशय लिए है, और उपायमें यथायोग्य व्यवहारधर्मका आलम्बन लिए है, पर उससे ऊँची वृत्ति जगनेपर उस व्यवहारसे भी परे हो जाता है। इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि दोनोंको समझो और जहाँ जैसी पदवी है, जहाँ जैसी स्थिति है उसके अनुरूप निश्चय मार्गमें बढ़कर बाह्य और व्यवहारनयके आश्रयको तजिए। यह सब सम्वरपूर्वक निर्जरा बताई गयी है।

निश्चयमार्गमें बढ़नेपर पूर्व पूर्व व्यवहारमार्गका त्याग—इस सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान करना, ज्ञान करना—अनुष्ठान करना इस रूप निश्चयरत्नत्रयके प्राप्त होनेपर निश्चयरत्नत्रयका लाभ होता है और वीतराग जो धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान है, जहाँ कि शुभ और अशुभ सर्व प्रकारकी बाह्य वस्तुवोंका आलम्बन नहीं है, ऐसी निर्विकल्प समाधि होनेपर निश्चयरत्नत्रयके मध्य परमसमाधिका लाभ होता है। जीवकी ऐसी स्थिति में जहां किसी भी परजीवविषयक राग न हो, किसी परद्रव्यविषयक विकल्प न हो, केवल आत्मीय ज्ञानानन्दरससे छका हुआ हो, जो समाधि होती है वह समाधि अत्यन्त दुर्लभ है।

निगोदसे निकलकर दुर्लभ देह पाकर अन्तमें मनुष्यभवकी दुर्लभता—देखिए इस जीवने कैसी-कैसी श्रेष्ठ बाते पाते-पाते आज यह स्थिति पायी है। प्रथम तो निगोदसे निकलना कठिन है। यह निगोद एकेन्द्रिय जीवका एक भेद है। वह निगोदसे निकला तो वाकी स्थावर जीवोंके भवसे निकलना कठिन है। निकला तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इनमें आना कठिन है, फिर पञ्चेन्द्रिय होना कठिन है। पंचेन्द्रियमें संज्ञी बनना और बड़ी चीज है, संज्ञियोंमें पर्याप्त बन जाना और कठिन बात है। पर्याप्त संज्ञी होनेपर भी मनुष्य बनना और कठिन बात है, मनुष्य भी बन गए तो देशमें कितने मनुष्य है। और लोग यह शंका करते हैं कि हमने तो यह सुना है कि मनुष्य होना बड़े पुण्यका काम है और आजकल जनसंख्या बढ़ती चली जा रही है तो पुण्यवान बहुत उत्पन्न हो रहे हैं क्या? तो ऐसे मनुष्योंकी बात नहीं कही जा रही है, इसे तो यों समझो कि जिन जीवोंने पुण्य किया और अच्छे मनुष्य बनना था, वे विदेहमें या अन्य जगह उत्पन्न होने थे, उनसे कोई दुराचार पाप बन गया तो ऐसे पापी जीव यहाँ पैदा होनेके लिए मानो भेजे जा रहे हैं। ऐसे मनुष्य बन गए तो क्या, न बन गए तो क्या?

मनुष्यभवमें भी दुर्लभ दुर्लभ स्थिति पाकर भी धर्मग्रहणकी दुर्लभता—मनुष्योंमें भी अच्छे देशवाले होना दुर्लभ है, अच्छे कुल वाले होना दुर्लभ है, अच्छे रूप वाला होना दुर्लभ है, फिर इन्द्रियोंकी सावधानी होना दुर्लभ है, फिर निरोग होना दुर्लभ है, फिर उत्तम आचरण मिलना दुर्लभ है। देखो निगोदसे लेकर कैसी-कैसी दुर्लभ चीजें पाते हुए आज

अपन ऐसी स्थितिपर आ गए, इतनेपर भी धर्मका श्रवण मिलना कठिन है। धर्मका श्रवण करने वाले पुरुषों की संख्या देखो। अभी कोई सनीमा होने लगे चाहे बाहुबलिका ही क्यों न हो तो कितनी बड़ी संख्या जुड़ जायगी, और बाहुबलिका वृतान्त जो कि शास्त्रों में है उसके सुनने वाले लोगोंकी संख्या देखो कितनी है? बिल्कुल ही कम संख्या हो जाती है। धर्मका श्रवण रह सके यह दुर्लभ चीज है। धर्म भी सुननेपर धर्मका ग्रहण कर लेना, बुद्धिमें उस बातका समा जाना यह दुर्लभ चीज है।

धर्मग्रहण करनेके बाद भी दुर्लभ दुर्लभ साधना पाकर अन्तमें समाधिकी दुर्लभता—भैया! धर्मको ग्रहण भी कर लिया तो अब उस चीजकी धारणा बनाए रहना, भूलना नहीं, यह तो और दुर्लभ बात है। मान लो वैसा ज्ञान भी कर लिया जाय तो उसका श्रद्धान होना कठिन है। यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है ऐसा विश्वास भी हो जाय, श्रद्धान भी हो जाय तो उसपर चलना याने संयमका पालन करना कठिन है। संयममें भी लग जाय तो विषय सुखोंसे बिल्कुल मुख मोड़ लेना यह कठिन है। विषय सुखोंसे मुख मोड़ भी लिया तो क्रोधादि कषाय न आए यह बात कठिन है। जैसे मान लो साधु हो गए, विषय सुखोंसे मुख भी मुड़ चुका, ये सारी बातें आ गईं पर क्रोध कषाय रंच भी न हो यह और कठिन है। इतनी भी बात हो और ऐसी ही धारणा बनी रहे यह और कठिन है और फिर सबसे अत्यन्त कठिन है समाधिमरण। सब कुछ हो गया पर समाधिपूर्वक अंतमें मरण न हो सका, क्लेश, संक्लेश ही बने रहे तो ऐसे समयमें चित्त चलित हो जाता है, और चाहे जो क्लेश हों पर चित्त चलित न हो, समाधिमरण हो यह कितनी कठिन बात है?

दुर्लभ सिद्धिके बाधकोंमें मूल बाधक मिथ्यात्व भाव—परम्परासे बड़ी दुर्लभ दुर्लभ बात पाकर अन्तमें समाधि पाना बड़ी कठिन बात है। क्यों दुर्लभ हो गया कि विभाव परिणाम प्रबल हो गया, पहिले तो मिथ्यात्व देखो कितना प्रबल है? सबको देखो तो कोई किसी धुनमें है, कोई किसी धुनमें है। ये अच्छा फैशन बनाकर सुन्दर कपड़ोंसे सजकर, केश सजाकर तिसपर भी मनको संतोष नहीं होता तो मुखपर पाउडर लगाकर, ओठोंमें लाल लाल लिपिस्टिक लगाकर निकलती हैं। उन बेचारोंको क्या यह पता नहीं है कि देखने वाले तो आखिर यह सोचते होंगे कि देखो कैसी मूर्खता है, इस प्राकृतिक शरीरको भूलकर राख और रंग लपेटना, इनकी कैसी दृष्टि है? इस अज्ञानताको क्या देखने वाले न जानते होंगे? दूसरे मनमें हमारी मूर्खतापर हँसते होंगे ऐसी बात शायद वे जानती भी होंगी, मगर फिर भी सुन्दरता इसीमें समझती हैं। तो इन जीवोंमें पहिले तो यह मिथ्यात्व भाव ही प्रबल है।

दुर्लभ सिद्धिके बाधक विषय, कषाय व निदान—फिर विषय कषायोंका भाव प्रबल है, फिर ख्यातिका, पूजाका, वैभव लाभका, भोगोंकी इच्छाका, निदान बंधका—ये समस्त

विभाव प्रबल हैं, तब अत्यन्त दुर्लभ जो धर्मका धारण है, संयमका पालन है, तपस्याकी भावना है, समाधिमरणकी भावना है, ये कहाँसे जगें। तो दुर्लभसे दुर्लभ इस स्थितिको प्राप्त करके भी न चेते तो यह जानना चाहिए कि बहुत ऊँचे चढ़ा हुआ व्यक्ति गिरे तो जैसे उसके चोट लगती है इसी प्रकारसे ऐसे मन, ऐसे कुल, ऐसी सम्पदाको पाकर भी यदि विषयोंसे पतित हुए, कषायोंसे पतित हुए तो समझो कि हमारी इतनी निम्नदशा हो जायगी जितनी कि निम्न दशा असंज्ञीको भी मरनेके बाद नहीं मिलती है।

मरकर मनुष्यका सर्वत्र गमन संभव—असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पहिले नरकसे नीचे जाकर उत्पन्न नहीं होते हैं, और ये कर्मभूमिया मनुष्य मरकर ७वें नरक चले जायें, निगोद चले जाएँ और सिद्ध बन जाएँ, इनकी समस्त गतियां खुली हुई हैं। मनुष्यकी तरह किसी जीवको सब जगह पैदा होनेका अवसर नहीं है। देव मरकर देव नहीं होगा, नारकी नहीं बनेगा, भोगभूमिया न बनेगा, वह कर्मभूमियामें ही आयगा। कुछ देव मरकर एकेन्द्रिय भी हो सकते हैं। इसी प्रकार सभी जीवोंको कैद है कि मरकर वे कुछ ही भवोंमें पैदा हो सकते हैं, पर मनुष्य भवके लिए कैद नहीं है। कौनसा ऐसा पद है, कौनसा ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य उत्पन्न न हो सके ?

रत्नत्रयकी उत्पत्ति और वृद्धि—भैया ! दुर्लभसे दुर्लभ ऐसे साधनोंका अवसर पाया है तो इस अवसरको पाकर अब ऐसा यत्न करना चाहिए कि हित हो, समाधिमरण हो और अपने स्वरूपमें स्थिति हो। इस बातके करनेमें साधक संयम है। आचरण बिना कुछ बात नहीं हो सकती। जहाँ सम्यग्दर्शन शुरू होता है आचरण भी उसी समयसे शुरू हो जाता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र—इन तीनोंकी उत्पत्ति किसी न किसी रूपमें एक साथ होती है। फिर अणुव्रत है, महाव्रत है, ये विशेषताएँ चलती हैं पर अंकुर तीनोंका एक साथ होता है। सम्यग्दर्शनमें सम्यग्दर्शन तो है ही, और सम्यग्ज्ञान हो गया, ज्ञान तो था ही, सम्यक्त्व होते ही वह ज्ञान सम्यक् कहलाने लगा और सम्यग्दर्शन होते ही स्वरूपकी दृष्टि हुई, प्रतीति हुई, इस प्रकारका स्वरूपाचरण भी हुआ। कुछ तो तत्त्वपर दृष्टि गई। तत्त्वपर दृष्टिके लगनेका नाम आचरण है। अब चारित्र यह बढ़ाना है कि वहाँ स्थिर रह सकें।

ज्ञातृत्वकी स्थिरतारूप सम्यक् चारित्र—स्वरूप सम्बोधनमें जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्रका लक्षण कहा है वहाँ बताया है सम्यक्चारित्रके लक्षणमें कि ज्ञाता द्रष्टा बने रहनेकी स्थितिका नाम सम्यक्चारित्र है। तो वास्तवमें चारित्र देहकी क्रिया नहीं है, क्योंकि वह तो आत्माका धर्म है। चारित्र तो जो आत्माका शुद्ध स्वरूप है उस शुद्ध स्वरूपमें ही उपयोगकी स्थिरताके हो जानेका नाम चारित्र है, चारित्रका आधार है, आत्मा

है, देह नहीं है, क्योंकि चारित्र गुण है आत्माका, इसलिए चारित्रका विकास आत्मामें होगा, चारित्रका विकास आत्माकी परिणतिसे होगा।

व्यवहारचारित्र धारण करनेका कारण— प्रश्न—व्यवहारचारित्र क्यों करना होता है? उत्तर—व्यवहारचारित्र धारण करनेका कारण यह है कि हम विषयकषायोंसे मलिन हैं तो जब हमारे संस्कार विषयकषायरूप बने हुए हैं तो राग तो बराबर चल रहा है ना; तो उस रागका कहाँ उपयोग हो? उपयोग तो करना ही होगा, ऐसी स्थितिमें रागका उपयोग विषयकषायोंमें न हो किन्तु ऐसे परद्रव्योंमें हो जो शुद्ध हों, जिनमें किया हुआ अनुराग हमें भुलावेमें न डाले; जो वास्तविक चारित्र है उसके धारण करनेकी पात्रता बनी रहे, वहाँ राग करना चाहिए। इसीके फलमें दयामें, अहिंसामें, गुरुभक्तिमें, देवभक्तिमें राग होता है तो यह राग उस अशुभ भावके काटनेके लिए हुआ, इस लिए यह व्यवहार धर्म किया जाता है।

व्यवहारचारित्रकी स्थितिमें भी लक्ष्यकी सावधानीकी प्रधानता—इस व्यवहार धर्म को करते हुए प्रत्येक ज्ञानीको, प्रत्येक व्रतीको यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा व्यवहार धर्म करनेका लक्ष्य है निश्चयतत्त्वमें उपयोगको स्थिर बना लेना। इस लक्ष्यका यदि पता न हो तो व्यवहार धर्म विडम्बना बन जाता है। और इस लक्ष्यका पता हो तो व्यवहारधर्म हमारे चारित्रमें साधक हो जाता है। इस प्रकार परम्परासे दुर्लभसे दुर्लभ ऐसी स्थितिमें आए हैं। इस स्थितिमें आकर हमें समाधिमें प्रमाद नहीं करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टिका निर्मल ज्ञानप्रकाश और प्रताप—अब इस अधिकारके अंतमें अमृतचंद्र जी सूरि एक कलशमें कह रहे हैं—रुन्धन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरङ्गैः, प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन। सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्त मुक्तं, ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य। सम्यग्दृष्टि जीव स्वयमेव अपने निजी रसमें मग्न होता हुआ आदि, मध्य, अंत कर रहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञान होकर आकाशवत् निर्मल, निर्लेप शुद्ध ज्ञानप्रकाशके निःसीम भूमिमें प्रवेश करके अपने सहज स्वाभाविक विलाससे विलास करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव नवीन बंधको तो इस ज्ञान और वैराग्यके बलसे रोकता है और पहिलेके उन बंधनोंको निश्चय अष्ट अंगोंकी वृत्ति द्वारा नष्ट करता है।

धर्माश्रयमें प्रमादी न होनेका कर्तव्य—सो भैया! अत्यन्त दुर्लभ रूप इन बंधोंको प्राप्त करके अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके यदि यह जीव प्रमादी होता है तो संसाररूपी भयावह वनमें फिरता है, वह जीव बेचारा असहाय वराक बनकर चिरकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता है। अतः इस उच्चतर स्थितिमें हम सबको धर्माश्रय करनेमें रंच भी प्रमादी नहीं होना चाहिये।